श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला पुष्प. ४३.

श्रीविद्यानंद-स्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारः

(भाषाटीकासमन्वितः)

[तृतीयखंड]

—= टीकाकार =—

श्रीतर्करत्न, सिद्धांतमहोदधि, न्यायदिवाकर, स्याद्वादवारिधि, दार्शनिकशिरोमणि,

श्री पं. माणिकचंदजी कौंदेय न्यायाचार्य.

—× संपादक व प्रकाशक ×—

पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

(विद्यावाचस्पति-न्यायकाव्यतीर्थ)

ऑ. मंत्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर.

All Rights are Reserved by the Society.

—+ मुद्रक +—

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

कल्याण पॉवर प्रिंटिंग प्रेस, कल्याणभवन, सोलापुर.

वीर सं. २४७९] सन् १९५३ [मूल्य १२ रुपये.

संपादकीय वक्तव्य

पाठकोंके करकमलोंमें आज तत्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकारके तृतीय खंडको देनेमें हमें परम हर्ष होता है। हम जानते हैं कि इस खंडके प्रकाशनकी हमारे स्वाध्यायप्रेमियोंको कुछ अधिक समय प्रतीक्षा करनी पडी, जिसके लिए हम क्षमा चाहते हैं। गत वर्ष हमारे पूज्य ज्येष्ठ भ्राता पं. लोकनाथजी शास्त्रीके आकस्मिक वियोगके कारण हमारे ऊपर जो संकट उपस्थित हुआ, उससे मनस्थिति अनुकूल न रहनेके कारण हम इस कार्यमें अधिक योगदान न करसके। हमारी विकलताके कारण मनकी स्थिति उत्साह पूर्ण न थी, अन्य भी कुछ कारणोंसे इस कार्यमें विलंब हुआ। इस विवशताके लिए पश्चात्तापके सिवाय हम क्या कर सकते हैं।

प्रकृत–ग्रंथका महत्व

प्रकृत ग्रंथके महत्वको पुनः पुनः लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवदुमास्वामीका तत्वार्थसूत्र जैन तत्वज्ञानका प्राण है। हिंदू संप्रदायमें भगवद्गीताके लिए जो आदरणीय स्थान है, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान जैन संप्रदायमें तत्वार्थसूत्रके लिए है। वह एक आदर्श आगम ग्रंथ है। इसीलिए अनेक उद्भट आचार्योंने उक्त ग्रंथका ही विवेचन गद्यपद्यात्मकरूपमें करनेमें ही अपने समय एवं बुद्धिकौशल्यका सदुपयोग किया है। महर्षि विद्यानंदस्वामीने भी इस परमागमके जटिल गुत्थियोंको अपनी स्वतंत्र शैलीसे सुलझानेके लिए इस ग्रंथकी रचना की है एवं तत्वजिज्ञासु बंधुवोंके लिए परम उपकार किया है, इसमें कोई संदेह नहीं है। संस्कृतके प्रगाढ विद्वानोंको मूल ग्रंथके अध्ययनसे परम आनंद होगा ही। परंतु इस संस्करणके प्रकाशनसे देशभाषाभिज्ञ स्वाध्याय प्रेमियोंका भी उपकार हो रहा है। जिसका श्रेय श्रीतर्करत्न, सिद्धांतमहोदधि पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्यको है, जिन्होने अत्यंत सरल, विस्तृत भाषा टीका लिखनेमें सतत वर्षों अथक परिश्रम कर अपनी विद्वत्ताका सदुपयोग किया है।

प्रथम खंडमें केवल एक सूत्रकी व्याख्या वार्तिकसहित दी गई है। दूसरे खंडमें आगेके सात सूत्रोंकी व्याख्या आगई है, 'सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनादि' सूत्रतकका विवेचन उस खंडमें हमारे प्रेमी पाठक देख चुके हैं। अब इस तीसरे खंडमें नौवें सूत्रसे लेकर २० वें सूत्रतक अर्थात् ' **श्रुतंमतिपूर्वं द्व्यनेक द्वादशभेदम्** ' इस सूत्रतकका विवेचन आचुका है। करीब ६५० पृष्ठोंका हम एक एक भाग कर रहे हैं। इस हिसाबसे पहिले अध्यायकी समाप्तिमें और दो भाग होंगे अर्थात् प्रथमाध्याय पांच खंडोंमें समाप्त हो सकेगा, ऐसा अनुमान है। फिर नौ अध्याय शेष रहेंगे, उन्हे हम आगे दो खंडोंमें विभक्त करेंगे। इस प्रकार यह समग्र ग्रंथ सात खंडोंमें पूर्ण हो जायगा। इस वक्तव्यसे हमारे पाठक इस ग्रंथकी महत्ताका अनुभव किये बिना न रहेंगे। इसके प्रकाशनसे साहित्यसंसारका महदुपकार

हुआ है, इसे हम अपनी लेखनीसे लिखें यह शोभास्पद नहीं हो सकेगा। इसलिए हम समाजके प्रथितयश तीन महान् विद्वानोंकी सम्मति इस संबंधमें यहां उद्धृत करते हैं, जिससे इस प्रकाशनकी उपयोगिताका अनुभव होगा।

श्री न्यायालंकार, वादीभकेसरी, विद्यावारिधि, पं. मक्खनलालजी शास्त्री 'तिलक' आचार्य-गोपाल दिगंबर जैन सिद्धांत विद्यालय मोरेना

श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार, दि. जैन ग्रन्थोंमें एक महान् दार्शनिक ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्रपर उसे एक महाभाष्य कहा जाय तो उसके अनुरूप ही होगा। वह अत्यन्त गम्भीर एवं अत्यन्त क्लिष्ट है। ऐसे जटिल गहन ग्रन्थकी हिन्दी टीका जितनी सुंदर, सरल, एवं सफल बनी है, यह देखकर मेरा चित्त अतीव प्रमुदित हो जाता है। मैंने उसके प्रथम और द्वितीय भागकी उन क्लिष्टपंक्तियोंकी भी हिन्दी टीका देखी, जिनका मर्म अच्छे २ विद्वान् भी समझ नहीं पाते हैं। जैसा यह महान् ग्रन्थराज है वैसा ही महान् विद्वान् उसके हिन्दी टीकाकार हैं। सिद्धान्तमहोदधि, तर्करत्न, स्याद्वादवारिधि, न्यायदिवाकर, दार्शनिकशिरोमणि, **श्रीमान् पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य** महोदयको समाजमें कौन नहीं जानता है। वे प्रमुख विद्वानोंमें गणनीय विद्वान् हैं। उनका विद्वत्व प्रखर, सूक्ष्मतत्वस्पर्शी एवं शास्त्रीय-तलस्पर्शी है। हिन्दी टीकामें अनेक गुत्थियोंका उन्होंने सरलताके साथ स्पष्टीकरण किया है। कहींपर ग्रंथाशय विपरीत हुआ हो, अथवा ग्रंथनिहित तत्त्वोंका यथार्थता-पूर्ण विशद अर्थ करनेमें कमी रह गई हो, ऐसा मुझे इस हिन्दी टिकामें कहींपर देखनेमें नहीं आया। इसलिए एक दार्शनिक महान् ग्रंथराजकी इस हिन्दी टीकाको मैं सांगोपांग, एवं महत्त्वपूर्ण समझता हूं। इस टीकाके करनेमें श्रीमान् न्यायाचार्य महोदयका कुशाग्र-बुद्धिबलपूर्ण परिश्रम अत्यंत सराहनीय है।

श्रीविद्वान् संयमी क्षु. सिद्धसागरजी महाराज

श्लोकवार्तिककी हिन्दी टीका मूलसहित सोलापुरसे प्रकाशित हो रही है। इस टीकामें जो विशद स्पष्टीकरण किया गया है, वह पं. माणिकचंद्र न्यायाचार्यकी अपूर्व प्रतिभा और अगाध विद्वत्ताका प्रतीक है। हमने इसका दो बार स्वाध्याय किया है, हमें बडी प्रसन्नता हुई। इसमें पण्डितों और त्यागीवर्गके सीखनेकी बहुतसी सामग्री है। पण्डितवर्यका प्रयास बहुत अंशोंमे सफल हुआ है। जो आत्माके सुखमय मार्गका अनुसरण करना चाहते हैं वे इसे पढकर अवश्य लाभ उठावें। समालोचक बालकी खाल भी निकाल सकता है। किन्तु उससे साहित्य प्रगतिको प्राप्त नहीं होता है। यहां हमने जो कुछ लिखा है वह गुणानुरागसे लिखा है। इसको पढकर आप यह विशेष प्रकारसे समझेंगे कि सद्धर्म किसी प्रकारसे भी कष्टप्रद नहीं होता है और रत्नत्रय धर्मसे होनेवाला सुख मोक्षसुखका ही अंश है। अरहंत सच्चा वक्ता है और वाद स्याद्वादरूप होनेसे

श्रीविद्यानंद-स्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारः

तत्त्वार्थचिंतामणिटीकासहितः

(तृतीयखंडः)

सम्यग्दर्शनके निरूपण अनन्तर सम्यग्ज्ञानका प्रकरण उठाते हैं प्रथम ही सम्यग्ज्ञानके भेदोंका प्रतिपादक सूत्र कहा जाता है।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान ये पांच समीचीन ज्ञान हैं।

किमर्थमिदं सूत्रमाहेत्युच्यते—

इस सूत्रको उमास्वामी महाराज किस प्रयोजनके लिये कह रहे हैं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द स्वामी करके उत्तर कहा जाता है।

अथ स्वभेदनिष्ठस्य ज्ञानस्येह प्रसिद्धये।
प्राह प्रवादिमिथ्याभिनिवेशविनिवृत्तये ॥ १ ॥

इस सम्यग्दर्शनके प्रकरणके अनन्तर अब अपने भेदोंमें ठहरनेवाले ज्ञानकी प्रसिद्धिके लिये और अनेक प्रवादियोंके झूंठे अभिमानसे हुये कदाग्रहकी निवृत्ति करनेके लिये यहां यह सूत्र स्पष्टरूपसे निरूपण किया गया है।

न हि ज्ञानमन्वयमेवेति मिथ्याभिनिवेशः कस्यचिन्निवर्तयितुं शक्यो विना मत्यादिभेदनिष्ठसम्यग्ज्ञाननिर्णयात् तदन्यमिथ्याभिनिवेशवत्, न चैतस्मात्सूत्रादृते तन्निर्णय इति सूक्तमिदं संपश्यामः।

मति, श्रुत आदि भेदोंमें ठहरे हुए सम्यग्ज्ञानके निर्णय किये विना किसी वादीका ज्ञान अन्वयरूप ही है ऐसा झूंठा आभिमानिक आग्रह कथमपि निवृत्त नहीं किया जा सकता है, जैसे कि उससे अन्य दूसरे चार्वाक, बौद्ध, आदिकोंके मिथ्या श्रद्धान नहीं हटाये जा सकते हैं, तथा इस सूत्रके विना मति आदि भेदवाले उस सम्यग्ज्ञानका निर्णय कैसे भी नहीं होता है। इस कारण यह सूत्र उमास्वामी महाराजने बहुत अच्छा कहा है, ऐसा हम भले प्रकार समझ रहे हैं। भावार्थ—अनेक मीमांसक आदि प्रवादियोंके यहां ज्ञानके विषयमें भिन्न भिन्न प्रकारके मन्तव्य हैं। कोई ज्ञानको अन्वय स्वरूप ही मानते हैं, सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, कोई भेद नहीं है। सब ज्ञानोंमें ज्ञानपना एकसा है। ज्ञान स्वयं परोक्ष है, ज्ञानजन्य ज्ञाततासे ज्ञानका अनुमान किया जा सकता है। बौद्ध प्रमाणज्ञानके प्रत्यक्ष परोक्ष दो भेद मानते हैं। श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान उनको इष्ट नहीं है। चार्वाक केवल इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षको ही मानते हैं। वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हुये ज्ञानको स्वसंवेदी नहीं इच्छते हैं। सांख्यमती प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण इन तीन ही प्रकारके ज्ञानको मानते हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द इन चार प्रमाणोंको मानकर दूसरे ज्ञानसे ज्ञानका प्रत्यक्ष होना अभीष्ट करते हैं। अर्थापत्ति और अभावसे सहित पांच, छः प्रमाणोंको माननेवाले प्रभाकर जैमिनीय मतके अनुयायी सर्वज्ञप्रत्यक्षका निषेध करते हैं। इन सब मिथ्याश्रद्धानोंकी निवृत्तिके लिये भेदयुक्त ज्ञानका सूत्रण करना अत्यावश्यक है। सभी मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान अपने स्वकीय ज्ञानशरीरको भी अर्थके समान उसी समय जान लेते हैं, ज्ञानके इस स्वप्रकाशकत्व धर्मको जैन ही स्वीकार करते हैं। यद्यपि ब्रह्माद्वैतवादी भी ज्ञानको स्वसंवेदी मानते हैं, किंतु उनके यहां निरंश एक एक ज्ञानमें भला, वेद्य, वेदक, वित्ति, ये तीन अंश कहां सिद्ध हो सकते हैं? यह तो स्याद्वाद सिद्धान्तकी ही अपार महिमा है जो कि एकमें प्रसन्नतापूर्वक अनेक समाजाते हैं।

किं पुनरिह लक्षणीयमित्युच्यते;—

फिर इस प्रकारणमें किसका लक्षण करने योग्य है? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहा जाता है कि—

ज्ञानं संलक्षितं तावदादिसूत्रे निरुक्तितः।
मत्यादीन्यत्र तद्भेदाल्लक्षणीयानि तत्त्वतः॥ २॥

आदिके "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्रमें ज्ञान तो ज्ञान शब्दकी निरुक्तिसे भले प्रकार लक्षणयुक्त कर दिया गया है। वहांसे उसका अवधारण कर लेना। यहां उस ज्ञानके प्रकार होनेसे मति, श्रुत, आदिकों का वस्तुतः लक्षण करना चाहिये। "यथा नामा तथा गुणः" इस नीतिसे मति आदिकोंका भी प्रकृति प्रत्ययद्वारा निर्वचन करके निर्दोष लक्षण बन जाता है।

किसी भी प्रमाणसे बाधाको प्राप्त नहीं होता है, यह अच्छी तरह समझ सकते हैं। सम्यग्दर्शन आदिकके लक्षणका विवेचन जीको लगता है। वह तो कण्ठाग्र करने योग्य भी है और कार्यान्वित करने योग्य भी। उनके परिश्रमको जनता आदरभावसे देखें।

श्रीविद्वद्वर्य पं. अजितकुमारजी शास्त्री–संपादक जैनगजट देहली.

तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। श्री विद्यानन्द आचार्यने इस सूत्र ग्रन्थपर संस्कृत भाषामें उच्च तार्किकढंगसे 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' नामक टीका ग्रन्थ लिखा है। श्लोकवार्तिक उच्च कोटिका न्यायका ग्रन्थ है, जो कि साधारण विद्वानोंके अगम्य है।

श्रीमान् तर्करत्न, सिद्धान्तमहोदधि, स्याद्वादवारिधि, न्यायदिवाकर पं. माणिकचंद्रजी न्यायाचार्य प्रसिद्ध तार्किक दार्शनिक विद्वान् हैं। आपने इस ग्रन्थका स्वाध्याय अनेक बार किया है। दि. जैन समाजमें इस समय जो विद्वान दीख रहे हैं, उनमेंसे अधिकांश विद्वानोंने प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री तथा श्लोकवार्तिक ये तीनों उच्च कोटिके ग्रन्थ पूज्य पंडितजीसे अध्ययन किये हैं। अतः श्लोकवार्तिक पू. पंडितजीका बहुत अच्छा अभ्यस्त ग्रन्थ है।

आपने इस ग्रन्थको संस्कृत भाषासे अनभिज्ञ विद्वानोंके लिये स्वाध्याय उपयोगी ग्रंथ बनानेके उद्देश्यसे इस दुर्बोधगहन ग्रन्थकी **तत्त्वार्थचिंतामणी** नामक सवालाख श्लोक प्रमाण सुन्दर सरल प्रामाणिक टीका लिखी है। संस्कृत भाषाको हिन्दी भाषामें अनुवाद करना कितना कठिन कार्य है, इसको भुक्तभोगी ही समझते हैं। फिर श्लोकवार्तिक जैसे महान् दार्शनिक तथा तार्किक संस्कृत ग्रन्थको हिन्दी भाषामें अनुवाद करना तो और भी अधिक कठिन कार्य है। इस दुष्कर कार्यको पूज्य पंडितजी ही कर सकते थे। पू. पंडितजीने श्लोकवार्तिककी टीका इस तन्मयतासे की है कि आपको इस तपस्यामें अपनें सुखीजीवनके आधारभूत स्वास्थ्यकी अनेक वर्षोंतक उपेक्षा करनी पडी। किन्तु इस कठिन परिश्रमके फलस्वरूप जो अनुपम साहित्यिक भेट जैन समाजको मिली हैं, वह सुदीर्घ कालतक पंडितजी साहबका नाम सादर अमर रक्खेगी तथा विज्ञ मानवसमाजको उच्चकोटीका मानसिक भोजन प्रदान करती रहेगी।

यह टीका सरल, सुन्दर तथा प्रामाणिक है। प्रत्येक ग्रन्थभण्डारमें श्लोकवार्तिककी यह टीका तत्त्वार्थचिन्तामणी अवश्य विराजमान रहनी चाहिए।

उपर्युक्त विद्वद्रत्नत्रयोंके सुसम्मतिसे हमारे पाठक इस प्रकाशनका महत्व, उपयोग, श्रम, श्रेय सब कुछ समझ सकते हैं। किसी भी प्रकाशनका महत्व व समादर विद्वान् ही कर सकते हैं। क्योंकि सामान्यजनताको वह दुर्बोध विषय है। विद्वानोंने इस कृतिका सादर स्वागत किया है। इससे हम ग्रंथकार टीकाकर एवं प्रकाशकपरिवारके श्रमको सार्थक समझते हैं।

स्वविषय

इतने बडे प्रकाशनभारको अपने कंधेपर लेनेमें संस्थाने विशेष धैर्य दिखाया है, यह कहनेमें हमें संकोच नहीं होता है। प्रकाशन कार्यके लिए वर्तमानमें कितनी असुविधा है, सर्व साधन सामग्री मिलानेमें कितना कष्ट होता है, सर्व पदार्थोंकी कितनी महर्घता है यह सब जानते हैं ऐसी स्थितिमें भी इतने बडे ग्रंथके प्रकाशनका साहस हमारी संस्थाने किया है।

इस महान् ग्रंथके प्रत्येक खंडमें करीब ८ से ९ हजार रूपये तक संस्थाको खर्च करने पडते हैं। अर्थात् प्रत्येक पुस्तककी लागत कीमत ९) है। करीब ५०० प्रति हम हमारे सदस्योंको, त्यागी, विद्वान् एवं संस्थाओंको विनामूल्य भेट स्वरूप दे रहे हैं। अर्थात् पांचसौ प्रतियोंका मूल्य संस्थासे चला जाता है, एक पैसा भी वसूल नहीं होता है। बाकी रही हुई पांचसौ प्रतियोंकी पूर्ण बिक्री हुई तो हमारी आधी रकम उठ सकती है। २५) शेकडा कमीशन पुस्तक विक्रेताओंको, विज्ञापन वगैरेहका खर्च आदि करनेके बाद हमें लागतमूल्य भी नहीं मिलता है। जिसमें पांचसौ प्रति हमारे माननीय चुने हुए सदस्योंको पहुंचनेके बाद हमसे मूल्यसे मंगानेवाले तो कौन हैं, कुछ इन गिने स्याध्यायप्रेमी मंगाते हैं। बाकी कुछ पत्र विना मूल्य भेजनेके लिए जरूर आते रहते हैं। ऐसी हालतमें बाकी बची हुई प्रतियां बिककर आधी रकम संस्थाके कोषमें जमा हो जाय, इसमें कितने समय लगेंगे, इसे पाठक स्वयं ही सोचें। अतः हम इस कार्यमें संस्थाके हानि लाभकी कोई भी बातको न सोचकर शुद्ध साहित्यप्रचारकी दृष्टिसे ही इस कार्यको कर रहे हैं। इसमें कर्तव्यपालनकी ही दृष्टि है, और कुछ नहीं। ऐसी स्थितिमें हमारे माननीय सदस्य एवं धर्म बंधुओंसे कुछ निवेदन करना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। यदि उन्होंने इस निवेदनपर ध्यान नहीं दिया तो संस्थाको हानि उठानी पडेगी। संस्थाको आपत्तिसे बचानेमें वे हमारी सहायता निम्न मार्गसे करेंगे ऐसी आशा हम करें तो अनुचित नहीं होगा।

(१) हमारे प्रेमी पाठक एवं माननीय सदस्य ग्रंथमालाके अधिकसे अधिक स्थायी सदस्य बढानेमें सहायता करें। प्रत्येक सदस्य आगामी खंडके प्रकाशनसे पहिले दो सदस्य बना देनेकी प्रतिज्ञासे बद्ध हो जाय तो एक वर्षके भीतर हजार स्थायी सदस्य बन सकते हैं। १०१) देनेवाले स्थायी सदस्योंको अभीतकके प्रकाशित ग्रंथोंमेंसे उपलब्ध १५–२० ग्रंथोंके अलावा तत्वार्थश्लोक-वार्तिकालंकारके पूरे सेट ८४) मूल्यके मिल जाते हैं। अर्थात् १०१) रूपये तो इस ग्रंथके प्रकाशनसे ही वसूल होते हैं। बादके ग्रंथ तो विनामूल्य मिलते ही जायेंगे। ऐसी हालतमें हमारे समाजके धर्मबंधु इस लाभप्रद ही नहीं, ज्ञानसमृद्धिकी योजनासे लाभ उठाकर संस्थाके स्थैर्यमें सहायता करेंगे ऐसी पूर्ण आशा है।

(२) जो स्थायी सदस्य नहीं बन सकते हों वे इस तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार ग्रंथकी कुछ प्रतियोंको लेकर समाजके विद्वान्, संस्थायें, जिनमंदिर, सार्वजनिक संस्थायें, जैनेतर जिज्ञासु विद्वान्,

साधुसंत, विदेशमें धर्मप्रचार आदिके लिये भेट देकर जैनतत्वज्ञानकी प्रभावनामें मदत करें। इस श्रुतसेवासे भी महान् कार्य होगा। इस रूपसे हमारे कार्यमें मदत कर सकते हैं।

(३) जो दानी सज्जन इस महान् कार्यके महत्वको जानकर अपनी ओरसे एक खंडके पूर्ण व्ययको देकर प्रकाशित कराना चाहते हैं, उसे हम साभार स्वीकार कर उनका चरित्र व चित्र उक्त खंडमें प्रकाशित करेंगे। जो पूर्ण भार लेना नहीं चाहें अंशतः हजार दो हजार ही मदत करना चाहें तो वह भी सधन्यवाद स्वीकृत होगा।

इस प्रकार धर्मप्रेमी सज्जन इस पवित्र कार्यमें विविध मार्गसे सहायता कर सकते हैं। हमारा कर्तव्य निवेदन करनेका है, किया है, देखें कौन आगे आते हैं। क्योंकि श्रुतभक्तिमें स्वयंस्फूर्तिसे प्रदत्त दानका ही यथार्थ फल होता है। श्रुतभक्तिका फल केवलज्ञानकी प्राप्ति है, अन्यथा वह अनंत–भवोंमें भी दुर्लभ है।

इतनी सब कठिनाईयोंके बीचमें भी हम हमारी संस्थाके माननीय सुयोग्य अध्यक्ष **धर्मवीर रा. ब. केप्टन सर सेठ भागचंदजी सोनी** महोदयकी सतत प्रेरणा, सहानुभूति एवं सत्परामर्शपूर्ण सहायतासे इस कार्यमें आगे बढ रहे हैं। और शीघ्र ही आगेके खंडोंका भी प्रकाशन होकर पाठकोंके हात यह ग्रंथराज पहुंचेगा।

इस खंडका समर्पण.

हमने प्रथम खंडका समर्पण परमपूज्य प्रातःस्मरणीय विश्ववंद्य चारित्रचक्रवर्ति **आचार्य शांतिसागर महाराजके** करकमलोंमें, दूसरे खंडका समर्पण अनेकोपाधिविभूषित दानवीर ती. म. शि. **सर सेठ हुकुमचंदजीके** करकमलोंमें उनकी हीरकजयंतीके अवसरपर किया था। इस तीसरे खंडका समर्पण श्रीमुनिराज **तपोनिधि आचार्य नमिसागर** महाराजके करकमलोंमें किया गया है। आचार्य महाराज आज कठिन तपस्वी एवं घोर परीषहजयी साधु हैं। उन्होने उत्तरभारतके अपने विहारसे असंख्य जीवोंका कल्याण किया है। श्री परमपूज्य प्रातःस्मरणीय स्व. **आचार्य कुंथुसागर महाराजके** वे सहयोगी मुनिराज थे। उनके प्रति आपका विशेष आदर था। आचार्य कुंथुसागर महाराजकी स्मृतिमें संचालित इस संस्थापर भी पूज्य महाराजकी शुभाशिर्वादपूर्ण दृष्टि है। अतएव उनके करकमलोंमें आज यह ग्रंथ समर्पित हो रहा है। इसका हमें हर्ष है और इसमें औचित्य भी है।

प्रकृतखंडका विषयपरिचय

इस तीसरे खंडमें ' मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ' इस सूत्रसे प्रारंभ कर ज्ञानका स्वरूप और भेदोंका विवेचन किया है। वार्तिककारने प्रथमसूत्रकी व्याख्यामें मति आदिके क्रम पूर्वक कथनकी उपपत्ति दिखाकर मति आदियोंको यथार्थज्ञान सिद्ध किया है। इसी प्रसंगमें प्रत्येक पदार्थका स्वरूप सामान्य, विशेष, कथंचित् भेद, अभेदके रूपमें सिद्ध किया है। सामान्य विशेष

दोनों ही पदार्थके स्वरूप हैं एवं वे दोनों एकत्र अविनाभावरूपसे रहते हैं। मतिश्रुतादिकमें ज्ञान सामान्यपना होनेपर भी सभी अपने २ स्वरूपसे भिन्न हैं। इस बातको प्रतिपादन कर आचार्यने प्रत्यक्ष आदि सभी ज्ञानोंको स्वांशमें परोक्ष माननेवाले मीमांसकोंके, ज्ञानांतरोंसे ज्ञानका प्रत्यक्ष माननेवाले नैयायिकोंके, ज्ञानको अचेतन कहनेवाले सांख्योंके, मतका बहुत खूबीके साथ निरास किया है। पांचों ही ज्ञानोंके वैशद्यमें तारतम्य व क्रमवृद्धित्वका सयुक्तिक कथन यहां किया गया है। इस सूत्रकी व्याख्या ५८ वार्तिकोंसे की गई है। इससे आगे इन पांच ज्ञानोंको प्रमाण सिद्ध करनेके लिए आगेके सूत्रका अवतार किया गया है कि ' **तत्प्रमाणे** '। इस सूत्रकी व्याख्यामें आचार्य विद्यानंदि महोदयने १८५ वार्तिकोंकी रचना की है। सबसे पहिले पांचों ज्ञान प्रमाणस्वरूप हैं, यह सिद्ध करते हुए महर्षिने अन्य मतोंमें स्वीकृत एक दो तीन आदि प्रमाणोंमें प्रमाणके सभी भेद अंतर्भूत नहीं होते है। इसलिए इस सूत्रके द्वारा प्रमाणके स्थूल भेद व स्वरूपका स्पष्ट निर्देश किया गया है, इससे अन्य सर्व विवादोंका अंत हो जाता है। जड इंद्रियोंको प्रमाण माननेवालोंका भी निराकरण ज्ञानको प्रमाण माननेसे हो जाता है। वैशेषिकोंके द्वारा माना हुआ सन्निकर्ष भी प्रमाण नहीं है, सर्वथा भिन्न ऐसे ज्ञान और आत्मा भी प्रमाण नहीं है। प्रमिति, प्रमाण और प्रमाताका सर्वथा भेद नहीं है, सर्वथा अभेद भी नहीं है। कथंचित् भेद है। कथंचित् अभेद है, इत्यादि विवेचनके साथ स्याद्वादसिद्धांतसे इस विषयको बखूबी सिद्ध किया है।

बौद्धोंके द्वारा स्वीकृत तदाकारता भी प्रमाण नहीं है, तादूप्य, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय ये तीनों ज्ञानके विषयको अव्यभिचरितरूपसे नियम नहीं करासकते हैं। सन्निकर्ष और तदाकारता आदिमें भी अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार होते हैं। स्वसंवेदनाद्वैत भी प्रमाण नहीं हो सकता है, सम्यक्ज्ञानका प्रकरण होनेसे मिथ्याज्ञान, संशय आदिको भी प्रमाणता नहीं है। सम्यक्शब्दका अर्थ प्रशस्त है, अविसंवाद है। जितने अंशमें अविसंवादकत्व है उतने अंशमें प्रामाण्य है। मतिश्रुतको एकदेश प्रामाण्य है, अवधिमनःपर्ययको स्वविषयमें पूर्णरूपसे प्रमाणता है। केवलज्ञानको सर्व पदार्थोंमें सर्वांशमें पूर्णरूपसे प्रमाणता है, इत्यादि प्रकारसे ज्ञानपंचकमें प्रमाणपना किस प्रकार घटित होता है इसका विस्तृत विचार किया गया है। प्रसंगवश स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि भी इन्ही प्रमाणद्वयमें ही अंतर्भूत होते हैं, उन्हे स्वतंत्र माननेकी आवश्यकता नहीं है, इसका विचार चलाकर प्रमाणकी उत्पत्ति स्वतः है या परतः, इसका भी विवेचन सयुक्तिक किया है। साथमें इस विषयपर अन्यदर्शनकारोंकी मान्यतापर भी विचार कर उसमें दोष दिया है। यहांपर विद्यानंद स्वामीकी प्रमाणाप्रमाणकी व्यवस्थाका निरूपणकौशल सचमुचमें हृदयंगम है।

अग्रिमसूत्रमें आदिके दो ज्ञान मतिश्रुत उसे परोक्ष प्रमाणके रूपमें समर्थन किया है। यहांपर आचार्यने अन्य वादियोंके द्वारा स्वीकृत अनेक प्रकारके फुटकर ज्ञानोंको केवल मतिश्रुतमें अंतर्भूतकर परोक्ष प्रमाणमें ही उन्हे गर्भित किया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

परोक्ष व प्रत्यक्ष शब्दकी निरुक्तिके साथ मति श्रुतज्ञानको परोक्ष और शेष तीन ज्ञानोंको प्रत्यक्ष सिद्ध करते हुए अन्य वादियोंके द्वारा माने हुए सर्व लक्षणोमें दोषका उद्घाटन किया गया है। इसके बाद 'मतिस्मृतिसंज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम्' के प्रतिपादनसे मतिज्ञानका विस्तृत विवेचन किया है। स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि जितने भी भेद दृष्टिगोचर होते हैं वे सब मतिज्ञानमें या मतिज्ञानके इन भेदोमें अंतर्भूत होते हैं। इसलिए मतिज्ञानके इन प्रकारोंका नामनिर्देश किया है। स्मृति आदिकको नहीं माननेवाले वादियोंके सिद्धांतको उद्धृत कर उसमें अनर्थपरंपराका प्रदर्शन किया है। मतिज्ञान और उसके भेदोंको बहुत ही सुंदर विश्लेषणके द्वारा आवश्यक एवं अनिवार्य सिद्ध करते हुए महर्षिने करीब ४०० वार्तिकोंसे प्रकरणका विस्तार किया है, धन्य है।

इसी प्रकार मतिज्ञानके भेदोंको प्रतिपादन करनेके लिए ' अवग्रहेवायधारणाः ' सूत्रकी व्याख्या करके मतिज्ञानका विषय, और तारतम्य आदिके द्वारा सुसंगत कथन किया है। इसी प्रसंगमें चक्षु और मनको अप्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिए सिद्धांतसमर्थित युक्ति और तर्कसे आचार्य विद्यानंदि स्वामीने जो कौशल दिखाया है, उसे प्रकरणमें अध्ययन करते हुए परमानंद होता है। इस प्रकरणमें अन्य वादियोंकी मान्यताका भी सुंदर विवेचन किया गया है। मतिज्ञानके संबंधमें सांगोपांग, विस्तृत विचारके बाद मूलगत श्रुतज्ञानके संबंधमें, उसके भेदप्रभेदोंके संबंधमें विचार किया गया है। श्रुतज्ञानके अंगबाह्य अंगप्रतिष्ठ आदि भेदोंको प्रतिपादन करते हुए श्रुत-ज्ञानकी प्रामाणिकताको सुंदर ढंगसे सिद्ध किया है।

इसी प्रकरणके साथ यह भाग समाप्त होता है। इस प्रकार इस खंडमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकर-णोंका विवेचन है। दो शब्दोंसे कहा जाय तो करीब ६५० पृष्ठोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका ही विचार है, इससे वार्तिककार और टीकाकारकी विद्वत्ता सहजवेद्य हो सकती है। उसके साथ ही मूल सूत्रकार उमास्वामी महाराजकी अगाधविद्वत्ताका भी पता लगता है। उन्होने गागरमें सागर भर दिया है। ग्रंथकी महत्ताका अनुभव उन प्रकरणोंको स्वयं स्वाध्याय करनेसे ही होता है। तत्वार्थसूत्रके मर्मको समझनेके लिए यह सबसे महान् ग्रंथ है। हिंदी टीकाकार विद्वान् पंडितजीने तो इस महान् कठिन ग्रंथ को सर्व साधारणके लिए भी सहजवेद्य बना दिया है, जिसे साहित्य-संसार कभी भूल नहीं सकता है।

आचार्यश्रीके प्रति श्रद्धांजलि

परमपूज्य, प्रातःस्मरणीय विश्ववंद्य **आचार्य कुंथुसागर** महाराजकी स्मृतिमें ही यह संस्था संचालित हो रही है। आचार्यश्रीकी आंतरिक भावना यह थी कि जैनधर्मके द्वारा ही लोककल्याण हो सकता है, वही विश्वबंधुत्वको प्रस्थापित करनेके लिए समर्थ है, परंतु उसे लोकके सामने योग्य मार्गसे प्रतिपादन करनेकी आवश्यकता है, उसके मार्मिक तत्वोंके रहस्य विश्वके सामने खोलकर

रखनेकी जरूरत है। तभी यह सार्वधर्म आज भी विश्वधर्म सिद्ध हो सकता है। यदि यह कार्य जैनाचार्योंके द्वारा साध्य हुआ तो असंख्य भद्रजीवोंका कल्याण होगा, धर्मका उद्योत होगा, लोकमें शांतिका साम्राज्य स्थापित होगा। यथार्थ अर्थमें धर्मका साक्षात्कार होगा।

इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर परमपूज्य आचार्यश्रीने करीब ४० ग्रंथोंका निर्माण अत्यंत सरल पद्धतिसे, लोकबोधके हेतु किया है जो कि ग्रंथमालाके तत्वावधानमें प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हींकी भावनाके अनुरूप इस महत्प्रकाशनके कार्यमें भी हम आगे बढ रहे हैं। हमें सफलता मिल रही है, इसका हमें हर्ष है। इस सफलताका अभिमान हमें इसलिये है कि हमारे समाजके गुणग्राही विद्वद्वर्ग इस संबंधमें आनंद व्यक्त कर रहे हैं। स्वाध्यायप्रेमी संतोषकी सूचना दे रहे हैं, साधुसंत शुभाशीर्वाद दे रहे हैं। यह सब परमप्रभावक स्व. आचार्यश्रीके तपोबलका ही फल है। अतः इस अवसरमें हम पूज्यश्रीके परोक्ष चरणोंमें हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पण करते हैं।

हमारा निवेदन

इस गुरुतर कार्यमें सर्वश्रेणीके सज्जनोंकी सहायता अपेक्षणीय है। कार्य महान् है, शक्ति अल्प है। अतः प्रमादका होना सुतरां संभव है। हमारे हितैषी मित्र व गुरुजन विद्वज्जनोंसे यह निवेदन है कि वे समय समयपर इस कार्यके लिए उपयुक्त सूचना व परामर्श देते रहें। उनका परमादरपूर्वक उपयोग किया जायगा। प्रमादसे कोई दोष रह गया हो तो उसे प्रेमके साथ सूचित करें, ताकि उसका यथासमय संशोधन होसके, छद्मस्थ व्यक्तियोंसे सर्व गुणसंपन्न कार्यकी अपेक्षा करना ही एक महान् अपराध है।

इस परमपावन कार्यमें जिन २ व्यक्तियोंका हमें सहयोग प्राप्त हुआ उन सबका हम हृदयसे आभार स्वीकार करते हैं, एव पुनश्च उसी भावनाको दुहराते हैं कि श्रीमानोंकी सहायतासे, धीमानोंकी सद्भावनासे, गुरुजनोंके शुभाशिर्वादसे, साधुसंतोंकी शुभ कामनासे एवं सबसे अधिक परमपूज्य आचार्य कुंथुसागर महाराजके परोक्ष प्रबलप्रसादसे यह कार्य उत्तरोत्तर उत्कर्षशील हो एवं हम इस दर्शनसागरके तटपर त्वरित व निरंतराय पहुंचनेमें सफल हों, यही श्री अर्हत्परमेश्वरकी सन्निधिमें प्रतिनित्यकी प्रार्थना है।

विनीत—

सोलापुर
१–७–५३

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री.
ऑ. मंत्री–आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर.

——×——

न हि सम्यग्ज्ञानमत्र लक्षणीयं तस्यादिसूत्रे ज्ञानशब्दनिरुक्त्यैवाव्यभिचारिण्या लक्षितत्वात्, तद्भेदमाश्रित्य मत्यादीनि तु लक्ष्यंते तन्निरुक्तिसामर्थ्यादिति बुध्यामहे। कथं ?

इस अवसर पर सम्यग्ज्ञानका लक्षण करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसका आदिसूत्रमें ही ज्ञान शब्दकी व्यभिचारदोषरहित निरुक्ति करके लक्षण किया जाचुका है। हाँ, उस ज्ञानके भेदोंका आश्रयकर मति, श्रुत, आदिक ज्ञान तो उनकी शब्दनिरुक्तिकी सामर्थ्यसे लक्षणयुक्त होजाते हैं, इस प्रकार हम समझ रहे हैं। तभी तो ग्रन्थकार श्री उमास्वामी महाराजने सम्यग्दर्शनके समान मति आदिकोंके न्यारे न्यारे लक्षण सूत्र नहीं बनाये हैं। शब्दनिरुक्तिका व्यभिचार हो तब तो रूढि अर्थ करना समुचित है, अन्यथा नहीं। मति आदिका शब्दनिरुक्तिसे ही लक्षण कैसे निकलता है ? सो सुनिये–

मत्यावरणविच्छेदविशेषान्मन्यते यया।
मननं मन्यते यावत्स्वार्थं मतिरसौ मता ॥ ३ ॥

मति ज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मके क्षयोपशमरूप विशेषविच्छेद होजानेसे जिस करके अवबोध किया जाता है वह मति है " मन–ज्ञाने " इस दिवादिगणकी धातुसे करणमें क्तिन् प्रत्यय करके मति शब्द साधा गया है। आत्माका स्व और अर्थकी ज्ञप्तिका साधकतमरूप परिणाम विशेष मतिज्ञान है अथवा मननं मतिः इस प्रकार मन धातुसे भावमें क्ति प्रत्यय कर मति शब्द बनाया गया है। आत्माकी अर्थोंका जाननारूप परिणति मति ज्ञप्ति है अथवा मन्यते या सा इति मतिः, जबतक स्वका यानी स्वयं ज्ञानका और अर्थका आत्मा ज्ञान करता है वह आत्माका स्वतंत्रपरिणाम मतिज्ञान माना गया है। इस प्रकार कर्त्तामें क्ति प्रत्यय कर स्वतंत्र आत्मा परिणामी मतिज्ञान होजाता है। इन तीन निरुक्तियोंसे पर्याय और पर्यायीकी भेद अभेदविवक्षा होजानेपर स्वतंत्रता, निर्वर्त्यपना, शुद्ध धात्वर्थरूप आदि परिणतियां घटित होजाती हैं। अतः स्याद्वाद सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं है। देवदत्त हाथसे अपने शिरको दाब रहा है। वृक्ष फलोंके बोझसे शाखाओंको झुका रहा है। आदि स्थानोंपर स्वतंत्रता और परतंत्रताकी विवक्षायें वस्तुपरिणतिके अनुसार होजाती हैं।

श्रुतावरणविश्लेषविशेषाच्छ्रवणं श्रुतम्।
शृणोति स्वार्थमिति वा श्रूयतेस्मेति वागमः ॥ ४ ॥

श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप विगमविशेषसे श्रवण करना श्रुत है। यह भावमें क्त प्रत्यय करके श्रुत शब्दको साधा गया है। इससे वाच्य अर्थकी शब्दजन्य प्रतिपत्ति करना श्रुतज्ञान पडा। अथवा जो स्वतंत्रतासे स्व और अर्थको संकेत गृहीत किये गये शब्द द्वारा सुनता है वह श्रुत है। यह कर्तामें क्त प्रत्यय कर श्रुत शब्द बनाया जाता है अथवा जो वाच्य अर्थ आप्त वाक्य द्वारा सुना

जा चुका है, वह अपने और वाच्य अर्थको जाननेवाला आगमज्ञानरूप श्रुतज्ञान है। इस प्रकार कर्ममें क्त प्रत्यय कर श्रुतज्ञानका लक्षण किया गया है। अनेकान्त मतके अनुसार एक द्रव्यकी अनेक प्रकार परिणतियां होती हैं। एक मनुष्य शरीरमें विराजमान आत्मा कहीं तो अपने प्रयत्नसे रक्त प्रवाह कर रहा है। क्वचित् धातु उपधातुओंको रोक कर साधे बैठा है। कहीं पसीना, मल, आदिके बढ जानेपर उनको निकाल देता है। फोडा, फुंसी होजानेसे उस स्थानपर अपनी सहायता (मदद) भेजता है। भुक्त पदार्थका पित्त, अग्नि द्वारा पाचन कर प्रत्येक स्थानके उपयोगी रस आदिको वितीर्ण कर रहा है। सोजानेपर भी शरीर प्रकृति द्वारा आत्माका कार्य और भी अधिक चालू होजाता है। छोटासा कांटा लग जानेपर निकालो, निकालो, जल्दी दौडो आदि कहते हुए ही मानों आत्माके प्रयत्न काम करनेके लिये झुक पडते हैं और उस कांटेको निकाल फेंकते हैं। अधिक फस जानेपर शत्रुका निकालना कठिनतम होजाता है और कभी कभी तो बलाढ्य शत्रुओंके साथ परस्पर द्वन्द्व युद्ध मच जानेपर आत्माका परलोकवास भी हो जाता है। वृक्षोंमें बैठी हुई आत्मा नाम कर्मके अनुसार फूल, पत्ते, फल, गुठली आदि अवयवोंको जिस अव्यक्त पुरुषार्थसे बनाती है, उसको देखकर आश्चर्य समुद्रमें निमग्न होना पडता है। इन सब विचित्र परिणतिओंके लिए किसी आत्माको प्रमाणपत्र (सर्टिफिकेट) देनेकी आवश्यकता नहीं है। क्यों कि एकेंद्रिय जीवोंसे लेकर पंचेंद्रिय पर्यन्त प्राणी एकसे एक बढिया कार्यको करनेमें संलग्न हो रहे हैं। कौन किसको किस विशिष्ट गुणके उपलक्षमें प्रशंसापत्र देवें ? इसी प्रकार आत्माकी अभ्यंतर श्रुतज्ञानरूप परिणतियां अव्यक्तरूपसे बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थोंसे हो रही हैं। अनेक कार्योंमें कर्म भी प्रधानरूपसे कारण हैं। किन्तु तो भी आत्मा ठलुआ नहीं बैठा है, कर्म निमित्त हैं और आत्मा उपादान है।

अवध्यावृतिविध्वंसविशेषादवधीयते।
येन स्वार्थोवधानं वा सोवधिर्नियतस्थितिः॥ ५॥

अवधिज्ञानको रोकनेवाले अवधिज्ञानावरण कर्मके सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयाभावरूप क्षय और भविष्यमें उदय आनेवाले सर्वघातिस्पर्धकोंका वहीं रुके रहना रूप उपशम, यानी उदीरणाको रोके रहना यह कार्य करना भी आवश्यक और बडा कठिन है। अतः उपशमको कारण कोटिमें डाल दिया है तथा देशघातिस्पर्धकोंका उदय ऐसे क्षयोपशमरूप विध्वंसविशेषसे स्व और अर्थका जिस करके मर्यादाको लिये हुए प्रत्यक्षज्ञान किया जाता है, वह अवधिज्ञान है। अथवा मर्यादाको लिये प्रत्यक्षज्ञान करना भी वह अवधिज्ञान है। इस प्रकार अव उपसर्ग पूर्वक " डुधाञ् धारण पोषणयोः " धातुसे करण या भावमें क्ति प्रत्ययकर अवधि शब्द बनाया है। वह अवधिज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादाको नियत कर व्यवस्थित हो रहा है।

यन्मनः पर्ययावारपरिक्षयविशेषतः ।
मनःपर्ययणं येन मनःपर्येति योपि वा ॥ ६ ॥
स मनःपर्ययो ज्ञेयो मनोत्रार्था मनोगताः ।
परेषां स्वमनो वापि तदालंबनमात्रकम् ॥ ७ ॥

जो ज्ञान मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप विशेष परिक्षयसे अपने या दूसरेके मनमें ठहरे हुये पदार्थोंका जानलिया जाता है या मनोगत पदार्थोंका जिस करके अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान करलिया जाता है, वह मनःपर्यय है अथवा जो ज्ञान मनमें तिष्ठे हुये पदार्थोंको चारों ओरसे स्वतंत्रता पूर्वक प्रत्यक्ष जानता है वह भी मनःपर्यय ज्ञान समझना चाहिये। इस प्रकार मनः उपपदके साथ परि उपसर्ग पूर्वक इण् गतौ धातुसे कर्म, करण, और कर्त्तामें अच् प्रत्यय करनेपर मनःपर्यय शब्द बना है। यहां मनमें स्थित होरहे पदार्थोंका मनः शब्दसे ग्रहण किया गया है। अन्य जीवोंका मन अथवा अपना भी मन उस मनः पर्ययज्ञानका केवल आलंबन (सहारा) है, जैसे कि किसी मुग्ध या स्थूलदृष्टि पुरुषको द्वितीयाके चन्द्रमाका अवलोकन करानेके लिये वृक्षकी शाखाओंके मध्यमेंसे या बादलोंमेंसे लक्ष्य बंधाया जाता है। वहां शाखा या बादल केवल वृद्धयष्टिकाके समान अवलंब मात्र है। वस्तुतः ज्ञान तो चक्षुसे ही उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार अतीन्द्रिय मनःपर्यय ज्ञान तो आत्मासे ही उत्पन्न होता है किन्तु स्वकीय परकीय मनका अवलंब कर ईहा मतिज्ञान द्वारा संयमी मुनिके विकल प्रत्यक्षरूप मनःपर्ययज्ञान होता है।

क्षायोपशमिकज्ञानासहायं केवलं मतम् ।
पदर्थमर्थिनो मार्गं केवंते वा तदिष्यते ॥ ८ ॥

केवल शब्दका अर्थ किसीकी भी सहायता नहीं लेनेवाला पदार्थ है। यह केवलज्ञान अन्य चार क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी सहायताके विना आवरणरहित केवल आत्मासे प्रकट होनेवाला माना गया है। अथवा स्वात्मोपलब्धिके अभिलाषी जीव जिस सर्वज्ञताके लिये मार्गको सेवते हैं, वह केवलज्ञान इष्ट किया गया है। दोनों ही निरुक्तियां अच्छी हैं।

मत्यादीनां निरुक्त्यैव लक्षणं सूचितं पृथक् ।
तत्प्रकाशकसूत्राणामभावादुत्तरत्र हि ॥ ९ ॥
यथादिसूत्रे ज्ञानस्य चारित्रस्य च लक्षणम् ।
निरुक्तेर्व्यभिचारे हि लक्षणांतरसूचनम् ॥ १० ॥

मति आदिक ज्ञानोंका पृथक् पृथक् लक्षण तो शद्वकी निरुक्ति करके ही श्रीउमास्वामी आचार्यने सूचित करदिया है। क्योंकि तभी तो उन मति आदिके लक्षणको प्रकाशनेवाले सूत्रोंका उत्तर ग्रन्थमें अभाव है। जैसे कि आदिके सूत्रमें ज्ञान और चारित्रका लक्षण शद्वनिरुक्तिसे ही सूचित कर दिया है, हां, प्रकृति, प्रत्यय, द्वारा शद्वकी निरुक्ति करनेसे वाच्य अर्थमें यदि व्यभिचार दोष आवे तब तो लक्षणोंको सूचन करनेवाले अन्य सूत्रोंका बनाना आवश्यक है। जैसे कि सम्यग्दर्शनका लक्षण सूत्र न्यारा बनाया गया है, अन्यथा नहीं। विद्वान्को उचित है कि पहिले शद्व ही ऐसा उच्चारण करे जिससे कि अर्थका झटिति बोध हो जाय। हां, कचित् पारिभाषिक, सांकेतिक, शद्वोंका व्याख्यान भी करना पडता है। कारण कि शद्वसंख्यात हैं और प्रतिपाद्य अर्थ असंख्यात हैं, तथा परम्परासे ज्ञेय अर्थ अनन्त भी हैं। ऐसी दशामें कहीं कहीं लक्षण भी करना पडता है। तभी अन्तरङ्ग ज्ञानावरणपटलका विनाश होकर जीवोंके ज्ञाननेत्र उन्मीलित होते हैं।

न मत्यादीनां निरुक्तिस्तल्लक्षणं व्यभिचरति ज्ञानादिवत् न च तदव्यभिचारेपि तल्लक्षणप्रणयनं युक्तमतिप्रसंगात् सूत्रातिविस्तरप्रसक्तिरिति संक्षेपतः सकललक्षणप्रकाशनावहितमनाः सूत्रकारो न निरुक्तिलभ्ये लक्षणे यत्नांतरमकरोत्।

मति, श्रुत आदि शद्वोंकी निरुक्ति उन अपने अपने लक्षणोंका व्यभिचार नहीं करती है, जैसे कि ज्ञान, चारित्र, प्रमाण, आदिका निर्वचन करना ही अपने निर्दोष लक्षणको लिये हुए हैं, और उनका व्यभिचार दोष न होनेपर भी उनके लक्षणोंकी पुनः सूत्रों द्वारा रचना करना युक्त नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। यानी प्रसिद्ध होरहे क्रिया शद्व और लक्षण घटित सरल शद्वोंके भी पुनः लक्षणसूत्र बनाना अनिवार्य होगा और ऐसा होनेसे सूत्रग्रन्थके अधिक विस्तृत होजानेका प्रसंग होगा। टीकाग्रन्थ और उसकी भी टीका विवरणसे सूत्रग्रन्थ बहुत बढ जायगा। इस कारण संक्षेपसे सम्पूर्ण पदार्थोंके लक्षणको प्रकाशनमें जिनका मन संलग्न होरहा है, ऐसे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज निरुक्तिसे ही प्राप्त करलिये गये लक्षणमें पुनः व्यर्थ दूसरा प्रयत्न नहीं करते भये। महामना गम्भीर पुरुषोंका प्रयत्न हितकारक सफल कार्योंमें व्यापृत होता है ठलुआपनके व्यर्थ कार्योंमें नहीं।

स्वंतत्वाल्पाक्षरत्वाभ्यां विषयाल्पत्वतोपि च।
मतेरादौ वचो युक्तं श्रुतात्तस्य तदुत्तरम्॥ ११॥
मतिसंपूर्वतः साहचर्यात् मत्या कथंचन।
प्रत्यक्षत्रितयस्यादाववधिः प्रतिपाद्यते॥ १२॥

सर्वस्तोकविशुद्धित्वात्सुल्लघ्वक्षरभावधिध्वनेः ।
ततः परं पुनर्वाच्यं मनः पर्ययवेदनम् ॥ १३ ॥
विशुद्धतरतायोगात्तस्य सर्वावधेरपि ।
अंते केवलमाख्यातं प्रकर्षातिशयस्थितेः ॥ १४ ॥
तस्य निर्वृत्त्यवस्थायामपि सद्भावनिश्चयात् ।
तेनैव पंचमं ज्ञानं विधेयं मोक्षकारणं ॥ १५ ॥

इकारान्त उकारांत शब्दोंकी व्याकरणमें सु संज्ञा है, सु संज्ञावाले पदोंका द्वन्द्व समासमें पूर्व निपात हो जाता है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन शब्दोंका कैसे भी आगे पीछे प्रयोग कर यदि द्वन्द्व किया जायगा तो सुसंज्ञान्तपद होनेके कारण मति शब्दका पूर्वमें प्रयोग हो जायगा और अल्प अच् या अल्प अक्षर होनेके कारण भी मतिका पूर्वमें प्रयोग करना आवश्यक है तथा सर्व ज्ञानों या श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अल्पविषयक धारणपना होनेसे भी मति पदका श्रुतसे आदिमें वचन बोलना युक्त है। उस मतिज्ञानके पश्चात् श्रुतका प्रयोग करना ठीक है, श्रुतज्ञानके पूर्वमें भले प्रकार मतिज्ञान होता है और किसी अपेक्षा मतिज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सहचरपना भी है। अतः कार्यकारण भावरूप प्रत्यासत्ति या सहचर सम्बन्धसे भी मतिके उत्तरकालमें श्रुतका वचन जच जाता है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन तीन संख्यावाले प्रत्यक्षोंकी आदिमें संपूर्ण प्रत्यक्षोंकी अपेक्षा थोडी विशुद्धि होनेके कारण तथा अवधि शब्दमें मात्राओंका थोडापन होनेके कारण अवधि पहिले कहा गया है। अवधि शब्द सुसंज्ञावाला भी है, उससे पीछे फिर मनःपर्ययज्ञानका प्रयोग करना उचित है। क्योंकि सर्वावधिसे भी उस मनःपर्ययज्ञानके अति अधिक विशुद्धताका योग है। इस अवसरपर यदि गोम्मटसारके सिद्धान्तको मिलाया जाय तो अन्तर दीखता है। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने सर्वावधिका विषय द्रव्य एक परमाणु माना है। किन्तु सूत्रकारकी अकलंक व्याख्याके अनुसार कार्माणद्रव्यका अनन्तवां भागरूप लम्बा चौडा स्कन्ध सर्वावधि ज्ञानका विषय सिद्ध है। गोम्मटसारमें विस्रसोपचयसे रहित अष्टकर्मोंके समयप्रबद्धका अनन्तवां भागरूप स्कंध (टुकडा) विपुलमतिका उत्कृष्ट विषय द्रव्य लिखा है। लगभग यही राजवार्तिकका मन्तव्य है। किन्तु गोम्मटसारके मतसे सर्वावधिके विषय एक परमाणुका यह अनन्तवां भाग तो नहीं, प्रत्युत उससे अनन्तगुणा बडा स्कन्ध है। इस आचार्योंकी आम्नाय अनुसार चले आये हुये मतभेदको एक पथपर ले आनेका हम मन्दबुद्धिजनोंको अधिकार प्राप्त नहीं है। दोनों ही श्रद्धेय हैं। उमास्वामी महाराजके आम्नाय अनुसार सर्वावधिसे ऋजुमति अधिक विशुद्धिवाला है, तथा ज्ञानकी वृद्धिका प्रकर्ष होते होते केवलज्ञानमें प्रकर्षका अन्तिम अतिशय स्थित होगया है। इस कारण सम्पूर्ण ज्ञानोंके अन्तमें केवलज्ञानका कथन

किया है। दूसरी बात यह है कि उस केवलज्ञानका मोक्ष अवस्थामें भी अनन्तकालतक विद्यमान रहनेका निश्चय है। तिस कारण ही मोक्षके कारण पांचवें ज्ञानका अनुष्ठान अन्ततक करने योग्य है। इस प्रकार पांच ज्ञानोंके क्रमसे प्रयोग करनेमें श्रीविद्यानन्द आचार्यने संगति बता दी है। इन बातोंसे सूत्रकारके अन्तरङ्ग महान् पाण्डित्यका सहजमें अनुमान किया जा सकता है। साथमें उस पाण्डित्यको समझनेवालेका भी ॥

न हि सूत्रेस्मिन्मत्यादिशब्दानां पाठक्रमे यथोक्तहेतुभ्यः शब्दार्थन्यायाश्रयेभ्योऽन्येपि हेतवः किं नोक्ता इति पर्यनुयोगः श्रेयांस्तदुक्तावप्यन्ये किन्नोक्ता इति पर्यनुयोगस्यानिवृत्तेः कुतश्चित्कस्यचित्कचित्संप्रतिपत्तौ तदर्थहेत्वंतरावचनमिति समाधानमपि समानमन्यत्र ।

इस सूत्रमें मति आदि शब्दोंके पाठक्रममें शब्दसम्बन्धी और अर्थसम्बन्धी न्यायके आश्रय अनुसार होनेवाले जिस प्रकारके कहे हुये हेतुओंसे अन्य भी कारण श्रीविद्यानन्द स्वामीने क्यों नहीं कहे ? इस प्रकार किसीका कटाक्षसहित प्रश्न उठाना अधिक श्रेष्ठ नहीं है, यानी कुछ अच्छा नहीं है। क्योंकि उन अन्य हेतुओंके कहनेपर भी उनसे अन्य हेतु क्यों नहीं कहे इस प्रकारका कुचोद्य करना फिर भी निवृत्त नहीं हो सकता है। यदि किसी भी हेतुसे किसी भी श्रोताको कहीं भी भले प्रकार प्रतिपत्तिके होचुकनेपर पुनः उसके लिये अन्य हेतुओंका व्यर्थ वचन नहीं किया जाता है। इस प्रकार समाधान करोगे तो अन्यत्र यानी पहले कटाक्षमें भी यही समाधान समान रूपसे लागू होजायगा। भावार्थ—मति आदिक शब्दोंके पहिले पीछे प्रयोग करनेमें वार्तिककारने दो दो तीन तीन हेतु बता दिये हैं। इनसे अतिरिक्त भी हेतु कहे जासकते हैं, जैसे कि विशेषविशेषरूपसे संयमकी वृद्धि होनेपर ही मति आदि ज्ञानोंकी क्रमसे पूर्णता होती है या उत्तरोत्तर ज्ञानोंमें बहिरंग कारणोंकी अपेक्षा कमती कमती होती जाती है किन्तु पदोंके पूर्वापर प्रयोग करनेमें जिस किसी शिष्यको जिस किसी भी उपायसे संतोषजनक प्रतिपत्ति होजाय तो फिर इस अल्पसार कार्यके लिये लम्बे चौडे शास्त्रार्थकी या सभी हेतुओंके बतानेकी आवश्यकता नहीं समझी जाती है। जितना कह दिया उतना ही पर्याप्त है। बहुतसा मूल्यवान् माल गुरुओंकी गांठमें पडा रहता है। सबका अपव्यय नहीं कर दिया जाता है।

ज्ञानशब्दस्य संबंधः प्रत्येकं भुजिवन्मतः ।
समूहो ज्ञानमित्यस्यानिष्टार्थस्य निवृत्तये ॥ १६ ॥

विधेय पदका अन्वय कहीं तो समुदायमें होता है जैसे कि अमुक ग्रामके निवासी मनुष्योंपर स्वच्छता न रखनेके कारण सौ रुपये दण्ड किया जाता है। यहां प्रत्येक मनुष्यपर राजाकी ओरसे सौ सौ रुपये दण्ड नहीं है। किन्तु सम्पूर्ण ग्रामनिवासियोंके ऊपर सामूहिक केवल सौ रुपये दण्ड है और कहीं प्रत्येकमें भी विधेयदलका अन्वय होता है, जैसे कि देवदत्त जिनदत्त और इन्द्रदत्तको भोजन

करा देना। यहां प्रत्येकको तृप्तिपूर्वक भोजन कराया जाता है। अतः यहां भी मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, और केवल इन पांचोंमें प्रत्येकरूपसे भोजनके समान ज्ञान शब्दका सम्बन्ध करना माना गया है। उस कारण पांचोंका समुदाय एक ज्ञान है, इस प्रकार इस अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति हो जाना प्रयोजन सधजाता है। ये पांचों अकेले अकेले स्वतंत्र पांच ज्ञान हैं।

मत्यादीनि ज्ञानमित्यनिष्टार्थो न शंकनीयः, प्रत्येकं ज्ञानशब्दस्याभिसंबंधाद्भुजिवत्। न चायमयुक्तिकः सामान्यस्य स्वविशेषव्यापित्वात् सुवर्णत्वादिवत्। यथैव सुवर्णविशेषेषु कटकादिषु सुवर्णसामान्यं प्रत्येकमभिसंबध्यते कटकं सुवर्णं कुंडलं सुवर्णमिति। तथा मतिर्ज्ञानं, श्रुतं ज्ञानं, अवधिर्ज्ञानं, मनःपर्ययो ज्ञानं, केवलं ज्ञानमित्यपि विशेषाभावात्।

मति आदिक पांचोंका सत्तूके समान मिला हुआ एक पिण्ड होकर एक ज्ञान है, इस प्रकारके अनिष्ट अर्थ हो जानेकी शंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि पांचोंमेंसे प्रत्येक प्रत्येकमें ज्ञान शब्दकी भोजनक्रिया करानेके समान चारों ओर सम्बन्ध हो रहा है। यह कहना युक्तियोंसे रहित नहीं है। क्योंकि सुवर्णत्व, मृत्तिकात्व आदिके समान सामान्य पदार्थ अपने विशेषोंमें व्याप रहा है। जिस ही प्रकार सुवर्णके विशेष परिणाम कडे, केयूर, कुंडल, आदिकोंमें सामान्य रूपसे सुवर्णपना प्रत्येकमें सब ओरसे संबद्ध है; कडुल सोना है। कुंडल सोना है, मुकुट सोना है, इत्यादि। इसी प्रकार मतिनामक ज्ञान है, श्रुत भी ज्ञान है तथा अवधि भी एक ज्ञानविशेष है एवं मनःपर्ययरूप ज्ञान है, केवल भी पूरा ज्ञान है। इन विशेष विशेष ज्ञानोंमें भी सामान्य ज्ञानपनेका सम्बन्ध हो रहा है। कोई अन्तर नहीं है।

सामान्यबहुत्वमेवं स्यादिति चेत्, कथंचिन्नानिष्टं सर्वथा सामान्यैकत्वे अनेकस्वाश्रये सकृद्वृत्तिविरोधादेकपरमाणुवत्। क्रमशस्तत्र तद्वृत्तौ सामान्याभावप्रसंगात् सकृदनेकाश्रयवर्तिनः सामान्यस्योपगमात्। न चैकस्य सामान्यस्य कथंचिद्बहुत्वमुपपत्तिविरुद्धं बहुव्यक्तितादात्म्यात्।

जैनोंके इस प्रकार कहनेपर तो प्रत्येक विशेषमें पूर्णरूपसे व्यापने वाले सामान्य भी बहुत बन जावेंगे ऐसा कटाक्ष करनेपर तो हम जैन कहते हैं कि इस प्रकार सामान्यका कंथाचित् बहुतपना हमको अनिष्ट नहीं है। हाँ, सभी प्रकार सामान्य (जाति) का एकपना माननेपर तो वैशेषिकोंके यहाँ एक निरंश सामान्यका अनेक अपने आश्रयोंमें एक ही समय पूर्णरूपसे वर्तनका विरोध होगा जैसे कि एक परमाणु एक ही समय अनेक स्थानोंपर नहीं ठहर सकता है। यदि उन अनेक आश्रयोंमें उस सामान्यकी क्रम क्रमसे वृत्ति मानी जावेगी तो वैशेषिकोंके द्वारा माने गये लक्षण अनुसार सामान्यके अभावका प्रसंग होगा। वैशेषिकोंने एक ही समय अनेक आश्रयोंमें ठहरनेवाला सामान्य पदार्थ स्वीकार किया है। "नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यं" जो नित्य है एक है और सकृत् अनेकोंमें अनुगत-

रूपसे रहता है वह सामान्य है। किन्तु जैन सिद्धान्त अनुसार सदृशपरिणाम और ऊर्ध्व अंश परिणामको सामान्य माना है। वह व्यक्तियोंसे कथंचित् अभिन्न है। एक सामान्यको बहुत व्यक्तियोंके साथ तादात्म्य हो जानेके कारण कथंचित् बहुतपना प्रमाणसाधनिकाओंसे विरुद्ध नहीं है।

यमात्मानं पुरोधाय तस्य व्यक्तेरतादात्म्यं यं च तादात्म्यं तौ चेद्भिन्नौ भेद एव, नौ चेदभेद एवेत्यपि ब्रुवाणो अनभिज्ञ एव। यमात्मानमाश्रित्य भेदः संव्यवह्रियते स एव हि भेदो नान्यः, यं चात्मानमवलंब्याभेदव्यवहारः स एवाभेद इति तत्प्रतिपत्तौ कथंचिद्भेदाभेदौ प्रतिपन्नावेव तदप्रतिपत्तौ किमाश्रयोऽयमुपालंभः स्यात् प्रतिपत्तिविषयः ?।

जिस स्वरूपको आगे करके उस सामान्यका व्यक्तिसे तदात्मकपना नहीं है और जिस स्वरूपको आगे धरके सामान्यका व्यक्तियोंके साथ तादात्म्य है, यदि सामान्य और वे दोनों स्वरूप परस्परमें भिन्न हैं, तब तो सामान्य और व्यक्तियोंका भेद ही ठहरेगा, यदि वे दोनों स्वरूप परस्परमें अभिन्न हैं तो सामान्य और विशेष व्यक्तियोंमें सर्वदा अभेद ही ठहरेगा, इस प्रकार भी कहनेवाला शंकाकार जैनसिद्धान्तको भले प्रकार नहीं समझनेवाला ही है। कारण कि जिस स्वरूपका आसरा लेकर भेदका अच्छा व्यवहार किया जाता है वह स्वरूप ही भेदरूप है। अन्य धर्म और धर्मी भेद रूप नहीं हैं तथा जिस आत्मस्वरूपका अवलम्ब लेकर व्यक्ति और सदृशपरिणामोंका अभेद व्यवहार किया जाता है वही अभेद है। उनका अन्य शरीर अभेद रूप नहीं है। भेद अभेद तो आपेक्षिक धर्म हैं। इस प्रकार उनकी प्रतीति होनेपर कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद समझ लिये गये ही कहने चाहिये। यदि उन स्वरूपोंकी प्रतिपत्ति शंकाकारको नहीं हुई तो किसका आश्रय लेकर यह उलाहना देना प्रतिपत्तिका विषय हो सकेगा ? बताओ ?। तुमने स्वयं ही कथंचित् भेदाभेदको स्वीकार करलिया दीखता है।

पराभ्युपगमाश्रय इति चेत् स यदि तवात्रासिद्धः कथमाश्रयितव्यः। अथ सिद्धः कथमुपालंभो विवादाभावात्। अथ परस्य वचनादभ्युपगमः सिद्धः स तु सम्यग्मिथ्या चेति विवादसद्भावादुपालंभः श्रेयान् दोषदर्शनात् गुणदर्शनात् क्वचित्समाधानवदिति चेत्, कस्य पुनर्दोषस्यात्र दर्शनं ? अनवस्थानस्येति चेन्न, तस्य परिहृतत्वात्। विरोधस्येति चेन्न, प्रतीतौ सत्यां विरोधस्यानवतारात्। संशयस्येति चेन्न, चलनाभावात्।

यदि सर्वथा भेदवादी या अभेदवादी शंकाकार यों कहें कि हमने दूसरे वादी जैनोंके माने हुये कथंचित् भेद अभेदका आश्रय लेकर भेद अभेदको जानकर ही यों उलाहना दिया ऐसा मानने पर तो हम कहेंगे कि वह जैनोंका स्वीकार करना यदि तुमको इस प्रकरणमें असिद्ध है, तब तो वह कैसे आश्रयणीय हो सकेगा ? अब उन जैनोंके वहां इष्ट किये गये कथंचित् भेद अभेदके

स्वीकारको यदि सिद्ध मानोगे, तो वह उलाहना कैसे हुआ ? क्योंकि प्रमाणसिद्ध पदार्थमें किसीको विवाद नहीं हुआ करता है। इसपर यदि तुम्हारा यह नया आक्षेप होय कि दूसरे जैनोंके कथन मात्रसे उनके स्वीकार करनेको हमने थोडी देरके लिये सिद्ध मान लिया है, किन्तु वह समीचीन या मिथ्या है ? इसमें विवाद विद्यमान है। इस कारण दोषोंके दीख जानेसे उलाहना देना बहुत ठीक है, जैसे कि गुणोंके दीख जानेसे कहीं समाधान करना श्रेष्ठ हो जाता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि फिर कौनसे दोषका इस कथंचित् भेद अभेदमें दीखना होरहा है ? बताओ तो सही भाइओ ! अनवस्था दोषका दीखना कहो, यह तो ठीक नहीं, क्योंकि उस अनवस्था दोषका परिहार पहले प्रकरणोंमें किया जा चुका है। कथंचित् भेद अभेदमें विरोध दोषका दीखना यह भी ठीक नहीं पडेगा, क्योंकि अनुपलम्भ होनेसे विरोध साधा जाता है। दोनों धर्मोकी एक स्थान में प्रतीति होनेपर तो विरोधदोष नहीं उतरता है। भेद अभेदके अनेकान्तमें संशय दोषका दीखना यह तो नहीं सम्भवता है। क्योंकि एक धर्मीमें चलायमान दो आदि वस्तुओंकी प्रतिपत्ति कर लेना संशयज्ञान है। किन्तु यहां कथंचित् भेद अभेदमें प्रतिपत्तियोंका चलितपना नहीं है।

वैयधिकरणस्यापि न दर्शनं, सामान्यविशेषात्मनोरेकाधिकरणतयावसायात्। संकर-व्यतिकरयोरपि न तत्र दर्शनं तद्व्यतिरेकेणैव प्रतीतेः। मिथ्याप्रतीतिरियमिति चेन्न, सकल-बाधकाभावात्।

न्यारे न्यारे भेद और अभेदका भिन्न भिन्न ही अधिकरण होगा। इस प्रकारके वैयधिकरण दोषका भी दर्शन नहीं है। क्योंकि सामान्यरूप विशेषरूपका एक अधिकरणमें रहनेपने करके निर्णय हो रहा है, उन भेद अभेदोंमें दोनों धर्मोकी युगपत् प्राप्ति हो जानारूप संकर और परस्परमें धर्मोका विषय गमनरूप व्यतिकर दोषोंका भी दीखना नहीं है। क्योंकि उन संकीर्णपन और व्यति-कीर्णपनरूपसे अतिरिक्तस्वरूप करके ही कथंचित् भेद अभेदकी प्रतीति हो रही है। यह प्रतीति तो मिथ्या है, यह न कहना। क्योंकि संपूर्ण बाधकप्रमाणोंका अभाव है। घटको जाननेवाले आत्मा से घटज्ञान अभिन्न है, क्योंकि न्यारा नहीं किया जा सकता है। तथा आत्माके नहीं नष्ट होते हुये भी घटज्ञान विघट जाता है। इस कारण आत्मासे घटज्ञान भिन्न है। ऐसे ही सामान्य और विशेषमें भी लगा लेना। यानी कथंचित् सामान्य विशेष भी एकमएक हो रहे हैं।

विशेषमात्रस्य सामान्यमात्रस्य वा परिच्छेदकप्रत्ययः बाधकमिति चेन्न, तस्य जातुचित्तदपरिच्छेदित्वात्, सर्वजात्यंतरस्य सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनस्तत्र प्रतिभासनात् प्रत्यक्षपृष्ठभाविनि विकल्पे तथा प्रतिभासनं न प्रत्यक्षे निर्विकल्पात्मनीति चेन्न, तस्या सिद्धत्वात् सर्वथा निर्विकल्पस्य निराकरिष्यमाणत्वात्।

" प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणद्वैविध्यं " के अनुसार प्रत्यक्षप्रमाणसे विशेष और अनुमानसे सामान्यको विषय हुआ माननेवाला यदि यहां कोई यों कहें कि केवल विशेषका और अकेले रीते

सामान्यका परिच्छेद करनेवाला ही ज्ञान होता है, दोनोंको कोई भी एक ज्ञान नहीं जान पाता है। अतः सामान्य और विशेषको अभेदरूपसे जाननेवाले जैन अभिमत ज्ञानका बाधक है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वह समीचीन ज्ञान कभी भी उन अकेले सामान्य या रीते विशेषको परिच्छेद करनेवाला नहीं है। उस प्रतीतिमें तो सम्पूर्ण एकान्तोंसे निराली ही जातिवाली सामान्य, विशेष, आत्मक वस्तुका प्रतिभास हो रहा है। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि सर्वथा भेद अभेदसे तीसरी ही जातिके कथंचित् भेद अभेदको लिये हुये सामान्य विशेषरूप पदार्थका उस प्रकार प्रतिभास हो जाना तो प्रत्यक्ष प्रमाणके पीछे होनेवाले झूंठे विकल्प ज्ञानमें होता है। ठीक वस्तुको जाननेवाले निर्विकल्पस्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञानमें तो सामान्य विशेष आत्मक वस्तु नहीं प्रतिभासती है। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष असिद्ध है। सभी प्रकार ज्ञानोंके निर्विकल्पक होनेका भविष्य ग्रन्थमें हम निराकरण करनेवाले हैं। सभी ज्ञान साकार हो रहे सन्ते सविकल्प हैं।

अनुमानं बाधकमिति चेन्न, तस्य विशेषमात्रग्राहिणोऽभावात् सामान्यमात्रग्राहिवत्। सामान्यविशेषात्मन एव जात्यंतरस्यानुमानेन व्यवस्थितेः। यथा हि। सामान्यविशेषात्मकमखिलं वस्तु, वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेः। वस्तुत्वं हि तावदर्थक्रियया व्याप्तं सा च क्रमयौगपद्याभ्यां, ते च स्थितिपूर्वापरभावत्यागोपादानाभ्यां, ते च सामान्यविशेषात्मकत्वेन सामान्यात्मनोपाये स्थित्यसंभवात्। विशेषात्मनोसंभवे पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्यानुपपत्तेः। तदभावे क्रमयौगपद्ययोगादनयोरर्थक्रियानवस्थितेः न कस्यचित्सामान्यैकांतस्य विशेषैकांतस्य वा वस्तुत्वं नाम खरविषाणवत्।

सामान्य, विशेष, आत्मक वस्तुको जाननेवाले ज्ञानका बाधक प्रमाण अनुमान है, यह तो न कहना। क्योंकि केवल विशेषोंको ही ग्रहण करनेवाले उस अनुमानका अभाव है, जैसे कि केवल सामान्यको ही ग्रहण करनेवाला अनुमान नहीं सिद्ध है। प्रत्युत सर्वथाभेद अभेदोंसे भिन्न तीसरी जातिवाले सामान्य विशेष आत्मक ही वस्तुकी अनुमान प्रमाण करके ग्रहण व्यवस्था होरही है। वह जिस प्रकार है सो सुनिये। सम्पूर्ण वस्तुयें (पक्ष) सामान्य और विशेष अंशोंके साथ तदात्मक हो रही हैं (साध्य) अन्यथा वस्तुपना नहीं बन सकता है (हेतु) इस हेतुका आचार्य समर्थन करते हैं कि पहले इस बातको। समझो कारण कि वस्तुपना तो अर्थक्रियारूप साध्यसे व्याप्त हो रहा है और वे अर्थक्रियायें अर्थमें क्रमसे होंगी अथवा युगपत् होंगी। अतः वे अर्थक्रियायें क्रम और यौगपद्यसे व्याप्त हो रही हैं तथा वे दोनों क्रमयौगपद्य भी ध्रौव्यके साथ रहनेवाले पूर्वस्वभावोंका त्याग और उत्तर स्वभावोंका ग्रहण करनारूप परिणामसे व्याप्त हैं और वे स्थितिसहित हान उपादानत्रय भी सामान्य, विशेष, आत्मकपनेके साथ व्याप्ति रखते हैं। क्योंकि वस्तुके सामान्य

स्वरूपका निषेध करनेपर स्थिति होना असंभव है और वस्तुके विशेष स्वरूपका सम्भव न माननेपर पूर्वस्वभावोंका त्याग और उत्तर स्वभावोंका ग्रहण करना नहीं बनता है तथा तिस परिणामके न होनेपर क्रमयौगपद्यका अयोग होजानेसे इन केवल सामान्य और केवल विशेषमें अर्थक्रिया होनेकी व्यवस्था नहीं होगी। इस कारण किसी भी सामान्य एकान्तको अथवा केवल विशेष एकान्तको वस्तुपना नाममात्रको भी नहीं है जैसे कि दोनोंसे रहित खरविषाण अवस्तु है, उसीके समान विशेषरहित सामान्य या सामान्यरहित विशेष भी अवस्तु है (निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत् सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि) यहां वस्तुका व्यापक अर्थक्रिया और अर्थक्रियाका व्यापक क्रमयौगपद्य है तथा क्रमयौगपद्योंके व्यापक स्थितिपूर्वक पूर्वापर स्वभावोंके त्याग उपादान हैं। उन त्याग उपादानोंका व्यापक सामान्यविशेष आत्मकपना है। अन्तिम व्यापकके न माननेसे पहिलेके सब व्याप्य न माने जासकेंगे। ऐसी दशामें कोई भी अर्थक्रिया नहीं बन सकती है। अर्थक्रियाके विना फिर वस्तुपन कहां रहा ?।

न हि सामान्यं विशेषनिरपेक्षं कांचिदप्यर्थक्रियां संपादयति, नापि विशेषः सामान्यनिरपेक्षः, सुवर्णसामान्यस्य कटकादिविशेषाश्रयस्यैवार्थक्रियायामुपयुज्यमानत्वात् कटकादिविशेषस्य च सुवर्णसामान्यानुगतस्यैवेति सकलाविकलजनसाक्षिकमवसीयते। तद्वदिह ज्ञानसामान्यस्य मत्यादिविशेषाक्रांतस्य स्वार्थक्रियायामुपयोगो मत्यादिविशेषस्य च ज्ञानसामान्यान्वितस्येति युक्ता ज्ञानस्य मत्यादिषु प्रत्येकं परिसमाप्तिः। ततश्च मत्यादिसमूहो ज्ञानमित्यनिष्टोर्थो निवर्तितः स्यात्।

अकेला सामान्य अपने विशेषोंकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ किसी भी अर्थक्रियाका संपादन नहीं कर सकता है। ब्राह्मण, म्लेच्छ, भोगभूमियां, आदि विशेषव्यक्तियोंसे रहित सामान्य मनुष्य कोई वस्तु नहीं है फिर भला वह अर्थक्रियाको कैसे करेगा ? तथा अकेला विशेष भी सामान्यकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ किसी भी अर्थक्रियाको नहीं बना सकता है, जैसे कि मनुष्यपनेसे रहित ब्राह्मण आदिक व्यक्तियां न कुछ होती हुई किसी कामकी नहीं हैं। खडुआ, बरा, हंसुली आदि विशेष परिणतियोंके आश्रय होता हुआ ही सुवर्ण सामान्य अर्थक्रियाको करनेमें उपयुक्त हो रहा है, तथा कडे, बाजू आदिक विशेष भी सुवर्णपन सामान्यसे अन्वित हो रहे संते ही अर्थक्रिया करनेमें उपयोगी बन रहे हैं। यह एक जीवको भी न छोडकर अविकलरूपसे सम्पूर्ण मनुष्योंकी साक्षी (गवाह) पूर्वक निश्चित किया जा रहा है। उसीके समान इस प्रकरणमें मति आदिक विशेषोंसे घिरे हुये ही ज्ञानसामान्यका प्रमितिरूप अपनी अर्थक्रिया करनेमें उपयोग हो रहा है और ज्ञान सामान्यासे अन्वित हो रहे हुये मति आदि विशेषोंका अपनी अपनी अर्थक्रिया करनेमें लक्ष्य लग रहा है। इस कारण कारिकाके अनुसार ज्ञानशब्दकी मति, श्रुत, आदिक प्रत्येकमें चारों ओरसे

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाप्ति (घेरा) करदेना और तिससे मति, श्रुत, आदि सबका समूह एक ज्ञान है यह अनिष्ट अर्थ निवृत्त करा दिया जाय ।

कुतोयमर्थोनिष्टः ? केवलस्य मत्यादिक्षयोपशमिकज्ञानचतुष्टयांसंपृक्तस्य ज्ञानत्वविरोधात् । मत्यादीनां चैकशः सोपयोगानामुक्तज्ञानांतरासंपृक्तानां ज्ञानत्वव्याघातात् तस्य प्रतीतिविरोधाच्चेति निश्चीयते ।

कोई जैनोंसे पूंछता है कि पांचोंको मिला करके एक ज्ञानपना हो जाना यह अर्थ जैनोंको किस कारणसे अनिष्ट है ? बताओ । इसका उत्तर श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुये मति, श्रुत, अवधि, और मनःपर्यय इन चारों ज्ञानोंके साथ नहीं सम्पर्क रखनेवाले केवलज्ञानको ज्ञानपनेका विरोध होगा, अर्थात्–छठमेंसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक किसी एक मुनिमहाराजके चारों ज्ञान लब्धिरूपसे एक समयमें भले ही हो जांय, किन्तु ज्ञानावरणके क्षय होनेपर उत्पन्न हुये केवलज्ञानका उक्त चारों ज्ञानसे साहचर्य नहीं है । केवलज्ञान तो केवल ही रहेगा । जिन चारों ज्ञानोंमें देशघाति प्रकृतियोंके उदयको कारणता प्राप्त है, ज्ञानावरणके सर्वथा क्षय हो जानेपर तेरहवें गुणस्थानके आदिमें उत्पन्न हुआ केवलज्ञान भला उसकी सहयोगिता कर भी कैसे सकेगा ? कहना यह है कि उपयोगस्वरूप मति आदि चार ज्ञान भी तो एक समयमें नहीं पाये जासकते हैं, अतः उन चारोंको भी मिलाकर एक ज्ञानपना असम्भव है । लब्धिरूप नहीं किन्तु उपयोग सहित हो रहे मति, श्रुत आदि एक एक ज्ञानका जो कि कहे हुये उपयोग सहित अन्य श्रुत आदिसे अछूते हो रहे हैं उनको ज्ञानपनेका व्याघात हो जावेगा तथा मति आदिक एक एकको जब ज्ञानपना प्रतीत हो रहा है तो समुदितको एक ज्ञानपनेका प्रतीतियोंसे विरोध है ऐसा निश्चय किया जा रहा है। एक समयमें दो उपयोग नहीं होते हैं। हां, ज्ञानोंकी चार और दर्शनोंकी तीन इस प्रकार सात लब्धियां किसी मुनि महाराजके भले ही हो जायें, मनःपर्यको छोडकर छह लब्धियां तो नारकी और पशुओंके भी पाई जा सकती हैं । किन्तु उपयोग तो अकेले मतिज्ञानके भी दो रासनप्रत्यक्ष या स्पर्शन प्रत्यक्ष एक समयमें नहीं होते हैं । मुरमुरी कचौडीके खानेपर भी उपयोगस्वरूप पांच ज्ञान क्रमसे ही होते हुए माने गये हैं । अवग्रह ईहा आदि भी आत्मामें क्रमसे उपजते हैं ।

किं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलान्येव ज्ञानमिति पूर्वावधारणं द्रष्टव्यं तानि ज्ञानमेवेति परावधारणं वा तदुभयमविरोधादित्याह ।

यहां प्रश्न है कि इस सूत्रमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये ही ज्ञान हैं । इस प्रकार क्या उद्देश्यदलके साथ पहला अवधारण देखना चाहिये ? अथवा वे मति आदिक ज्ञान ही हैं ? क्या इस प्रकार उत्तर विधेयदलमें एव लगा कर अवधारण करना आवश्यक है ? आप जैनोंने पहले ही कह दिया है कि जिन वाक्योंमें एवकार नहीं भी दीखे उनमें भी उपरिष्टात् देख

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

लेना चाहिये। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि वे दोनों ही अवधारण विरोध न होनेके कारण हमको अभीष्ट हैं। इसी बातको वार्तिकद्वारा कहते हैं।

मत्यादीन्येव संज्ञानमिति पूर्वावधारणात्।
मत्यज्ञानादिषु ध्वस्तसम्यग्ज्ञानत्वमूह्यते ॥ १७ ॥
संज्ञानमेव तानीति परस्मादवधारणात्।
तेषामज्ञानतापास्ता मिथ्यात्वोदयसंसृता ॥ १८ ॥

मति, श्रुत, आदिक पांचों ही समीचीन ज्ञान हैं। इस प्रकार पूर्वके अवधारणसे कुमति, कुश्रुत और विभंगमें सम्यग्ज्ञानपन नष्ट कर दिया गया। विचार लिया जाता जाता है तथा वे मति आदिक सम्यग्ज्ञान ही हैं। इस प्रकार पिछले अवधारणसे मिथ्यात्व कर्मके उदय करके संसरण करती हुई अज्ञानता उनमें से दूर करदी गयी समझ लेना चाहिये। भावार्थ—चौथेसे लेकर बारहवें गुणस्थानतक संभवनेवाले मति, श्रुत, अवधि और छठेसे लेकर बारहवेंतक सम्भवते मनःपर्यय तथा तेरहें, चौदहवें और सिद्ध अवस्थामें अवश्य पाये जा रहे, केवलज्ञान इन पांचोंको ही सम्यग्ज्ञानपना है। पहले और दूसरे गुणस्थानके कुमति, कुश्रुत, विभंगको और तीसरे गुणस्थानके मिश्रज्ञानोंको समीचीन ज्ञानपना नहीं है, तथा वे मति आदि पांचों सम्यग्ज्ञान नहीं हैं, अज्ञान या कुज्ञानरूप नहीं है।

न ह्यत्र पूर्वापरावधारणयोरन्योन्यं विरोधोस्त्येकतरव्यवच्छेदस्यान्यतरेणानपहरणात् नापि तयोरन्यतरस्य वैयर्थ्यमेकतरसाध्यव्यवच्छेदस्यान्यतरेणासाध्यत्वादित्यविरोध एव।

इस सूत्रके "देवनारकाणामुपपादः" के समान पूर्व अवधारण और उत्तर अवधारणोंका परस्परमें विरोध नहीं है। क्योंकि दोनोंमें से एकद्वारा व्यवच्छेदको प्राप्त हुये का शेष दूसरे करके दूरीकरण नहीं होता है। इस ही कारण इन दोनोंमेंसे किसी एक अवधारणका व्यर्थपना भी नहीं है। क्योंकि दोनोंमेंसे किसी एकके द्वारा साधा गया व्यवच्छेद होनारूप कार्य शेष दूसरे एक करके असाध्य है। इस प्रकार दोनों एवकारोंमें परस्पर अविरोध ही रहा। देवनारकियोंके ही उपपाद जन्म होता है। और उपपाद जन्म ही देवनारकिओंके होता है। यहां भी विरोध नहीं।

किं पुनरत्र मतिग्रहणात् सूत्रकारेण कृतमित्याह—

इस सूत्रमें मति शब्दके ग्रहण करनेसे सूत्रकारने फिर क्या किया है, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर विद्यानंद आचार्य समाधानको स्पष्ट कहते हैं।

मतिमात्रग्रहादत्र स्मृत्यादेर्ज्ञानता गतिः।
तेनाक्षमतिरेवैका ज्ञानमित्यपसारितम् ॥ १९ ॥

सानुमा सोपमाना च सार्थापत्त्यादिकेत्यपि ।
संवादकत्वतस्तस्याः संज्ञानत्वाविरोधतः ॥ २० ॥

मतिज्ञानके सभी भेद प्रभेदोंका यहां मतिसे ग्रहण हो जाता है, इस कारण स्मृति, तर्क, प्रत्यभिज्ञान आदिको ज्ञानपना जान लिया जाता है। उससे इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान ही एक मतिज्ञान है, ऐसे चार्वाकके सिद्धान्तका निवारण कर दिया गया समझो तथा अनुमानसहित इन्द्रिय-जन्य ज्ञान (प्रत्यक्ष) ये दो ही मतिज्ञान हैं, यह वैशेषिक या बौद्धोंका मत भी दूर हो जाता है। अनुमान और उपमान सहित होती हुई इन्द्रियजन्य मति ही प्रमाण है। अनुमान, उपमान, अर्था-पत्ति, शाद्ध, अभाव, संभव, ऐतिह्य, आदिसे सहित होती हुई इन्द्रियमतिप्रमाण हैं। इस प्रकार तीन, चार, पांच, आदि प्रमाणोंके माननेवाले कपिल, नैयायिक, आदिकोंका मन्तव्य भी निवारित हो जाता है; क्योंकि इनमेंसे किसीने भी स्मृति या तर्कज्ञानको प्रमाण नहीं माना है। किन्तु सफलप्रवृत्तिका जनकपना रूप सम्वादकपनेसे उन स्मृति आदिकको भी समीचीन ज्ञानपनेका कोई विरोध नहीं है। जैनसिद्धान्तके अनुसार मतिके पेटमें इन्द्रियजन्य बुद्धियां स्मृति, व्याप्तिज्ञान, उपमान, वैसादृश्य ज्ञान, अर्थापत्ति, आदि सब समा जाते हैं।

अक्षमतिरेवैका सम्यग्ज्ञानमगौणत्वात् प्रमाणस्य नानुमानादि ततोर्थनिश्चयस्य दुर्लभत्वादिति केषांचिद्दर्शनं । सानुमानसहिता सम्यग्ज्ञानं स्वलक्षणसामान्ययोः प्रत्यक्षप-रोक्षयोरर्थयोः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामवगमात् ताभ्यां तत्परिच्छित्तौ प्रवृत्तौ प्राप्तौ च विसंवा-दाभावादित्यन्येषां । सैवानुमानोपमानसहिता सम्यग्ज्ञानं, उपमानाभावे तथा चात्र धूम इत्युपनयस्यानुपपत्तेरिति परेषां । सैवानुमानोपमानार्थापत्त्यभावसहितागमसहिता च सम्यग्ज्ञानं तदन्यतमापायेर्थापरिसमाप्तेरितीतरेषां । तन्मतिमात्रग्रहणादपसारितं ।

स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान ही एक सम्यग्ज्ञान है। क्योंकि प्रमाण गौणपनेसे रहित होता है। संसारमें प्रमाण ही तो न्यायाधीशके समान प्रधान है। अनुमान, स्मृति, आदिक तो प्रत्यक्षकी सहायता चाहते हैं। अतः गौण होनेसे प्रमाण नहीं हैं। तथा उन अनुमान आदिकसे अर्थका निश्चय होना दुर्लभ है। इस प्रकार किन्हीं बृहस्पति मतके अनुयायियोंका चार्वाक दर्शन है। तथा वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो अनुमानसहित होता हुआ सम्यग्ज्ञान है। यानी प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण हैं। स्वलक्षण तो प्रत्यक्षसे ज्ञेयरूप अर्थ है और सामान्य परोक्षरूप अर्थ है। प्रमेय विषयके भेदसे प्रमाणोंका भेद होना माना गया है। स्वलक्षणरूप प्रत्यक्षयोग्य विषयकी तो प्रत्यक्षप्रमाणसे ज्ञप्ति हो जाती है। और सामान्यरूप परोक्ष विषयकी अनुमान प्रमाणसे ज्ञप्ति हो जाती है। ज्ञान द्वारा जिसको जाना जाय उसीमें प्रवृत्ति की जाय और उस ही विषयकी प्राप्ति होवे, उस ज्ञानको सम्वादी कहते हैं। जाना जाय किसीको, प्रवृत्ति होय अन्यमें

तथा तीसरा विषय हाथ लगे यह विसम्वाद है। उन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे उन स्वलक्षण और सामान्य विषयोंकी ज्ञप्ति, प्रवृत्ति और प्राप्ति करनेमें विसम्वाद नहीं हो रहा है। इस प्रकार अन्य विद्वान् बौद्धोंका मत है। अनुमान प्रमाण और उपमान प्रमाणसे सहित वह इन्द्रिय मति ही सम्यग्ज्ञान हैं। क्योंकि बौद्धोंके सदृश यदि हम भी उपमानको न मानेंगे तो उस प्रकार 'वह्निके साथ व्याप्ति रखनेवाला वैसा ही धूम यहां हैं' इस उपनय वाक्यकी सिद्धि न हो सकेगी। अतः अनुमानके पांच अवयवोंमेंसे उपनयके बिगड जानेपर भला अनुमान प्रमाण कैसे स्थित रह सकेगा ? इस कारण तीनको प्रमाण मानना चाहिये। यह अन्य लोगोंका मत है। आगमको मिलाकर चार ही प्रमाणोंको माननेवाले नैयायिक हैं। तथा अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अभावोंसे सहित हुई और आगमसे भी सहित हुई वह अक्षमति (प्रत्यक्ष) ही सम्यग्ज्ञान है। क्योंकि इन उक्त प्रमाणोंमेंसे एकके भी अभाव हो जानेपर ज्ञान होनारूप प्रयोजनकी परिपूर्णता नहीं होने पाती है। इस प्रकार इतर (उक्तोंसे न्यारे) मीमांसकोंका सिद्धान्त है। वे सब अन्य मतियोंके दर्शन सम्पूर्ण (उन) मतिज्ञानोंके ग्रहण करनेसे दूर कर दिये जाते हैं। जिसमें कि प्रमाणतारूपसे स्मृति और तर्क प्रविष्ट हो रहे हैं।

ततः स्मृत्यादीनां सम्यग्ज्ञानतावगमात् तथावधारणाविरोधात्। न च तासां प्रमाणत्वं विरुद्धं संवादकत्वाद्। दृष्टप्रमाणाद्गृहीतग्रहणादप्रमाणत्वमिति चेन्न, इष्टप्रमाणस्याप्यप्रमाणत्वप्रसंगादिति चेतयिष्यमाणत्वात्।

तिस कारण स्मृति, तर्क, आदिकोंको सम्यग्ज्ञानपनेका निर्णय हो जानेसे तिस प्रकार दोनों ओरके अवधारणोंका कोई विरोध नहीं आता है। उन स्मृति, आदिकोंको प्रमाणपना विरुद्ध नहीं है। क्योंकि स्मृति आदिक ज्ञान सम्वाद करानेवाले हैं। जैसे कि प्रत्यक्षज्ञान। यदि यहां कोई यों कहें कि प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा ग्रहीत किये गये विषयका ग्रहण करनेवाले होनेसे स्मृति, तर्क, आदिको प्रमाणपना नहीं है, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यों तो अपने अपने इष्ट प्रमाणोंको भी अप्रमाणपनेका प्रसंग होगा, इस बातको भविष्य ग्रन्थमें भले प्रकार चेता दिया जायगा। भावार्थ—चार्वाकोंके यहां अन्य गुरु, माता, पिता या दूर देशवर्त्ती मनुष्योंके भूत, भविष्यत्, वर्तमानकालके प्रत्यक्षोंमें प्रमाणपना अगौणत्व हेतु द्वारा अनुमानसे ही आसकेगा, स्वयं बृहस्पतिके भूत भविष्यत प्रत्यक्षोंको प्रमाणपन सिद्ध करनेमें अनुमानकी शरण लेनी पडेगी, अनुमान तो व्याप्ति ज्ञानसे ग्रहीत किये गये विषयोंमें ही प्रवर्तता है। इस प्रकार चार्वाकोंके इष्ट प्रत्यक्षमें कथंचित् गृहीतको ग्रहण करनेवालापन होनेसे प्रमाणपना न आसकेगा। बौद्ध, नैयायिक, आदि द्वारा इष्ट किये गये अनुमान, आगम, आदि ज्ञानोंमें तो कथंचित् गृहीतका ग्राहकपना है ही। अतः सर्वथा अगृहीतको ही जानना इनमें नहीं रहा। हां, कुछ गृहीत कुछ अगृहीतको

जाननेवाले भी यदि प्रमाण माने जायेंगे तब तो सबसे पहले स्मरण और व्याप्तिज्ञान आदि प्रमाणके स्थानोंको घेर लेंगे। कोई निरोधक नहीं है।

श्रुतवचनं किं कृतमित्याह :

श्रुत शद्ब करके यहां सूत्रमें क्या किया गया है, ऐसी जाननेकी इच्छा होनेपर आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

श्रुतस्याज्ञानतामिच्छंस्तद्वाचैव निराकृतः।
स्वार्थेक्षमतिवत्तस्य संविदित्वेन निर्णयात् ॥ २१ ॥

जो चार्वाक, बौद्ध, नास्तिक, आदि वादी श्रुतज्ञानको प्रमाणपना नहीं चाहते हैं, उन वादियोंका उस सूत्रोक्त श्रुत शद्ब करके ही खण्डन करदिया गया है। इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान जैसे अपने और अपने विषयके जाननेमें सम्वादी होनेके कारण प्रमाणरूप मानागया है, उसीके समान स्व और अर्थके जाननेमें सम्वादीपन होनेके कारण श्रुतज्ञानका भी प्रमाणपनेसे निर्णय है। नास्तिकवादी भी चिट्ठी, सम्वादपत्र, पुस्तकें, आदिको बांचकर तथा माता, पिता, गुरु, मित्र, पुत्र, स्त्री आदिके वाक्योंको सुनकर अर्थान्तरका ज्ञान करता है, यही तो श्रुतज्ञान है। बौद्धोंके भी अनेक ग्रन्थ हैं। उनको पढकर जो होगा वही तो श्रुतज्ञान है, चार्वाकोंके भी शास्त्र हैं। शद्बसे जन्य ज्ञानको माने विना गूंगे और कहनेवाले महान् वक्तामें कोई विशेषता नहीं। मूर्खको पण्डित बनानेमें या बालकको उत्तरोत्तर ज्ञानशाली बनानेमें शद्ब ही प्रधान कारण हैं। पशुपक्षियों तकमें शब्दसे उत्पन्न हुआ वाच्य अर्थका ज्ञान देखा जाता है। हां, कहीं कहीं विसम्वाद हो जानेसे सभी श्रुतज्ञानोंको यदि अप्रमाण कहा जायगा तब तो सीपमें चांदीका ज्ञान होना एक चंद्रमाको दो जान लेना आदि प्रत्यक्षोंके अप्रमाण हो जानेसे सभी प्रत्यक्ष अप्रमाण हो जायंगे। हां, प्रत्यक्षाभासके समान श्रुतज्ञानाभास भी मान लिया जायगा।

न हि श्रुतज्ञानमप्रमाणं कचिद्विसंवादादिति ब्रुवाणः स्वस्थः प्रत्यक्षादेरप्यप्रमाणत्वापत्तेः। संवादकत्वात्तस्य प्रमाणत्वे तत एव श्रुतं प्रमाणमस्तु, न हि ततोर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोर्थक्रियायां विसंवाद्यते प्रत्यक्षानुमानत इव श्रुतस्याप्रमाणतामिच्छन्नेव श्रुतवचनेन निराकृतो द्रष्टव्यः।

श्रुतज्ञान अप्रमाण है, क्योंकि कहीं कहीं विसम्वाद हो जाता है। अर्थात्—गप्पाष्टकें, उपन्यास पुस्तकें, कवियोंकी उत्प्रेक्षायें, आदि अनेक अंशोमें झूंठी पडती हैं। छोटे बालकोंसे सताया गया वृद्ध मनुष्य झूंठ बोल देता है कि नदीके किनारे लड्डुओंके ढेर लग रहे हैं। हे लडके, तुम लोग वहां

दौड जाओ। कभी कभी जिसको जानते हैं उसमें प्रवृत्ति और प्राप्ति भी नहीं होती है। अतः श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार कहनेवाला वादी स्वस्थ नहीं है। मत्तके समान अव्यवस्थित होकर करनेवाला है। क्योंकि योंतो यानी कहीं कहीं विसम्वाद हो जानेसे सभी ज्ञानोंमें यदि अप्रमाणपना धर दिया जायगा, गधे, घोडे सब एक भावसे हांके जायेंगे " टकासेर भाजी टकासेर खाजा " वेचा जायगा, तब तो प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिकोंको भी अप्रमाणपनेकी आपत्ति आवेगी, ये भी तो कोई कहीं, विसम्वादी हो रहे हैं। यदि झूंठे ज्ञानोंको टालकर उन सच्चे ज्ञानोंमें सम्वादकपनेसे प्रमाणपना मानोगे तो तिस ही कारण श्रुतज्ञान भी प्रमाण हो जाओ। कारण कि उस श्रुतज्ञानसे अर्थको जानकर प्रवर्तनेवाला पुरुष अर्थक्रियामें विसम्वादी नहीं होता है। जैसे कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे अर्थको जानकर प्रवृत्ति करनेवाला पुरुष ठगाया नहीं जाता है। हां, प्रमाणपन और अप्रमाणपनका विवेक करना आवश्यक है। यहां सूत्रमें श्रुतवचन करके श्रुतज्ञानकी अप्रमाणताको चाहनेवाला पुरुष ही परास्त कर दिया गया विचार लेना चाहिये या इस विषयको स्पष्ट देख लेना चाहिये।

अत्रावध्यादिवचनात् किं कृतमित्याह।

इस सूत्रमें अवधि आदि अर्थात् अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान के कथनसे क्या किया गया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य व्याख्यान करते हैं।

जिघ्रत्यतींद्रियज्ञानमवध्यादिवचोबलात्।
प्रत्याख्यातसुनिर्णीतबाधकत्वेन तद्गतेः ॥ २२ ॥

जो चार्वाक जडवादी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षको ही मानते हैं, अतीन्द्रियप्रत्यक्षको स्वीकार नहीं करते हैं, किंतु उन अतीन्द्रियज्ञानोंके बाधक कारणोंका प्रत्याख्यान भले प्रकार निर्णीत हो चुका है, अतः उन अतीन्द्रिय प्रत्यक्षोंकी सिद्धि हो जाती है। जगत्में बाधकोंके असंभवका भले प्रकार निर्णय हो जानेसे पदार्थोंकी सत्ता मानली जाती है। करोडपति धनिकके रुपयोंको एक एक कर कौन ठलुआ गिननेको बैठे हैं ? केवल बाधकाभावसे कोटि अधिपतिकी सत्ता मानली जाती है। सम्भावनावश असंख्य पदार्थोंको बाजार या देशान्तर कालान्तरोंमें साधारण लोग जान रहे हैं। उसमें भी बाधकोंका नहीं उपस्थित होना ही निर्णायक है। औषधियोंमें रोगको दूर करनेकी शक्तियोंका बहिरंग इन्द्रियोंसे जन्य प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। फिर भी बाधकोंके खण्डन किये जा चुकनेका भली भांति निर्णय हो जानेसे अनुमान द्वारा शक्तियोंका ज्ञान कर लिया जाता है। प्रथमसे ही उपादानोंमें कार्यका ज्ञान भी योंही होता है। इस सूत्रमें अवधि आदिकके वचनकी सामर्थ्यसे अतीन्द्रिय ज्ञानोंके उपादान करनेकी गन्ध आरही है, बहिरंग इन्द्रियोंका अतिक्रम कर

केवल आत्माकी सहायतासे उत्पन्न हुये अतीन्द्रिय ज्ञान हैं, जैसे कि अन्य लोगोंने भावनाज्ञान या योगिप्रत्यक्षको माना है। कल मेरा भाई आवेगा, चांदीका भाव चढ जायगा, कुछ दिनमें लढाई ठनेगी, कुछ आपत्ति आनेवाली है, इत्यादि ज्ञान यद्यपि श्रुतज्ञान हैं, फिर भी मन इन्द्रियद्वारा विशेष उपयोग लग जानेसे किन्हींने इनको प्रत्यक्षसदृश माना है। जैनोंने भी स्वानुभूतिको केवलज्ञान सदृश कहीं कहीं लिख दिया है, बात यह है कि अतींद्रिय प्रत्यक्षोंका मानना दार्शनिकोंको अनिवार्य पडेगा।

सिद्धे हि केवलज्ञाने सर्वार्थेषु स्फुटात्मनि।
कात्स्न्येंन रूपिषु ज्ञानेष्ववधिः केन बाध्यते ॥ २३ ॥

सोनेमें किट्ट कालिमाके समान अज्ञान, कषाय, आदि दोष और ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक आवरणोंकी हानि क्रमक्रमसे बढती हुयी देखी जा रही है। अतः वह किसी आत्मामें पूर्ण रूपसे भी हो चुकी है। जिस आत्मामें आवरण सर्वथा नहीं हैं, वही लोकालोकको जाननेवाला केवल ज्ञानी है, तथा सूक्ष्म, व्यवहित, और विप्रकृष्ट पदार्थ (पक्ष) किसी न किसीके प्रत्यक्ष हैं। (साध्य) हम लोगोंके अनुमान, आगमोंद्वारा जाने गये होनेसे (हेतु) जैसे कि अग्नि, इन्दौर, पुराने बाबा, आदि किसी न किसीके प्रत्यक्ष हैं [थे]। इस प्रकार त्रिकाल त्रिलोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थोंमें अत्यन्त विशदस्वरूप ज्ञान करनेवाले केवलज्ञानके सिद्ध हो जानेपर यथायोग्य संसारी जीव और पौद्गलिकरूपी पदार्थोंहीमें पूर्णरूपसे विशद हो रहे, ज्ञानोंमें भला अवधिज्ञान किसके द्वारा बाधा जा सकता है ? अर्थात् सबको स्पष्ट जाननेवाला केवलज्ञान जब सिद्ध हो चुका तो केवल रूपीपदार्थोंको स्पष्टरूपसे जाननेवाला अवधिज्ञान तो सुलभतासे सिद्ध हो जाता है। " सहस्रे पञ्चाशत् " सहस्रमें पचास तो अवश्य हैं।

परचित्तागतेष्वर्थेष्वेवं संभाव्यते न किम्।
मनःपर्ययविज्ञानं कस्यचित्प्रस्फुटाकृति ॥ २४ ॥

जब केवलज्ञान सिद्ध हो चुका तो इसी प्रकार दूसरेके या अपने चित्तोंमे प्राप्त हुये अर्थोंमें किसी आत्माके अधिक विशद आकारोंवाला हो रहा, मनःपर्यय ज्ञान क्यों नहीं सम्भवनीय है ? अर्थात् सबका दादा गुरु केवलज्ञान प्रसिद्ध हो चुका है तो उसके शिष्यसमान अवधि, मनःपर्यय, तो क्लृप्त हैं। अपने और पराये मनद्वारा व्यक्त अव्यक्तरूपसे चीते, नहीं चीते, अधचीते यथायोग्य ढाई द्वीपके पदार्थोंका विशद प्रत्यक्ष करनेवाला विकल्पयुक्त मनःपर्यय ज्ञान किसी संयमीके हो जाता है।

स्वल्पज्ञानं समारभ्य प्रकृष्टज्ञानमंतिमम्।
कृत्वा तन्मध्यतो ज्ञानतारतम्यं न हन्यते॥ २५ ॥

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके अपने सम्भवे हुये छह हजार बारह बारह जन्म मरण कर अन्तमें तीन मोडाकी गतिसे मरनेका प्रकरण प्राप्त होनेपर विग्रह गतिके पहले समयमें सबसे छोटा जघन्य ज्ञान होता है। संक्लेशकी कुछ हीनता हो जानेसे दूसरे समयमें ज्ञान बढ जाता है। अक्षरके अनन्तवें भाग स्वल्पज्ञानका प्रारम्भ कर अनन्तवार छह वृद्धियोंके अनुसार अन्तिम प्रकर्षताको प्राप्त हुए केवलज्ञानतक अतिशय करके करके उनके मध्यरूपसे होनेवाले ज्ञानोंका तारतम्य किसीके द्वारा नहीं बाधित होता है। अर्थात्—गजभरके कपडेसे लेकर चालीस गजतकके थानमें मध्यवर्ती गजोंसे नपे हुये वस्त्र भी हैं। छटांकसे लेकर सेरभरतकके चूनमें मध्यवर्त्ती तौलोंका भी सद्भाव है। इसी प्रकार निरावरण जघन्य ज्ञान और केवलज्ञानके बीचमें होनेवाले देशप्रत्यक्षरूप अवधिमनःपर्ययोंकी सिद्धि हो जाती है। अथवा मति श्रुत और केवलज्ञानके मध्यवर्ती अबाध मनःपर्यय तो " तन्मध्यपतितस्तज्ग्रहणेन गृह्यते " इस परिभाषाके अनुसार उपात्त हो जाते हैं।

न ह्येवं संभाव्यमानमपि युक्त्यागमाभ्यामवध्यादिज्ञानत्रयमतींद्रियं प्रत्यक्षेण बाध्यते तस्य तदविषयत्वाच्च। नाप्यनुमानेनार्थापत्त्यादिभिर्वा तत एवेत्यविरोधः सिद्धः।

युक्ति और आगमोंके द्वारा इस उक्त प्रकार सम्भावना किये जा रहे भी अवधि आदिक तीन अतींन्द्रिय ज्ञान तुम्हारे वाहे:इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षों करके तो बाधित नहीं होते हैं। क्योंकि वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष उन अतींद्रिय ज्ञानोंको विषय नहीं करता है। जो ज्ञान जिसको विषय नहीं करता है, वह उसका साधक या बाधक नहीं होता है। जैसे कि चाक्षुष ज्ञानका बाधक रासन ज्ञान नहीं होता है। तथा अनुमान प्रमाण करके अथवा अर्थापत्ति, उपमान, आदि प्रमाणों करके भी तिस ही कारण यानी उनको विषय करनेवाले न होनेसे अवधि आदि तीन प्रत्यक्षोंको बाधा प्राप्त नहीं होती है। इस प्रकार अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके साथ अनुमान आदि प्रमाणोंका अविरोध सिद्ध होगया। समीचीनज्ञान तो परस्परमें विरोधको नहीं रखते हुये प्रत्युत सहायक हो जाते हैं। प्रमाणसंप्लव माना गया है। तथा प्रमाणोंकी भी प्रमाणोंसे ही सिद्धि होती है। एक रोगीकी चिकित्सा सुमतिवाले अनेक वैद्य कर सकते हैं। तथा वैद्यके बीमार होनेपर अन्य वैद्योंसे उसकी चिकित्सा (इलाज) की जाती है।

कश्चिदाह, मतिश्रुतयोरेकत्वं साहचर्यदेकत्रावस्थानादविशेषाच्चेति तद्विरुद्धं साधनं तावदाह।

कोई स्पष्टवक्ता प्रश्न कर रहा है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों साथ साथ रहते हैं। और एक आत्मामें दोनों अवस्थान करते हैं, तथा दोनोंमें कोई विशेषता भी नहीं है। इन हेतुओंसे मति और श्रुतका एकपना हो जाओ। इस प्रकार कह चुकनेपर सबसे पहले आचार्य यह स्पष्ट दोष कहते हैं कि मति और श्रुतके अभेदको साधनेवाले हेतु विरुद्ध हैं। सुनिये—

न मतिश्रुतयोरैक्यं साहचर्यात्सहस्थितेः ।
विशेषाभावतो नापि ततो नानात्वसिद्धितः ॥ २६ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका सहचरपनेसे अथवा एक आत्मामें साथ साथ स्थिति होनेसे एकपना नहीं है तथा परस्परमें विशेषता न होनेसे भी एकपना जो साधागया है सो ठीक नहीं है। क्योंकि तिन हेतुओंसे तो प्रत्युत नानापनकी सिद्धि होती है, जैसे कि अमावस्याके दिन सूर्य और चन्द्रमाका सहचरपना अनेकपनके साथ व्याप्ति रखता है, एक आत्मामें ज्ञान, सुख, तथा एक आम्र फलमें रूप और रसका अवस्थान हो रहा है, किन्तु वे अनेक हैं। इसी प्रकार सजातीय गौओं या रुपयोंमें अनेकपना होनेपर ही अविशेषता देखी जाती है।

साहचर्यादिसाधनं कथंचिन्नानात्वेन व्याप्तं सर्वथैकत्वे तदनुपपत्तेरिति तदेव साधयेन्मतिश्रुतयोर्न पुनः सर्वथैकत्वं तयोः कथंचिदेकत्वस्य साध्यत्वे सिद्धसाध्यतानेनैवोक्ता ।

प्रश्नकर्त्ताके द्वारा एकपना साधनेमें दिये गये साहचर्य आदि हेतु तो विरुद्ध हैं। वे तीनों हेतु कथंचित् नानापनके साथ व्याप्त हो रहे हैं। सर्वथा एकपन माननेपर वे सहचरपना आदिक नहीं बन पाते हैं। इस कारण वे हेतु उस कथंचित् नानापनको ही साधेंगे, किन्तु फिर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके सर्वथा एकपनेको नहीं। हां, उन दोनों ज्ञानोंमें कथंचित् एकपनेको साध्य करनेपर तो हम जैनोंको सिद्धसाध्यता है। यह इस कथंचित् अनेकत्वके साथ हेतुओंकी व्याप्तिका समर्थन कर देनेसे कह दी गयी समझ लेना चाहिये।

साहचर्यमसिद्धं च सर्वदा तत्सहस्थितिः ।
नैतयोरविशेषश्च पर्यायार्थनयार्पणात् ॥ २७ ॥

और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे विचारा जाय तब तो वे तीनों हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हैं। कारण कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानरूप पर्यायें आत्मामें क्रमसे ही होती हैं। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी आदि नक्षत्रोंके उदयसमान क्रमवर्त्ती पर्यायोंमें व्यक्तिरूपसे सहचरपना नहीं है। तथा सदा ही आत्मामें उन पर्यायोंकी साथ साथ स्थिति भी नहीं है। एक समयमें छद्मस्थ जीवोंके दो उपयोग नहीं हो पाते हैं। तथा मति और श्रुतमें पर्यायदृष्टिसे अविशेषपना भी नहीं है, किन्तु बडा भारी अन्तर है। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने " सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो। सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥ " इस गाथा द्वारा केवलज्ञानके सदृश श्रुतज्ञानको माना है। आठवेंसे लेकर बारहवें तक गुणस्थानोंमें प्रधानरूपसे श्रुतज्ञान ही ध्यानका स्वरूप धारण कर कर्मप्रकृतियोंको काट रहा है। हां, मतिज्ञानमें शुद्धआत्माका मानस प्रत्यक्ष होना

सभी श्रुतज्ञानोंसे बढिया पदार्थ है, फिर उसमें भी श्रुतका अभ्यास कारण है। किन्तु मतिज्ञान तो इतना व्यापक नहीं है। अतः पक्षमें नहीं ठहरनेके कारण उक्त तीनों हेतु असिद्ध हैं।

सामान्यार्पणायां हि मतिश्रुतयोः साहचर्यादयो न विशेषार्पणायां पौर्वापर्यादिसिद्धेः। कार्यकारणभावादेकत्वमनयोरेव स्यादिति चेत् न ततोऽपि कथंचिद्भेदसिद्धेस्तदाह।

सामान्यकी अपेक्षा विचारा जाय तो मतिश्रुत ज्ञानोंमें सहचरपना आदि धर्म ठहर जाते हैं, किन्तु विशेष परिणामोंकी विवक्षा करनेपर तो पहिले पीछे होनापन आदिकी सिद्धि हो रही है। यदि कोई यों कहे कि मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, इस प्रकार पूर्वापर पदार्थोंमें कार्यकारण भाव होनेसे इन मतिश्रुतका एकपना हो जावेगा, आचार्य कहते हैं कि यों तो न कहना। क्योंकि तिस कार्य कारण भावसे भी उनमें कथंचित् भेद ही सिद्ध होगा। उसको आचार्य वार्तिकद्वारा स्पष्ट कहते हैं। सुनो—

कार्यकारणभावात्स्यात्तयोरेकत्वमित्यपि।
विरुद्धं साधनं तस्य कथंचिद्भेदसाधनात्॥ २८॥

कार्यकारण भाव होनेसे उन श्रुतज्ञान और मतिज्ञानमें अभेद है, इस अनुमानका हेतु भी विरुद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि वह कार्यकारणभाव तो कथंचित् भेदका साधन करता है। सर्वथा एक हो रहे घट, घट, या ज्ञान, ज्ञानका कार्यकारणभाव नहीं माना गया है। अतः एकत्वरूप साध्यसे विपरीत कथंचित् भेदके साथ व्याप्तिको रखनेके कारण तुम्हारा कहा गया कार्यकारणभाव-हेतु विरुद्ध है।

न ह्युपादानोपादेयभावः कथंचिद्भेदमंतरेण मतिश्रुतपर्याययोर्घटते यतोस्य विरुद्धसाधनत्वं न भवेत्, कथंचिदेकत्वस्य साधने तु न किंचिदनिष्टम्।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानरूप पर्यायोंका कारण कार्यरूपसे हो रहा उपादान उपादेयपना कथंचित् दोनोंमें भेदको माने विना नहीं घटित होता है जिससे कि इस कार्यकारणभाव हेतुको विरुद्ध हेत्वाभासपना न हो सके। हां, कथंचित् एकपनेका दोनोंमें साधन कियाजाय तब तो हम स्याद्वादियोंके यहां कोई अनिष्ट नहीं है। द्रव्यकी पूर्वपर्याय उपादान होती है और उस द्रव्यकी उत्तरपर्याय उपादेय होती है। मतिके एक समय ही पीछे श्रुतज्ञान होता है, अतः मति उपादान है, श्रुत उपादेय है। किन्तु उत्पत्तिकी अपेक्षा श्रुतज्ञानका मतिज्ञान निमित्तकारण है। क्योंकि श्रुतज्ञानकी धारामें कैई क्षण पूर्वमें रहनेवाला मतिज्ञान भी कारण माना गया है।

गोचराभेदतश्चेन्न सर्वथा तदसिद्धितः।
श्रुतस्यासर्वपर्यायद्रव्यग्राहित्ववाच्यपि॥ २९॥

केवलज्ञानवत्सर्वतत्त्वार्थग्राहितास्थितेः ।
मतेस्तथात्वशून्यत्वाद्व्यथा स्वगतशतेः ॥ २० ॥

पुनः कोई यदि यों कहे कि मति और श्रुतके विषय एक हैं, इस कारण वे दोनों एक हो जायेंगें । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योंकि उसमें सभी प्रकार विषयोंका अभेद पाया जाना असिद्ध है । अतः विषय अभेद भी हेतु स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास हुआ । श्रुतज्ञानको असर्व पर्याय और सर्वद्रव्योंके ग्राहकपनेका वचन होते हुये भी केवलज्ञानके समान सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंकी ग्राहकता सिद्ध हो रही है और मतिज्ञानको तिस प्रकार परोक्षरूपसे सम्पूर्ण अर्थोंकी ग्राहकतापनका अभाव है । अन्यथा यानी ऐसा नहीं मानकर दूसरें प्रकारोंसे माननेपर तो बौद्ध, नैयायिक, मीमांसक, आदि वादियोंको भी जैनोंके समान अपने सिद्धान्तोंकी क्षति प्राप्त होगी ।

" मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु " इति वचनाद्गोचराभेदस्ततस्तयोरेकत्वमिति न प्रतिपत्तव्यं सर्वथा तदसिद्धेः । श्रुतस्यासर्वपर्यायद्रव्यग्राहित्ववचनेपि केवलज्ञानवत्सर्वतत्त्वार्थग्राहित्ववचनात् । " स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने " इति तद्व्याख्यानात् ।

श्री उमास्वामी महाराजका सूत्र है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषयनिबन्ध सम्पूर्ण द्रव्य और असम्पूर्ण पर्यायोंमें है । इस कथन द्वारा विषयका अभेद मानकर फिर उस विषय अभेदसे उन मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका एकपना साधा जाय, यह तो नहीं समझना चाहिये। क्योंकि सभी प्रकार वह विषयोंका अभेद असिद्ध है । देखिये, श्रुतज्ञानको अल्पपर्यायें और सम्पूर्ण द्रव्योंके ग्राहकपनका वचन होते हुये भी केवलज्ञानके समान सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंके ग्राहकपनका वचन है । श्री समन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें उमास्वामी महाराजके उस सूत्रका इस प्रकार व्याख्यान किया है कि स्याद्वाद यांनी श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही सम्पूर्ण तत्त्वोंका प्रकाश करनेवाले हैं । भेद इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्षरूपसे सम्पूर्ण पदार्थोंको जानता है और केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रत्यक्ष रूपसे जानता है, किन्तु इसका विशेष विवरण अष्टसहस्रीमें किया गया है ।

न मतिस्तस्यास्तर्कात्मिकायाः स्वार्थानुमानात्मिकायाश्च तथा भावरहितत्वात् । न हि यथा श्रुतमनंतव्यंजनपर्यायसमाक्रांतानि सर्वद्रव्याणि गृह्णाति न तथा मतिः । स्वमतसिद्धांतेऽस्याः वर्णसंस्थानादिस्तोकपर्यायविशिष्टद्रव्यविषयतया प्रतीतेः । स्वमतविरोधोपि तस्यान्यथैवावतारात् तयोरसर्वपर्यायद्रव्यविषयत्वमात्रमेव हि स्वसिद्धांते प्रसिद्धं न पुनरनंतव्यंजनपर्यायाशेषद्रव्यविषयत्वमिति तद्व्याख्यानमप्यविरुद्धमेव बाधकाभावादिति न विषयाभेदस्तदेकत्वस्य साधकः ।

किन्तु मतिज्ञान तो ऐसा श्रुतके सदृश नहीं है, तर्कस्वरूप अथवा स्वार्थानुमानस्वरूप भी उस मतिज्ञानमें सबसे बडे मतिज्ञानको तिसप्रकार श्रुतज्ञानके समान सर्व तत्त्वोंका ग्राहकपना नहीं है, जिस प्रकार अनन्त व्यंजनपर्यायोंसे चारों ओर घिरे हुये संपूर्ण द्रव्योंको श्रुतज्ञान ग्रहण करता है। तिस प्रकार मतिज्ञान नहीं जानता है। अपने जैनमतके सिद्धान्तमें वर्ण, रस, संस्थान, आदि मोटी मोटी थोडीसी पर्यायोंसे विशिष्ट हो रहे द्रव्यको विषय करनेपनसे इस मतिज्ञानकी प्रतीति हो रही है। अतः अपने मतसे विरोध भी आता है। क्योंकि उसका दूसरे प्रकार ही व्याख्यान द्वारा अवतार है। उन मति और श्रुत दोनोंके केवल असर्व पर्याय और द्रव्योंको विषय करनापन ही अपने सिद्धान्तमें प्रसिद्ध हो रहा है। किंतु फिर दोनोंको अनन्त व्यंजनपर्याय और सम्पूर्ण द्रव्योंको विषय करलेनापन नहीं माना गया है। यानीं अकेला श्रुतज्ञान ही अनन्त व्यंजनपर्यायोंसे सहित सम्पूर्ण द्रव्योंको जान सकता है। इस प्रकार उस सूत्रका व्याख्यान करना भी अविरुद्ध ही पडता है। क्योंकि कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इस कारण विषयका अभेद होना उन मति, श्रुतज्ञानोंके एकपनका साधक नहीं है। कहां समुद्र और कहां सरोवर।

इंद्रियानिंद्रियायत्तवृत्तित्वमपि साधनम्।
न साधीयोप्रसिद्धत्वाच्छ्रुतस्याक्षानपेक्षणात् ॥ ३१ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका अभेद सिद्ध करनेके लिये दिया गया बहिरंग इन्द्रिय और अन्तरंग इन्द्रियके अधीन होकर प्रवर्त्तना रूप हेतु भी अधिक अच्छा नहीं है। क्योंकि पक्षमें नहीं रहनेके कारण सुलभतासे असिद्ध हेत्वाभास है। श्रुतज्ञानको स्पर्शन आदि बहिरंग इंद्रियोंकी कथमपि अपेक्षा नहीं है। यों परम्परासे विचारा जाय तब तो मोक्षको बंधकी अपेक्षा है। अन्न, फल, आदि भक्ष्य पदार्थोंको अभक्ष्य मलमूत्र युक्त खातकी अपेक्षा है। प्रकाशको अन्धकारकी अपेक्षा है। वस्तुतः न्यायशास्त्रकी दृष्टिसे देखा जाय तो परम्परासे कारण पडनेवाले पदार्थोंको प्रकृत कार्यका कारणपना ही प्राप्त नहीं है। पितामह [बाबा] अपनी पौत्री [नातिनी] को बेटी कह देता है। किंतु पुत्रवधूको स्वपत्नी कहनेसे महान् पापका भागी होकर लोकनिंद्य हो जायगा। भाइयो! लोकप्रसिद्ध स्थूलव्यवहारके अनुसार सूक्ष्मकार्य कारणभावको न घसीटो।

मतिश्रुतयोरेकत्वमिंद्रियानिंद्रियायत्तवृत्तित्वादित्यपि न श्रेयः साधनमसिद्धत्वात्। साक्षादक्षानपेक्षत्वाच्छ्रुतस्य, परंपरया तु तस्याक्षापेक्षत्वं भेदसाधनमेव साक्षादसाक्षादक्षापेक्षयोर्विरुद्धधर्मध्याससिद्धेः ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान [पक्ष] में एकपनाही है। (साध्य) इन्द्रिय और मनके अधीन होकर प्रवृत्ति करनेवाले होनेसे (हेतु) अर्थात्—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनोंके कारण इन्द्रिय

और मन हैं। आचार्य कहते हैं कि यह हेतु भी श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि इसमें स्वरूपासिद्ध दोष है। साक्षात् अव्यवहित रूपसे श्रुतज्ञान इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं करता है। हां, परम्परासे तो उस श्रुतज्ञानको बहिर् इन्द्रियोंकी अपेक्षा है, किन्तु एतावता उनके भेदकी ही सिद्धि होगी, मतिज्ञानको साक्षात् रूपसे बहिरंग इन्द्रियोंकी अपेक्षा है। और श्रुतज्ञानको व्यवहितरूपसे बहिरंग इन्द्रियोंकी अपेक्षा है। इस प्रकार विरुद्धधर्मोंसे आरूढपनेकी सिद्धि हो जानेसे मति और श्रुतमें भेद सिद्ध हो जायगा। अतः उक्त हेतु विरुद्ध भी हुआ।

नार्निंद्रियनिमित्तत्वादीहनश्रुतयोरिह ।
तादात्म्यं बहुवेदित्वाच्छ्रुतस्येहाव्यपेक्षया ॥ ३२ ॥
अवग्रहगृहीतस्य वस्तुनो भेदमीहते ।
व्यक्तमीहा श्रुतं त्वर्थान् परोक्षान् विविधानपि ॥ ३३ ॥

एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रियजीवोंतक अवग्रह मतिज्ञान ही पाया जाता है। ईहा, अवाय, धारणा तो संज्ञी जीवोंके ही होते हैं। इस प्रकरणमें ईहामतिज्ञान और शब्दजन्य वाच्य अर्थ ज्ञानरूप श्रुतज्ञानका निमित्त कारण मन है। अतः मति और श्रुतमें मनको निमित्तपना हो जानेसे दोनोंका तादात्म्य है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्यों कि ईहा मतिज्ञानकी अपेक्षासे श्रुतज्ञान बहुत अधिक विषयको जाननेवाला है। अवग्रहसे ग्रहण की गयी वस्तुके विशेष अंशोमें संशय होनेपर उसके निरासको लिये प्रवर्त्तता हुआ और तव्यप्रत्ययान्तसे कहा गया ऐसा ईहा ज्ञान वस्तुके केवल थोडे भेद अंशका प्रकटरूपसे ईहन करता है। और श्रुतज्ञान तो नाना प्रकारके परोक्ष अर्थोंको भी जानता है। कहां तो बिन्दुमात्र ईहा ज्ञानका विषय और कहां श्रुतज्ञानका समुद्रसमान अपरिमित विषय। ऐसी दशामें भला ईहामतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? अर्थात्–नहीं हो सकते हैं। यों तो सभी ज्ञानोंमें उपादान कारण एक आत्मा है। इतने ही से क्या सभी ज्ञान एक हो जायंगे ? कभी नहीं।

न हि यादृशमनिंद्रियनिमित्तत्वमीहायास्तादृशं श्रुतस्यापि। तन्निमित्तत्वमात्रं तु न तयोस्तादात्म्यगमकमविनाभावाभावात् सत्त्वादिवत्।

यद्यपि ईहा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही मनसे होते हैं। किन्तु जिस प्रकारका ईहाज्ञानका निमित्तपना मनको प्राप्त है, उस सरीखा श्रुतज्ञानका भी निमित्तपना मनमें नहीं है। कुलालका घटको और पुत्रको उत्पन्न करनेमें निमित्तपना न्यारा न्यारा है। हां, केवल सामान्यरूपसे उस मनका निमित्तपना तो उन मति और श्रुतके तादात्म्यकपनका गमक हेतु नहीं है। क्योंकि प्रकरणप्राप्त हेतु और साध्यकी अविनाभावरूप व्याप्ति नहीं बनती है। जैसे कि सामान्यधर्म सत्ता या द्रव्यत्व आदि

हेतुओंसे जड चेतन, आकाश पुद्गल, मुक्त, संसारी, आदिमें एकपना नहीं साधा जाता है। पशुपनसे गधे और घोडेमें सर्वथा एकपना साधनेवाला पहिली श्रेणीका मूर्ख है।

केचिदाहुर्मतिश्रुतयोरेकत्वं श्रवणनिमित्तत्वादिति, तेपि न युक्तिवादिनः। श्रुतस्य साक्षाच्छ्रवणनिमित्तत्वासिद्धेः तस्यानिंद्रियवत्त्वादृष्टार्थसजातीयविजातीयबनानार्थपरामर्शन-स्वभावतया प्रसिद्धत्वात्।

कोई वादी यहां इस प्रकार कहरहे हैं कि कर्ण इन्द्रियको निमित्त पाकर मतिज्ञान और श्रुत-ज्ञान होते हैं, इस कारण दोनोंका एकपना है, ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहनेवाले वे वादी भी युक्तिपूर्वक कहनेकी टेव रखनेवाले नहीं हैं। क्योंकि कर्णइन्द्रियको साक्षात् निमित्त मानकर श्रुत-ज्ञानका उत्पन्न होना असिद्ध है। कर्णइन्द्रियजन्य मतिज्ञानमें तो अव्यवहित रूपसे निमित्तकारण कर्ण इन्द्रिय है। हां, बहुतसे श्रुतज्ञान शद्बको सुनकर वाच्य अर्थकी ज्ञप्तिके लिये उत्पन्न होते हैं। उनमें परम्परासे कर्णइन्द्रिय कारण है। कानसे शद्बोंको सुनकर कर्णजन्य मतिज्ञान होता है, पश्चात् संकेत ग्रहणका स्मरण होता है, पुनः वाच्य अर्थका ज्ञान हुआ श्रुतज्ञान समझा जाता है। "श्रुतमनिन्द्रियस्य" इस सूत्रके अनुसार उस श्रुतज्ञानकी अनिन्द्रियवान्पना यानी मनको निमित्त मानकर उत्पन्न होने पन और प्रत्यक्षसे नहीं देखे गये सजातीय और विजातीय अनेक अर्थोंका विचार करनारूप स्वभा-वोंसे सहितपने करके प्रसिद्धि होरही है।

श्रुत्वावधारणाद्ये तु श्रुतं व्याचक्षते न ते तस्य श्रोत्रमतेर्भेदं प्रख्यापयितुमीशते। श्रुत्वावधारणाच्छ्रुतमित्याचक्षाणाः शद्बं श्रुत्वा तस्यैवावधारणं श्रुतं सप्रतिपन्नास्तदर्थस्याव-धारणं तदिति प्रष्टव्याः। प्रथमकल्पनायां श्रुतस्य श्रवणमतेरभेदप्रसंगोऽशक्यप्रतिषेधः, द्वितीयकल्पनायां तु श्रोत्रमतिपूर्वमेव श्रुतं स्यान्नेंद्रियांतरमतिपूर्वं। तथाहि —

शद्बको सुनकर निर्णय करनेसे श्रुतज्ञान होता है, इस प्रकार जो श्रुतका व्याख्यान करते हैं वे वादी तो उस श्रुतज्ञानका कर्णइन्द्रियजन्य मतिज्ञानसे भेदको प्रसिद्ध करानेके लिये समर्थ नहीं हैं। हम जैनोंको उनसे पूंछना चाहिये कि सुन करके अवधारण करनेसे श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार व्यक्त कहनेवाले वादी शद्बको सुनकर उसी शद्बके निर्णयको श्रुतज्ञान समझ बैठे हैं? अथवा इस शद्ब द्वारा कहे गये वाच्य अर्थके निर्णयको श्रुतज्ञानपनेका विश्वास कर रहे हैं। बताओ। पहिली कल्पना लेनेपर तो श्रुतज्ञानका कर्ण इन्द्रियजन्य मतिज्ञानसे अभेद हो जानेके प्रसंगका कोई निषेध नहीं कर सकता है। क्योंकि शद्बका श्रावण प्रत्यक्ष मतिज्ञान है और उसीको तुमने श्रुतज्ञान कह दिया है। हां, दूसरी कल्पना स्वीकार करनेपर तो कुछ कुछ ठीक दीखता है। किन्तु इतना दोष है कि अकेले कर्ण इन्द्रियजन्य मतिज्ञानको ही कारण मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न हो सकेगा।

अन्य रसना, घ्राण, स्पर्शन, नेत्र, और मन इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये मतिज्ञानको कारणोंसे श्रुतज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी बातको स्पष्टकर दिखलाते हैं।

शब्दं श्रुत्वा तदार्थानामवधारणमिष्यते।
यैः श्रुतं तैर्न लभ्येत नेत्रादिमतिजं श्रुतम्॥ ३४॥

शब्दको सुन करके उसके वाच्य अर्थोंका निश्चय ही श्रुतज्ञान जिन वादियोंके द्वारा माना जाता है, उन करके नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न हुये मतिज्ञानसे बनाये गये श्रुतज्ञानका लाभ न किया जायगा। किन्तु देखा जाता है कि स्पर्शन इन्द्रियोंसे रूखे, चिकने, ठण्डे, आदिको जानकर उनसे दूसरे अर्थ ईंट, मलाई, मखमल, आदि अर्थोंका अंधेरेमें श्रुतज्ञान हो जाता है। रसना इन्द्रियसे मीठापन आदि रस या रसवान् स्कन्धोंको चख कर रसोंके तारतम्यरूप अन्य पदार्थोंका यानीं पहिले आमसे यह अधिक मोठा आम है और अमुक आम न्यून रसवाला था, ऐसे ज्ञान हो जाते हैं, अथवा इन लड्डुओंमें खांड अधिक है तथा दूसरे लड्डुओंमें बूंदी कमती है, फलाने हलवाईके ये बनाये हुये हैं, आदि। एवं घ्राण इन्द्रियसे सुगंध दुर्गंध या गन्धवान् द्रव्यका मतिज्ञान करके पीछे उस इत्रके निर्मापक कर्त्ता, स्थान, भाव, गन्ध, तारतम्य, आदि अर्थान्तरोंका श्रुतज्ञान हो जाता है। नेत्रद्वारा काले, नीले आदि रूपोंको देखकर उन अर्थोंके सजातीय विजातीय अन्य पदार्थोंका श्रुतज्ञान होता देखा जाता है। कर्ण इन्द्रियद्वारा शब्दको सुनकर वाच्य अर्थका ज्ञान तो आप मानते ही हैं। इसी प्रकार अंतरंग इन्द्रिय मनसे सुख, दुःख, वेदना, आदिका मानस मतिज्ञान किये पीछे रोगका या इष्ट, अनिष्ट, पदार्थोंके ग्रहण, त्यागका परामर्शरूप श्रुतज्ञान होता रहता है। संकल्प विकल्प करनेवाले जीवोंके या न्यायशास्त्रके विचारनेमें उपयोग रखनेवाले विद्वानोंके तो मानस मतिज्ञानसे उत्पन्न हुए असंख्य श्रुतज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं। उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणीमें मानस मतिज्ञानको व्यवहित, अव्यवहित, रूपसे कारण मानकर हुये अनेक श्रुतज्ञानोंका समुदाय रूप ध्यान है। अतः केवलशब्दको सुनकर वाच्य अर्थके ज्ञान होनेको ही श्रुतज्ञान नहीं समझना, किन्तु अन्य इन्द्रियोंसे भी मतिज्ञान होकर पीछे श्रुतज्ञान होते हैं। श्रुतज्ञानको भी कारण मानकर अन्य श्रुतज्ञान होते जाते हैं। जैसे कि घट शब्दको सुनकर मिट्टीके घडेका ज्ञान हुआ। पीछे जल धारण शक्तिका ज्ञान दूसरा श्रुतज्ञान हुआ, यह श्रुतज्ञानसे जन्य श्रुतज्ञान है। अथवा नेत्रोंसे दूरवर्ती धुयेंको देखकर उससे भिन्न अग्निका ज्ञान होना प्रथम श्रुतज्ञान हुआ। तथा वह प्रदेश उष्ण है। यह दूसरा श्रुतज्ञान हुआ। इस प्रकार पहिले पहिले श्रुतज्ञानोंसे हजारों श्रुतज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं। संज्ञी जीवके होनेवाले चारों ध्यानोंमें अन्तर्मुहूर्त तक यही धारा चलती रहती है। बहुत पहिले समयमें हुआ मतिज्ञान उन श्रुतज्ञानोंका कारण मान लिया जाता है, जैसे कि मनःपर्यय ज्ञान और श्रुतज्ञानका परम्परासे कारण दर्शन हो जाता है। रूपके ज्ञान या रसके ज्ञानमें जैसे चक्षु, अचक्षुदर्शन

अव्यवहित कारण हैं, वैसे श्रुत और मनःपर्ययमें नहीं। पहिले दर्शन होता है पीछे मतिज्ञान उसके पीछे श्रुतज्ञान और कभी कभी अनेक श्रुतज्ञान भी होते रहते हैं। उनमें वह पहिले हुआ दर्शन ही परम्परासे कारण माना जाता है। इसी प्रकार पहिले दर्शन पुनः ईहा मतिज्ञान, पश्चात् मनःपर्यय ज्ञान होता है। प्रकरणमें छऊं इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये मतिज्ञानके पश्चात् अर्थान्तरोंका ज्ञान होना रूप श्रुतज्ञान माना गया है।

यदि पुना रूपादीनुपलभ्य तदविनाभाविनामर्थानामवधारणं श्रुतमित्यपीष्यते श्रुत्वावधारणात् श्रुतमित्यस्य दृष्ट्वावधाणात् श्रुतमित्याद्युपलक्षणत्वादिति मतं तदा न विरोधः प्रतिपत्तिगौरवं न स्यात्।

यदि तुम फिर यह कहो कि रूप, रस, स्पर्श, आदिकोंके साथ अविनाभाव रखनेवाले अन्य अर्थोंका अवधारण करना भी श्रुतज्ञान है, यह भी हमको इष्ट है। सुनकरके अवधारण करनेसे श्रुतज्ञान होता है यह तो उपलक्षण है। किन्तु देखकरके, छू करके, सूंघ करके, चाख करके और मानस मतिज्ञान करके भी श्रुतज्ञान होते हैं। रोटी खवादो, यहां रोटी पदसे दाल, साग, चटनी, मोदक आदि सबका ग्रहण है। कौआसे दही की रक्षा करना, यहां कौआ पदसे दहीको बिगाडनेवाले बिल्ली, कुत्ता, चील, आदि सबका ग्रहण है, ऐसे ही यहां भी रूप आदिकोंके मतिज्ञानोंका ग्रहण करना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मन्तव्य होय तब तो हम जैनोंको कोई विरोध नहीं है। उपलक्षण माननेसे प्रतिपत्ति करनेमें गौरव भी नहीं होवेगा। अन्यथा एक एकका नाम लेनेसे शिष्यको समझनेमें भारी बोझ पडता।

न चैवमपि मतेः श्रुतस्याभेदः सिध्येत् तल्लक्षणभेदाच्चेत्युपसंहर्तव्यम्।

और इस प्रकार भी मतिज्ञानसे श्रुतज्ञानका अभेद सिद्ध नहीं हो पावेगा। क्योंकि उन दोनोंके लक्षण न्यारे न्यारे हैं। इस प्रकार यहां चलाये गये प्रकरणका अब संकोच करना चाहिये अर्थात्— सुनना, चाटना, छूंना आदि इन्द्रियजन्य ज्ञान मतिज्ञान हैं और इन मतिज्ञानोंसे पीछे होनेवाला अर्थनिर्णय श्रुतज्ञान है। अर्थसे अर्थान्तरके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। जहां कार्यकारणकी अभेद-विवक्षा है वहां धूमसे अग्निका ज्ञान होना अभिनिबोध मतिज्ञान है और भेदविवक्षा होनेपर धूमसे अग्निका ज्ञान श्रुतज्ञान है। इस प्रकार लक्षणके भेदसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका भेद है।

तस्मान्मतिः श्रुताद्भिन्ना भिन्नलक्षणयोगतः।
अवध्यादिवदर्थादिभेदाच्चेति सुनिश्चितम् ॥ ३५ ॥

इस कारण मतिज्ञान भिन्न भिन्न लक्षणका सम्बन्ध होनेके कारण श्रुतज्ञानसे भिन्न है जैसे कि अवधि आदिक ज्ञान श्रुतज्ञानसे भिन्न हैं अथवा जैसे अवधि आदिकसे मतिज्ञान भिन्न है वैसे

श्रुतसे भी भिन्न है तथा विषयरूप अर्थ, कारण आदिके भेदोंसे भी मतिज्ञान, श्रुतज्ञानोंका भेद है, यह बात भले प्रकार निश्चित करदी गयी है।

यथैव ह्यवधिमनःपर्ययकेवलानां परस्परं मतेः स्वलक्षणभेदोर्थभेदः कारणादिभेदश्च सिद्धस्तथा श्रुतस्यापीति युक्तं तस्य मतेर्नानात्वमवध्यादिवत्। ततः सूक्तं मत्यादिज्ञानपंचकम्।

जैसे ही अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानका परस्परमें तथा मतिज्ञानकी अपेक्षासे अपने अपने लक्षणोंका भेद है, जानने योग्य विषयका भेद है, कारण क्षयोपशम,उत्पत्तिक्रम आदिका भेद सिद्ध होरहा है, इस ही प्रकार श्रुतज्ञानका भी मतिज्ञानसे स्वलक्षण आदिकी अपेक्षा भेद है। इस कारण उस श्रुतज्ञानको अवधि आदिके समान मतिज्ञानसे भिन्नपना युक्त है। तिस कारण उमास्वामी महाराजने मति आदिक न्यारे न्यारे पांच ज्ञान बहुत अच्छे कहे हैं, ऐसे निर्दोष सूत्रोंको सुनकर सभी वादी प्रतिवादियोंको प्रसन्न होनेका अवसर प्राप्त हो जाता है।

सर्वज्ञानमनध्यक्षं प्रत्यक्षोर्थः परिस्फुटः।
इति केचिदनात्मज्ञाः प्रमाणव्याहतं विदुः ॥ ३६ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान आदि सब ही ज्ञान परोक्षरूप हैं। यानी जैनोंके सिद्धांत अनुसार सभी प्रत्यक्ष, अनुमान, संशय, विपर्यय आदि ज्ञानोंका स्वांशमें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना हम मीमांसकोंको इष्ट नहीं है। हां, स्वयंको प्रत्यक्ष न करनेवाला प्रत्यक्षप्रमाण स्वयं अंधेरेमें पडा होकर भी घट, पट, आदि पदार्थोंका अधिक स्पष्टतासे प्रत्यक्ष कर लेता है। जैसे कि आंखके चकाचोंदको बचानेके लिए दीपककी लौका आवरण कर देनेपर दीपकका प्रत्यक्ष तो नहीं होता है, किन्तु उससे प्रकाशित पदार्थोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। यशकी चाह नहीं कर ठोस उपकारको करनेवाला सेठ जैसे गुप्त दान करता है, दिनमें कार्य करनेवाले सर्वदा सूर्यको ही नहीं देखते रहते हैं, फिर भी सूर्यसे प्रकाशित अर्थोंका स्पष्ट प्रत्यक्ष हो रहा है, इसी प्रकार परोक्ष ज्ञानोंसे भी प्रत्यक्ष स्वरूप ज्ञप्ति हो सकती है। अनुमान आदिक परोक्षोंसे परोक्ष ज्ञप्ति तो जैनोंने भी मानी है। हाँ, उन अनुमान आदिकोंका स्वांशमें प्रत्यक्ष ज्ञान और विषय अंशमें परोक्ष ज्ञान माना है। अर्धजरतीय न्यायसे यह ज्ञानोंका स्वांशमें प्रत्यक्ष होना हमको इष्ट नहीं है। इस प्रकार कोई मीमांसक कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप अपनी आत्माको नहीं जानते हुए वे भी प्रमाणोंसे व्याघात दोषको प्राप्त हुए अर्थको समझ बैठे हैं, यह उनकी अन्धबुद्धिकी बलिहारी है।

परोक्षा नो बुद्धिः प्रत्यक्षोर्थः स हि बहिर्देशसंबंधः प्रत्यक्षमनुभूयत इति केचित् संप्रतिपन्नास्तेप्यनात्मज्ञा प्रमाणव्याहताभिधायित्वात्।

हम लोगोंकी सम्पूर्ण बुद्धियां परोक्ष हैं, किंतु स्वांशमें परोक्ष हो रहे, प्रत्यक्ष प्रमाणके विषय घट, पट, आदिक पदार्थ प्रत्यक्ष हैं। जिस कारण कि वह अर्थ बाहरके देशोंमें सम्बन्धित हो रहा प्रत्यक्षरूप अनुभवा जा रहा है। किंन्तु अन्तरंगके ज्ञान तो प्रत्यक्षरूप नहीं जाने जा रहे हैं। इन्द्रिओंका प्रत्यक्ष नहीं होते हुए भी उनके द्वारा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अथवा इनसे विशिष्ट अर्थोंका और शब्दका प्रत्यक्ष हो जाता है। नेत्रमें सन्मुखस्थित पदार्थके पडे हुए प्रतिबिंबको कोई नहीं देखता है, किंन्तु उसके बलबूतेपर हुई चाक्षुषज्ञप्तिको सर्व जानते हैं। इस प्रकार कोई भट्ट या प्रभाकर, मीमांसक भले प्रकार विश्वास कर बैठे हैं। किन्तु वे भी आत्मतत्त्वको जाननेवाले नहीं हैं। क्योंकि प्रमाणोंसे व्याहत हो रहे पदार्थोंका कथन कर रहे हैं। बाल, गोपाल, पशु, पक्षियों तकमें अपने अपने ज्ञानोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना देखा जाता है। तभी तो कभी कभी उन ज्ञानोंका स्मरण होना और प्रत्यभिज्ञान होना बनता है। धारणारूपसे प्रत्यक्ष हुये विना किसीकी स्मृति या प्रत्यभिज्ञान नहीं हो पाते हैं। चौइन्द्रिय बर्र, मधुमक्षिका आदिक भी अपने नियत छत्तों [घरों] को लौटती हैं, स्मरण रखती हैं। किंतु यह सब वासनायुक्त अवग्रहरूप मतिज्ञान है। छोटा ज्ञान भी बडे बडे चमत्कारक कार्योंको कर देता है। थोडे ज्ञानवाले पंडित पुज जाते हैं और विशेष ज्ञानी वैसा बहिरंगमें चमत्कार नहीं दिखा सकते हैं। स्वयं तत्त्वान्वेष करते बैठते हैं। ईहा, अवाय, धारणा तो संज्ञी जीवोंके ही होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी जीवोंका तीव्र अनुभागवाली कषायसे मिश्रित हुआ ज्ञान ही गृह बनाना, बच्चे बनाना, बच्चोंके शरीर उपयोगी सन्मूर्छन करनेवाले पदार्थोंको ढूंढ निकालना आदि आश्चर्यकारक कार्योंको करा देता है।

प्रत्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रानुमानिकम्।
प्रत्यात्मवेद्यमार्हंति तत्परोक्षत्वकल्पनाम् ॥ ३७ ॥

अपनी आत्मामें तो वह ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे प्रतिभास रहा ही है। और दूसरे यज्ञदत्त, जिनदत्त, आदि आत्माओंमें उत्पन्न हुआ ज्ञान उन उनको प्रत्यक्ष द्वारा दीख रहा है, इस बातको हम अनुमान द्वारा जान लेते हैं। अतः प्रत्येक आत्मामें स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जाने जा रहे ज्ञानका प्रत्यक्षपना उस ज्ञानके परोक्षपनकी कल्पनाको सब ओरसे नष्ट कर देता है। भावार्थ—सर्वज्ञको तो सभी पदार्थोंका प्रत्यक्ष है। अतः अपने ज्ञानका प्रत्यक्ष तो अवश्य होगा ही और अपने ज्ञानका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष बालकोंतकको हो रहा है। तथा धीमान् जीव दूसरे आत्माओंमें उत्पन्न हुये ज्ञानोंका स्वयं अपने अपने द्वारा प्रत्यक्ष हो जानेका अनुमान कर लेते हैं। जैसे कि अपनी मस्तक पीडाका प्रत्यक्ष कर दूसरोंकी मस्तक पीडाके प्रत्यक्ष दुःख अनुभवको घरके अन्य जन अनुमानसे जान लेते हैं। अतः सम्पूर्ण ज्ञान स्वांशको जाननेमें प्रत्यक्ष प्रमाणरूप हैं।

आदिशक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

साक्षात्प्रतिभासमानं हि प्रत्यक्षं स्वस्मिन् विज्ञानमनुमेयमपरत्र व्याहारादेरिति प्रत्यात्मवेद्यं सर्वस्य ज्ञानपरोक्षत्वकल्पनामार्हत्येव। किंच—

जिस कारण कि अपनेमें तो साक्षात् रूपसे प्रत्यक्ष प्रतिभास रहा ज्ञान है ही और दूसरोंकी आत्मामें अपने अपने ज्ञानका प्रत्यक्षपना हम वचनकुशलता, चेष्टा, प्रवृत्ति, स्मरण होना आदिकसे अनुमान कर लेते हैं, इस कारण प्रत्येक आत्माओंमें अपने अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जाना जा रहा ज्ञान सभी ज्ञानोंके स्वांशमें परोक्षपनकी कल्पनाको समूल चूल नष्ट कर ही देता है। अथवा सभी वादियों द्वारा माने गये अपने द्वारा ही ज्ञानके प्रत्यक्ष न होनेपनको वह प्रत्यक्षरूप अनुभव किया जा रहा ज्ञान खण्डन कर देता है। ऐसी अधिक प्रसिद्ध बातको सिद्ध करनेके लिये हम विशेष परिश्रम या चिन्ता क्यों करें ? दूसरी बात यह है कि—

विज्ञानस्य परोक्षत्वे प्रत्यक्षोर्थः स्वतः कथम्।
सर्वदा सर्वथा सर्वः सर्वस्य न तथा भवेत् ॥ ३८ ॥

विज्ञानको सर्वथा परोक्ष माननेपर सभी जीवोंके सदा, सभी प्रकारसे, सम्पूर्ण पदार्थ तिस प्रकार स्वतः ही क्यों न प्रत्यक्ष हो जावें। भावार्थ—देवदत्तको जैसे अपना ज्ञान परोक्ष है, और उस परोक्षज्ञान द्वारा देवदत्तको जैसे घटका प्रत्यक्ष हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रदत्त, चन्द्रदत्त आदिकोंको भी देवदत्तका ज्ञान परोक्ष है। यानी देवदत्तको जैसे अपने ज्ञानकी ज्ञप्ति (इल्म) नहीं हैं, वैसे ही इन्द्रदत्त आदिको भी देवदत्तके ज्ञानकी ज्ञप्ति नहीं है, तो फिर देवदत्तको ही सहारनपुरमें घट, पट आदिकोंका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाय और उस देवदत्तके परोक्ष ज्ञान द्वारा बम्बईमें बैठे हुये इन्द्रदत्त आदिको उन घट आदिकोंका ज्ञान नहीं होय, इसका नियामक कौन है ? बताओ। परोक्षज्ञानसे तो सब जीवोंको सदा, सभी प्रकार सम्पूर्ण अर्थोंका प्रत्यक्ष होते रहना चाहिये। आत्मामें भिन्न पडे परोक्ष ज्ञानोंपर सबका एकसा अधिकार है। सभी जीव दूसरोंके परोक्ष ज्ञानसे तज्ज्ञेयपदार्थोंकी ज्ञप्तियां कर बैठेंगे। छुट्टी दे देनेपर अन्धेरेमें चाहे जो मन चला पुरुष चाहे जिस पदार्थपर अधिकार (कबजा) कर सकता है।

ग्राहकपरोक्षत्वेपि सर्वदा सर्वथा सर्वस्य पुंसः कस्यचिदेव स्वतः प्रत्यक्षोर्थ कश्चित्कदाचित्कथंचिदिति व्याहततरां।

पदार्थोंका ग्रहण करनेवाले ज्ञानको परोक्षपना होते हुये भी सदा सभी प्रकार सभी जीवोंमेंसे किस ही एक जीवके किस ही समय किसी प्रकार किसी एक अर्थका ही स्वतः प्रत्यक्ष होवे यह तो पूर्वापर वचनोंका प्रकृष्ट रूपसे अत्यधिक व्याघात हो रहा है। जैसे कि घास खोदनेवालेकी झोपडीमें चार हाथ नीचे भूमिमें धन गढा हुआ है। किन्तु उस गंवारको धनका ज्ञान न होनेसे

वह लखपति नहीं कहा जाता है। यदि हजारों स्थानोंपर गढे हुये अज्ञात भूमिधनसे ही मनुष्य धनाढ्य बन जावें, तब तो उस धनसे सभी कोई धनाढ्य बन सकते हैं। कोई रोकनेवाला नहीं है। ऐसी दशामें किसी एक ही को धनपति कहना और अन्योंको धनपति न कहना व्याघात दोष युक्त है। अंधेरेमें भिन्न पडी हुयी सर्वसाधारण सम्पत्तिपर सबका एकसा अधिकार होना चाहिये। पक्षपात करनेवाला पीटा जायगा।

ततः परं च विज्ञानं किमर्थमुपकल्प्यते।
कादाचित्कत्वसिध्द्यर्थमर्थज्ञप्तेर्न सा परा ॥ ३९ ॥
विज्ञानादित्यनध्यक्षात् कुतो विज्ञायते परैः।
लिंगाच्चेत्तत्परिच्छित्तिरपि लिंगांतरादिति ॥ ४० ॥
क्वावस्थानमनेनैव तत्रार्थापत्तिराहता।
अविज्ञातस्य सर्वस्य ज्ञापकत्वविरोधतः ॥ ४१ ॥

एक बात यह भी है कि मीमांसकके यहां अर्थकी ज्ञप्ति यदि प्रत्यक्षरूप हो रही है तो उससे न्यारा करणज्ञान पुनः किस प्रयोजनके लिए कल्पित किया जा रहा है? यदि मीमांसक यों कहें कि अर्थज्ञप्तिके कभी कभी होनेपनकी सिद्धिके लिए प्रमाणात्मक करणज्ञान एक द्वार माना गया है। इसपर हम जैनोंका यह कहना है कि वह अर्थज्ञप्ति तो ज्ञानसे भिन्न कोई न्यारी वस्तु नहीं है। यदि परोक्ष करणज्ञानसे प्रत्यक्षज्ञप्तिको भिन्न माना जायगा तो बताओ वह दूसरों करके कैसे जानी जा सकेगी? यदि किसी अविनाभावी हेतुसे उस अर्थज्ञप्तिका ज्ञान करोगे तो उस हेतुका ज्ञान भी अन्य हेतुओंसे जाना जा सकेगा और उन तीसरे हेतुओंका ज्ञान भी चौथे आदि हेतुओंसे ज्ञात होगा। इस प्रकार भला कहां अवस्थिति होगी? यों तो अनवस्था दोष हो जायगा। इस कथनसे अर्थापत्तिके द्वारा हेतुओंका ज्ञान माननेपर अनवस्था हो जानेके कारण वहां अर्थापत्ति भी मर गई समझ लेनी चाहिये। नहीं जाने हुये सब ज्ञापकोंको ज्ञापकपनका विरोध है। "नाज्ञातं ज्ञापकं"। अर्थज्ञप्ति और उसको जतानेवाले हेतु ज्ञापक हैं। इस कारण उनका ज्ञान होना आवश्यक है। कारक हेतु तो अज्ञात होकर भी कार्यको कर देता है। किन्तु ज्ञापक हेतु तो ज्ञात हुआ ही अन्य पदार्थको समझाता है। अन्यथा नहीं।

स्वतः प्रत्यक्षादर्थात्परं विज्ञानं किमर्थं चोपकल्पित इति च वक्तव्यं परैः कादाचित्कत्वसिध्यर्थमर्थज्ञप्तेरिति चेत्, उच्यते। न सा पराविज्ञानात् ततो नाध्यक्षा सती कुतो विज्ञातव्या? लिंगाच्चेत्तत्परिच्छित्तिरपि लिंगांतरादेव इत्येतदुपस्थापनविरोधाविशेषात्। अर्थापत्त्यंतरात्तस्य ज्ञानेनवस्थानात्।

जब कि अर्थका अपने आप ही प्रत्यक्ष हो रहा है, तो उससे भिन्न परोक्षविज्ञान किसलिये कल्पित किया है ? यह उन प्रतिपक्षी मीमांसकोंकी ओरसे कहकरके स्पष्टीकरण होना चाहिये। यदि अर्थकी ज्ञप्तिके कभी कभी होनेपनकी सिद्धिके लिये परोक्षज्ञानकी कल्पना करोगे तो हम कहते हैं कि वह अर्थज्ञप्ति विज्ञानसे न्यारी तो है नहीं। तिस कारण परोक्षरूप विज्ञानसे अभिन्न अनध्यक्ष होती हुई वह अर्थज्ञप्ति भला फिर किससे जानने योग्य है ? बताओ। यदि हेतुसे उस अर्थज्ञप्तिका ज्ञान करोगे तो उस ज्ञापक हेतुकी ज्ञप्ति भी अन्य लिंगसे ही होगी और उस लिंगकी भी अन्य हेतुओंसे ज्ञप्ति होगी। इस प्रकार यह अनेक हेतुमालाओंके उठानेसे विरोध उपस्थित होगा। नहीं जाना गया पन सब हेतुओंमें विशेषता रहित है। यदि अन्य अर्थापत्तियोंसे उसका ज्ञान करोगे तो अनवस्था हो जायगी। इस कारण ज्ञानका स्वतः प्रत्यक्ष होना मानो। ज्ञानि जब घट, पट आदिको जानता है, तभी अपनी उन्मुखतासे स्वयंको भी जानता रहता है।

एतेनोपमानादेस्तद्विज्ञानेप्यनवस्थानमुक्तं सादृश्यादेरज्ञातस्योपमानाद्युपजनकत्वासंभवात् ज्ञानेप्युपमानांतरादिपरिकल्पनस्यावश्यंभावित्वात्। सदेव प्रमाणविरुद्धं संविदंतोऽनात्मज्ञा एव।

इस कथनसे उपमान, व्याप्तिज्ञान, आदिसे उन लिंगोंका ज्ञान करनेपर भी अनवस्था दोष कह दिया गया समझ लेना। क्योंकि उपमान ज्ञानका जनक सादृश्य है। व्याप्तिज्ञानके जनक उपलम्भ अनुपलम्भ हैं। संकेत ग्रहण किया गया शब्द तो आगमका जनक है। इन सबको जाननेकी आवश्यकता है तभी उपमान आदि ज्ञान प्रवर्तते हैं। विना जाने हुये सादृश्य आदिको उपमान आदिका जनकपना असम्भव है। इस कारण उन सादृश्य आदिको जाननेमें भी अन्य उपमान आदिकोंकी कल्पना अवश्य होवेगी और यों अनवस्था दोष होवेगा। तिस कारण इस प्रकार प्रमाणसे विरुद्ध हो रहे पदार्थोंकी सम्प्रतिपत्ति करनेवाले मीमांसक अनात्मज्ञ ही हैं। यानी स्वयं अपनेको भी नहीं जान रहे हैं। यहांतक छत्तीसवीं कारिकाका उपसंहार कर दिया है।

ज्ञाताहं बहिरर्थस्य सुखादेश्चेति निर्णयात्।
स्वसंवेद्यत्वतः पुंसो न दोष इति चेन्मतम् ॥ ४२ ॥
स्वसंवेद्यांतरादन्यद्विज्ञानं किं करिष्यते।
करणेन विना कर्तुः कर्मणि व्यावृतिर्न चेत् ॥ ४३ ॥
स्वसंवित्ति क्रिया न स्यात् स्वतः पुंसोर्थवित्तिवत्।
यदि स्वात्मा स्वसंवित्तावात्मनः करणं मतम् ॥ ४४ ॥

स्वार्थवित्तौ तदेवास्तु ततो ज्ञानं स एव नः ।
प्रत्यक्षं वा परोक्षं तज् ज्ञानं द्वैविध्यमस्तु ते ॥ ४५ ॥

आत्माका प्रत्यक्ष माननेवाले भट्ट और फलज्ञानका प्रत्यक्ष माननेवाले प्रभाकर दोनों ही मीमांसक पंडित करणज्ञानको परोक्ष मानते हैं। आत्मा बहिरंग घट, पट, आदि अर्थ और सुख, इच्छा, ज्ञान, आदि अन्तरंग अर्थोका ज्ञाता हूं, इस प्रकार निर्णय होजानेसे आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जाना गया मन अनुभूत हो रहा है, अतः कोई दोष नहीं है। भावार्थ—करणज्ञान भले ही परोक्ष रहे, किन्तु प्रत्यक्ष आत्मासे घट, पट, आदि अर्थोंकी प्रत्यक्ष ज्ञप्ति होजावेगी कोई दोष नहीं आता है, आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार मीमांसकका मत है तो हम कहते हैं कि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जानलिये गये अन्तरंग प्रत्यक्षस्वरूप आत्मासे न्यारा मानागया विज्ञान भला किस कार्यको करेगा ? बताओ। यानी जब आत्मा प्रत्यक्षरूप सतत प्रतिभास रहा है तो करणज्ञान मानना व्यर्थ है, इसपर तुम मीमांसक यदि यों कहो कि कर्त्ता आत्माका करणके विना कर्म करनेमें व्यापार नहीं होता है, जैसे कि कुठारके विना बढई काठको नहीं फाड सकता है, इसपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो आत्माकी अर्थवेदनके समान स्वयं स्वको जाननेकी क्रिया न हो सकेगी। क्योंकि भाट्टोंने आत्माके प्रत्यक्ष करनेमें न्यारा करणज्ञान माना नहीं है। यानी अर्थके वेदनमें आत्माको जैसे करण ज्ञानकी अपेक्षा है वैसे ही स्वयं अपनेको जाननेमें भी न्यारे करणज्ञानकी अपेक्षा होगी और फिर उस करणज्ञानवाले कर्त्ता आत्माको भी स्वके जाननेके लिये अन्य करणज्ञानकी आकांक्षा पडेगी, इस ढंगसे एक शरीरमें अनेक प्रमाता मानने पडेंगे और अनवस्था भी हो जायगी। यदि आत्माका स्वकी संवित्ति करनेमें स्वयं आत्मा ही करण माना जायगा, तब तो स्व और अर्थकी ज्ञप्तिमें भी वही आत्मा करण हो जाओ। इस कारण वही आत्मा तो हम स्याद्वादियोंके यहां ज्ञानस्वरूप है। और वह ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे दो प्रकारपनेको व्यापकर धार रहा है।

न सर्वथा प्रतिभासरहितत्वात् परोक्षं ज्ञानं करणत्वेन प्रतिभासनात्। केवलं कर्मत्वेनाप्रतिभासमानत्वात् परोक्षं तदुच्यत इति कश्चित् तं प्रत्युच्यते।

सभी प्रकार प्रतिभासोंसे रहित होनेके कारण ज्ञान परोक्ष है, यह नहीं समझना। किन्तु करणपने करके उस प्रमाणज्ञानका प्रतिभास हो रहा है। हां, केवल कर्मपनेसे प्रतिभासमान नहीं होनेके कारण वह करणज्ञान परोक्ष कहा जाता है। अर्थात्—लोकमें प्रमितिक्रियाके कर्मका प्रत्यक्ष होना माना गया है। प्रमितिके कर्त्ता, करण और फलज्ञानके प्रतिभासमान होते हुये भी उनका प्रत्यक्ष होना इष्ट नहीं है। काठ छिदता है। बढई, वसूला, छीलना, ये नहीं छिलते हैं, इस प्रकार कोई मीमांसक कह रहा है। उसके प्रति आचार्य महाराज करके समाधान वचन कहा जाता है।

कर्मत्वेनापरिच्छित्तिरप्रत्यक्षं यदीष्यते ।
ज्ञानं तदा परो न स्यादध्यक्षस्तत एव ते ॥ ४६ ॥

प्रमितिके कर्मपनेसे ज्ञानपदार्थकी परिच्छित्ति न होना यदि उस ज्ञानका अप्रत्यक्ष माना जाता है तब तो इस ही कारण तुम्हारे मतमें कर्मपनेसे भिन्न कर्त्ता आत्माका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकेगा । किन्तु कुमारिलभट्टने आत्माका प्रत्यक्ष माना है और गुरु कहे जानेवाले पंडित प्रभाकरने फल ज्ञानका प्रत्यक्ष होना माना है । किन्तु ये दोनों ही कर्त्ता और फल हैं । प्रतिभास क्रियाके कर्म तो नहीं हैं, इतना बडा पूर्व-अपरका विरोध भला कहां निभ सकेगा ? छोटी बातकी तो पोल कुछ चल भी जाय ।

यदि पुनरात्मा कर्तृत्वेनेव कर्मत्वेनापि प्रतिभासतां विरोधाभावादेव । ततः प्रत्यक्षमस्तु अर्थो अनंशत्वान्न ज्ञानं कारणं कर्म च विरोधादित्याकूतं, तत एवात्मा कर्ता कर्म च माभूदित्यप्रत्यक्ष एव स्यात् ।

यदि मीमांसकोंका फिर इस प्रकार चेष्टित होय कि कर्त्तापनके समान कर्मपनेसे भी आत्माका प्रतिभास होजाओ कोई विरोध नहीं है, इस कारण वह आत्मा प्रत्यक्ष अर्थ होजाओ, किन्तु ज्ञान तो निरंश पदार्थ है, अतः विरोध होनेके कारण वह कारण और कर्म दोनों नहीं हो सकता है । जो अर्थ कर्म है वह करण नहीं है और जो ज्ञान करण है वह कर्म नहीं हो सकता है, मीमांसकोंकी ऐसी चेष्टा होनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही विरोध हो जानेके कारण आत्मा भी कर्त्ता और कर्म न होवे, निरंश आत्मामें कर्त्तापन और कर्मपन दो विरुद्ध धर्म नहीं ठहर सकते हैं । इस कारण भट्टोंके यहां आत्माका भी प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकेगा । आत्मा प्रत्यक्ष ही रहा, जो कि इष्ट नहीं है।

तथास्त्विति मतं ध्वस्तप्रायं न पुनरस्य ते ।
स्वविज्ञानं ततोध्यक्षमात्मवदवतिष्ठते ॥ ४७ ॥

प्रभाकर मीमांसक आत्माका प्रत्यक्ष न होना इष्ट करते हैं । अतः प्रसन्नतापूर्वक वे कहते हैं कि आत्मा तिस प्रकार अप्रत्यक्ष ही बना रहो । हमको लाभ ही है । ग्रंथकार कहते हैं कि यह मत भी प्रायः करके पूर्वप्रकरणोंमें खण्डित कर दिया है । यहां फिर इसका निरास नहीं किया जाता है । तिस कारण आत्माके समान उस आत्माका विज्ञान भी प्रत्यक्षरूप अवस्थित हो रहा है । सभी ज्ञान स्वको जाननेमें प्रत्यक्षरूप हैं ।

अप्रत्यक्षः पुरुष इति मतं प्रायेणोपयोगात्मकात्मप्रकरणे निरस्तमिति नेह पुनर्निरस्यते । ततः प्रत्यक्ष एव कथंचिदात्माभ्युपगंतव्यः । तद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति व्यवस्थाश्रेयसी प्रतीत्यनतिक्रमात् ।

आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस प्रकारके मतको हम बहुलता करके उपयोग स्वरूप आत्माको साधनेवाले आद्य प्रकरणमें निरस्त कर चुके हैं। इस कारण फिर उस आत्माके अप्रत्यक्ष-पनेका यहां निरास नहीं करते हैं। भावार्थ—पहिले सूत्रके अवतार प्रकरणमें "कर्तृरूपतयावित्तेः" से लेकर "कथंचिदुपयोगात्मा" इस वार्त्तिकतक मीमांसकोंके प्रति आत्माका प्रत्यक्ष होना सिद्ध कर दिया है। तिस कारण कथंचित् प्रत्यक्षरूप ही आत्मा स्वीकार करना चाहिये। उसका विज्ञान रूप परिणाम भी प्रत्यक्ष है। इस प्रकार व्यवस्था करना मीमांसकोंको श्रेष्ठ पडेगा। क्योंकि इसमें प्रतीतियोंका अतिक्रमण नहीं है। प्रतीतिसिद्ध पदार्थोंको स्वीकार कर लेना सज्जनोंका स्वधर्म है।

प्रत्यक्षं स्वफलज्ञानं करणं ज्ञानमन्यथा।
इति प्राभाकरी दृष्टिः स्वेष्टव्याघातकारिणी ॥ ४८ ॥
कर्मत्वेन परिच्छित्तेरभावो ह्यात्मनो यथा।
फलज्ञानस्य तद्वच्चेत्कुतस्तस्य समक्षता ॥ ४९ ॥
तत्कर्मत्वपरिच्छित्तौ फलज्ञानांतरं भवेत्।
तत्राप्येवमतो न स्यादवस्थानं क्वचित्सदा ॥ ५० ॥

प्रमितिके जनक ज्ञानको करण ज्ञान कहते हैं। और उस करणज्ञानसे उत्पन्न हुये अधिगमको फलज्ञान मानते हैं। आत्मामें उत्पन्न हुये फलज्ञानका स्वयं प्रत्यक्ष हो जाता है। किन्तु करणज्ञान दूसरे प्रकार है। यानी करणज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस प्रकार प्रभाकरोंका दर्शन (सिद्धान्त) तो अपने ही इष्टतत्त्वोंका व्याघात करनेवाला है। क्योंकि जिस प्रकार आत्माकी कर्मपनेकरके परिच्छित्ति होनेका अभाव है, अतः आत्माका प्रत्यक्ष हो जाना नहीं माना है, तिस आत्माके ही समान फलज्ञानकी भी यदि कर्मपनेसे ज्ञप्ति नहीं होती हुयी मानी जावेगी तो उस फलज्ञानका प्रत्यक्ष हो जानापन कैसे सिद्ध हुआ? बताओ। यदि फलज्ञानका प्रत्यक्ष होजाय इसलिये उस फलज्ञानमें भी कर्मपनेकी परिच्छित्ति करलोगे तब तो अर्थके समान कर्म बने हुये फलज्ञानका अधिगम होना रूप दूसरा फलज्ञान मानना पडेगा और उस फलज्ञानका भी प्रत्यक्ष तभी हो सकेगा, जब कि उस फलज्ञानको प्रमितिका कर्म बनाया जाय। कर्म बनानेपर तो फिर तीसरे फलज्ञानकी आकांक्षा होवेगी और वह तीसरा फलज्ञान भी कर्म होगा। इस प्रकार वहां भी आकांक्षा शान्त न होनेसे कहीं दूर चलकर भी सदा अवस्थान नहीं होगा। अतः अनवस्था हो जायगी।

फलत्वेन फलज्ञाने प्रतीते चेत्समक्षता।
करणत्वेन तद्ज्ञाने कर्तृत्वेनात्मनीष्यताम् ॥ ५१ ॥

अनवस्थाके निवारणार्थ फलज्ञानकी कर्मपनेसे प्रतीतिको न मानकर फलज्ञानके फलपने करके ही प्रतीत हो जानेपर प्रत्यक्षता मान ली जाती है। इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम बोलेंगे कि करणज्ञानकी करणपनेसे प्रतीति हो जानेपर उसका प्रत्यक्ष होना मान लो, तथा कर्त्तापनसे आत्माके प्रतीत हो जानेपर आत्माका भी प्रत्यक्ष होना तुम प्रभाकरोंको इष्ट कर लेना चाहिये। अर्थात्—जो कर्म है, उसका ही प्रत्यक्ष होता है। यह एकान्त तो नहीं रहा। प्रभाकरोंके यहां फल ज्ञानको कर्म नहीं भी माना गया है, फिर भी उसका प्रत्यक्ष हो जाता है। उसी फलज्ञानके समान करणज्ञान और आत्माका भी प्रत्यक्ष हो जाओ। तथा भट्टोंके यहां भी कर्मको जाननेकी व्याप्ति जब न रही तो आत्माके प्रत्यक्ष हो जाने समान फलज्ञान और करणज्ञानका भी प्रत्यक्ष होजाओ, स्वसंवेदन द्वारा वे भी अपनेको स्वयं जान लेवें।

तथा च न परोक्षत्वमात्मनो न परोक्षता।
करणात्मनि विज्ञाने फलज्ञानत्ववेदिनः ॥ ५२ ॥

तिस कारण आत्माका परोक्षपना नहीं घटित होता है और करणस्वरूप प्रमाणज्ञानमें भी परोक्षपना नहीं आता है। फलज्ञानका प्रत्यक्षवेदन माननेवाले प्रभाकरको आत्मा और करण ज्ञानका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना अभीष्ट करना चाहिये, कोरा आग्रह करना व्यर्थ है। भट्टके समान प्रभाकरको भी अपने व्याघातक मार्गका परित्याग कर देना चाहिये।

साक्षात्करणज्ञानस्य करणत्वेनात्मनि स्वकर्तृत्वेन प्रतीतावपि न प्रत्यक्षता, फलज्ञानस्य फलत्वेन प्रतीतौ प्रत्यक्षमिति मतं व्याहतं। ततः स्वरूपेण स्पष्टप्रतिभासमानत्वात् करणज्ञानमात्मा वा प्रत्यक्षः स्याद्वादिनां सिद्धः फलज्ञानवत्।

करणज्ञानकी करणपने करके साक्षात् प्रत्यक्षरूप प्रतीति होनेपर भी और आत्माकी कर्त्तापनसे विशद प्रतीति होनेपर भी उन करणज्ञान और आत्माका प्रत्यक्ष होना नहीं माना जाता है। किंतु फलज्ञानकी फलपनेसे प्रतीति होनेपर भी उसका प्रत्यक्ष होना पक्षपातवश मान लिया जाता है। इस प्रकार प्रभाकरोंका मत व्याघात दोषयुक्त है। अर्थात्–प्रमिति क्रियाका कर्मपना न होनेसे यदि प्रमाणात्मक करणज्ञान और आत्मा प्रमाताका प्रत्यक्ष न मानोगे तो फलज्ञानका भी प्रत्यक्ष होना नहीं मानो तथा यदि फलज्ञानका प्रत्यक्ष मानते हो तो करणज्ञान और आत्माका भी प्रत्यक्ष मानो, अधूरी बात माननेमें व्याघात आवेगा। तिस कारण फलज्ञानके समान अपने स्वरूप करके ही स्पष्ट प्रतिभास रहे होनेके कारण करणज्ञान अथवा आत्मा स्याद्वादियोंके यहां प्रत्यक्षस्वरूप सिद्ध हैं। वही प्रभाकर मीमांसकोंको अनुकरणीय है।

ज्ञानं ज्ञानांतराद्वेद्यं स्वात्मज्ञप्तिविरोधतः।
प्रमेयत्वाद्यथा कुंभ इत्यप्यश्लीलभाषितम् ॥ ५३ ॥

ज्ञानातरं यदा ज्ञानादन्यस्मात्तेन वेद्यते ।
तदानवस्थितिप्राप्तेरन्यथा ह्यविनिश्चयात् ॥ ५४ ॥
अर्थज्ञानस्य विज्ञानं ज्ञातमबोधकम् ।
ज्ञापकत्वाद्यथा लिंगं लिंगिनो नान्यथा स्थितिः ॥ ५५ ॥

नैयायिकोंका कहना है कि ज्ञान (पक्ष) दूसरे ज्ञानसे जानने योग्य है (साध्य) क्योंकि वह प्रमेय (हेतु) है । जैसे कि घट (दृष्टांत) । ज्ञानके स्वकीय शरीरमें स्वके द्वारा स्वका ज्ञान नहीं हो पाता है । कितनी ही पैनी तलवार हो स्वयं अपनेको नहीं काट सकती है । तैसे ही ज्ञानके स्वरूपमें स्वयं ज्ञान होनेका विरोध है । हां, दूसरे ज्ञानसे प्रकृत ज्ञानका प्रत्यक्ष हो सकता है, आचार्य कहते हैं कि यह भी कहना गंवारोंकासा कथन है । क्योंकि जब दूसरे ज्ञानसे प्रथम ज्ञानका संवेदन होना माना जायगा तब तो दूसरे ज्ञानका भी तीसरे ज्ञानसे वेदन माना जायगा, इस प्रकार चौथे या पांचवें आदि संवेदनज्ञानोंकी आकांक्षा बढ जानेसे अनवस्था दोषकी प्राप्ति होगी । अन्यथा यानी अनवस्था दोषके निवारणार्थ तीसरे, चौथे आदि ज्ञानोंसे नहीं विशेषतया निश्चय किये गये ही दूसरे ज्ञानसे यदि पहिले अर्थज्ञानका विज्ञान होना मान लिया जायगा तो तीसरे ज्ञानसे नहीं जान लिया गया दूसरा ज्ञान भला पहिले ज्ञानका बोधक कैसे होगा ? जब कि पहिला अर्थज्ञान दूसरे ज्ञानज्ञानसे जान लिया गया होकर ही अर्थको जानता है । इसी प्रकार दूसरा तीसरेसे तीसरा चौथे आदिसे ज्ञात हुये ज्ञान पूर्वके ज्ञानोंको जान सकेंगे । अज्ञात विज्ञान किसीका बोधक नहीं होता है । क्योंकि वह ज्ञापक हेतु है । जैसे कि अंधे या सोते हुए मनुष्यको धूमकी सत्तासे अग्निका ज्ञान नहीं हो पाता है । किन्तु जान लिया गया ही धूम हेतु अग्निसाध्यका ज्ञापक है । सभी ज्ञापक ज्ञात होते हुये ही अन्य ज्ञेयोंके ज्ञापक होते हैं । अन्य प्रकारसे व्यवस्था नहीं है । अतः अनवस्था दोष हो जानेसे ज्ञान दूसरे ज्ञानोंसे वेद्य नहीं है । किन्तु स्वसंवेद्य है । सूर्य या दीपक स्वका भी प्रकाशक है ।

न ह्यर्थज्ञानस्य विज्ञानं परिच्छेदकं कारकं येनाज्ञातमपि ज्ञानांतरेण तस्य ज्ञापकं स्यात् अनवस्थापरिहारादिति चिंतितप्रायम् ।

पहिले अर्थज्ञानको जाननेवाला दूसरा विज्ञान कोई कारक हेतु तो नहीं है, जिससे कि तीसरे आदि ज्ञानोंसे नहीं ज्ञात होता हुआ भी उस पहिले अर्थज्ञानका ज्ञापक हो जाता, और नैयायिकोंके यहां आनेवाली अनवस्थाका परिहार होजाता । किन्तु ज्ञान, शब्द, लिंग, आदिक तो ज्ञापक हेतु हैं । कारक हेतुओंको जाननेकी आवश्यकता नहीं है । विना जाने हुये कांटा लग गया या अग्नि छूगयी अथवा पैर फिसलगया तो वे कांटे आदिक पदार्थ स्वजन्यवेदना कार्यको अवश्य पैदा करेंगे । तुम्हारे नहीं जाननेकी प्रार्थना नहीं स्वीकृत होगी । कारक हेतु अपनेको ज्ञात करलेनेकी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रतीक्षा नहीं करते हैं। तुम जानो या न जानो वे तो अपने कार्य करनेमें सदा तत्पर रहते हैं। एक दृष्टान्त है कि एक अफीमची रातको देरीसे सोकर दुपहरको उठे। किसी मनुष्यने पूंछा कि आप आज बहुत देरसे उठे, तिसपर अहिफेनको खानेवाला उत्तर देता है कि हम तो ठीक समयपर उठे किन्तु हम क्या करें गलतीसे आज सूर्यका उदय छह घंटे पहिले ही होगया है। इस उत्तरको सुनकर उपस्थित जनोंमें महान् हास्यकोलाहल हुआ। बात यह है कि कारक हेतु अज्ञात होकर भी कार्य निमग्न रहते हैं। किन्तु ज्ञापक हेतु ज्ञानान्तरसे ज्ञात हुये ही ज्ञापक हो सकते हैं। इन बातोंको हम पूर्व प्रकरणोंमें बहुत पनेसे चिंतना करचुके हैं यहां प्रकरणको नहीं बढाते हैं।

प्रधानपरिणामत्वात् सर्वं ज्ञानमचेतनम्।
सुखक्ष्मादिवदित्येके प्रतीतेरपलापिनः ॥ ५६ ॥
चेतनात्मतया वित्तेरात्मवत्सर्वदा धियः।
प्रधानपरिणामत्वासिद्धेश्चेति निरूपणात् ॥ ५७ ॥
तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं चेतनमंजसा।
सम्यगित्यधिकाराच्च संमत्यादिकभेदभृत् ॥ ५८ ॥

कपिल मतके अनुयायी कहते हैं कि सम्पूर्णज्ञान (पक्ष) अचेतन हैं (साध्य)। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी साम्य अवस्थारूप प्रकृतिका परिणामपना होनेसे (हेतु) सुख, दुःख, मोह, पृथ्वी, जल, आदिके समान (दृष्टान्त), इस प्रकार जो कोई एक सांख्य कह रहे हैं, वे भी प्रतीतिका अपलाप (छिपाना) कर रहे हैं। क्योंकि आत्माके समान ज्ञानका सदा चेतनपने करके संवेदन हो रहा है। इस कारण प्रधानका परिणामपना ज्ञानमें असिद्ध है। असिद्ध हेत्वाभास तो साध्यको सिद्ध नहीं कर पाता है। वस्तुतः ज्ञान तो आत्मका परिणाम है। ज्ञान और चैतन्य एक ही है। इन बातोंका हम पहिले सूत्रके अवतार प्रकरणमें निरूपण कर चुके हैं। तिस कारण अबतक सिद्ध हुआ कि वह अपनेको और अर्थको निश्चय स्वरूप जाननेवाला ज्ञान साक्षात् चेतन स्वरूप है। तथा सम्यक् इस पदका अधिकार (अनुवृत्ति) चले आनेके कारण सम्यक् मति, सम्यक् श्रुत आदि भेदोंको धारण करनेवाला वह ज्ञान है। अर्थात्—अपने और अर्थको एक ही समयमें जाननेवाले मति आदिक पांच चैतन्य रूप ज्ञान हैं।

इस सूत्रके प्रकरणोंकी स्थूलरूपसे सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही अनेक प्रवादियोंके मिथ्या हठको दूर करनेके लिये उमास्वामी महाराजके सूत्रका अवतारण कर शब्दकी निरुक्तियोंसे ही पांचों ज्ञानोंके लक्षण दिखलाये गये हैं। पुनः ज्ञानोंके क्रमपूर्वक कथनकी उपपत्ति कर मति आदिकमें ज्ञानशब्दका अन्वय किया है। यहां सामान्य, विशेष, या कथंचित भेद, अभेदका

प्रत्येक पदार्थमें प्रदर्शन कर विरोध आदि दोषोंका परिहार किया है। सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तुके परिणाम होते हुये अविनाभाव रूपसे एकत्र रहते हैं। सूत्रमें दोनों ओरसे अवधारणको इष्टकर स्मृति, व्याप्तिज्ञान, आदिका मतिसे ग्रहण करना पुष्ट किया है। स्मृति आदिक ज्ञान प्रमाण हैं। श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, आदिका मण्डन कर मति और श्रुतके एक हो जानेपनका खण्डन किया है। वास्तवमें विचारा जाय तो पोखर और समुद्रके समान मति, श्रुत, न्यारे न्यारे हैं। छह छह इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये मतिज्ञानसे गृहीत विषयोंके सजातीय, विजातीय अन्य पदार्थोंको जाननेवाला श्रुतज्ञान होता है। आगे चलकर प्रत्यक्ष आदि सभी ज्ञानोंको स्वांशमें परोक्ष माननेवाले मीमांसकोंके सिद्धान्तका निरास करके मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान, सभी ज्ञानोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना साधा है। आत्मा या फलज्ञानके समान करणज्ञान भी स्वसंवेद्य है। प्रमितिके कर्मका ही प्रत्यक्ष होना पद एकान्त प्रशस्त नहीं है। ज्ञानांतरोंसे ज्ञानका प्रत्यक्ष माननेवाले नैयायिकका निराकरण कर ज्ञानको अचेतन कहनेवाले सांख्य सिद्धान्तका खण्डन किया है। चैतन्य और ज्ञान ये दो पदार्थ नहीं हैं। कपिलोंने प्रकृतिका परिणामज्ञान और आत्माका स्वभाव चैतन्य इष्ट किया है। वह भ्रममूलक है। जगत्में समीचीन ज्ञान पांच ही हैं। ज्ञानके विषयोंकी तारतम्यरूप वृद्धि और ज्ञानके विशदपन सम्बंधी अतिशयकी क्रम क्रमसे वृद्धि होती देखी जाती है। वह मतिज्ञानसे प्रारम्भ होकर अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानको मध्यमें लेती हुयी केवलज्ञानतक प्रकर्षयुक्त हो जाती है। जैसे कि परमाणु या अवसन्नासन्नसे प्रारम्भ कर पर्वत, समुद्र आदिको मध्यमें नापता हुआ परिमाणका अतिशय आकाश तक पहुंच जाता है। अन्तमें भव्य जीवोंको परम पुरुषार्थ केवलज्ञानकी प्राप्ति रूप मोक्ष उपादेय है। मति, आदिक केवलज्ञानपर्यंत पाचों ही ज्ञान समीचीन हैं।

समारोपास्तत्वग्रहपरिधिलक्ष्माणि जहतः।
सदा लोकालोकाववगमयतोऽनन्तकलिनः॥
सुधांशोर्मत्यादेर्दुरितजलदानावृततनोः।
प्रमा ज्योत्स्ना भिन्द्यात्तम इव महामोहमभितः॥ १॥

—×—

श्री उमास्वामी महाराज उन ज्ञानोंके विधेय अंशको दिखलानेके लिये सूत्रका अवतार करते हैं।

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

स्व और अर्थका व्यवसाय करनेवाले वे पांचो ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाणरूप हैं।

कुतः पुनरिदमभिधीयते—।

फिर यह सूत्र किस कारण कहा जारहा है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

स्वरूपसंख्ययोः केचित्प्रमाणस्य विवादिनः ।
तान्प्रत्याह समासेन विदधत्तद्विनिश्चयम् ॥ १ ॥
तदेव ज्ञानमास्थेयं प्रमाणं नेंद्रियादिकम् ।
प्रमाणे एव तद्ज्ञानं नैकत्र्यादिप्रमाणवित् ॥ २ ॥

प्रमाणके स्वरूप और संख्यामें विवाद करनेकी टेव रखनेवाले कोई प्रतिवादी विवाद कर रहे हैं। उनके प्रति उस प्रमाणके स्वरूप और संख्याका संक्षेपसे विशेष निश्चयको कराते हुये उमास्वामी महाराज " तत्प्रमाणे " सूत्रका स्पष्ट उच्चारण करते हैं। अर्थात्—वे पांच समीचीन ज्ञान ही प्रमाण हैं। यह तो प्रमाणका लक्षण है। और वे प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्षरूप हैं। यह प्रमाणकी संख्याका निर्णय है। इस सूत्रमें वे पांच ज्ञान ही प्रमाण हैं। इस प्रकार उद्देश दलमें एवकार लगानेसे इन्द्रिय, सन्निकर्ष, आदिक प्रमाण नहीं बन पाते हैं, यह विश्वास कर लेना चाहिये तथा वे ज्ञान दो प्रमाणरूप ही हैं। ऐसा उत्तर विधेय दलमें एव लगानेसे एक, तीन, चार आदि प्रमाणोंके न होनेकी संवित्ति कर लेना। वे ज्ञान दो ही प्रमाण हैं।

प्रमाणं हि संख्यावन्निर्दिष्टमत्र तत्त्वसंख्यावद्विवचनान्तप्रयोगात् । तत्र तदेव मत्यादिपंचभेदं सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमित्येकं वाक्यमिंद्रियाद्यचेतनव्यवच्छेदेन प्रमाणस्वरूपनिरूपणपरं । तन्मत्यादिज्ञानं पंचविधं प्रमाणे एवेति द्वितीयमेकत्र्यादिसंख्यांतरव्यवच्छेदेन संख्याविशेषव्यवस्थापनप्रधानमित्यतः सूत्रात्प्रमाणस्य स्वरूपसंख्याविवादनिराकरणपुरःसरनिश्चयविधानात् इदमभिधीयत एव ।

इस सूत्रमें तत्त्वोंकी संख्याके समान संख्यावाले प्रमाणका कथन किया है। क्योंकि नपुंसक लिंग प्रमाणशब्दका प्रथमाके द्विवचन " औ " विभक्तिको अन्तमें लगाये हुये प्रमाण पदका प्रयोग किया गया है। अतः संख्यासे संहित हो रहा प्रमाण कहा जा चुका है तहां मति आदिक पांच भेदवाले वे ही सम्यग्ज्ञान प्रमाण हैं, इस प्रकार पूर्वदलमें एव लगाकर एक वाक्य बनाना जो कि इन्द्रिय, सन्निकर्ष, ज्ञातृव्यापार आदि अचेतन पदार्थोंका व्यवच्छेद करके प्रमाणके स्वरूपको निरूपण करनेमें तत्पर हो रहा है। तथा वे मति आदिक पांच प्रकारके ज्ञान दो प्रमाणरूप ही हैं, इस प्रकार उत्तरदलमें एव लगाकर दूसरा वाक्य बनाना जो कि चार्वाक, सांख्य, आदिकों करके मानी गयी एक, तीन, चार, पांच आदि अन्य संख्यायोंका निराकरण कर ठीक ठीक विशेष संख्याकी व्यवस्था करानेका प्रधान कार्य कर रहा है। इस सूत्र द्वारा प्रमाणके स्वरूप और संख्यामें

पडे हुये विवादोंका निराकरणपूर्वक ठीक ठीक स्वरूपका निश्चय और संख्याका विधान कर देनेसे यह सूत्र कहा ही जा रहा है। अर्थात्—उक्त दोनों कार्य इस सूत्रसे ही हो सकते हैं। अन्यथा नहीं।

ननु प्रमीयते येन प्रमाणं तदितीरणम् ।
प्रमाणलक्षणस्य स्यादिंन्द्रियादेः प्रमाणता ॥ ३ ॥
तत्साधकतमत्वस्याविशेषात्तावता स्थितिः ।
प्रामाण्यस्यान्यथा ज्ञानं प्रमाणं सकलं न किम् ॥ ४ ॥

यहां " प्रमाकरणं प्रमाणं " प्रमितिके करणको प्रमाण कहनेवाले नैयायिक या सांख्य कहते हैं कि जिस करके प्रमा की जाय वह प्रमाण है, इस प्रकार प्रमाणका लक्षण कथन करना चाहिये था, जिससे कि इंद्रिय, सन्निकर्ष, आदिको प्रमाणपना बन जाता है। ज्ञानके समान इन्द्रिय आदिको भी उस ज्ञप्तिक्रियाका प्रकृष्ट उपकारकरूप साधकतमपना अन्तररहित है। प्रमितिके साधकतम पनेसे ही प्रमाणपनेकी स्थिति है, तितनेसे ही प्रमाणलक्षणकी परिपूर्णता होजाती है। अन्यथा यानी प्रमाणके लक्षणमें यदि ज्ञानको डालदिया जायगा तो सभी संशय, आदि ज्ञान भी क्यों नहीं प्रमाण बन जावें, जो कि जैनोंको भी इष्ट नहीं हैं।

इंद्रियादिप्रमाणमिति साधकतमत्वात्सुप्रतीतौ विशेषणज्ञानवत् यत्पुनरप्रमाणं तन्न साधकतमं यथा प्रमेयमचेतनं चेतनं वा शशधरद्वयविज्ञानमिति प्रमाणत्वेन साधकतमत्वं व्याप्तं न पुनर्ज्ञानत्वमज्ञानत्वं वा तयोः सद्भावेपि प्रमाणत्वानिश्चयादिति कश्चित्।

पूर्वपक्षी वादीकी उक्त कारिकाओंका विवरण इस प्रकार है कि इन्द्रिय, सन्निकर्ष, आदिक (पक्ष) प्रमाण हैं (साध्य)। समीचीन प्रतीति करनेमें प्रकृष्ट उपकारक होनेसे (हेतु) जैसे कि विशेषणका ज्ञान विशेष्यकी प्रमिति करानेमें साधकतम हो जानेसे प्रमाण माना गया है। (अन्वयदृष्टान्त) मनुष्य सामान्यका ज्ञान होनेपर फिर दण्डके दीख जानेसे दण्डी मनुष्यका ज्ञान हो जाता है। वैशेषिकोंने उस विशेष्यका ज्ञान करानेमें दण्ड ज्ञानको करण माना है। व्यतिरेक व्याप्ति यों है कि जो जो फिर प्रमाण नहीं हैं, वह प्रमाका साधकतम भी नहीं है। जैसे कि घट, पट आदिक जड प्रमेय हैं। अथवा एक चन्द्रमामें हुये चन्द्रद्वयका ज्ञान चेतन होता हुआ भी प्रमाण नहीं है (दो व्यतिरेक दृष्टान्त)। इस प्रकार प्रमाणपनेसे प्रमितिका साधकतमपना व्याप्त हो रहा है, किन्तु फिर ज्ञानपना अथवा अज्ञानपना व्याप्त नहीं है। क्योंकि उनके विद्यमान होनेपर भी प्रमाणपनेका निश्चय नहीं हो रहा है। अर्थात्—संशय, विपर्यय, ये ज्ञान तो हैं, किन्तु प्रमाण नहीं है और जड घट, पट, आदि अज्ञानरूप भी किसीके द्वारा प्रमाण नहीं माने गये हैं। इस प्रकार कोई प्रतिवादी कह रहा है।

तत्रेदं चिंत्यते तावदिंद्रियं किमु भौतिकम् ।
चेतनं वा प्रमेयस्य परिच्छित्तौ प्रवर्त्तते ॥ ५ ॥
न तावद्भौतिकं तस्याचेतनत्वाद् घटादिवत् ।
मृतदेहेंद्रियस्यापि तत्र वृत्तिप्रसंगतः ॥ ६ ॥

तिस शंका या नैयायिक द्वारा स्वसिद्धान्त अवधारणके प्रकरणमें प्रतिवादीके सन्मुख आचार्य महाराज प्रथम ही यह विचार करते हैं कि आपने इन्द्रियको प्रमाण माना, उसमें हमें यह पूंछना है कि क्या पृथ्वी, आदिसे बनी हुयीं पौद्गलिक इन्द्रियाँ प्रमेयकी परिच्छित्ति करनेमें प्रवर्त्त रही हैं ? अथवा क्या आत्माका परिणामरूप चेतन इन्द्रियां प्रमेयकी परिच्छित्तिमें साधकतम हो रही हैं ? बताओ । तहां प्रथमपक्षके अनुसार पौद्गलिक चक्षु आदिक इन्द्रियां तो प्रमाके करण नहीं हैं। क्योंकि घट, पट, आदि जड पदार्थोंके समान वे अचेतन हैं । अचेतन पदार्थ तो परिच्छित्तिका करण नहीं हो सकता है । अन्यथा मृतपुरुषकी जडद्रव्यस्वरूप इन्द्रियोंको भी उस परिच्छित्तिके करानेमें प्रवृत्ति होनेका प्रसंग हो जायगा ।

प्रमात्राधिष्ठितं तच्चेत्तत्र वर्तेत नान्यथा ।
किं न स्वापाद्यवस्थायां तदधिष्ठानसिद्धितः ॥ ७ ॥
आत्मा प्रयत्नवांस्तस्याधिष्ठानान्नाप्रयत्नकः ।
स्वापादाविति चेत्कोयं प्रयत्नो नाम देहिनः ॥ ८ ॥
प्रमेये प्रमितावाभिमुख्यं चैतदचेतनम् ।
यद्यकिंचित्करं तत्र पटवत् किमपेक्ष्यते ॥ ९ ॥
चेतनं चैतदेवास्तु भावेंद्रियमबाधितम् ।
यत्साधकतमं वित्तौ प्रमाणं स्वार्थयोरिह ॥ १० ॥

प्रमितिके कर्त्ता आत्मासे अधिष्ठित होकर वे इन्द्रियाँ उस प्रमारूप कार्य करनेमें प्रवर्त्तेंगी अन्यथा यानीं प्रमाताके अधिकारमें प्राप्त हुये विना वे नहीं प्रवर्तेंगीं। मृत शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियोंका अधिष्ठाता आत्मा नहीं रहा है । अतः वे परिच्छित्तिरूप कार्यको नहीं करती हैं । इस प्रकार नैयायिकोंके कहनेपर तो हम जैन प्रतिपादन करते हैं कि स्वप्न, मूर्च्छा, मृगी रोग, आदि अवस्थाओंमें उस आत्माके अधिष्ठातापनकी सिद्धि हो रही है तो फिर उस अवस्थामें इन्द्रियाँ क्यों नहीं परिच्छित्तिको करती हैं ? बताओ। यदि आप नैयायिक यों कहें कि बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करनेवाला

आत्मा उनका अधिष्ठापक है, स्वप्न आदिकमें प्रयत्नरहित आत्मा तो अधिष्ठाता नहीं बन रहा है, इस कारण मूर्च्छा आदि अवस्थामें इन्द्रियाँ अधिष्ठाताके पुरुषार्थ विना प्रमितिकार्यको नहीं करती हैं। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन तुमसे पूंछते हैं कि शरीरधारी आत्माका यह प्रयत्न भला क्या वस्तु पडता है ? बताओ। प्रमेय विषयमें प्रमितिको उत्पन्न करनेमें आत्माका अभिमुखपना यदि प्रयत्न है ? तब तो यह अभिमुखपना अचेतन हुआ। पटके समान अचेतन पदार्थ उस परिच्छित्तिक्रियामें कुछ भी न करता हुआ अकिंचित्कर है। वह अकिंचित्कर अचेतन भला क्यों अपेक्षणीय होगा ? यदि आत्मामें प्रमितिके निमित्त अभिमुखपना यदि चेतन है तब तो यह चेतन पदार्थ ही बाधारहित होता हुआ भाव इन्द्रिय होजाओ, जो कि चेतनस्वरूप, भाव इन्द्रियाँ यहां स्व और अर्थकी प्रमा करनेमें साधकतम होती हुयी प्रमाण हैं। इससे तो चेतनको ही प्रमाण माननेवाला जैनसिद्धान्त पुष्ट हुआ।

एतेनैवोत्तरः पक्षः चिंतितः संप्रतीयते।
ततो नाचेतनं किंचित्प्रमाणमिति संस्थितम् ॥ ११ ॥

इस ही उक्त कथनसे यानी चेतन परिणामको ही प्रमाणपनकी पुष्टि कर देनेसे दूसरा पक्ष भी विचारित कर दिया गया, भले प्रकार जाना जारहा है। अर्थात्—पहिले इन्द्रियोंमें जड और चेतनके दो पक्ष उठाये थे, वहांके प्रथमपक्षका परामर्श हो चुका। अब दूसरे पक्षका भी सिद्धसाध्यता दोष हो जानेके कारण विचार करा दिया गया समझ लो। तिस कारण कोई भी अचेतन पदार्थ प्रमाण नहीं है। यह सिद्धान्त भले प्रकार स्थित होगया है।

प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणमिति करणसाधनत्वविवक्षायां साधकतमं प्रमाणमित्यभिमतमेव अन्यथा तस्य करणत्वायोगात्। केवलमर्थप्रमितौ साधकतमत्वमेवाचेतनस्य कस्यचिन्न संभावयाम इति भावेंद्रियं चेतनात्मकं साधकतमत्वात् प्रमाणमुपगच्छामः। न चैवमागमविरोधः प्रसज्यते, " लब्ध्युपयोगौ भावेंद्रियं " इति वचनात् उपयोगस्यार्थग्रहणस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः।

प्रमिति की जाय जिस करके वह प्रमाण है, इस प्रकार करणमें अनट् प्रत्यय कर साधा गया प्रमाण हम जैनोंको अभीष्ट है ही, करणमें साधेगयेपन की विवक्षा होनेपर वह प्रमितिक्रियाका प्रकृष्ट उपकारक है अन्यथा यानी प्रमितिका साधकतम न माननेपर उसको करणपना करना युक्त न होगा। हां, केवल यह विशेष है कि पदार्थोंकी प्रमिति करनेमें किसी भी अचेतन पदार्थको साधकतमपना ही हमारी संभावनामें नहीं आरहा है। इस कारण प्रमाका साधकतमपना होनेके कारण चेतनस्वरूप भावइन्द्रियोंको हम प्रमाण स्वीकार करते हैं। इस प्रकार माननेपर हमें अपने आगमसे विरोध आनेका कोई प्रसंग नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि क्षयोपशमसे उत्पन्न हुयी विशुद्धिरूप लब्धि और उससे उत्पन्न हुआ निराकार दर्शन और साकार ज्ञानस्वरूप उपयोग ये भाव इन्द्रियां हैं, ऐसा

मार्गदर्शक :- आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

उमास्वामी महाराजका वचन है । अर्थोंका विकल्पसहित ग्रहण करना-रूप ज्ञान उपयोगको प्रमाणपना सिद्ध है ।

अर्थग्रहणयोग्यत्वमात्मनश्चेतनात्मकम् ।
सन्निकर्षः प्रमाणं नः कथंचित्केन वार्यते ॥ १२ ॥
तथा परिणतो ह्यात्मा प्रमिणोति स्वयं प्रभुः ।
यदा तदापि युज्येत प्रमाणं कर्तृसाधनम् ॥ १३ ॥

आत्माकी चेतनस्वरूप अर्थग्रहण योग्यता यदि सन्निकर्ष है तो यह सन्निकर्ष हम जैनोंके यहां प्रमाण है, इस सन्निकर्षका किसी भी ढंगसे किसीके द्वारा निवारण नहीं किया जासकता है। तब इस प्रकार अर्थको ग्रहण करनेकी योग्यतारूप परिणतिसे परिणमन करता हुआ आत्मा स्वयं स्वतंत्र समर्थ होकर भले प्रकार जान रहा है, तब भी कर्त्तामें अनट् प्रत्यय कर साधा गया प्रमाण चेतनस्वरूप हो पडता है, सन्निकर्षका सिद्धान्त लक्षण योग्यता ठीक पडेगा, संयोग आदिकमें अनेक दोष आते हैं ।

सन्निकर्षः प्रमाणमित्येतदपि न स्याद्वादिना वार्यते कथंचित्तस्य प्रमाणत्वोपगमे विरोधाभावात् । पुंसोऽर्थग्रहणयोग्यत्वं सन्निकर्षो न पुनः संयोगादिरिष्टः । न ह्यर्थग्रहण-योग्यतापरिणतस्यात्मनः प्रमाणत्वे कश्चिद्विरोधः कर्तृसाधनस्य प्रमाणस्य तथैव च घटनात् । प्रमात्रात्मकं च स एव प्रमाणमिति चेत्, प्रमातृप्रमाणयोः कथंचित्तादात्म्यात् ।

सन्निकर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण है यह मत भी स्याद्वादी करके नहीं निवारा जाता है । किसी अपेक्षा उस सन्निकर्षको प्रमाणपन स्वीकार करनेमें हमें विरोध नहीं आता है । आत्माकी अर्थोंको ग्रहण करनेकी योग्यता ही तो सन्निकर्ष है, फिर कोई वैशेषिकों द्वारा माने गये संयोग, संयुक्त समवाय, आदिक तो अभीष्ट संन्निकर्ष नहीं हैं । जिस समय आत्मा अर्थके ग्रहण करनेकी योग्यतारूप परिणाम कर रहा है, ऐसे आत्माको प्रमाणपन हो जानेमें कोई विरोध नहीं है । कर्त्तामें साधे गये प्रमाण शब्दकी तिस प्रकार आत्माके ही वाच्य होनेपर अच्छी घटना होती है । प्रमाण, प्रमिति, प्रमाता, और प्रमेय ये स्वतंत्र एक दूसरेसे न्यारे चार तत्त्व हैं, इस बातको स्याद्वादी स्वीकार नहीं करते हैं । जैसे कि पृथ्वी, अप, तेज, वायु ये स्वतंत्र चार तत्त्व नहीं हैं । क्योंकि परस्परमें संकरपनेसे परिणाम होना या उपादान उपादेयपना देखा जाता है । जैसे वायु पानी (मेघ जल) बन जाती है, पानी फल पुष्प काठरूप हो जाता है, काठ अग्नि बन जाता है, अग्नि फिर भस्मरूप पृथ्वी बन जाती है, इसी प्रकार प्रमाता भी प्रमेय और प्रमाण बन जाता है । प्रमाण भी प्रमेय हो जाता है । प्रमिति भी प्रमेय बन जाती है । आत्माके विभिन्न परिणामोंके अनुसार यह व्यवस्था हो रही है ।

यदि यहां कोई भेदवादी वैशेषिक यों कहें कि यों तो जो ही आत्मा प्रमाता स्वरूप है, वही प्रमाण कह दिया गया है, वही प्रमाता तो प्रमाण नहीं हो सकता है। ऐसा कहनेपर तो वही हमारी जैनोंकी सिंहगर्जना है कि प्रमाता और प्रमाणमें किसी अपेक्षासे तादात्म्य सम्बन्ध है। अर्थग्रहणयोग्यता परिणतिसे परिणाम कर रहा आत्मा स्वतंत्र प्रमाता है। और उसका लब्धि और उपयोगरूप परिणाम तो करण होता हुआ प्रमाण है। तथा अज्ञाननिवृत्तिरूप परिणति प्रमिति है। अपनेको जानते समय स्वयं प्रमेयरूप भी है।

प्रमाता भिन्न एवात्मप्रमाणाद्यस्य दर्शने।
तस्यान्यात्मा प्रमाता स्यात् किन्न भेदाविशेषतः ॥ १४ ॥

जिस वैशेषिक या नैयायिकके मतमें प्रमाणसे प्रमाता आत्मा सभी प्रकार भिन्न ही माना गया है, उसके दर्शन (सिद्धान्त) में दूसरा आत्मा प्रमाता क्यों न हो जावे। क्योंकि भेद तो विशेषतारहित एकसा है। अर्थात्—देवदत्त प्रमाता प्रत्यक्ष प्रमाणसे घटको जान रहा है। यहां जैसे देवदत्तसे प्रत्यक्ष प्रमाण भिन्न है। उसी प्रकार जिनदत्तसे भी वह प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वथा भिन्न है। ऐसी दशामें एकसा भेद होनेके कारण देवदत्तके समान जिनदत्त घटका प्रमाता क्यों न हो जावे तथा ईश्वरसे भिन्न पडे हुये उसके प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा गलीका पुरुष भी सर्वज्ञ बन बैठेगा। सूर्य, चन्द्र आदिके समान भिन्न पडे हुये ज्ञानोंपर सबका एकसा अधिकार है।

प्रमाणं यत्र संबद्धं स प्रमातेति चेन्न किम्।
कायः सम्बन्धसद्भावात्तस्य तेन कथंचन ॥ १५ ॥

जिस आत्मामें समवाय संबन्धसे प्रमाण जुड गया है, वह प्रमाता बनेगा, अन्य जिनदत्त, या गलीका मनुष्य आदि प्रमाता नहीं बन सकेंगे। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो समाधान न करना क्योंकि यों तो उस ज्ञानका शरीरके साथ भी किसी अपेक्षा स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध विद्यमान है। ऐसी दशामें वह देवदत्तका शरीर ही प्रमाता क्यों नहीं होजावे। अर्थात्—देवदत्तके भिन्नज्ञानका जैसे देवदत्तमें समवाय सम्बन्ध है, वह उसी प्रकार देवदत्तके शरीरमें भी ज्ञानका स्वसमवायी संयोग सम्बन्ध है। स्वसे लिया ज्ञान उसके समवायवाला देवदत्तका आत्मा है, उस आत्मासे देवदत्तके शरीरका संयोग हो रहा है। अतः देवदत्तकी काय भी ज्ञानसे सम्बन्ध होनेके कारण प्रमाता बन जाओ तथा देवदत्तका ज्ञान स्वाश्रय संयोगसम्बन्धसे जिनदत्तकी आत्मामें भी सम्बन्धित हो रहा है। अतः देवदत्तके ज्ञान द्वारा जिनदत्त भी प्रमाता बन जाओ, अथवा देवदत्तसे भिन्न पडा हुआ ज्ञान उसके शरीर या जिनदत्तमें समवाय सम्बन्धसे वर्तजाओ " कारी कन्या सहस वर " ऐसा प्रवाद प्रसिद्ध है। एक बात यह भी है कि प्रत्यक्षके प्रकरणमें सन्निकर्ष प्रमाण माना है। इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षके सम्बन्धी इन्द्रिय और अर्थ पडेंगे, किन्तु वे प्रमाता नहीं माने हैं।

प्रमाणफलसम्बन्धी प्रमातैतेन दूषितः ।
संयुक्तसमवायस्य सिद्धेः प्रमितिकाययोः ॥ १६ ॥

इस उक्त कथनसे प्रमाण और फल दोनोंका सम्बन्धी आत्मा प्रमाता है । यह भी दूषित पक्ष कह दिया गया समझ लेना । क्योंकि प्रमिति और कायका भी संयुक्त-समवायसम्बन्ध सिद्ध हो रहा है । द्रव्य और दूसरे द्रव्यका संयोग सम्बन्ध वैशेषिकोंने माना है । काय द्रव्यका आत्म-द्रव्यके साथ संयोग है । और कायसंयुक्त आत्मामें प्रमितिका समवाय है । अतः प्रमितिका सम्बन्ध माननेपर भी शरीरके प्रमाता बन जानेका निवारण वैशेषिक नहीं कर सकते हैं ।

ज्ञानात्मकप्रमाणेन प्रमित्या चात्मनः परः ।
समवायो न युज्येत तादात्म्यपरिणामतः ॥ १७ ॥
ततो नात्यंतिको भेदः प्रमातुः स्वप्रमाणतः ।
स्वार्थनिर्णीतिरूपायाः प्रमितेश्च फलात्मनः ॥ १८ ॥
तथा च युक्तिमत्प्रोक्तं प्रमाणं भावसाधनम् ।
सतोपि शक्तिभेदस्य पर्यायार्थादनाश्रयात् ॥ १९ ॥

ज्ञानस्वरूप प्रमाण और प्रमितिके साथ आत्माका तादात्म्य परिणामरूप सम्बन्धसे न्यारा कोई समवायसम्बन्ध युक्त नहीं है । अर्थात्—अपने शरीर या अन्य आत्माओंके प्रमाता बननेका निवारण तभी हो सकता है, जब कि आत्माका ज्ञान और इतिके साथ तादात्म्य माना जाय । तदात्मक परिणतिके अतिरिक्त कोई समवाय संबंध सिद्ध नहीं है । तिस कारण प्रमाताका अपने प्रमाणसे सर्वथा भेद नहीं है । तथा अपना और अर्थका निर्णय करनारूप फलस्वरूप प्रमितिका भी प्रमाताके साथ अत्यन्तरूपसे होनेवाला भेद नहीं है । और तैसा होनेपर हमने पहिले वार्तिकोंमें भावद्वारा साधे गये प्रमाणको युक्तिसहित बहुत अच्छा कह दिया है । विद्यमान भी हो रहीं भिन्न भिन्न शक्तियोंका पर्यायार्थिक नयसे नहीं आश्रय करनेके कारण शुद्धप्रमिति ही प्रमाण हो जाती है । इस प्रकार विवक्षाके वश प्रमाण, प्रमाता, प्रमिति, और प्रमेय सब एकम एक हो रहे हैं । जैसे कि सद्गृहस्थके कुटुम्बमें आपेक्षिक प्रधानताको रखते हुये सब कुटुम्बीजन परस्पर मिल रहे हैं ।

सर्वथा प्रमातुः प्रमितिप्रमाणाभ्यामभेदादेवं तद्विभागः कल्पितः स्यान्न पुनर्वास्तव इति न मंतव्यं, कथंचिद्भेदोपगमात् । सर्वथा तस्य ताभ्यां भेदादुपचरितं प्रमातुः प्रमिति प्रमाणत्वं न तात्त्विकमित्यपि न मंतव्यं कथंचित्तदभेदस्यापीष्टेः । तथाहि—

यदि यहांपर कोई यों कहें कि इस प्रकार आप जैनोंके यहां प्रमिति और प्रमाणके साथ प्रमाताका जब सर्वथा अभेद हो गया तो फिर उनका प्रमिति, प्रमाण और प्रमातारूपसे विभाग करना तो कल्पित ही होगा, वास्तविक विभाग न हो सकेगा, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि हम जैनोंने सर्वथा अभेद नहीं माना है। किन्तु कथंचित् भेद स्वीकार किया है। तभी तो प्रमिति, प्रमाण और प्रमाता, तीन न्यारे न्यारे विभाग हैं। इस पर सर्वथा भेदवादी यदि यों कहें कि उस आत्माका उन प्रमिति और प्रमाणके साथ सर्वथा भेद हो जानेसे फिर प्रमाताको ही प्रमितिपना और प्रमाणपना तो उपचरित (गौण) ही होगा। प्रमाताको प्रमिति या प्रमाणसे तदात्मकपना वास्तविक नहीं हो सकेगा, जैसा कि आप जैन लोग इष्ट करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि किसी अपेक्षा उनके अभेदको भी हमने इष्ट किया है। इस प्रकारको दृढ कहकर दिखलाते हैं।

स्यात्प्रमाता प्रमाणं स्यात्प्रमितिः स्वप्रमेयवत्।
एकांताभेदभेदौ तु प्रमात्रादिगतौ कनः॥ २०॥
एकस्यानेकरूपत्वे विरोधोपि न युज्यते।
मेचकज्ञानवत्प्रायश्चिंतितं चैतदंजसा॥ २१॥

प्रमाता अपनेको जानते समय जैसे स्वयं अपना प्रमेय बन जाता है, वैसे ही वह प्रमाता कथंचित् प्रमाणरूप भी है, और कथंचित् प्रमितिस्वरूप भी है। प्रमाता, प्रमिति, प्रमाण और प्रमेयमें एकान्तरूपसे प्राप्त हो रहे सर्वथा भेद अभेदोंको तो हमने कहां माना है? भावार्थ— स्याद्वादियोंके यहां प्रमाता आदिकमें एकान्तरूपसे भेद अभेद नहीं माने गये हैं। एक पदार्थको अनेकरूप माननेमें विरोध दोष देना भी युक्त नहीं है, जैसे कि बौद्ध या नैयायिकोंके द्वारा माने गये एक चित्रज्ञानमें अनेक नील, पीत, आदि आकार प्रतिभास रहे हैं। उसीके समान एक आत्मामें वास्तविक परिणतिके अनुसार प्रमेयपन, प्रमितिपन आदि स्वभाव बन जाते हैं। इस तत्त्वकी हम अवतार प्रकरणमें विस्तारके साथ प्रायः विचारणा कर चुके हैं।

यथैव हि मेचकज्ञानस्यैकस्यानेकरूपमविरुद्धमबाधितप्रतीत्या रूढत्वात् तथात्मनोपि तदविशेषात्। न ह्ययमात्मार्थग्रहणयोग्यतापरिणतः सन्निकर्षाख्यं प्रतिपद्यमानोप्रबाधप्रतीत्यारूढो न भवति येन कथंचित्प्रमाणं न स्यात्। नाप्ययमव्यापृतावस्थोऽर्थग्रहणव्यापारांतरस्वार्थविदात्मको न प्रतिभाति येन कथंचित्प्रमितिर्न भवेत्। न चायं प्रमितिप्रमाणाभ्यां कथंचिदर्थांतरभूतः स्वतंत्रो न चकास्ति येन प्रमाता न स्यात्।

कारण जिस ही प्रकार एक समूहालम्बन ज्ञान या चित्रज्ञानके अनेक स्वरूप होना अविरुद्ध है। क्योंकि बाधारहित प्रतीति करके वे अनेक स्वभाव एकमें आरूढ हो रहे जाने जाते हैं, तिस ही प्रकार एक आत्माके भी वह अनेकरूपपना अविरुद्ध है, कोई अन्तर नहीं है, जैसे बिभुक्षा या पिपासा तथा रिक्तकोष्ठता आदि परिणतिके होनेपर ही देवदत्त खाता, पीता है। अजीर्ण या महारोग अथवा परितृप्त अवस्थामें वैसी शारिरिक परिणतिके हुए बिना नहीं खाता पीता है। उसी प्रकार अर्थग्रहण योग्यतारूप परिणामसे विवर्त्त करता हुआ आत्मा संनिकर्ष इस संज्ञाको प्राप्त कर रहा हुआ निर्बाध प्रतीतिमें आरूढ नहीं हो रहा है। यह नहीं समझना जिससे कि वह विलक्षण संनिकर्ष रूप आत्मा कथंचित् प्रमाण न हो जाय, यानी संनिकर्ष प्रमाणरूप आत्मा है। तथा यह आत्मा क्रियात्मक व्यापाररूप अवस्थासे रहित होकर अन्य अर्थग्रहणरूप व्यापारमें निमग्न हुआ स्व और अर्थकी ज्ञप्ति स्वरूप नहीं दीख रहा है, यह भी नहीं समझना जिससे कि वह आत्मा कथंचित् प्रमिति रूप न हो सके। अर्थात्—ज्ञाता ही विशेष अवस्थामें प्रमितिरूप है। एवं यह आत्मा प्रमिति और प्रमाणसे कथंचित् भिन्न हो रहा स्वतंत्र नहीं जगमगा रहा है। यह भी नहीं समझना, जिससे कि प्रमाता न हो सके। भावार्थ—" स्वतंत्रः कर्त्ता " स्वतंत्र आत्मा प्रमाता भी है।

संयोगादि पुनर्येन सन्निकर्षोऽभिधीयते।
तत्साधकतमत्वस्याभावात्तस्याप्रमाणता ॥ २२ ॥
सतींद्रियार्थयोस्तावत्संयोगे नोपजायते।
स्वार्थप्रमितिरेकांतव्यभिचारस्य दर्शनात् ॥ २३ ॥
क्षितिद्रव्येण संयोगो नयनादेर्यथैव हि।
तस्य व्योमादिनाप्यस्ति न च तज्ज्ञानकारणम् ॥ २४ ॥

जैसे वैशेषिकने (१) संयोग (२) संयुक्तसमवाय (३) संयुक्तसमवेतसमवाय (४) समवाय (५) समवेतसमवाय (६) विशेषणविशेष्यभाव ये छह लौकिक संनिकर्ष कहे हैं तथा (१) सामान्य लक्षण (२) ज्ञान लक्षण (३) योगज लक्षण नामक तीन अलौकिक संनिकर्षोंका कथन किया है। उन संनिकर्षोंको उस प्रमाका साधकतमपना न होने कारण प्रमाणपना नहीं है। अन्वयव्यभिचार देखा जाता है। कारणके होने पर कार्यका होना अन्वय है। किन्तु इन्द्रिय और अर्थका संयोग होते हुये भी स्व और अर्थकी प्रमा नहीं उत्पन्न हो रही है। एकान्त रूपसे व्यभिचार देखा जाता है। देखिये घट, पट आदि पृथ्वी द्रव्यके साथ चक्षु, स्पर्शन, आदि इन्द्रियोंका जैसा ही संयोग है, वैसा ही उन चक्षु आदिकोंका आकाश, आत्मा, आदिकके साथ भी

संयोग सम्बन्ध है। वैशेषिकके मतमें चक्षुइन्द्रिय तेजो द्रव्य है। स्पर्शन इन्द्रिय वायुकी बनी हुयी वायु द्रव्य है। रसना इन्द्रिय जलीय है। पृथ्वी द्रव्यका विकार घ्राण इन्द्रिय है। कानके भी भीतर छेदमें रहनेवाला आकाशद्रव्य श्रोत्र इन्द्रिय है। द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ संयोग सम्बन्ध माना गया है। वह आकाश और नेत्रका तथा स्पर्शन इन्द्रिय और आत्माका है ही, फिर आकाशका चाक्षुष प्रत्यक्ष और आत्माका स्पर्शन प्रत्यक्ष या दोनोंके दोनों प्रत्यक्ष क्यों न होजायं ? किन्तु वह संयोग तो उन आकाश आदिके ज्ञानका कारण नहीं माना गया है। यह अन्वयव्यभिचार हुआ।

संयुक्तसमवायश्च शब्देन सह चक्षुषः।
शब्दज्ञानमकुर्वाणो रूपचिच्चक्षुरेव किम् ॥ २५ ॥
संयुक्तसमवेतार्थसमवायोप्यभावयन्।
शब्दत्वस्य न नेत्रेण बुद्धिं रूपत्ववित्करः ॥ २६ ॥

तथा जिस प्रकार घटसे चक्षु संयुक्त हो रही है, और घटमें रूपका समवाय है, अतः चक्षु इन्द्रियका रूपके साथ संयुक्तसमवाय नामका परम्परा-सम्बन्ध सन्निकर्ष प्रमाण होता हुआ, रूपज्ञानका करण है, उसी प्रकार चक्षुका शब्दके साथ भी संयुक्तसमवाय सम्बन्ध है। चक्षुसे संयुक्त आकाश है। और वैशेषिकोंने आकाशमें शब्दका समवाय सम्बन्ध माना है। किन्तु वह संयुक्तसमवाय जब शब्दके चाक्षुष ज्ञानको नहीं कर रहा है, तो संयुक्तसमवाय द्वारा चक्षु इन्द्रिय भला रूप ज्ञान क्यों करावे ? इसी प्रकार चक्षुका रूपत्व जातिके साथ संयुक्तसमवेत-समवाय है। वैशेषिकोंने जिस इन्द्रियसे जो जाना जाता है, उसमें रहनेवाला सामान्य भी उसी इन्द्रियसे जाना जाता माना है। चक्षुसे संयुक्त घट है, घटमें समवाय सम्बन्धसे रूप वर्त्त रहा है और रूपमें रूपत्व जातिका समवाय है। अतः चक्षुका रूपत्वके साथ संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष है। उसीके समान शब्दत्वके साथ भी यही सन्निकर्ष है। चक्षुसे संयुक्त आकाश है। आकाशमें समवेत शब्द है। और शब्दगुणमें शब्दत्व जातिका समवाय है। फिर नेत्र करके रूपत्वकी वित्तिके समान शब्दत्वकी बुद्धिको वह सन्निकर्ष क्यों नहीं कराता है ? बताओ। कारणके होते हुये भी कार्य नहीं हुआ, यह अन्वयव्यभिचार है।

श्रोत्रस्याद्येन शब्देन समवायश्च तद्विदम्।
अकुर्वन्नन्त्यशब्दस्य ज्ञानं कुर्यात्कथं तु वः ॥ २७ ॥
तस्यैवादिमशब्देषु शब्दत्वेन समं भवेत्।
समवेतसमवायं सद्विज्ञानमनादिवत् ॥ २८ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री

अंत्यशब्देषु शब्दत्वे ज्ञानमेकांततः कथम् ।
विदधीत विशेषस्याभावे यौगस्य दर्शने ॥ २९ ॥

चौथा सन्निकर्ष कर्णविवरमें रहनेवाले आकाशद्रव्यरूप श्रोत्रका शब्द गुणके साथ समवाय सम्बन्ध है, आदिमें उच्चारण किये गये शब्दके साथ हो रहा, समवाय उस प्रथम उच्चरित शब्दके ज्ञानको न करता हुआ तुम वैशेषिकोंके यहां अन्तिम शब्दके ज्ञानको कैसे करा सकेगा ? भावार्थ— देवदत्त यह चार स्वर पांच व्यंजनवाला शब्द युगपत् तो बोला नहीं जा सकता है । क्यों कि तालु आदिक स्थान और आत्माके अनेक प्रयत्नोंसे उत्पन्न होनेवाले न्यारे न्यारे अक्षरक्रमसे ही कहे जा सकते हैं । दे अक्षरका उच्चारण करते समय व नहीं है और व वर्णको बोलते समय " दे " नष्ट हो चुका है । अतः संस्कारयुक्त अन्त्य वर्ण शाब्दबोधका हेतु माना गया है । ऐसी दशामें त का ज्ञान होनेपर समवाय सन्निकर्ष द्वारा पूर्व वर्णोंका ज्ञान क्यों नहीं होता है ? बताओ। आकाश तो नित्य और व्यापक है ? पांचवां सन्निकर्ष कर्ण इन्द्रियका शब्दत्वके साथ समवेत समवाय है । कर्णरूप आकाशमें शब्द गुण समवाय सम्बन्धसे वर्त्तमान है और शब्द गुणमें शब्दत्व जातिका समवाय है । आदि वर्णमें नहीं किन्तु अन्तिम शब्दमें रहनेवाले शब्दत्वका समवेत समवाय द्वारा जैसे श्रावण प्रत्यक्ष होता है, उसीके समान आदिमें उच्चारण किये गये शब्दोंमें रहनेवाले शब्दत्वका विद्यमान समवेत समवाय संनिकर्ष होरहा क्यों नहीं श्रावण प्रत्यक्षको कराता है ? आदिके शब्दोंको छोडकर अन्त्य शब्दोंमें ज्ञान करानेके समान आदि शब्दके शब्दत्वका भी ज्ञान करादेवे । जब वैशेषिकोंके दर्शनमें ऐसी कोई विशेषता नहीं है तो फिर अन्तिम शब्दोंमें रहनेवाले शब्दत्वका ही एकान्तरूपसे ज्ञान वह सन्निकर्ष कैसे कर देवेगा ? यह चौथे पांचवे सन्निकर्षका अन्वयव्यभिचार हुआ ।

×तथाऽभाव(श्र) संयुक्तविशेषणतया दृशा ।
ज्ञानेनाधीयमानेपि समवायादिवित्कुतः ॥ ३० ॥

अभाव और समवायके प्रत्यक्ष करानेमें संयुक्त विशेषणता, संयुक्तसमवेत विशेषणता, आदि सन्निकर्ष माने हैं । चक्षुके साथ भूतल संयुक्त है । और भूतलमें घटका अभाव विशेषण हो रहा है अथवा आममें रसका समवाय है । रसमें रूपत्वका अभाव विशेषण हो रहा है । अतः चक्षुसे रसमें संयुक्त समवेतविशेषणता सन्निकर्षद्वारा रूपत्वका अभाव जानलिया जाता है । तथा रूपत्व, रसत्व आदिमें घट आदिकका अभाव तो संयुक्तसमवेत–समवेतविशेषणता सन्निकर्षसे जान लिया जाता है । घटाभावमें पटाभावका प्रत्यक्ष संयुक्तविशेषण विशेषणतासे हो जाता है । चक्षुसे संयुक्त भूतल है । भूतलमें स्वरूपसम्बन्धसे घटाभाव विशेषण है । और घटाभावमें पटाभाव विशेषण

× तथागतस्य इति मुद्रित पुस्तके.

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हो रहा है। इसी प्रकार घटमें रहनेवाले समवायके साथ चक्षुका संयुक्त विशेषणता सम्बन्ध है। रूपमें रहनेवाले समवायके साथ संयुक्तसमवेत–विशेषणता है। और रूपत्व जातिमें ठहरे हुये समवायके साथ चक्षुका संयुक्तसमवेत–समवेतविशेषणता संनिकर्ष वैशेषिकोंने माना है। द्रव्य द्रव्य होनेसे चक्षु और घटका संयोग सम्बन्ध है। चक्षु संयुक्तघटमें रूपगुण समवायसे वर्त रहा है। उस समवेतरूपमें रूपत्वका समवाय है। रूपत्वमें प्रतियोगिता सम्बन्धसे समवाय विशेषण हो रहा है। प्रकरणप्राप्त कारिकाका यह अर्थ है कि नेत्रके साथ संयुक्त विशेषणता सम्बन्ध करके ज्ञान द्वारा तिस प्रकार जान लेनेपर भी समवाय, स्वरूप, विशेषणता, आदि उत्तरोत्तर बढ रहे सम्बन्धोंकी वित्ति कैसे करोगे ? जैसे कि संयोग और समवायको सन्निकर्ष द्वारा जानना आवश्यक है। वैसे ही स्वरूपसम्बन्ध,- विशेषणतासम्बन्ध, आदिका जानना भी वैशेषिकोंको आवश्यक हो जायगा। और उनके जाननेका तुम्हारे पास कोई उपाय नहीं है। अनवस्था भी होगी।

योग्यतां कांचिदासाद्य संयोगादिरयं यदि।
क्षित्यादिवित्तदेव स्यात्तदा सैवास्तु संमता ॥ ३१ ॥
स्वात्मा स्वावृतिविच्छेदविशेषसहितः क्वचित्।
संविदं जनयन्निष्टः प्रमाणमविगानतः ॥ ३२ ॥
शक्तिरिंद्रियमित्येतदनेनैव निरूपितं।
योग्यताव्यतिरेकेण सर्वथा तदसंभवात् ॥ ३३ ॥

संयोग, सयुंक्तसमवाय, आदि संनिकर्षोंका पूर्वमें दिये हुये व्यभिचार दोषके निवारणार्थ यदि वैशेषिक यों कहें ये संयोग आदिक किसी विशेष योग्यताको प्राप्त करके पृथ्वी, जल, आदिकी वित्ति कराते हैं। आत्मा, आकाश, रसत्व, शब्दत्व, रसाभाव आदिकी योग्यता न होनेसे चक्षु इन्द्रियके द्वारा प्रमा नहीं होने पाती है। तब तो हम जैन कहेंगे कि वह योग्यता ही हम तुम सबको भले प्रकार स्वीकृत हो जाओ। अपना आत्मा ही अपने ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशम विशेषसे युक्त हो रहा किसी योग्य पदार्थमें ज्ञानको उत्पन्न कराता हुआ अनिंदित मार्गसे प्रमाणभूत इष्ट कर लिया गया है। मीमांसकोंकी शक्तिरूप इन्द्रियोंका भी इस उक्त कथन करके ही निरूपण कर दिया गया समझ लेना। क्योंकि योग्यतासे अतिरिक्त उन शक्तिरूप इन्द्रियोंका सभी प्रकारसे असम्भव है। भावार्थ—कितना भी उपाय करो, ज्ञान द्वारा नियत पदार्थको जाननेमें नियामक योग्यताका ही सबको शरण लेना पडेगा। वह योग्यता आत्माकी लब्धिरूप परिणति है। अतः

आत्मा ही भाव इन्द्रिय द्वारा चक्षु आदिकों करके नियत पदार्थोंको जान रहा है। संयोग आदिक तो अन्यथा सिद्ध हैं। करण नहीं हैं।

सन्निकर्षस्य योग्यताख्यस्य प्रमितौ साधकतमस्य प्रमाणव्यपदेश्यं प्रतिपाद्यमानस्य स्वावरणक्षयोपशमविशिष्टात्मरूपतानिरूपणेनैव शक्तेः इंद्रियतयोपगतायास्सा निरूपिता बोद्धव्या तस्या योग्यतारूपत्वात्। ततो व्यतिरेकेण सर्वथाप्यसंभवात् सन्निकर्षवत्। न हि तद्व्यतिरेकः सन्निकर्षः संयोगादिः स्वार्थप्रमितौ साधकतमः संभवति व्यभिचारात्।

प्रमिति करनेमें प्रकृष्ट उपकारी हो रहे योग्यता नामक संनिकर्षको प्रमाणपनके व्यवहार योग्यपनको समझनेवाले वादीके द्वारा स्वावरणके क्षयोपशमसे विशिष्ट आत्मस्वरूपके निरूपण करके ही इन्द्रियपने करके वह शक्ति स्वीकार कर ली गयी है, यह तो अपने आप निरूपण कर दिया समझ लेना चाहिये। क्योंकि वह शक्ति योग्यता रूप ही तो है। उस योग्यतासे भिन्न हो करके सभी प्रकार इन्द्रिय शक्तिका असम्भव है। जैसे कि योग्यताके सिवाय संनिकर्ष कोई वस्तु नहीं पडता है। उस योग्यतारूप संनिकर्षसे अतिरिक्त वैशेषिकों द्वारा माने गये संयोग संयुक्तसमवाय आदि सन्निकर्ष तो स्व और अर्थकी प्रमा करानेमें साधकतम नहीं सम्भव रहे हैं। क्योंकि व्यभिचार दोष होता है, जो कि कहा जा चुका है।

तत्र करणत्वात्सन्निकर्षस्य साधकतमत्वं तद्वदिंद्रियशक्तेरपीति चेत्, कुतस्तत्करणत्वं? साधकतमत्वादिति चेत् परस्पराश्रयदोषः। तद्भावाभावयोस्तद्वत्तासिद्धेः साधकतमत्वमित्यपि न साध्वीयोऽसिद्धत्वात्। स्वार्थप्रमितेः सन्निकर्षादिसद्भावेप्यभावात्, तदभावेपि च भावात् सर्वविदः।

उस प्रमितिमें करण हो जानेके कारण संनिकर्षको साधकतमपना है। और उसीके समान इन्द्रिय शक्तियोंको भी साधकतमपना प्राप्त हो जाता है इस प्रकार प्रतिवादियोंके कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि किस कारणसे उन दोनोंको करणपना है? बताओ। यदि क्रियासिद्धिमें प्रकृष्ट उपकारक होनेसे करणपना कहोगे तब तो अन्योन्याश्रय दोष है। साधकतम होनेसे करणपना और करणपनेसे क्रियाका साधकतमपना माना गया है। यदि अन्योन्याश्रयके निवारणार्थ उस करणके होनेपर उस कार्यका होना और न होनेपर नहीं उत्पन्न होनेकी सिद्धिसे साधकतमपना कहा जाय यह भी बहुत अच्छा नहीं है। क्योंकि संयोग आदिक संनिकर्ष और इन्द्रिय शक्तिका स्व और अर्थकी प्रमितिके साथ अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध नहीं हैं। आत्मा, रस, रसत्व, आदिके साथ चक्षुका संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, सन्निकर्ष होते हुये भी अथवा इन्द्रिय शक्तिके विद्यमान होनेपर भी स्व और अर्थकी प्रमिति हो जानेका अभाव है। तथा भूत भविष्यत्, दूरवर्ती आदि पदार्थोंके साथ सर्वज्ञकी इन्द्रियोंका उन संयोग आदि सन्निकर्षोंके नहीं होते हुये भी सर्वज्ञको स्व और अर्थकी प्रमिति हो जाती है। ये अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार दोष आते हैं।

कथं वा प्रमातुरेवं साधकतमत्वं न स्यात् । न हि तस्य भावाभावयोः प्रमितेर्भावाभाववत्त्वं नास्ति ? साधारणस्यात्मनो नास्त्येवेति चेत् संयोगादेरिंद्रियस्य च साधारणस्य सा किमस्ति ? तस्यासाधरणस्यास्त्येवेति चेत्, आत्मनोप्यसाधारणस्यास्तु ।

दूसरी बात यह है कि करणके भाव अभाव होनेपर कार्यके भाव अभाव हो जानेसे ही यदि करणपना व्यवस्थित हो जाय तो इस प्रकार प्रमाता आत्माको साधकतमपना क्यों नहीं हो जावेगा ! देखिये ! स्वतंत्रकर्त्ता होनेसे आत्मास्वरूप कारणके साथ भी स्वार्थप्रमितिका अन्वय व्यतिरेक बन जाता है । उस आत्मा स्वरूप कारणके होनेपर प्रमितिका भाव, उस आत्माके अभाव होनेपर प्रमितीका अभावसहितपना नहीं होय सो नहीं समझना । किन्तु आत्माके भाव अभाव होनेपर प्रमितिका भाव अभावसहितपना है ही । यदि तुम यों कहो कि साधारणरूपसे आत्माके भाव अभाव होनेपर प्रमितिका भाव अभाव नहीं है। अर्थात्—चाहे जिस कीट, पतंग, आदिकी आत्माके साथ परमाणु, व्याकरण, न्याय, आदिके ज्ञानका अन्वय व्यतिरेक तो नहीं बनता है । इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन भी कटाक्ष करेंगे कि चाहे जिस संयोग समवाय, आदि सन्निकर्ष और कोई भी इंद्रिय इन साधारण कारणोंका क्या ज्ञानके साथ वह भाव अभावरूप अन्वय-व्यतिरेक भाव है ? तुम ही बताओ । यदि तुम यह कहो कि उन कोई कोई विशिष्ट सन्निकर्ष और असाधारण इन्द्रियों का अर्थप्रमितिके साथ भाव अभावपना है ही, तब तो हम जैन भी कहेंगे कि कोई कोई विशिष्ट असाधारण आत्माके साथ भी प्रमितिका भाव अभावपना है ही, तो पुनः आत्मा भी प्रमितिका करण वैसे ही क्यों नहीं हो जावे ? जैसे कि वैशेषिकोंने सन्निकर्षको और मीमांसकोंने इन्द्रियको करण माना है ।

प्रमातुः किमसाधारणत्वमिति चेत्,सन्निकर्षादेः किम् ? विशिष्टप्रमितिहेतुत्वमेवेति चेत्, प्रमातुरपि तदेव । तस्य सततावस्थायित्वात् सर्वप्रमितिसाधारणकारणत्वसिद्धेर्न संभवतीति चेत्, तर्हि कालांतरस्थायित्वात्संयोगादेरिंद्रियस्य च तत्साधारणकारणत्वं कथं न सिध्येत् ? तदसंभवनिमित्तं । यदा प्रमित्युत्पत्तौ व्याप्रियते तदैव सन्निकर्षादि तत्कारणं नान्यदा इत्यसाधारणमिति चेत्, तर्हि यदात्मा तत्र व्याप्रियते तदैव तत्कारणं नान्यदा इत्यसाधरणो हेतुरस्तु । तथा सति तस्या नित्यत्वापत्तिरिति चेत् नो दोषोयं, कथंचित्तस्या नित्यत्वसिद्धेः सन्निकर्षादिवत् । सर्वथा कस्यचिन्नित्यत्वेऽर्थक्रियाविरोधादित्युक्तप्रायं ।

प्रमाता आत्माके असाधारणपना क्या है ? इस प्रकार पूंछनेपर तो हम भी प्रश्न करते हैं कि सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, आदिके भी असाधारणपना क्या है ? बताओ । तिसपर यदि तुम वैशेषिक या मीमांसक यह उत्तर कहो कि प्रमितिका विशेषोंसे सहित हुआ हेतुपना ही सन्निकर्ष आदिकी असाधारणता है, तब तो प्रमिति कर्त्ता आत्माका भी असाधारणपना वही यानी प्रमितिका विशिष्ट हेतुपना ही हो जाओ । इसपर यदि वैशेषिक या मीमांसक यदि यों कहें कि वह नित्य आत्मा तो

सर्वदा अवस्थित रहता है। इस कारण संपूर्ण अनुमिति, उपमिति, शाद्बबोधरूप प्रमितियोंका साधारणरूपसे कारणपना उसको सिद्ध हो रहा है। अतः प्रमाताको असाधारण कारणपना नहीं सम्भवता है। विशिष्ट क्रियाको कर रहा विशेषसमयवर्ती पदार्थ ही करण होता है। क्रियाके अतिरिक्त समयोंमें भी अधिक देरतक ठहररहा तो साधारणकारण हो जाता है। "अतिपरिचयादवज्ञा"। इस प्रकार कहनेपर तो पुनः हम जैन कहेंगे कि तब तो बहुत देर तक ठहरनेवाले होनेसे संयोग आदि संनिकर्ष, और इन्द्रियको भी उस प्रमाका साधारणकारणपना क्यों नहीं सिद्ध होगा? जो कि उस असाधारण कारणपनेके असम्भव यानी साधारणपनेका निमित्त है। इसपर वैशेषिक यदि कहें कि जब प्रमितिकी उत्पत्तिमें सन्निकर्ष आदिक व्यापार कर रहे हैं, तभी वे उसके कारण माने जाते हैं। अन्य समयोंमे हो रहे कालान्तर स्थायी भी। सन्निकर्ष आदिक तो कारण नहीं हैं। इस प्रकार सन्निकर्ष और इन्द्रियोंमें असाधारणकारणपना बन जाता है। यों वैशिषिकोंके कहनेपर तो हम जैन भी कह देंगे कि तब तो नित्य भी आत्मा जिस समय उस प्रमितिको उत्पन्न करनेमें व्यापार कर रहा है तब ही उस प्रमाका कारण है। अन्य समयोंमें वह नित्य भी आत्मा कारण नहीं है। इस ढंगसे सन्निकर्ष आदिके समान आत्मा भी असाधारण कारण हो जाओ। अर्थात्-आत्मा भी प्रमितिका कारण बन बैठेगा। यदि तिस प्रकार होनेपर उस आत्माको अनित्यपनेका प्रसंग होगा इस प्रकार डरकर तुम वैशेषिक कहोगे तो हम जैन कहते हैं कि यह आत्माके अनित्य हो जानेका प्रसंग हमारे यहां कोई दोष नहीं है। उस परिणामी आत्माको सन्निकर्ष आदिके समान कथंचित् अनित्यपना सिद्ध है। हां, सभी प्रकारोंसे किसी आत्मा आदिको नित्यपना माननेपर अर्थक्रिया होनेका विरोध है। इस बातको हम कई बार कहचुके हैं। अर्थात्—प्रमितिमें व्यापार करते समय आत्मा न्यारा है और आगे पीछेका आत्मा निराला है। फिर क्या कारण है कि सन्निकर्ष और इन्द्रियोंको तो करण माना जाय, किन्तु आत्माको करण नहीं माना जाय। हमको कोई विशेष हेतु नियामक नहीं दीख रहा है।

प्रमाणं येन सारूप्यं कथ्यतेऽधिगतिः फलम्।
सन्निकर्षः कुतस्तस्य न प्रमाणत्वसंमतः॥ ३४॥

जिस बौद्धकरके ज्ञानका अर्थके आकार होजानापन प्रमाण कहा जाता है और अर्थकी अधिगति प्रमाणका फल मानागया है, उसके यहां सन्निकर्ष भी प्रमाणपनेसे क्यों नहीं भले प्रकार मानलिया गया कहना चाहिये। अर्थात्—दर्पणमें घटके प्रतिबिम्ब पड जानेपर वह घटका आकार माना जाता है, वैसे ही प्रकाशक ज्ञानमें घट, पट, आदिकोंके आकार पड जानेसे वे घट, पट, के ज्ञान कहे जाते हैं, अतः तदाकारता प्रमाण है और अर्थकी अधिगति उसका फल है, यह बौद्धोंका मत है तथा आत्मा, मन, इन्द्रिय, और अर्थ, इन चार तीन या दोके सन्निकर्षसे अर्थज्ञप्ति होना

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नैयायिकोंका मत है, ज्ञानमें अर्थका सन्निकर्ष होनेपर ही प्रतिबिम्ब (आकार) पड सकेगा, ऐसी दशामें साक्षात् या परम्परासे सम्बन्धित होकर आकार डालनेवाले पदार्थोंके ज्ञानमें सन्निकर्ष भी उस बौद्धके यहां प्रमाणपनेसे भले प्रकार माना गया हो जाना चाहिये । किन्तु बौद्धोंने सन्निकर्षको प्रमाण माना नहीं है ।

सारूप्यं प्रमाणस्याधिगतिः फलं संवेदनस्यार्थरूपतां मुक्त्वार्थेन घटयितुमशक्तेः । नीलस्येदं संवेदनमिति निराकारसंविदः केनचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षासिद्धेः सर्वार्थेन घटनप्रसक्तेः सर्वैकवेदनापत्तेः । करणादेः सर्वार्थसाधारणत्वेन तत्प्रतिनियमनिमित्ततानुपपत्तेरित्यपि येनोच्यते तस्य सन्निकर्षः प्रमाणमधिगतिः फलं तस्मादंतरेणार्थघटनासंभवात् ।

बौद्ध कह रहे हैं कि ज्ञानमें अर्थका पड गया सदृश आकारसहितपना प्रमाण है । क्योंकि प्रमाणस्वरूप उस तदाकारतासे ही ज्ञान नियत पदार्थोंको जानता है । और पदार्थोंकी ज्ञप्ति हो जाना इस प्रमाणका फल है । देवदत्तका धन है । जिनदत्तका घोडा है । यहां स्वस्वामिसम्बन्ध ही देवदत्त और धनका तथा जिनदत्त और घोडेका योजक है । इसी प्रकार घट और ज्ञानका योजक उस घटका ज्ञानमें आकार पड जाना है । अन्यथा ज्ञान तो आत्मास्वरूप अन्तरंग चेतन तत्त्व है । और घट विचारा बहिरंग जड पदार्थ है । घटका ज्ञान यह व्यवहार ही अलीक हो जाता । देवदत्तके कमरेमें घोडेकी तसवीर टंगी हुयी है । किसीने प्रश्न किया कि यह तसवीर किसकी है ? इसका उत्तर घोडेकी तसवीर है, मिलता है । यहां घोडेका और उस चित्रका योजक सम्बन्ध केवल तदाकारता ही है । भले ही उस चित्रका स्वामी देवदत्त है । यही ढंग घटज्ञान और पटज्ञानमें लगा लेना " अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् । तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता " ज्ञानका अर्थके साथ सम्बन्ध करानेके लिये अर्थरूपताको छोडकर अन्य कोई समर्थ नहीं है । यानी सविकल्पकज्ञान अर्थके साथ निर्विकल्पक बुद्धिको तदाकारताके द्वारा जोड देता है । उस तदाकारतासे अर्थकी ज्ञप्ति हो जाती है । अतः ज्ञानमें ज्ञेय अर्थका पडा हुआ आकार ही प्रमाण (प्रामाण्य) है । यह नीलका सम्वेदन है । यह पीतका सम्वेदन है । इस प्रकार उन नील, पीत, का ज्ञानोंमें आकार पड जानेसे ही षष्ठीविभक्ति द्वारा सम्बन्धयोजक व्यवहार होता है। यदि ज्ञानमें अर्थका आकार पडना नहीं माना जायगा तो निराकार ज्ञानका किसी पदार्थके साथ निकटपन और दूरपन तो असिद्ध है । इस कारण सभी पदार्थोंके साथ उस ज्ञानकी योजना होनेके कारण सभी पदार्थोंका एक ज्ञान हो जानेकी आपत्ति होगी अर्थात्—सूर्य या चन्द्रमाको सभी जीव अपना अपना कह सकते हैं । उनमें किसीके आधिपत्यकी नियत छाप नहीं लगी हुयी है । वैसे ही आकाररहितज्ञान भी सभी विषयोंके जाननेका अधिकारी हो जाओ निराकार ज्ञानके लिये दूरवर्ती निकटवर्ती और भूत, भविष्यत्के सभी पदार्थ एकसे हैं । किसीके

साथ कोई विशेष नाता तो नहीं है। ऐसी दशामें एक ही ज्ञानके द्वारा सभी पदार्थोंकी ज्ञप्ति हो जावेगी। इन्द्रिय, मन आदिक तो सभी अर्थोंके ज्ञानमें साधारण कारण हैं। इसकारण उस ज्ञानका प्रतिनियम करानेके निमित्त वे नहीं बन सकते हैं। अतः घटज्ञानका घट ही और पटज्ञानका पट ही विषय है। इसका नियम करनेवाली ज्ञानमें पडी हुयी तदाकारता ही है। आचार्य कहते हैं कि यह भी जिस बौद्ध करके कहा जा रहा है, उसके यहाँ संनिकर्ष प्रमाण हो जाय और अधिगति उसका फल हो जावे। क्योंकि उस सन्निकर्षके विना अर्थके साथ ज्ञानका जुडना असम्भव है। बौद्धजन नील स्वलक्षण, पीत स्वलक्षणको ही वस्तुभूत मानते हैं। घट, पट, स्थूल अवयवियोंको यथार्थ नहीं मानते हैं। अतः नीलका ज्ञान पीतका ज्ञान ऐसा उन्होंने कहा था।

साकारस्य समानार्थसकलवेदनसाधारणत्वात् केनचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षेऽसिद्धे सकलसमानार्थेन घटनप्रसक्तेः सर्वसमानार्थैकवेदनापत्तेः, तदुत्पत्तेरिंद्रियादिना व्यभिचारान्नियामकत्वायोगात्।

बौद्धोंने ज्ञानद्वारा नियत विषयोंको जाननेमें तदाकारता, तदुत्पत्ति, और तदध्यवसाय ये तीन नियामक हेतु कहे हैं। आचार्य महाराज उनमें दोष दिखाते हैं कि बौद्ध यदि तदाकारतासे उस विषयको जाननेकी व्यवस्था करेंगे तो तदाकारताको सम्पूर्ण समान अर्थोंके ज्ञान करानेमें साधारणपना होनेके कारण किसी एक ही विवक्षित पदार्थके साथ निकटपना और दूरपना जब सिद्ध नहीं है तो संपूर्ण ही समान अर्थोंके साथ सम्बन्धित हो जानेका प्रसंग हो जानेसे सभी समान अर्थोंका एक ज्ञान हो जानेकी आपत्ति होगी। भावार्थ—मशीनमें ढले हुए एक रुपये का छूना या देखनारूप ज्ञान होनेपर उसी सनके ढले हुये समान मूर्तिवाले एकसे सभी देशान्तरोंमें फैले या सन्दूकमें रक्खे भूमिमें गढे हुये रूपयोंका चाक्षुष या स्पार्शन हो जाना चाहिये, तैसे ही एक घडेके देख लेनेपर उस घटके सदृश सभी घटोंका ज्ञान हो जाना चाहिये, क्योंकि बौद्ध मत अनुसार उनकी ज्ञप्तिका प्रधान कारण तदाकारता तो ज्ञानमें पड चुकी है। समान आकारवाले पदार्थोंके चित्र (तसवीर) एकसे होते हैं। ईसवीय सन् १९२८ में ढले हुये पंचम जार्जकी मूर्तिसे युक्त एक रुपयेकी तसवीर जैसी होगी वही चित्र उस सालके ढले हुये अन्य रुपयोंका भी होगा। फिर एक रुपयेको देखकर उस सालके ढले हुये सदृश सभी देशान्तरोंमें फैले हुये रुपयोंका उसी समय चाक्षुष ज्ञान क्यों नहीं हो जाता है? इसका उत्तर बौद्ध यदि यों कहें कि हम तदुत्पत्तिको ज्ञान द्वारा नियत व्यवस्था करनेमें नियामक मानते हैं। अर्थात्—जो ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न होगा उसीको जानेगा अन्यको नहीं। सन्मुख रखे हुये एक रुपयेसे उत्पन्न हुआ ज्ञान उस ही रुपयेको जान सकता है। अन्यसदृश रुपयोंको नहीं। क्योंकि वह ज्ञान अन्य समान रुपयोंसे उत्पन्न नहीं हुआ है। ज्ञान अपने उत्पादक कारणरूप विषयको जानता है। "नाकारणं विषयः" जो ज्ञानका कारण नहीं है वह ज्ञानका विषय नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर समान अर्थोंके जान-

नेका व्यभिचार दोष तो दूर हो गया किन्तु इन्द्रिय, पुण्य, पाप, आकाश, आदि करके व्यभिचार दोष लग गया अर्थात्—इन्द्रिय, क्षयोपशम, पुण्य, आदि कारणोंसे ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु उनको जानता तो नहीं है। अतः इन्द्रिय आदिकसे व्यभिचार हो जानेके कारण तदुत्पत्तिको नियम करानेपनका अयोग है। यदि बौद्ध इन्द्रिय आदिक करके हुये व्यभिचारका निवारण साकारतासे करें, यानी तदाकारता और तदुत्पत्ति दोनोंको हम नियामक मानते हैं। इन्द्रिय आदिकोंमें तदुत्पत्ति है। यानी इन्द्रिय, पुण्य, आदिसे ज्ञानकी उत्पत्ति है। किन्तु ज्ञानमें उनका आकार न पडनेसे तदाकारता नहीं है। अतः व्यभिचार दोष नहीं आता है। तथा सदृश अर्थोंकी तदाकारता तो ज्ञानमें है किन्तु उन सदृश अर्थोंसे ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है। अतः उनको नहीं जानता है। इस प्रकार तदुत्पत्ति और तदाकारता दोनोंको नियामक माननेपर भी समान अर्थके ज्ञानके अव्यवहित उत्तरवर्त्ती ज्ञानसे व्यभिचार दोष लग जायगा। वह ज्ञान समान अर्थके ज्ञानसे उत्पन्न हुआ है। और समान अर्थके ज्ञानका आकार भी उसमें पडा है। फिर अन्य देशान्तरवर्त्ती पुरुषोंमें हो रहे या अपनेको कभी हुये समान अर्थोंके ज्ञानको क्यों नहीं जानता है ? बताओ। घटज्ञानके पीछे हुआ ज्ञान उस घटज्ञानको जान सकता है। किन्तु दूसरे सदृश घटके ज्ञानको नहीं जान सकता है। बौद्धोंके मत अनुसार ज्ञानको बीचमें देकर समान अर्थके समनन्तर ज्ञानमें तदुत्पत्ति और तदाकारता तो घट जाती है। अथवा समान अर्थके ठीक अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञानसे दोनों तदाकारता, तदुत्पत्तिका व्यभिचार उठा सकते हो।

तदध्यवसायस्य मिथ्यात्वसमनंतरप्रत्ययेन कुतश्चित् सिते शंखे पीताकारज्ञानजनिताकारज्ञानस्य तज्जन्मादिरूपसद्भावेपि तत्र प्रमाणत्वाभावदिति कुतो न संमतं।

उस व्यभिचार दोषके दूर करनेके लिये बौद्ध तदध्यवसायकी शरण लेते हैं। अर्थात्—पीछे होनेवाले विकल्प ज्ञानसे जिस विषयका अध्यवसाय होगा, पूर्ववर्ती निर्विकल्पक ज्ञानका वही विषय नियत समझा जावेगा। अर्थके ज्ञानके उत्तरकालभावी ज्ञानमें सदृश अन्य अर्थके ज्ञानका अध्यवसाय नहीं है। अतः उसको नहीं जान पाता है। सिद्धान्ती कह रहे हैं कि इस प्रकार तदुत्पत्ति, तदाकार, और तदध्यवसाय, इन तीनोंको भी ज्ञानके द्वारा नियत पदार्थोंकी व्यवस्था करनेमें नियामकपना नहीं है। क्योंकि यों तो अपना उपादान कारण पूर्वज्ञान भी ज्ञानका विषय हो जाना चाहिये। पूर्वज्ञानसे उत्तरज्ञानकी उत्पत्ति भी है। पूर्वज्ञानका आकार भी उत्तरज्ञानमें पडा हुआ है, जैसे कि प्रतिबिंब पडे हुये दर्पणका यदि दूसरे दर्पणमें प्रतिबिम्ब लिया जाय तो पूर्वदर्पणका भी प्रतिबिंब दूसरे दर्पणमें आजाता है। उत्तरवर्ती ज्ञानमें प्रथम ज्ञानका अध्यवसाय भी हो जाता है तो फिर पूर्वज्ञानको उत्तरज्ञानको क्यों नहीं विषय करता है ? बताओ। दूसरा अतिप्रसंग दोष है कि शुक्ल शंखमें किसी कारणवश कामलरोगवाले पुरुषको प्रथम ही "पीला शंख है" ऐसा मिथ्याज्ञान हुआ, उसके अनन्तर ही ज्ञानसे उत्पन्न हुआ दूसरा

ज्ञान हुआ, जो कि पहिले ज्ञानसे उत्पन्न है। पहिले ज्ञानका आकार भी उसमें है। तथा पहिले ज्ञानका अध्यवसाय करनेवाला भी है। अतः पहिले पीत आकारको ज्ञाननेवाले ज्ञानसे उत्पन्न हुए दूसरे पीत आकारवाले ज्ञानके तदुत्पत्ति, तदाकारता और तदध्यवसाय स्वरूपके विद्यमान होनेपर भी उसमें प्रमाणपना नहीं माना गया है। बौद्धोंके विचार अनुसार तो तीनों नियामकोंके होनेसे उसमें प्रमाणपनेका प्रसंग आता है। अतः तदध्यवसायका मिथ्याज्ञानके पीछे होनेवाले ज्ञानसे व्यभिचार है। इसका विचार कुछ प्रथम भी कर दिया था। इस कारण तदाकारताको प्रमाण कहनेवाले बौद्धने सन्निकर्षको क्यों नहीं प्रमाणपनेसे अभीष्ट किया ? तदाकारता और सनिकर्ष दोनोंका फल अधिगति मिल ही जाती है।

सत्यपि सन्निकर्षेऽर्थाधिगतेरभावान्न प्रमाणमिति चेत्।

यदि बौद्ध यों कहें कि सन्निकर्ष तो प्रमाण नहीं हो सकता है। क्योंकि उसमें अन्वयव्यभिचार है, सन्निकर्ष होते हुये भी अर्थकी अधिगति नहीं हो रही है। इस प्रकार कहनेपर तो हम कहते हैं कि—

सन्निकर्षे यथा सत्यप्यर्थाधिगतिशून्यता।
सारूप्येपि तथा सेष्टा क्षणभंगादिषु स्वयम् ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार सन्निकर्षके होते हुए भी अर्थज्ञप्तिकी शून्यता देखी जाती है, उसी प्रकार क्षणिकत्व आदिमें तदाकारता होते हुए भी अर्थज्ञप्तिका वह अभाव स्वयं बौद्धोंने अभीष्ट किया है। अर्थात्--जैसे वैशेषिकों द्वारा माने गये सन्निकर्षमें अन्वयव्यभिचार आनेसे तुम बौद्ध प्रमाका कारणपना नहीं मानते हो, वैसे ही तुम बौद्धोंके माने हुए सारूप्यमें भी अन्वयव्यभिचार आता है। देखिये। स्वलक्षण वस्तुका क्षणिकपना तदात्मक स्वरूप है। अतः स्वलक्षणसे उत्पन्न हुए ज्ञानमें जब स्वलक्षणका आकार पड गया है, तो उससे अभिन्न क्षणिकपनेका भी आकार पड चुका है। ऐसी दशामें क्षणिकपनका आकार होते हुए भी निर्विकल्पक ज्ञानद्वारा क्षणिकत्वकी अधिगति होना बौद्धोंने स्वयं नहीं माना है। किन्तु सत्त्व कृतकत्व, हेतुओंसे उत्पन्न हुये अनुमान द्वारा क्षणिकपनका ज्ञान इष्ट किया है। क्षणिकपना कल्पितधर्म तो है ही नहीं जिसका कि आकार ज्ञानमें न पडे। कल्पित धर्म माननेपर तो सभी अर्थ परमार्थरूपसे क्षणिक नहीं हो सकेंगे तथा व्यतिरेकव्यभिचार भी होता है। भूत, भविष्यत्, तथा अतिदूरवर्त्ती पदार्थोंका आकार न पडते हुये भी बुद्धज्ञान द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंकी अधिगति होना इष्ट कर लिया है। सौत्रान्तिकोंने अपने इष्टदेवता सुगतको सर्वज्ञ माना है। यद्यपि जैनोंने भी ज्ञानको साकार माना है। किन्तु यहां आकारका अर्थ विकल्प करना है। प्रतिबिम्ब पडना नहीं। आत्माका ज्ञानगुण ही अर्थोंकी विकल्पना करता है। दर्शन, सुख, वीर्य,

आदि गुण तो विकल्पनायें नहीं करते हैं। यदि उनको समझना या समझाना होगा तो उनका ज्ञान द्वारा उल्लेख हो सकता है। अन्यदा आत्मामें स्वांशपरिणत हो रहे बैठे रहो।

यथा चक्षुरादेराकाशादिभिः सत्यपि संयोगादौ सन्निकर्षे तदधिगतेरभावस्तथा क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादिभिर्ज्ञानादिसंवेदनस्य सत्यपि सारूप्ये तदधिगतेः शून्यता स्वयमिष्टैव तदालंबनप्रत्ययत्वेपि तस्य तच्छून्यतावत्। "यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इति वचनात्। ततो नायं सन्निकर्षवादिनमतिशेते। किं च।

जिस प्रकार वैशेषिकमतमें माने जा रहे तेजोद्रव्य चक्षु, जलद्रव्य रसना आदि इन्द्रियोंका आकाश, आत्मा, आदि द्रव्योंके साथ संयोग संनिकर्ष विद्यमान हो रहा है, तथा रूप, रूपत्वके समान रस, रसत्व या ज्ञान, ज्ञानत्व, आदिके साथ भी चक्षुका संयुक्तसमवाय और संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष हो रहा है। फिर भी उन आकाश, रस, ज्ञानत्व आदिकी अधिगति चक्षु आदिकसे नहीं होती मानी गयी है। अतः तुम बौद्ध संनिकर्षको प्रमाण नहीं मानोगे, तिस ही प्रकार स्वलक्षण या दाताके दान या हिंसककी हिंसा आदिको जाननेवाले ज्ञानका क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापणशक्ति, नरकगमनयोग्यता, आदिके साथ तदाकारपना होते हुये भी उन क्षणिकत्व आदिकी अधिगतिका अभाव स्वयं बौद्धोंने इष्ट ही किया है। भावार्थ—दाताको विषय करनेवाले निर्विकल्पक ज्ञानमें दानका आकार पड़ जानेसे उसकी तदात्मक स्वर्गप्रापणशक्तिका भी आकार उस ज्ञानमें पड़ चुका है। तथा हिंसककी आत्माका प्रत्यक्ष हो जानेपर ही नरकप्रापणशक्तिका भी आकार आ चुका है। फिर इनको जाननेके लिये दूसरे अनुमान ज्ञान क्यों उठाये जाते हैं? चाक्षुष प्रत्यक्षसे ही इनका ज्ञान कर लिया जाय, इस कारण अन्वयव्यभिचार हो जानेसे तुम बौद्धोंकी मानी हुई तदाकारता भी प्रमाण नहीं है। तदाकारताके होनेपर भी अधिगतिकी शून्यता देखी जाती है। जैसे कि उनको उस ज्ञानका आलम्बन कारण मानते हुये भी उस अधिगतिकी शून्यता है। अर्थात्-ज्ञानके विषयको बौद्धोंने ज्ञानका आलम्बन कारण माना है। तथा निर्विकल्पक बुद्धि जिस ही विषयमें इस सविकल्पक बुद्धिको पीछेसे उत्पन्न करावेगी उस विषयमें ही इस निर्विकल्पक ज्ञानको प्रमाणता है, ऐसा बौद्ध ग्रन्थोंमें लिखा हुआ है। यहां लगे हाथ तदुत्पत्तिका भी व्यभिचार दे दिया गया है। यानी क्षणिकत्व आदिसे निर्विकल्पक द्वारा क्षणिकत्व आदि आलम्बनोंका जानना नहीं होता है। तिस कारण यह बौद्ध पंडित संनिकर्षको प्रमाण कहनेवाले वैशेषिकोंका अतिशय नहीं करता है। ग्रामीण किं वदन्ती है कि जैसे ही नागनाथ हैं वैसे ही सर्पनाथ हैं। कोई अन्तर नहीं है। और दूसरी बात यह भी है कि—

स्वसंविदः प्रमाणत्वं सारूप्येण विना यदि।
किं नार्थवेदनस्येष्टं पारंपर्यस्य वर्जनात्॥ ३६॥

सारूप्यकल्पने तत्राप्यनवस्थोदिता न किम् ।
प्रमाणं ज्ञानमेवास्तु ततो नान्यदिति स्थितम् ॥ ३७ ॥

बौद्धोंने इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ये चार प्रत्यक्ष माने हैं, तिनमें ज्ञानको जाननेवाले स्वसंवेदन प्रत्यक्षको तदाकारताके विना भी प्रमाण मान लिया गया है। अर्थका आकार ज्ञानमें पड सकता है, ज्ञानमें ज्ञानका नहीं। रुपयासे रुपया वहां ही उसी समय उतना ही नहीं खरीदा जाता है। बौद्धोंने जैनोंके ऊपर कटाक्ष किया है कि ज्ञानमें यदि अर्थका आकार पडना नहीं माना जायगा तो वे अर्थ विना मूल्य देकर खरीदनेवाले (मुफ्तखोरा) हैं। क्योंकि प्रत्यक्षमें अपने आकारको नहीं सोंपते हैं और अपना प्रत्यक्ष करालेना चाह रहे हैं, किन्तु स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा आकारके विना भी ज्ञानका प्रत्यक्ष हो जाना माना है। आचार्य कहते हैं कि तदाकारताके विना भी यदि स्वसंवेदनको प्रमाणपना मानते हो तो अर्थज्ञानको भी तदाकारताके विना ही प्रमाणपना क्यों न इष्ट करलिया जाय। इसमें परम्परा परिश्रम करना भी छूटता है। क्योंकि ज्ञान और अर्थके बीचमें तदाकारताका प्रवेश नहीं हुआ। यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें भी ज्ञानका आकार पडना मानोगे तो उसको जाननेवाले उसके स्वसंवेदनमें भी तदाकारता माननी पडेगी और उसको भी जाननेवाले तीसरे स्वसंवेदनमें ज्ञानका प्रतिविम्ब मानना पडेगा। इस प्रकार भला अनवस्थाका उदय क्यों नहीं होगा ? बताओ। तिस कारण ज्ञान ही प्रमाण रहो, उससे भिन्न संनिकर्ष, तदाकारता, इन्द्रिय, आदिक तो प्रमाण नहीं हैं यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

स्वसंविदः स्वरूपे प्रमाणत्वं नास्त्येवान्यत्रोपचारादित्ययुक्तं सर्वथा मुख्यप्रमाणाभावप्रसंगात् स्वमतविरोधात् ।

बौद्ध यदि यों कहें कि स्वसंवेदन प्रत्यक्षको ज्ञानका स्वरूप जाननेमें प्रमाणता नहीं है, सिवाय उपचारके, यानी उपचारसे ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रमाण है। तदाकारता न होनेसे वह मुख्य प्रमाण नहीं माना गया है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि उपचारसे मान लिया गया प्रमाण यदि ज्ञानको जान लेता है, ऐसी दशामें उपचरित प्रमाण भला अर्थोंको भी जान लेगा तो फिर मुख्यप्रमाणोंके अभावका प्रसंग होगा और ऐसा होनेपर बौद्धोंको अपने मतसे विरोध आवेगा। बौद्धोंने मुख्य प्रमाण माने हैं और स्वसंवेदनको अपने स्वरूपकी ज्ञप्ति करानेमें मुख्यप्रमाण इष्ट किया है।

प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रे मोहनिवर्तनमिति वचनात् मुख्यप्रमाणाभावे न स्वमतविरोधः सौगतस्येति चेत् स्यादेवं यदि मुख्यं प्रमाणमयं न वदेत् " अज्ञातार्थप्रकाशो वा स्वरूपाधिगतेः परं " इति ।

बौद्ध कहते हैं कि प्रमाणपना कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है। व्यवहारसे प्रमाणपना मान लिया गया है। देखो कहीं ज्ञान प्रमाण है। क्वचित् हस्ताक्षर प्रमाण हैं। कहीं पर साक्षी (गवाह) प्रमाण माने जाते हैं। एक ही मनुष्य किसीके लिये प्रमाण है। अन्यके लिये अप्रमाण है। जैसे कि समर्थ प्रभुके दोष भी गुण हो जाते हैं। किसी धनपति या प्रचण्ड अधिकारीके अपान वायुका निःस्सरण हो जानेपर चाटुकार पुरुष (खुशामदी) उसकी पाचन शक्तिकी प्रशंसाके पुल बांध देते हैं, जब कि निर्धनको ऐसा अवसर आ जानेपर वे ही स्वार्थभट्ट निन्दाके छपार बांध देते हैं। वैसे ही प्रमाणपना कोई निर्णीत नहीं है। व्यवहारसे जिसको भी प्रमाण मान लिया सो ही ठीक है। तथा शास्त्र भी कोई नियत हुये प्रमाण नहीं हैं, इस प्रकार हमारे बौद्ध ग्रन्थोंमें कहा है। शास्त्र केवल मोहकी निवृत्ति कर देता है। कोई आप्तमूलक प्रमाण नहीं है। बहुतसी झूंठी कहानियों या उपन्यासोंसे भी अनेक अच्छी २ शिक्षायें मिल जाती हैं। मोह दूर हो जाता है। अतः मुख्यप्रमाणोंके न माननेपर हमको अपने मतसे कोई विरोध नहीं आता है। बौद्धके इस प्रकार कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि इस प्रकार तब हो सकता था यदि यह बौद्ध प्रमाणको न कहता होता। किन्तु बौद्धोंने तो अज्ञात अर्थका प्रकाश करनेवाला और स्वरूपकी अधिगतिका उत्कृष्ट कारण प्रमाण तत्त्व माना है। अथवा स्वरूपकी अधिगतिसे उसका जनक प्रमाण न्यारा है। इस प्रकार बौद्धोंने स्वकीय शास्त्रोंमें मुख्यप्रमाणको इष्ट किया है। फिर पोले व्यवहारकी शरण क्यों ली जाती है ? आप अपने रहस्यको आप ही जाने भीतर कुछ बाहर कुछ ऐसा हमें अभीष्ट नहीं है।

संवेदनाद्वैताश्रयणात् तदपि न च तदित्येवेति चेत् न तस्य निरस्तत्वात्। किं चेदं संवेदनं सत्यं प्रमाणमेव मृषासत्यमप्रमाणं। न हि न प्रमाणं नाप्यसत्यं सर्वविकल्पातीतत्वात् संवेदनमेवेति चेत् मुख्यवस्थितं तत्त्वं। को हि सर्वथानवस्थितात्खरविषाणादस्य विशेषः। स्वयं प्रकाशमानत्वमिति चेत् तद्यदि परमार्थसत् प्रमाणत्वमन्वाकर्षति। ततो द्वयं संवेदनं यथास्वरूपे केनचित्तदतत्स्वरूपमपि प्रमाणं तथा बहिरर्थे किं न भवेत् तस्य तद्व्यभिचारिणो निराकर्तुमशक्तेः। पारंपर्यं च परिहृतमेव स्यात्। संविदर्थयोरंतराले सारूप्यस्याप्रवेशात्।

बौद्ध कहते हैं कि सम्वेदनके अद्वैतका आश्रय करनेसे न तो हम उस मुख्य प्रमाणको मानते हैं। और उस स्वसंवेदनको भी प्रमाण नहीं मानते हैं। अद्वैत पक्षमें तदुत्पत्ति, तदाकारता आदिका झगडा ही नहीं है। केवल वह शुद्ध संवेदन ही है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस संवेदन अद्वैतका पूर्वप्रकरणोंमें खण्डन किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि यह आपका माना हुआ संवेदन यदि सत्य है, तब तो प्रमाण ही होगा और यदि मिथ्या

होकर असत्य है तो अप्रमाण ही है। ऐसी दशामें भला प्रमाणपना और अप्रमाणपना कैसे मिट सकता है ? यदि प्रमाणपन, अप्रमाणपन, सत्यपन आदि सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित होनेके कारण संवेदन तो संवेदन ही है, और कुछ नहीं, इस प्रकार अद्वैतवादियोंके कहनेपर तो हमें उपहास पूर्वक कहना पडता है कि इस ढंगसे तो तत्त्व भले प्रकार व्यवस्थित हो गये ? युक्तिके विना केवल राजाज्ञाके समान यों ही तुम्हारे तत्त्वोंको कौन मान लेगा ? वस्तुरूपसे सभी प्रकार नहीं व्यवस्थित हो रहे खरविषाणसे इस अद्वैत सम्वेदनका भला कौनसा अन्तर है ? अर्थात्—सभी विकल्पोंसे रहित सम्वेदन तो खरविषाणके समान असत् है। तुम्हें कोई विशेषता दीखती हो तो बताओ। यदि संवेदनका स्वयं प्रकाशमानपना खरविषाणसे अन्तर डालनेवाला है। यों कहोगे तो हम पूछेंगे कि वह सम्वेदन यदि वास्तविक सत् है, तब तो प्रमाणपनेको खींच लेता है। तिस कारण अद्वैतवादियोंका वह संवेदन अकेला होता हुआ और किसी भी पदार्थके साथ वह तदाकार न होकर भी जैसे स्वरूपमें प्रमाण है, तिस ही प्रकार नहीं आकारको रखता हुआ वह संवेदन बहिरंग अर्थको जाननेमें भी क्यों नहीं प्रमाण हो जावे ? उस अपने आकारका समान अर्थोंसे व्यभिचार रखनेवाले सम्वेदनका निराकरण नहीं किया जा सकता है। अर्थात्–तदाकारताको प्रमाण माननेपर स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे हुये व्यतिरेकव्यभिचार और सदृश अर्थोंसे हुये अन्वयव्यभिचारका निवारण नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि इस ढंगसे परम्परा द्वारा ज्ञान होनेका भी परिहार हो ही जावेगा। क्योंकि ज्ञान और अर्थके अन्तराल (मध्य) में तदाकारताका प्रवेश नहीं किया गया है।

यदि पुनः संवेदनस्य स्वरूपसारूप्यं प्रमाणं सारूप्याधिगतिः फलमिति परिकल्प्यते तदानवस्थादितैव। ततो ज्ञानादन्यदिंद्रियादिसारूप्यं न प्रमाणमन्यत्रोपचारादिति स्थितं ज्ञानं प्रमाणमिति।

यदि फिर तदाकारताका आग्रह रक्षित रखते हुए बौद्ध इस प्रकार कल्पना करेंगे कि संवेदनके स्वरूपमें भी ज्ञानस्वरूपका आकार (प्रतिबिम्ब) पडता है। अतः ज्ञानमें स्वके रूपकी तदाकारता प्रमाण है और उस सारूप्यकी अधिगति होना फल है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसी कल्पना करनेपर तो अनवस्था ही कही गयी समझना चाहिये। अर्थात्—तदाकारताकी अधिगति भी साकारज्ञानद्वारा होगी और उस साकारज्ञानकी तदाकारताका अधिगम भी तदाकार ज्ञानसे होगा। इस प्रकार नियतव्यवस्था नहीं हो सकती है। तिस कारण ज्ञानसे भिन्न हो रहे इन्द्रिय,सन्निकर्ष,तदाकारता, आदिक प्रमाण नहीं है, सिवाय उपचारके। अर्थात्–ज्ञानद्वारा ज्ञप्ति करानेमें कुछ सहकारी हो जानेसे भले ही इन्द्रिय और सन्निकर्षको व्यवहारसे प्रमाण कह दिया जाय,अन्यथा नहीं। तथा ज्ञानमें पदार्थोंका आकार तो पडता नहीं है। मूर्त पदार्थमें ही पौद्गलिक मूर्त पदार्थका आकार पडता है। हां, आकारका अर्थ समझना, समझा सकना, विकल्प करना, उल्लेख करना किया जाय तो ऐसे

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

साकार ज्ञानको स्याद्वादी अभी करते हैं। इस प्रकार ज्ञान ही प्रमाण है। यह बात सिद्ध हुई ज्ञान ही हितप्राप्ति और अहितपरिहार करानेमें समर्थ हो सकता है, जो कि प्रमाणका मुख्य कर्तव्य है।

मिथ्याज्ञानं प्रमाणं न सम्यगित्यधिकारतः।
यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता ॥ ३८ ॥

इस सूत्रमें सम्यक्का अधिकार चला आरहा है, इस कारण संशय आदि मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं हैं। जिस प्रकार जहां पर अविसम्वाद है वहां उस प्रकार प्रमाणपना व्यवस्थित है। जैसे कि मिथ्याज्ञानको स्वांशके जाननेमें प्रमाणान्तरोंकी प्रवृत्तिरूप सम्वाद है, किन्तु विषयको जाननेमें विसम्वाद है तथा दूरसे वृक्षका ज्ञान करनेमें सामान्यवृक्षपनेका अविसम्वाद है और विशेषवृक्षपन, रंग, ऊंचाई, शाखाओंका अन्तराल आदिके जाननेमें प्रमाणान्तरोंसे बाधा प्राप्त हो जाना रूप विसम्वाद है, अतः किसी किसी समीचीन ज्ञानमें भी पूर्णरूपसे प्रमाणता नहीं है। यदि हम सामान्य वृक्षको ही जानकर चुप हो जाते तो वृक्षज्ञानको सर्वांग प्रमाण कह सकते थे। किन्तु वृक्षको जानते समय उसके काले पत्ते, सघनता, छोटापन, धुंधलापन भी तो मन्दरूपसे जान लिये गये हैं। भले ही हम शब्दोंसे न कहें, आत्माके पास बहुत बढिया कृतज्ञ सेवक एक ज्ञान है जो कि एक कार्यका कारण अपनेको बखानता है, किन्तु विना कहे दस कार्योंको साधदेता है। अतः जितने अंशमें सम्वाद है उतने अंशसे सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञानमें प्रमाणपना व्यवस्थित है। शेष अंशोंसे अप्रमाणपन है, चाहे सम्यग्ज्ञान कहाता होय और भले ही वह मिथ्याज्ञान शब्दसे कहा गया होय।

यदि सम्यगेव ज्ञानं प्रमाणं तदा चंद्रद्वयादिवेदनं बावल्यादौ प्रमाणं कथमुक्तमिति न चोद्यं, तत्र तस्याविसंवादात् सम्यगेतदिति स्वयमिष्टेः। कथमियमिष्टिरविरुद्धेति चेत्, सिद्धांताविरोधात्तथा प्रतीतेश्च।

कोई जैनोंके ऊपर अभियोग लगाता है कि समीचीन ज्ञानको ही यदि जैन विद्वान् प्रमाण मानेंगे तो बावडी, कूप, कटोरा, आदिमें प्रतिविम्बके वश हुये दो चन्द्रमा या दो, तीन, दीपक आदिका ज्ञान भला प्रमाण कैसे कह दिया गया है? यह समीचीन ज्ञान तो नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारका आक्षेप नहीं करना। क्योंकि जैनोंके यहां प्रतिबिम्ब पदार्थ पौद्गलिक वस्तुभूत माना गया है। नैयायिकके समान हम छायाको अवस्तु नहीं मानते हैं और मीमांसकोंके समान हम चक्षुकी किरणोंका चमकीले पदार्थसे टक्कर खाकर लौटके उसी मुख्य वस्तुके देखनेको भी हम छायाज्ञान नहीं कहते हैं। किन्तु दो या तीन जलपात्रोंमें न्यारे न्यारे पडे हुये वे प्रतिबिम्ब जलके स्वच्छतागुणकी विभाव पर्याय हैं, वे जलस्वरूप हैं। अतः आकाशमें ऊपर देखनेपर एक चन्द्रमाका ज्ञान समीचीन है, वहां दो चन्द्रमाका ज्ञान होना मिथ्या है, किन्तु दो दर्पणोंमें या जल भरे कटोरोंमें अनेक चन्द्रबिम्बोंका ज्ञान होना समीचीन है। क्योंकि वहां उस ज्ञानका अविसम्वाद है और अन्य

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वादियोंने भी यह ज्ञान समीचीन है, इस प्रकार विवाद किये विना स्वयं इष्ट कर लिया है। कोई विरोध नहीं है। दर्पणके पार्श्व (बगल) में चमकीली वस्तुके लगा देनेपर या जडी हुई मणिके नीचे कांच या चांदीका डंक लगा देनेपर जो चमक बढ जाती है, वह उस वास्तविक प्रतिबिम्बका ही कार्य है, कोई पूंछता है कि इस प्रकार इष्ट करना अविरुद्ध कैसे है ? इसपर तो हम स्याद्वादियोंका यह कहना है कि एक पदार्थके अनेक निमित्त मिलनेपर नाना प्रतिबिम्बोंके पड जानेमें कोई सिद्धान्तसे विरोध नहीं आता है और तिस प्रकार प्रतीति भी हो रही है। आंखोंमें चमकीले लाल रंगको देखनेपर हानि होती है और हरे रंगको देखनेपर लाभ होता है यह सब दूरवर्ती पदार्थके आंखोंमें पडे हुये प्रतिबिम्बका ही कार्य है दर्पणको देखते समय हमारा मुख पूर्वकी ओर है और प्रतिबिम्बका मुख तो पश्चिमकी ओर दीखरहा है। लहर लेरहे जलमें चन्द्रका प्रतिबिम्ब कंपता है और आकाशमें चन्द्रमा कंपता नहीं है, इस बातको बालक भी जानते हैं।

स्वार्थे मतिश्रुतज्ञानं प्रमाणं देशतः स्थितं।
अवध्यादि तु कात्स्न्येन केवलं सर्ववस्तुषु ॥ ३९ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने अपने विषय स्व और अर्थमें एक देशसे अविसम्वाद रखते हैं। अतः प्रमाणस्वरूपसे प्रसिद्ध हैं। तथा अवधि और मनःपर्यय तो अपने नियत विषयोंमें पूर्णपनेसे अविसम्वादी हैं। अतः प्रमाण हैं। हां, केवलज्ञान सम्पूर्ण वस्तुओंमें पूर्णरूपसे विशद है। अतः सबका सब प्रमाण है। इस प्रकार पांच ज्ञानोंमें तीन ढंगसे प्रमाणपना प्रसिद्ध हो रहा है। जौहरी, वैद्य, ज्योतिषी, नैयायिक आदि विद्वानोंको जिस जिस विषयमें अविसम्वाद है, उन उन विषयोंमें प्रमाणता है। भलें ही केवलज्ञान सबको जानता है। फिर भी रसनाइंद्रियजन्य प्रत्यक्षमें जैसे मोदक-रसका अनुभव होता है, वैसा केवलज्ञानसे नहीं। तभी तो केवलज्ञानी महाराजको अभक्ष्य, मांस, मद्य, आदिका ज्ञान होते हुये भी अणुमात्र दोष नहीं लगता है। वस्तुतः दोष लगनेका कारण रासनप्रत्यक्ष द्वारा कषायप्रयुक्त गृद्धिपूर्वक अनुभव करना है, जो कि केवलज्ञानी महाराजके पास नहीं है। यों सूक्ष्मतासे विचारा जाय तो सभी ज्ञानों द्वारा विषयग्रहण करनेमें अनेक प्रकारके अन्तर हैं।

स्वस्मिन्नर्थे च देशतो ग्रहणयोग्यतासद्भावात् मतिश्रुतयोर्न सर्वथा प्रामाण्यं, नाप्यवधिमनःपर्ययोः सर्ववस्तुषु केवलस्यैव तत्र प्रामाण्यादिति सिद्धांताविरोध एव " यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता " इति वचनस्य प्रत्येयः।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी अपने और अर्थमें एक देशसे ग्रहण करनेकी योग्यता विद्यमान है। अतः सभी प्रकारसे उनमें प्रमाण्यपना नहीं है तथा अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानमें भी सभी प्रकारोंसे प्रमाणता लबालब भरी हुई नहीं है। हां, सम्पूर्ण वस्तुओंमें केवलज्ञानकी ही स्व और अर्थको जाननेमें ठसाठस प्रमाणता हो रही है। इस कारण जैन सिद्धान्तसे इस वचनका कोई विरोध नहीं

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आता है कि जहां जिस प्रकार अविसम्वाद है, वहां उस प्रकार प्रमाणता मानी जाती है, यह विश्वास करने योग्य है। सच बात कहनेमें हम हिचकिचाते नहीं हैं। " शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि "। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानोंको अपने विषयोंमें भी पूर्णरूपसे प्रमाणता प्राप्त नहीं है। विचारनेपर निर्णीत हो जाता है कि जिस ज्ञानमें जितनी पराधीनता होगी उतना ही वह मन्द होगा। चाक्षुष प्रत्यक्षको ही ले लीजिये। किसी वृक्षको एक कोश दूरसे देखा जाय, छोटा दीखेगा। जितना जितना वृक्षके निकट पहुंचते जायंगे उतना उतना बडा दीखता जायगा। दस गजके अन्तरालसे देखनेपर बडा दीखता है। बीचमें तारतम्यरूप दीखता है। वृक्षकी ठीक लम्बाई चौडाई कहांसे दीखती है इसका निर्णय करना कठिन है। यों तो सब अपने अपने प्रत्यक्षोंको ठीक बता रहे हैं। हां, वृक्षकी यथार्थ लम्बाई चौडाई किसी न किसी प्रत्यक्षसे दीखती अवश्य है। किन्तु हजारों प्रत्यक्षोंमेंसे कौनसा भाग्यशाली प्रत्यक्षज्ञान उसको ठीक ठीक जाननेवाला है, इसकी परीक्षा दुःसाध्य है। इसी तरह दूरसे वृक्षका रूप काला दीखता है, निकटसे हरा दीखता है, मध्यस्थानोंसे हरे और कालेका तारतम्य रूपसे रूपका ज्ञान होता है। वृक्षका ठीक रूप किस स्थानसे दीखा है, इसका निर्णय कौन करे ! यदि ज्ञानमें विशेष अंश नहीं पडकर केवल काला या हरा रूप ही दीखगया होता तो हम इतनी चिन्ता न करते, किन्तु हम क्या करें, तुम उन ज्ञानोंमें विशेष अंशोंको ग्रहण कर बैठे हो। अतः विचार करना पडता है। जैसी ज्ञानमें विकल्पना कर लोगे हमें इसके सत्यपन या असत्यपनकी परीक्षा करनी ही पडेगी। एक शुक्लवस्त्रको घाममें, छायामें, दीपकके प्रकाशमें, बिजलीके प्रकाशमें, उजिरियामें देखनेपर अनेक प्रकारके शुक्लरूप दीखते हैं। भले ही बिजली आदि निमित्तसे वस्त्रके शुक्लरूपमें कुछ आक्रान्ति हो गयी हो, फिर भी इस बातका निर्णय करना शेष रह जाता है कि वस्त्रका ठीक रूप किस प्रकाशमें दीखा था। आंखे भी रूपके देखनेमें बडी गडबडी मचा देती हैं। एक मोटा कांच होता है। घडी बनानेवाले या चित्र दिखानेवाले पुरुष उस कांचके द्वारा हजार गुना लम्बा, चौडा, पदार्थ देख लेते हैं। एक बालको उस कांच द्वारा देखनेपर मोटी लेजके समान दीखता है। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रियका बहिरंग शरीर भी उस कांचके सदृश है। सन्मुख रखे हुये पदार्थोंका चक्षुमें प्रतिबिम्ब पडता है। और वह एक लाख गुना बडा होकर या इससे कुछ न्यून अधिक प्रतिभास जाता है। सैकडों दर्पणोंमेंसे कोई एक दर्पण शुद्ध होता होगा, जो कि पदार्थका ठीक प्रतिबिम्ब लेता है। अन्यथा किसी दर्पणमें लम्बा किसीमें चौडा किसीमें पीला किसीमें लाल मुख दीखता है। इसी प्रकार बालक, कुमार, युवा, वृद्ध, बीमार, निर्बल, सबल, घी खानेवाला, रूखा खानेवाला आदिकी आंखोंमें भी प्रतिबिम्ब पडनेका अवश्य अन्तर होगा। यदि ऐसा न होता तो उनको भिन्न भिन्न प्रकार (नम्बरों) के उपनेत्र (चश्मा) क्यों अनुकूल पडते हैं। मोतिया बिंद रोगवालेका चश्मा किसी नीरोग विद्यार्थीको उपयोगी नहीं होता है। अनेक जातिके पशु, पक्षी, या छोटी बडी आंखवाले जीव अथवा मक्खी, पतंग आदिकी आंखोंके

प्रतिबिम्बोंमें भी तारतम्य है। सार यह है कि ठीक ठीक लम्बाई, चौडाई, रंग और विन्यासका चाहे जिसकी आखोंसे यथार्थ निर्णय होना कठिन है। सभी बालक, वृद्ध, रोगी, अपने अपने ज्ञानको ठीक मान बैठे हैं। बडे मोटे अन्तरके दीखनेपर तो बाधा उपस्थित कर देते हैं। किन्तु छोटे अन्तरोंपर तो किसीका लक्ष्य ही नहीं पहुंच पाता है। यदि हम चक्षुओंसे केवल वृक्ष या शुद्ध वस्त्र अथवा मुखका ही ज्ञान कर लेते तो भी ठीक था, किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्षमें तो उन लम्बाई चौडाई, रंग, चपटापन, आदि सूक्ष्म अंशोंका प्रतिभास हो गया है, जो कि यथार्थ नहीं हैं। ऐसी दशामें चाक्षुष प्रत्यक्षको सर्वांग रूपसे प्रमाण कैसे कहा जा सकता है? पीलिया रोगीको शुक्ल शंख पीला दीखता है। अन्य मनुष्योंको कम पीला दीखता है। शंखके ठीक रूपका ज्ञान तो लाखोंमेंसे किसी एकको ठीक ठीक होगा। इसी प्रकार रसना इन्द्रियमें भी समझ लेना। अधिक भूंख लगनेपर जो मोदकका स्वाद है, तृप्त होनेपर वह नहीं। खाते खाते मध्यमें स्वादकी अनेक अवस्थायें हैं। ज्वरवालेको स्वाद अन्य ही प्रकारका प्रतीत होता है। यद्यपि ज्वरके निमित्तसे जिह्वाके ऊपर स्वाद बिगाडनेवाले मलके जम जानेसे मलका सम्पर्क हो जानेपर भी स्वाद बिगड जाता है। किन्तु नीरोग अवस्थामें भी तो भिन्न भिन्न परिस्थितिके होनेपर एक ही वस्तुमें न्यारे न्यारे रस अनुभूत होते हैं। अतः जीभके मलका बहाना पकड लेना छोटापन है। पेडा खानेके पीछे सेव फलका वैसा मीठा स्वाद नहीं आता है। जैसे कि पेडा खानेके पहिले आ सकता है। प्रायः बहुतसे पुरुषोंका कहना है कि बाल्य अवस्थामें फल, दुग्ध, मोदक अंडिया (भुट्टिया) ककडी, भुने हुए चना, परमल आदिके जैसे स्वाद आते थे, वैसे कुमार युवा अवस्थाओंमें नहीं आते हैं। और युवा अवस्थाकेसे स्वाद बूढेपनमें नहीं। उस उस अवस्थाकी लार या दांतोंसे पीसना, चबाना, अन्तरंग बुभुक्षा आदिसे भी स्वादमें अन्तर पड जाता है। कहना यही है कि मोदकके रसका ठीक ठीक आस्वाद भला कब किसको हुआ? किन्तु बालक, युवा, रोगी आदि सभीने तो अपने ज्ञानोंमें स्वादके विशेष अंशोंको जान लिया है। अतः सभी जीवोंके अनेक तारतम्यको लिये रासन प्रत्यक्षको सर्वांगरूपसे तो प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष भी मोटे मोटे अंशोंमें प्रमाण है। जान लिए गए सूक्ष्म अंशोंमें प्रमाण नहीं हैं। हम लोगोंमें आपेक्षिक विज्ञान अधिक होते हैं। ज्वरी पुरुषको वैद्यका शरीर अधिक शीतल प्रतीत होता है। और वैद्यको ज्वरीका शरीर उष्ण दीखता है। ठण्डे पानीमें अंगुली डालकर पुनः कुछ उष्ण जलमे अंगुली डालनेपर उष्ण स्पर्शका प्रतिभास होता है। किन्तु अधिक उष्ण जलमें अंगुली डुबोकर पुनः उसी न्यून उष्णजलमें अंगुली डालनेसे शीत स्पर्शका प्रतिभास होता है। जैसे कि अधिक मिर्च खानेवालेको स्वल्प मिर्च पडे हुये व्यंजनमें चिरपिरा स्वाद नहीं आता है। किन्तु मिरचको सर्वथा नहीं खानेवाले विद्यार्थी या बालकका मुख तो उस व्यंजनसे झुलस जाता है। हम लोगोंके शरीरमें अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे पदार्थोंके जाननेकी

न्यारी न्यारी परिणतियां होती रहती हैं। किस समयकी परिणति सम्बद्ध वस्तुके स्पर्शको ठीक ठीक जानती है, इसका निर्णायक उपाय हमारे पास नहीं है। घ्राण इन्द्रियमें भी यही टंटा लग रहा है। दूरसे, समीपसे और अतिसमीपसे गन्धका ज्ञान होनेमें विशेषतायें हो रही हैं। यद्यपि गन्धयुक्त स्कंधोंके फैलनेसे भी गन्धपरिणतिके अनुसार सुगन्ध दुर्गन्धका तारतम्य हो सकता है। फिर भी एकसी गन्धमें नाना व्यक्तियोंको भिन्न प्रकारकी गन्धें आ रही हैं। श्लेष्मरोगीकी तो गन्धज्ञानमें बहुत चूक हो जाती है। कोई कोई तो हींगडा, कालानिमक, लहसुन आदिकी गन्धोंमें सुगन्ध या दुर्गन्धपनेका ही निर्णय अपने अपने विचार अनुसार कर बैठे हैं, जो कि एक दूसरेसे विरुद्ध पडता है। शद्वके श्रावण प्रत्यक्षमें भी ऐसी ही पोलें चल रही हैं। दूर निकटवर्त्ती शद्वोंके सुननेमें अनेक प्रकारके अन्तर हो रहे हैं। पदार्थोंके निमित्तसे स्थूल सूक्ष्मशब्दोंका परिणमन हो जाता है, किन्तु आंखोंके समान कानोंके दोषसे भी शब्दज्ञानमें तारतम्य हो रहे हैं। बहिरंग कारणोंके समान अन्तरंग क्षयोपशम, शल्य, संकल्प, विकल्प, प्रसन्नता, दुःख, रोग आदिकी अवस्थाओंमे हुये ज्ञानोंमें भी अनेक प्रकार छोटे छोटे विसम्बाद हो जाते हैं। श्रुतज्ञानमें भी अनेक स्थलोंपर गड बड मच रही है। इष्टको अनिष्ट और अनिष्टको इष्ट समझलेते हैं। जब सांव्यवहारिक प्रत्यक्षोंका यह हाल है तो परोक्ष श्रुतज्ञानोंमें तो और भी पोल चलेगी। किसी मनुष्यने सहारनपुरमें यह कहा कि बम्बईमें दो पहलवानोंकी भित्ती (कुश्ती) हुयी। एक मल्लने दूसरेको गिरा दिया। दर्शकोंने विजेताको हजार रुपये परितोष (इनाम) में दिये। यहां विचारिये कि श्रोता यदि कहे हुये शद्वोंके वाच्य अर्थका ही ज्ञान करे तब तो ठीक भी मान लिया जाय, किन्तु श्रोता अपनी कल्पनासे लम्बे चौडे अखाडेको गढ लेता है, एक पहलवान काला है, एक गोरा है। दर्शक लोग कुर्सीपर बैठे हुये हैं, ऐसे ऐसे वस्त्र आभूषण पहने हुये हैं, हजार रुपयेके नोट दिये होंगे, विजेता मल्ल प्रसन्नतामें उछलता फिरा होगा, इत्यादि बहुतसी ऊटपटांग बातोंको भी साथ ही साथ विना कहे ही श्रुतज्ञानमें जानता रहता है, जो कि झूंठी हैं। श्रोता भी बिचारा क्या करे ? झूंठी कपोल कल्पनाओंके विना उसका कार्य नहीं चलता है। दोनों लडनेवाले मल्ल अमूर्त तो हैं नहीं। अतः उनकी काली गोरी मोंछवाली या विना मोंछकी मूर्त्तिको अपने मनमें गढ लेगा। आकाशमें तो कोई भित्ती होती नहीं हैं। अतः अखाडेकी भी कल्पना करेगा। बिचारे देखनेवाले मनुष्य कहां बैठेंगे। अतः कुर्सी, मूढा, दरी, चटाई आदिको भी अपने श्रुतज्ञानमें लायेगा। बात यह है, एक छोटे श्रुतज्ञानमें चौगुनी अठगुनी बातें सच्ची झूंठी घुस बैठती हैं। ऐसी धुन सवार है, कोई क्या करे ? महापुराणको सुनकर भरत और बाहुबलीके युद्धमें भी बहुतसी बातें अन्ट सन्ट जोडली जाती हैं। भलें ही चक्रवर्त्तीका मुख पश्चिमकी ओर हो, किन्तु श्रोताओंके ज्ञानमें पूर्व, दक्षिण, उत्तरकी ओर भी जाना जाता है। ऐसी कितनी कितनी गलतियोंको भगवान् जिनसेन आचार्य कण्ठोक्त कहकर कहांतक सुधरवा सकेंगे। भगवान्के जन्मकल्याणके समय इन्द्र आता है। पतितपावन भगवान्को सुमेरुपर्वतपर लेजाता है। इस कथनकी कितने प्रकारकी सूरतें मूरतें बनाकर श्रोता जन

श्रुतज्ञान करते हैं। इसको लिखनेके लिये बीस पत्र चाहिये, भले ही सुमेरु पर्वतका चित्र खींचना त्रिलोकसारसे विरुद्ध पडजाय, इसकी कोई अपेक्षा (परवाह) नहीं है। जैसा पहले देखा सुना है उससे मिलता जुलता ज्ञान करलिया जाता है, फिर बिचारे स्वप्नको ही मिथ्याज्ञान होनेकी गाली क्यों सुनाई जाती है ? सत्यज्ञानोंमें भी तो कलियुगी पण्डितोंके समान पोल चल रही है। संक्षेपमें यही कहना है कि मति और श्रुतज्ञान पूर्ण अंशोंमें प्रमाण नहीं हैं, एक देशसे प्रमाण हैं। हां, अवधि और मनःपर्यय अपने स्वार्थ नियत विषयोंमें पूर्णतासे प्रमाण हैं। क्योंकि इनकी परतंत्रता बहुत घट गयी है तथा केवलज्ञान तो कथमपि पराधीन नहीं है। अतः ये सर्वांगरूपसे प्रमाण बन रहे हैं।

प्रतीत्यविरोधस्तूच्यते।

जिस प्रकार जितने अंशोंमें ज्ञानका अविसंवाद होय उस प्रकार उतने अंशोंमें प्रमाणता है। इस प्रकारकी प्रतीतिके अविरोधको तो हम अग्रिमकारिकाओं द्वारा कहे देते हैं। मति आदि पांचों-ज्ञानोंकी प्रमाणता उसीके अनुसार जितनी जिसके बांटमें आवे उतनी समझ लेना। अधिकके लिए हाथ पसारना अन्याय्य है।

अनुपप्लुतदृष्टीनां चन्द्रादिपरिवेदनम्।
तत्संख्यादिषु संवादि न प्रत्यासन्नतादिषु ॥ ४० ॥
तथा ग्रहोपरागादिमात्रे श्रुतमबाधितम्।
नांगुलिद्वितयादौ तन्मानभेदेऽन्यथा स्थिते ॥ ४१ ॥

नहीं च्युत हो रही है दृष्टि जिनकी ऐसे पुरुषोंको चन्द्रमा, शुक्र, दूरवर्ती पर्वत आदिका परिज्ञान होना उनकी संख्या, स्थूलरचना, चमक आदि विषयोंमें तो सम्वाद रखनेवाला है। हां, निकटपना, लम्बाई, चौडाई ठीक ठीक रंग दूरकी नाप करने आदिमें सम्वादी नहीं है। यह मतिज्ञानकी त्रुटि है। तथा ज्योतिष शास्त्रके द्वारा सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहणका सामान्यरूपसे ज्ञान हो जाता है। उतना श्रुतज्ञान बाधारहित है, किन्तु दो अंगुल तथा तीन अंगुल ग्रहण पडनेमें अथवा भिन्न भिन्न अनेक देशोंमें उसके परिणामका ठीक विधान करनेमें वह श्रुतज्ञान बाधारहित नहीं है। क्योंकि अनेक देश और ग्रामोंमें ग्रहणकी विशेषतायें दूसरे प्रकारोंसे स्थित हो रही हैं। अथवा दूसरे प्रकारोंसे स्थित हो रही विशेष नापमें वह अन्ट सन्ट नापको जान रहा श्रुतज्ञान निर्बाध नहीं है। अतः मति और श्रुतका सम्पूर्ण शरीर प्रमाणरूप नहीं कहा जा सकता है। जिन जीवोंकी दृष्टि च्युत हो रही है, उनके मतिज्ञान या श्रुतज्ञान तो सम्वादरहित प्रसिद्ध ही हैं।

एवं हि प्रतीतिः सकलजनसाक्षिका सर्वथा मतिश्रुतयोः स्वार्थे प्रमाणतां इंतीति तया तदेतत्प्रमाणमबाधम्।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जब कि इस प्रकारकी प्रतीतियां सम्पूर्ण मनुष्योंकी साक्षीसे प्रसिद्ध हो रही हैं, अतः वे प्रतीतियां ही मति और श्रुतज्ञानके द्वारा जाने गये स्व और अर्थरूप विषयमें सभी प्रकारोंसे प्रमाणपनको नष्ट कर देती हैं। हां, एकदेशसे प्रमाणपनको रक्षित रखती हैं। इस प्रकार उन प्रतीतियोंसे जितना अंश सम्वाद रूप है, उतने अंशमें बाधारहित होते हुये मति और श्रुत प्रमाण हैं। ऐसे ही अन्य बाधारहित ज्ञानोंकी प्रमाणता समझ लेना। सो यह प्रमाणपना जिस ढंगसे जितना प्रतिपन्न हो उतना बाधारहित ठीक समझना। लेखनी (नेजाकी कलम) की छाल ऊपरकी सभी चिकनी और कडी होती है, किन्तु अक्षर लिखनेके लिये जितना चक्कूसे छिला हुआ स्वल्प अंश उपयोगी है। वह करण है, शेष अंश तो उसका सहायक मात्र है।

ननूपप्लुतविज्ञानं प्रमाणं किं न देशतः।
स्वप्नादाविति नानिष्टं तथैव प्रतिभासनात् ॥ ४२ ॥

यहां शंका है कि यदि थोडे थोडे अंशसे ही ज्ञानमें प्रमाणता आजाय तब तो स्वप्न, पीलिया रोग, चका चोंध, आदि अवस्थाओंमें हुये झूंठे ज्ञानोंको भी एकदेशसे प्रमाणपना क्यों न हो जाय ? पीलिया रोगीको शंखका ज्ञान तो ठीक है। रूपका ज्ञान ठीक नहीं है। संशय ज्ञानीको भी ऊंचाईका ज्ञान ठीक है। स्थाणु या पुरुषका विवेक नहीं है। फूले हुये कांसोंमें जलका ज्ञान करनेवाला क्षेत्रके विस्तार और चमकको ठीक जान गया है। केवल जलको जाननेमें त्रुटि हो गई है। ऐसी दशामें इन ज्ञानोंको भी एकदेश प्रमाण कह देना चाहिये। इस प्रकार शंका होनेपर आचार्य कहते हैं, ठीक है। हमको कोई अनिष्ट नहीं है। तिस प्रकार ही प्रतिभास हो रहा है। हम क्या करें अर्थात्—खांशमें तो सभी सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान सर्व प्रमाण हैं ही। विषय अंशोंमें भी कुछ कुछ प्रमाणता मान लो। वस्तुकी यथार्थपरीक्षा करनेमें डर किसका है ? शंखमें पीले शंखका ज्ञान होना, मेढकका ज्ञान होना, घोडेका ज्ञान होना ऐसे विपर्यय ज्ञानोंमें प्रमाणताकी न्यूनता, अधिकता, होनेपर ही अन्तर पड सकते हैं। अन्यथा नहीं। जैसे कि पांचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरणका उदय तो सर्वथा नहीं है, किन्तु प्रत्याख्यानावरणके उदयकी अधिकता न्यूनतासे श्रावकके ग्यारह पद हो जाते हैं। घटी (छोटी घडियां) को घट जाननेवाले ज्ञानकी अपेक्षा घटीको घोडा जाननेवाले विपरीत ज्ञानमें प्रमाणताका अंश अति न्यून है। प्रवेशिकासे ऊपर विशारद श्रेणी है। प्रवेशिकाके उत्तीर्ण छात्रसे विशारदका अनुत्तीर्ण छात्र कुछ अधिक व्युत्पन्न है।

स्वप्नाद्युपप्लुतविज्ञानस्य क्वचिदविसंवादिनः प्रमाणप्यस्येष्टौ तद्व्यवहारः स्यादिति चेत्।

यदि कोई यों कहे कि किसी अंशमें अविसम्वाद रखनेवाले स्वप्न आदिकमें हुये चलायमान ज्ञानोंको यदि प्रमाणपना जैनोंको इष्ट है, तब तो उन मिथ्याज्ञानोंमें उस प्रमाणपनेका व्यवहार हो

जायगा। ऐसा कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि—विचाशील भाई !

प्रमाणव्यवहारस्तु भूयः संवादमाश्रितः ।
गंधद्रव्यादिवद्भूयो विसंवादं तदन्यथा ॥ ४३ ॥

प्रमाणपनेका व्यवहार तो अनेकबार हुये सम्वादको आश्रय लेकर प्रवर्त रहा है, जैसे कि गंध-द्रव्य, रसद्रव्य आदिक हैं। तथा भूरिभूरि विसम्वादको आश्रित करता हुआ उस प्रमाणपनेसे दूसरे प्रकारका यानी अप्रमाणपनेका व्यवहार हो रहा है। अर्थात्—प्रचुर गन्ध होनेसे कर्पूर, चन्दन, कस्तूरी इत्यादि गन्धद्रव्य हैं। तथा स्पर्शरूप और गन्धके होनेपर भी रंग गोटा चूना (कलई) आदि रूपद्रव्य हैं। नीबू, लवण, मिश्री आदि रसद्रव्य हैं। तथा रुई, मखमल आदि पदार्थ प्रचुर कोमल स्पर्शके होनेसे स्पर्शद्रव्य कहे जाते हैं। उसी प्रकार जिन ज्ञानोंमें अति अधिक सम्वाद है, वे प्रमाण हैं। भले ही उनमें थोडा विसम्वाद पडा रहो। तथा जिन ज्ञानोंमें बहुत विसम्वाद है, वे अप्रमाण हैं। भले ही उनमें स्वल्प सम्वाद पडा रहो। संसारमें सज्जनता, दुर्जनता, मूर्खपना पण्डित-पना, रोगी, नीरोगपन, सुन्दरता, असुन्दरता आदि व्यवहार भी बहुभागकी अपेक्षासे होते हैं। हां, कोई कोई पूर्णरूपसे सुन्दर, सज्जन और नीरोग होते हैं। उनके लिये केवलज्ञान दार्ष्टान्त है।

सत्यज्ञानस्यैव प्रमाणत्वव्यवहारो युक्तिमान् भूयः संवादात् । वितथज्ञानस्यैव वाऽप्रमाणत्वव्यवहारो भूयो विसंवादात् तदाश्रितत्वात्तव्यवहारस्य । दृष्टो हि लोके भूयसि व्यपदेशो यथा गंधादिना गंधद्रव्यादेः सत्यपि स्पर्शवत्त्वादौ ।

प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति और प्राप्तिकी एक अधिकरणता या प्रमाणान्तरोंकी प्रवृत्ति अथवा विषयमें अभीष्ट अर्थक्रियाकारीपन रूप सम्वादोंके कई बार हो जानेसे सत्यज्ञानको ही प्रमाणपनेका व्यवहार युक्ति सहित है। और बहुलतासे विसम्वाद हो जानेके कारण मिथ्या ज्ञानोंको ही अप्रमाणपनेका व्यवहार है। क्योंकि उन सम्वाद और विसम्वादके अधीन होकर वह प्रमाणपना और अप्रमाणपना व्यवस्थित हो रहा है। लोकमें भी बहुभागसे हो रहे स्वभावोंमें वैसा व्यवहार होना देखा जाता है। जैसे कि स्पर्श, रस, आदिके होनेपर भी गन्धद्रव्य, रसद्रव्य आदिको अविभाग प्रतिच्छेदोंकी प्रचु-रतासे गन्ध आदि करके गन्धवान्, रसवान्, रूपवान्पनेका व्यवहार हो जाता है।

येषामेकांततो ज्ञानं प्रमाणमितरच्च न ।
तेषां विप्लुतविज्ञानप्रमाणेतरता कुतः ॥ ४४ ॥

जिन वादियोंके यहां समीचीन ज्ञान पूर्ण अंशोंमें एकान्त रूपसे प्रमाण ही है, और उससे भिन्न मिथ्याज्ञान सर्वथा ही प्रमाण नहीं हैं, ऐसा आग्रह है, उनके यहां मिथ्याज्ञानोंकी प्रमाणता और अप्रमाणता भला कैसे व्यवस्थित होगी ! बताओ। झूंठ बोलनेवाला मनुष्य स्वयं अपनेको यदि

असत्य वक्ता कहे तो उतने अंशमें वह सत्यवक्ता ही है। मिथ्याज्ञान भी स्वांशको जाननेमें प्रमाण स्वरूप है। अनेक मिथ्याज्ञान थोडे स्वकीय विषयको भी छूते हैं। दुष्टपुरुषोंमें भी कचित् एक आध अच्छा गुण होता है। गुलाबके फूलमें कांटेके समान किन्ही प्रतिष्ठित पुरुषोंमें भी दोषकी छींटें पड जाती हैं।

अथायमेकांतः सर्वथा वितथज्ञानमप्रमाणं सत्यं तु प्रमाणमिति चेत् तदा कुतो वितथवेदनस्य स्वरूपे प्रमाणता बहिर्थे त्वप्रमाणतेति व्यवतिष्ठेत।

अब यदि किसीका यह एकान्त होय कि झूंठा ज्ञान तो सभी अंशोमें अप्रमाण है। और सत्यज्ञान सर्व अंगोमें प्रमाण है, इस प्रकार माननेपर तो हम जैन कहेंगे कि यों तो मिथ्याज्ञानको स्वरूपमें प्रमाणपना और बहिरंग विषयको जाननेमें तो अप्रमाणपना यह कैसे व्यवस्थित होगा? यानी मिथ्याज्ञान अपनेको जाननेमें अप्रमाण रहा तो अव्यवस्था हो जायगी। सीपमें चांदीको जाननेवाला ज्ञान मिथ्याज्ञान है। और उस झूंठे मिथ्याज्ञानको विषय करनेवाला ज्ञान भी मिथ्याज्ञान होगा और उसको जाननेवाला भी ज्ञान मिथ्याज्ञान होगा। इस अनवस्थाके ढंगसे अप्रमाणपनेका निर्णय होना अशक्य है। सभी ज्ञानोंको अपना स्वरूप जाननेमें प्रमाणपन अनिवार्य होना चाहिये।

स्वरूपे सर्वविज्ञानाप्रमाणत्वे मतक्षतिः।
बहिर्विकल्पविज्ञानप्रमाणत्वे प्रमांतरम् ॥ ४५ ॥

सम्पूर्ण विज्ञानोंको यदि स्वरूपमें अप्रमाणपना माना जायगा तो बौद्धोंको अपने सिद्धांतकी क्षति प्राप्त होगी और यदि विकल्पज्ञानोंको बहिरंग अर्थको विषय करनेमें प्रमाणपना माना जायगा तो प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंसे न्यारे एक तीसरे प्रमाण माननेका प्रसंग आता है।

न हि सत्यज्ञानमेव स्वरूपे प्रमाणं न पुनर्मिथ्याज्ञानमिति युक्तं। नापि सर्वं तत्राप्रमाणमिति सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमिति स्वमतक्षतेः।

समीचीनज्ञान ही अपने स्वरूपमें प्रमाण है। किन्तु फिर मिथ्याज्ञान अपने स्वरूपमें प्रमाण नहीं है, यह कहना युक्त नहीं है। तथा सभी ज्ञान उस अपने स्वरूपको जाननेमें अप्रमाण हैं, यह भी कहना युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि यों तो बौद्धोंके मतकी क्षति होती है। संपूर्ण आत्माओंके ज्ञानोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है, ऐसा बौद्धोने माना है। यानी सभी सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना अभीष्ट कर ज्ञानोंको स्वांशमें अप्रमाणपना कहनेपर बौद्धोंको अपने मतकी हानि उठानी पडती है।

सर्वं मिथ्याज्ञानं विकल्पविज्ञानमेव बहिरर्थे प्रमाणं स्वरूपवदित्यप्ययुक्तं, प्रकृतप्रमाणात् प्रमाणांतरसिद्धिप्रसंगात्। तिमिराश्वभ्रमणनौयातसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्य वेदनस्य प्रत्यक्षत्वे प्रत्यक्षमभ्रांतमिति विशेषणानर्थक्यं।

सभी मिथ्याज्ञान विकल्पज्ञानरूप ही हैं। अतः स्वरूपमें वे जैसे प्रमाण हैं, वैसे बहिरंग अर्थमें भी प्रमाण हैं, किसीका यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि बौद्धोंको अभीष्ट प्रकरणप्राप्त प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंसे अतिरिक्त तीसरे न्यारे प्रमाणकी सिद्धि होनेका प्रसंग हो जायगा। बौद्धोंने विकल्पज्ञानको प्रमाण नहीं माना है। अधिक ऊष्मके कारण तमारा आजानेपर तिमिर दोषसे अनेक भ्रान्तज्ञान होते हैं। शीघ्र शीघ्र भ्रमण चक्कर करनेसे भी घुंमारी आकर अनेक पदार्थ घूमते हुये देखते हैं। नावमें बैठकर चलनेपर भी दिग्भ्रम हो जाता है। विशेष क्षोभका कारण उपस्थित होनेपर विपरीतज्ञान हो जाते हैं। अत्यन्तप्रिय पदार्थके वियोग, सन्निपात, चाकचक्य, धतूरपान, अपस्मार (मृगी) आदि कारणोंसे उत्पन्न हुये विभ्रम ज्ञानोंको यदि प्रत्यक्ष प्रमाण मानलिया जायगा तो प्रत्यक्षके लक्षणमें दिया गया अभ्रान्त यह विशेषण व्यर्थ पडता है। अर्थात्—कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं " इस प्रत्यक्षके लक्षणमें भ्रमभिन्नपना विशेषण जो मिथ्याज्ञानोंके निवारणार्थ दिया है, मिथ्याज्ञानोंको प्रमाण माननेपर वह व्यर्थ पडता है। बौद्ध अब सिद्धान्त दोषको नहीं सह सकेंगे।

तस्याप्यभ्रांततोपगमे कुतो विसंवादित्वं विकल्पज्ञानस्य च प्रत्यक्षत्वे कल्पनापोढं प्रत्यक्षमिति विरुध्यते तस्यानुमानत्वे अक्षादिविकल्पस्यानुमानत्वप्रसंगस्तस्यालिंगजत्वादननुमानत्वे प्रमाणांतरत्वमनिवार्यमिति मिथ्याज्ञानं स्वरूपे प्रमाणं बहिरर्थे त्वप्रमाणमित्यभ्युपगंतव्यं। तथा च सिद्धं देशतः प्रामाण्यं। तद्वदवितथवेदनस्यापीति सर्वमनवद्यं एकत्र प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोः सिद्धिः।

यदि बौद्ध उस मिथ्याज्ञानरूप विकल्पज्ञानको भी अभ्रान्तपना स्वीकार करलेंगे तो विकल्पज्ञानको विसम्वादीपना कैसे ठहर सकेगा ? अभ्रान्तज्ञान यों तो अविसम्वादी हो जायगा और विकल्पज्ञानको प्रत्यक्षपना यदि इष्ट करलिया जायगा तो ऐसा होनेपर कल्पनाओंसे रहित प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। यह तुम्हारा अभीष्ट लक्षणवाक्य विरुद्ध होगा। अतः विकल्पज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण तो हो नहीं सकता है। यदि उस विकल्पज्ञानको अनुमान प्रमाण मानोगे तो इन्द्रिय, मन, आदिसे उत्पन्न हुये विकल्पज्ञानको अनुमानपनेका प्रसंग होगा। यदि अविनाभावी हेतुसे जन्यपना नहीं होनेके कारण अक्ष आदि विकल्पको अनुमान प्रमाण नहीं मानोगे तो प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न तीसरा प्रमाण मानना अनिवार्य होगा। इस कारण यही बढिया उपाय है कि अपने स्वरूपको जाननेमें मिथ्याज्ञान प्रमाण है। और बहिरंग चांदी, जल, घूमना आदि विषयोंके जाननेमें तो अप्रमाण है। यह स्वीकार करलेना चाहिये और तिस प्रकार माननेपर तो मिथ्याज्ञानमें भी एकदेशसे प्रमाणपना सिद्ध हो जाता है। एक चन्द्रको दो समझना, शुक्लशंखको पीला शंख जानलेना, इन मिथ्याज्ञानोंमें तो कुछ विषय अंशमें भी थोडीसी प्रमाणता है। उसी मिथ्याज्ञानके समान समीचीनज्ञानको भी एक देशसे प्रमाणपना है। किन्तु मिथ्याज्ञानके प्रमाणपनसे सम्यग्ज्ञानमें प्रमाणपन अति अधिक है। जैसे कि

सम्यग्ज्ञानके ईषत् अप्रमाणपनसे मिथ्याज्ञानमें अप्रमाणपन बहुत अधिक है। इस प्रकार हमारा पूर्वोक्त मन्तव्य सब का सब निर्दोष है, एक ज्ञानमें प्रमाणपन और अप्रमाणपनकी सिद्धि हो जाती है।

कथमेकमेव ज्ञानं प्रमाणं वाप्रमाणं च विरोधादिति चेत् नो, असिद्धत्वाद्विरोधस्य। तथाहि।

किसीका तर्क है कि एक ही ज्ञान भला प्रमाण और अप्रमाण भी कैसे हो सकता है? क्योंकि इसमें विरोध दोष आता है। सज्जन भी कहीं दुर्जन हो सकता है क्या?। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो न कहना। क्योंकि प्रमाणपन और अप्रमाणपनका एक स्थानपर विरोध होना असिद्ध है। हम क्या करें, तिस प्रकार उनका अविरोध प्रसिद्ध हो ही रहा है।

सरसो विपरीतश्चेत् सरसत्वं न मुंचति। साक्षरा विपरीताः स्यू राक्षसा एव केवलं॥

पंचमकालके कोई बुद्धिमान् भारी मूर्खताका कार्य कर बैठते हैं। घास खोदनेवाला छोकरा किसनईकी अनेक बातोंको जानता है। किन्तु अनेक बडे राजनीतिज्ञ भी कोई गेंहू और जौके अंकुरका भेद ज्ञात नहीं कर पाते हैं। पंचमकालके कई धर्मात्मा अनेक रूपोंमें रंगे हुये पाये जाते हैं। कई डांकू और चोरोंने परस्त्रीका स्पर्शतक नहीं किया है। केवल माता या बहन कहकर उनके भूषण मात्र ले लिये हैं। बात यह है कि स्याद्वादसिद्धांतके अनुसार एकमें अनेक धर्म रह जाते हैं। केवल न्याय और सिद्धान्त विषयके उच्च कोटिका विद्वान् भी "भू" धातुके दश लकारोंमें शुद्धरूप नहीं ले पाता है। अच्छा वैयाकरण भी कोई साहित्यके विषयोंमें कोरा रह जाता है। प्रायः आजकल तो दोष और गुणोंका सामानाधिकरण्य अधिकतासे देखनेमें आता है।

न चैकत्र प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे विरोधिनी।
प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वे यथैकत्रापि संविदि॥ ४६॥

एक ज्ञानमें प्रमाणपना और अप्रमाणपना विरोध दोषवाले नहीं हैं। जैसे कि बौद्धोंके यहां एक ज्ञानमें भी प्रत्यक्षपन और परोक्षपना ठहर जाता है। अर्थात्—सम्वेदनमें स्वकी सम्वित्ति होना अंश प्रत्यक्ष है। और सौत्रांतिकोंके यहां वेद्याकारपना तथा योगाचारोंके यहां वेद्याकाररहितपना रूप अंश उस ज्ञानमें परोक्ष माना गया है। एक अवयवी पदार्थ तलवार एक ओरसे पैनी है। दूसरी ओरसे मोथरी है। पुरानी चालके दीपक या मसालके नीचे अंधेरा भी रहता है। विरोध तो अनुपलम्भसे साधा जाता है। किन्तु यहां दोनोंका एक स्थानपर उपलम्भ हो रहा है।

ययोरेकसद्भावेऽन्यतरानिवृत्तिस्तयोर्न विरोधो यथा प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वयोरेकस्यां संविदि। तथा च प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोरेकत्र ज्ञाने ततो न विरोधः।

जिन दोनोंमेंसे एकके विद्यमान होनेपर बचे हुये दूसरे एककी निवृत्ति नहीं हो पाती है, उनका विरोध नहीं माना जाता है। जैसे कि एक सम्वेदनमें प्रत्यक्षपन और परोक्षपनका विरोध नहीं है। तिस ही प्रकार प्रमाणपन और अप्रमाणपनका एक ज्ञानमें तिस हेतुसे विरोध नहीं है। यह व्याप्ति बनाकर अनुमान द्वारा प्रमाणत्व और अप्रमाणत्वका अविरोध सिद्ध कर दिया है।

स्वसंविन्मात्रतोध्यक्षा यथा बुद्धिस्तथा यदि ।
वेद्याकारविनिर्मुक्ता तदा सर्वस्य बुद्धता ॥ ४७ ॥
तया यथा परोक्षत्वं स्वसंवित्तेरतोपि चेत् ।
बुद्धादेरपि जायेत जाड्यं मानविवर्जितम् ॥ ४८ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

जिस प्रकार योगाचार बौद्धोंके यहां केवल स्वसंवेदनकी अपेक्षासे बुद्धि प्रत्यक्ष मानी गयी है, तिसी प्रकार वेद्य, वेदक आकारसे रहितपना भी यदि प्रत्यक्षरूप होता तो सब जीवोंको सुगतपना प्राप्त हो जाता । यानी सब सर्वज्ञ हो जाते । सबकी बुद्धियां सर्वाङ्गरूपसे सर्वज्ञ बुद्धिके समान एक रस प्रत्यक्ष हैं । जो किसी अंशमें भी परोक्ष ज्ञान नहीं करता हुआ शुद्धप्रत्यक्ष कर रहा है, वह सर्वज्ञ है । तथा उस वेद्याकार रहितपनेसे जैसे बुद्धिका परोक्षपना है, वैसा इस स्वसंवित्तिकी अपेक्षासे भी यदि परोक्षपना माना जायगा तो बुद्ध या अन्य मुक्त आत्मा आदिकोंको भी जडपना हो जावेगा, जो कि प्रमाणसे रहित अभिमत है । सर्वाङ्गरूपसे ज्ञानमें परोक्षपना कहना जडपन कहनेके समान है । यानी जिसको स्वका भी प्रत्यक्ष नहीं है, वह जड है ।

न हि सर्वस्य बुद्धता बुद्धादेरपि च जाड्यं सर्वथेत्यत्र प्रमाणमपरस्यास्ति यतः संविदाकारेणेव वेद्याकारविवेकेनापि संवेदनस्य प्रत्यक्षता युज्येत तद्वदेव वा संविदाकारेण परोक्षता तदयोगे च कथं दृष्टान्तः साध्यसाधनविकलः हेतुर्वा न सिद्धः स्यात् ।

सब जीवोंको बुद्धपना हो जाय और बुद्ध, खड्गी, आदिको भी जडपना सभी प्रकार प्राप्त हो जाय, इस विषयमें दूसरे बौद्ध आदि वादियोंके यहां कोई प्रमाण नहीं है, जिससे कि सम्वित्ति आकार करके जैसे सम्वेदनको प्रत्यक्षपना है । वैसा ही सम्वेद्य आकारके पृथक् भावपनेसे भी सम्वेदनको प्रत्यक्षपना युक्त होवे तथा वेद्य आकारके विवेक करके जैसे परोक्षपना है, उसी प्रकार ज्ञानमें सम्वित्ति आकार करके भी परोक्षपना हो जाय । जब यह व्यवस्था नहीं युक्त हुई तो हमारा दिया हुआ एक सम्वेदनमें प्रत्यक्ष परोक्षपनेका दृष्टान्त भला साध्य और साधनसे रहित कैसे हो सकता है ? और हेतु भी सिद्ध क्यों नहीं होगा ? अर्थात् एक सम्वेदनरूप दृष्टान्तमें एकके होनेपर दोमेंसे किसी एककी निवृत्ति न होनारूप हेतु और अविरोधरूप साध्य ठहर जाते हैं, और पक्षमें हेतु भी रह जाता है । अतः एक ज्ञानमें प्रमाणपना और अप्रमाणपनेको सिद्ध कर देता है । बौद्धोंने ज्ञानमें वेद्याकारका विवेक माना है । विचिर् पृथग्भावे और विच्छ विचारणे धातुसे विवेक शब्दको बनाकर योगाचार और सौत्रान्तिकोंके यहां ज्ञानमें विवेकपना बन जाता है ।

यैव बुद्धेः स्वयं वित्तिर्वेद्याकारविमुक्तता ।
सैवेत्यध्यक्षतैवेष्टा तस्यां किन्न परोक्षता ॥ ४९ ॥

बौद्ध कहते हैं, कि जो ही ज्ञानकी स्वयं सम्वित्ति होना है, वही तो वेद्याकारसे रहितपना है। जैसे कि रीते भूतलका दीखना ही घट, पट आदिकोंका अनुपलम्भ है। अतः वेद्याकारसे रहितपना भी प्रत्यक्ष ही इष्ट किया गया है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कटाक्ष कर सकते हैं कि उस वेद्य आकाररहितपनेके परोक्ष होनेपर स्वसम्वेदनको भी स्वांशमें परोक्षपना क्यों नहीं हो जावे, साझेके प्रकरणमें किसीके भी धर्म चाहे जिसके कहे जा सकते हैं। एक ओर ही पक्षपात करना अन्याय है।

बुद्धेः स्वसंवित्तिरेव वेद्याकारविमुक्तता तस्याः प्रत्यक्षतायां वेद्याकारविमुक्ततापि प्रत्यक्षतैव यदीष्यते तदा तस्याः परोक्षतायां स्वसंवित्तेरपि परोक्षता किं नेष्टा ? स्वसंवित्तिवेद्याकारविमुक्ततयोस्तादात्म्याविशेषात्।

बुद्धिकी स्वसम्वित्ति होना ही यदि वेद्याकारोंसे रहितपना है, अतः उस बुद्धिको प्रत्यक्षपना होनेपर वेद्याकार रहितपना भी प्रत्यक्ष ही है। परोक्ष नहीं है, यदि सौत्रान्तिक इस प्रकार इष्ट करेंगे तब तो उस वेद्याकार रहितपनेको परोक्षपना होनेपर स्वसम्वित्ति अंशको भी परोक्षपना क्यों नहीं इष्ट कर लिया जावे। क्योंकि ज्ञानकी स्वसम्वित्ति और ज्ञानके वेद्याकार रहितपनका तादात्म्यसम्बन्ध विशेषताओंसे रहित हो रहा है। जिनका तादात्म्य सम्बन्ध होता है, उनमेंसे एकके धर्म दूसरेमें सुलभतासे उतर आते हैं।

ननु च केवलभूतलोपलब्धिरेव घटानुपलब्धिरिति घटानुपलब्धितादात्म्येपि न केवलभूतलोपलब्धेरनुपलब्धिरूपतास्ति तद्वेद्याकारविमुक्त्यनुपलब्धितादात्म्येपि न स्वरूपोपलब्धेरनुपलब्धिस्वभावता व्यापकस्य व्याप्याव्यभिचारात् व्याप्यस्यैव व्यापकव्यभिचारसिद्धेः पादपत्वशिंशिपात्ववत्। स्वरूपोपलब्धिमात्रं हि व्याप्यं व्यापिका च वेद्याकारविमुक्त्यनुपलब्धिरिति चेत् नैतदेवं तयोः समव्याप्तिकत्वेन परस्पराव्यभिचारसिद्धेः कृतकत्वानित्यवत्। न हि वेद्याकारविवेकानुपलब्धावपि कचित्संवेदने कदाचित्स्वरूपोपलब्धिर्नास्ति ततः प्रत्यक्षात् स्वसंवेदनादभिन्नो ग्राह्याकारविवेकः प्रत्यक्षो न पुनः परोक्षाद्ग्राह्याकारविवेकादभिन्नं स्वसंवेदनं बुद्धेः परोक्षमित्याचक्षाणो न परीक्षाक्षमः।

यहां बौद्ध अनुनय (खुशामद) करते हैं कि केवल रीते भूतलका दीख जाना ही तो घटकी अनुपलब्धि है, इस प्रकार भूतलकी उपलब्धि और घटकी अनुपलब्धिका तादात्म्य होनेपर भी केवल भूतलकी उपलब्धिको अनुपलब्धि स्वरूपपना नहीं है। उसीके समान वेद्याकारकी विमुक्ति रूप अनुपलब्धिके साथ ज्ञानकी स्वरूपसंवित्तिका तादात्म्य सम्बन्ध होनेपर भी बुद्धिकी स्वसम्वित्तिको विमुक्तिरूप अनुपलब्धिका परोक्षतारूप स्वभावपना नहीं आसकता है। क्योंकि व्यापकका व्याप्यके साथ व्यभिचार नहीं होता है। वृक्षपना व्यापक और शीशमपना व्याप्यके समान व्याप्यका ही व्यापकके साथ व्यभिचार होना सिद्ध है। अर्थात्— व्याप्यसे अधिक स्थानपर व्यापक रह जाता है।

प्रकरणमें ज्ञानके केवल स्वरूपकी उपलब्धि होना व्याप्य है और वेद्याकाररहितपना रूप अनुपलब्धि व्यापिका है। अतः स्वसम्वित्तिके प्रत्यक्ष होनेपर तो वेद्याकार विमुक्तताका प्रत्यक्षपना हम कह सकते हैं, किन्तु वेद्याकाररहितपनेके परोक्ष होनेपर स्वसम्वित्तिका परोक्षपना नहीं आपादन किया जा सकता है। व्याप्य होगा वहां व्यापक अवश्य होगा, किन्तु व्यापकके होनेपर व्याप्यका होना आवश्यक नहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार तो बौद्धोंको यह अनुनय नहीं करना चाहिये। क्योंकि स्वसम्वित्ति और वेद्याकारविमुक्तताकी समव्याप्ति है। जैसे कि कृतकत्व और अनित्यत्वकी अथवा रूप और रसकी समव्याप्ति है। धूम वह्नि या शिंशपात्व वृक्षत्वके समान विषम व्याप्ति नहीं है। अतः परस्परमें अव्यभिचार होना सिद्ध है। वेद्याकारविमुक्तिरूप अनुपलब्धिके होनेपर भी किसी एक सम्वेदनमें कभी अपने स्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती है। यह नहीं कहना। अर्थात्—वेद्याकार विमुक्तताको व्यापक और स्वरूप उपलब्धिको व्याप्य नहीं कहो। ये दोनों ही परस्परमें एक दूसरेके साथ अविनाभावी हैं। तिस कारण प्रत्यक्षरूप स्वसम्वेदनसे अभिन्न हो रहा ग्राह्य कारका पृथग्भाव तो प्रत्यक्ष हो जाय किन्तु फिर परोक्षस्वरूप ग्राह्याकार विवेकसे अभिन्न हो रहा बुद्धिका स्वसम्वेदन भला परोक्ष न बने, इस प्रकार पक्षपातकी बातको कहनेवाला बौद्ध परीक्षाको नहीं झेल सकता है। यानी परीक्षाके अवसरपर ऐसी मनमानी एक ओरकी बातें नहीं चल सकती हैं।

प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वयोर्भिन्नाश्रयत्वान्न तादात्म्यमिति चेन्न एकज्ञानाश्रयत्वात्तदसिद्धेः। संविन्मात्रविषया प्रत्यक्षता वेद्याकारविवेकविषया परोक्षतेति तयोर्भिन्नविषयत्वे कथं स्वसंवित्प्रत्यक्षतैव वेद्याकारविवेकपरोक्षता।

बौद्ध यदि यों कहें कि प्रत्यक्षपना और परोक्षपना भिन्न भिन्न आश्रयोंमें रहता है। इस कारण उनका तदात्मकपना नहीं है। आचार्य कहते हैं सो यह तो न कहना। क्योंकि उन दोनोंका आश्रय एक ज्ञान है। अतः वह भिन्न आश्रयपना असिद्ध है। अन्यथा अपसिद्धान्त हो जायगा। यदि बौद्ध यों कहें कि केवल सम्वेदनमें प्रत्यक्षपना है। और वेद्याकारके पृथग्पनेमें परोक्षपना है। इस प्रकार उन प्रत्यक्षपन और परोक्षपनका विषय भिन्न है। "विषयत्वं सप्तम्यर्थः" सप्तमी विभक्तिके अर्थ अधिकरणका एक भेद विषय भी है। "घटे ज्ञानं" घटमें ज्ञान है। यानी घटविषयकज्ञान है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि स्वसम्वित्तिका प्रत्यक्षपना ही आप बौद्धोंने वेद्याकारविमुक्तताका परोक्षपना पहिले क्यों कहा था? बताओ। अर्थात्—भिन्न भिन्न विषय होनेपर तो स्वसम्वित्तिका प्रत्यक्षपना और वेद्याकारका परोक्षपना न्यारा न्यारा होना चाहिये था।

स्वसंवेदनस्यैव वेद्याकारविवेकरूपत्वादिति चेत्, कथमेवं प्रत्यक्षपरोक्षत्वयोर्भिन्नाश्रयत्वं। धर्मिधर्मविभेदविषत्वकल्पनादिति चेत् तर्हि न परमार्थतस्तयोर्भिन्नाश्रयत्वमिति संविन्मात्रप्रत्यक्षत्वे वेद्याकारविवेकस्य प्रत्यक्षत्वमायातं तथा तस्य परोक्षत्वे संविन्मात्रस्य परोक्षतापि किं न स्यात्। तत्र निश्चयोत्पत्तेः प्रत्यक्षतेति चेत्, वेद्याकारविवेकनिश्चयानुप-

पत्तेः परोक्षतैवास्तु । तथा चैकत्र संविदि सिद्धे प्रत्यक्षेतरते प्रमाणेतरयोः प्रसारिके स्त इति न विरोधः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यदि स्वसंवेदनको ही वेद्याकार विवेकस्वरूप होनेके कारण उन दोनोंको एक कह दिया है, इसपर तो हमें कहना है कि इस प्रकार फिर प्रत्यक्षपन और परोक्षपनको भिन्न आश्रयमें वृत्तिपना भला कैसे सिद्ध हुआ ? बताओ । धर्मी और धर्मके न्यारे न्यारे भेदको विषय करनेपनकी कल्पनासे भिन्न आश्रयपना यदि कहोगे तो वास्तविक रूपसे उन ज्ञानरूप धर्मीके प्रत्यक्षपन और वेद्याकाररहिततारूप धर्मके परोक्षपनका आश्रय भिन्न भिन्न नहीं हुआ । इस प्रकार केवल सम्वेदनको प्रत्यक्षपना माननेपर उसके धर्म वेद्याकार पृथग्भावका भी प्रत्यक्षपना प्राप्त हो जाता है । तिसी प्रकार उस वेद्याकार विवेकको परोक्षपना प्राप्त होनेपर अद्वैत सम्वेदनको भी परोक्षपना भला क्यों नहीं प्राप्त हो जावेगा ? साझेके धर्म चाहे जिसके बांटमें आ सकते हैं । यदि उस सम्वेदनमें पीछे विकल्पज्ञान द्वारा निश्चय उत्पन्न हो जाता है, अतः प्रत्यक्षपना है, इस प्रकार कहोगे तो वेद्याकार विवेकका निश्चय होना नहीं बनता है । इस कारण परोक्षपना भी हो जावो और इस प्रकार होनेपर एक ज्ञानमें प्रत्यक्षपना और परोक्षपना सिद्ध होते हुये छयालीसवीं वार्त्तिकके अनुसार दृष्टान्त बनकर एक मतिज्ञान या श्रुतज्ञानमें भी प्रमाणपन और अप्रमाणपनको फैलानेवाले हो जाते हैं । इस प्रकार एक ज्ञानमें प्रमाणत्व और अप्रमाणत्वका कोई विरोध नहीं । एक दृष्टान्तसे असंख्य दार्ष्टान्तोंमें साध्यकी सिद्धि हो जाती है ।

सर्वेषामपि विज्ञानं स्ववेद्यात्मनि वेदकम् ।
नान्यवेद्यात्मनीति स्याद्विरुद्धाकारमंजसा ॥ ५० ॥

सम्पूर्ण भी वादियोंके यहां कोई भी विज्ञान अपने और अपने द्वारा जानने योग्य विषय स्वरूपमें ज्ञान करनेवाला माना गया है । अन्य दूसरे वेद्यस्वरूपमें जाननेवाला प्रकृत विज्ञान नहीं है । इस प्रकार वेदकपना और अवेदकपना होनेसे ज्ञानके विरुद्ध आकारोंको शीघ्र जान लेते हैं । अर्थात्—अद्वैतवादियोंका शुद्ध स्वसम्वेदन स्वको ही जानता है । अन्योंको नहीं जान पाता है । तथा द्वैतवादियोंके यहां माना गया घटविज्ञान अपनेको और वेद्य विषयको जानता है । अन्य पट आदिको नहीं जान पाता है । सर्वज्ञका ज्ञान भी सत् पदार्थोंको जानता है । खरविषाण, वन्ध्या पुत्र आदि असत् पदार्थों या अनुमेयत्व, आगमगम्यत्व, आदि कल्पितधर्मोंको नहीं जानता है । यही तो वेदकत्व और अवेदकत्व दो विरुद्ध (वस्तुतः विरुद्ध नहीं) धर्म एक ज्ञानमें ठहर जाते हैं ।

सर्वप्रवादिनां ज्ञानं स्वविषयस्य स्वरूपमात्रस्योभयस्य वा परिच्छेदकं तदेव नान्यविषयस्येति सिद्धं विरुद्धाकारमन्यथा सर्ववेदनस्य निर्विषयत्वं सर्वविषयत्वं वा दुर्निवारं स्वविषयस्याप्यन्यविषयवदपरिच्छेदात् स्वविषयवद्वान्यविषयावसायात् । स्वान्यविषय-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

परिच्छेदनापरिच्छेदनस्वभावयोरन्यतरस्यापरमार्थतायामपीदमेव दूषणमुन्नेयमिति । परमार्थतस्तदुभयस्वभावविरुद्धमेकत्र प्रमाणेतरत्वयोरविरोधं साधयति । किं च ।

अद्वैतवादी ज्ञान द्वारा अकेले ज्ञानका ही ज्ञान होना इष्ट करते हैं । अन्य विषयोंका नहीं और नैयायिक ज्ञानसे न्यारे प्रकृत विषयोंका ही जानना मानते हैं । स्वका और अन्य अप्रकृत विषयोंका नहीं । तथा जैन ज्ञानद्वारा स्व और ज्ञेय अर्थकी ज्ञप्ति होना अभीष्ट करते हैं । अज्ञेय विषयोंको नहीं । बात यह है कि सम्पूर्ण प्रवादियोंके यहां माना गया जो ही ज्ञान अपने विषय या केवल अपने स्वरूप अथवा दोनोंका जाननेवाला है, वही ज्ञान अन्य विषयोंका ज्ञायक नहीं है । इस प्रकार एक ज्ञानमें ज्ञायकत्व और अज्ञायकत्व ये विरुद्ध आकार ठहर जाते हैं । अन्यथा यानी जैसे ज्ञान अन्य विषयोंका वेदक नहीं है, उसी प्रकार स्व या विषय अथवा उभयका भी वेदक न होता तो सभी ज्ञान निर्विषय हो जाते । कोई भी ज्ञान किसी भी विषयको नहीं जान सकता है । क्योंकि अन्य विषयोंके समान अपने विषयकी भी ज्ञप्ति नहीं होगी तथा स्व और वेद्यको जाननेके समान यदि अन्य उदासीन अज्ञेय विषयोंका वेदक ज्ञान होजाता तो सभी ज्ञानोंको सर्व पदार्थोंका विषय करलेनापन दुर्निवार हो जाता । क्योंकि अपने विषयके समान अन्य सर्व विषयोंका भी निर्णय हो जावेगा । प्रत्येक ज्ञानको सर्वज्ञता बन बैठेगी । कोई निवारण नहीं कर सकता है । यदि स्व और अन्य विषयका परिच्छेद करना और स्व या अन्य अथवा उभय विषयोंका परिच्छेद नहीं करना, इन दोनों स्वभावोंमेंसे किसी एकको ही वास्तविक स्वभाव माना जायगा और शेषको वस्तुभूत धर्म न माना जायगा तो भी ये ही दूषण न्यारे न्यारे लागू हो जायेंगे, इस बातको उपरिष्टात् समझलेना चाहिये । इस प्रकार परमार्थरूपसे वे वेदकत्व और अवेदकत्व दोनों विरुद्ध सरीखे होकर एक ज्ञानमें पाये जा रहे, स्वभाव (कर्त्ता) एक ज्ञानमें प्रमाणपन और अप्रमाणपनके अविरोधकी सिद्धिको करा देते हैं । तथा दूसरी बात यह भी है, सो सुनिये ।

स्वव्यापारसमासक्तोन्यव्यापारनिरुत्सुकः ।
सर्वो भावः स्वयं वक्ति स्याद्वादन्यायनिष्ठताम् ॥ ५१ ॥

जब कि सम्पूर्णपदार्थ अपने अपने योग्य व्यापार करनेमें भले प्रकार चारों ओरसे लवलीन हो रहे हैं, और अन्य पदार्थके करने योग्य व्यापारमें उत्सुक नहीं हैं, ऐसी दशामें वे सभी भाव स्याद्वादनीतिके अनुसार प्रतिष्ठित रहनेपनको स्वयं कह रहे हैं, तो हम व्यर्थ परिश्रम या चिन्ता क्यें करें । अर्थात्–अपनी अर्थक्रियाको करना और अन्यकी अर्थक्रियाको न करना, ये विरुद्ध सरीखे दीखते हुए आकार सम्पूर्ण पदार्थोंमें ठहर रहे हैं । यही स्याद्वादकी सर्वत्र छाप है ।

सर्वोग्निसुखादिभावः स्वामर्थक्रियां कुर्वन् तदैवान्यामकुर्वन्ननेकांतं वक्तीति किं नश्चिंतया । स एव च प्रमाणेतरभावाविरोधमेकत्र व्यवस्थापयिष्यतीति मुक्तं " यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता " इति ।

अग्नि पदार्थ अपने दाहकत्व, पाक, शोषण, आदि कार्योंको कर रहा है। किन्तु जलके द्वारा साधने योग्य सींचना, स्नान, पान, अवगाहन, आदि करानेरूप कार्योंको अग्नि नहीं कर रही है। इसी प्रकार सुख, गुण अपने आल्हादकत्व, रोमांच कराना, निश्चिन्त करना, शरीरको मोटा करना आदि कार्योंको करता है। दुःखसे साध्य चिन्ता, दुर्बलता, रक्तशोषण आदि कार्योंको सुख नहीं साधपाता है। इसी प्रकार अग्नि, जल, घट आदि बहिरंग पदार्थ और सुख, ज्ञान, आत्मा, आदि अन्तरंग पदार्थ सभी अपनी अपनी अर्थक्रियाओंको जिस समय कर रहे हैं, उस ही समय अन्य अर्थक्रियाओंको नहीं कर रहे हैं। इस अपनी अर्थक्रियाका करना और अन्यकी अर्थक्रियाका नहीं करना इस प्रकार अनेकान्तको सभी पदार्थ जब कह रहे हैं, तो फिर हमको व्यर्थ चिन्ता करनेसे क्या करना है? वह अर्थक्रियाका करनापन और न करनापन ही प्रमाणपन और अप्रमाणपनके अविरोधकी एक ज्ञानमें व्यवस्था करा देवेगा। इस प्रकार उन्तालीसवीं वार्तिकके भाष्यमें यह बहुत अच्छा कहा था कि जिस प्रकार जिस ज्ञानमें जितना अविसम्वाद है। उस प्रकार उस ज्ञानमें उतना प्रमाणपना है। और शेष अंशमें अप्रमाणपना है।

चन्द्रे चन्द्रत्वविज्ञानमन्यत्संख्याप्रवेदनम्।
प्रत्यासन्नत्वविज्ञान्यत्वेकाद्याकारवित्न चेत् ॥ ५२ ॥
हतं मेचकविज्ञानं तथा सर्वज्ञता कुतः।
प्रसिध्येदीश्वरस्येति नानाकारैकवित्स्थितिः ॥ ५३ ॥

यहां यदि कोई यों कहे कि आंखके पलकमें थोडीसी अङ्गुली गढाकर देखनेसे एक चन्द्रमामें हुये दो चन्द्रमाके एक ही ज्ञानको हम प्रमाणपना और अप्रमाणपना नहीं मानते हैं। किन्तु चन्द्रमामें चन्द्रपनेका ज्ञान न्यारा है, जो कि प्रमाण है। और उसकी संख्याको जाननेवाला ज्ञान भिन्न है, जो कि अप्रमाण है। तथा चन्द्रमाके निकटवर्त्तीपनका वेदन अन्य है। एक दो आदि आकारोंको जाननेवाली परिच्छित्ति पृथक् है। अतः एक एक आकारवाले ज्ञान न्यारे न्यारे हैं। एक ज्ञानमें अनेक आकार नहीं हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि यों माननेपर आप बौद्धोंका माना हुआ चित्रज्ञान नष्ट हुआ जाता है। एक ज्ञानमें अनेक नील, पीत आकारोंका प्रतिभासजाना ही तो चित्रज्ञान है। नैयायिकोंका समूहालम्बनज्ञान भी मर जायगा। अतः "प्रत्यर्थं ज्ञानाभिनिवेशः" प्रत्येक अर्थका एक एक न्यारा ज्ञान हो रहा है। अनेकोंको जाननेवाले अनेक ज्ञान हैं, यह आग्रह करना अच्छा नहीं है। तथा न्यारे न्यारे आकारवाले भिन्न भिन्न ज्ञानोंको माननेवाले वादीके यहां भला सर्वज्ञपना ईश्वरके कैसे प्रसिद्ध होगा? एक ज्ञानसे अनेक पदार्थोंका युगपत् प्रत्यक्ष कर लेना ही सर्वज्ञता है। इस प्रकार अनेक आकारवाले एक ज्ञानकी सिद्धि हो जाती है।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एक एवेश्वरज्ञानस्याकारः सर्ववेदकः ।
तादृशो यदि संभाव्यः किं ब्रह्मैवं न ते मतम् ॥ ५४ ॥
तच्चेतनेतराकारकरंबितवपुः स्वयम् ।
भावैकमेव सर्वस्य संवित्तिभवनं परम् ॥ ५५ ॥
यद्येकस्य विरुध्येत नानाकारावभासिता ।
तदा नानार्थबोधोपि नैकाकारोवतिष्ठते ॥ ५६ ॥

यदि वादी यों कहे कि सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेवाले ईश्वरज्ञानका तिस प्रकार सबको जाननेवाला लम्बा चौडा एक ही आकार संभवता है । परस्परमें एक दूसरेसे विशिष्ट हो रहे अनेक पदार्थ एक हैं । उस एकका एक समुदित आकार एक ज्ञानमें पड जाता है । आचार्य कहते हैं कि ऐसी सम्भावना की जायगी तब तो इस प्रकार एक परम ब्रह्मतत्त्व ही तुम्हारे यहां क्यों नहीं मान लिया जाय । सब टंटा मिट जायगा । ज्ञान और ज्ञेय सब एक हो जाओ, वह परमब्रह्म स्वयं सभी चेतन अचेतन आकारोंके सहारे अपने शरीरको धारता हुआ एक भावरूप है । वही सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्कृष्ट सम्वित्ति होना है । यदि नैयायिक यों कहें कि एक अद्वैत ब्रह्मको नाना आकारोंका प्रकाशकपना विरुद्ध पडेगा तब तो हम जैन कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञके अनेक अर्थोंका ज्ञान भी एक आकारवाला नहीं अवस्थित हो सकता है । यह तो एक ज्ञानमें अनेक आकार माननेपर ही व्यवस्था बनेगी । " पोतकाक " न्यायसे अनेकान्त ही तुमको शरण्य है ।

नाना ज्ञानानि नेशस्य कल्पनीयानि धीमता ।
क्रमात्सर्वज्ञताहानेरन्यथाऽननुसंधितः ॥ ५७ ॥
तस्मादेकमनेकात्मविरुद्धमपि तत्त्वतः ।
सिद्धं विज्ञानमन्यच्च वस्तुसामर्थ्यतः स्वयम् ॥ ५८ ॥

विचारशील बुद्धिवाले पुरुष करके ईश्वरके अनेक ज्ञान तो नहीं कल्पित करना चाहिये । क्योंकि यों तो एक एक ज्ञान द्वारा एक एक पदार्थको क्रमसे जाननेपर सर्वज्ञपनकी हानि हो जावेगी अनन्त कालतक भी ईश्वर सर्वको नहीं जानसकता है । जगत् अनन्तानन्त है, अन्यथा नानी दूसरे ढंगसे सर्वज्ञता माननेपर पहिले पीछेके ज्ञानों द्वारा जान लिये गये पदार्थोंका अनुसन्धान नहीं हो सकता है । भला ऐसी दशामें सर्वज्ञपना कहां रहा ? तिस कारण एक भी विज्ञान अनेक अत्मक विरुद्ध सदृश होता हुआ भी वास्तविक रूपसे सिद्ध हो जाता है । तथा अन्य भी अग्नि, सुख,आदिक पदार्थ वस्तुपरिणतिकी सामर्थ्यसे स्वयं अनेक धर्मात्मक सिद्ध हैं । अनेकान्त आत्मकपना केवलान्वयी है।

नन्वेकमनेकात्मकं तत्त्वतः सिद्धं चेत् कथं विरुद्धमिति स्याद्वादविद्विषामुपालंभः कचित्तद्विरुद्धमुपलभ्य सर्वत्र विरोधमुद्भावयतां न पुनरबाध्यप्रतीत्यनुसारिणाम् ।

कोई शंका करता है कि जब एक पदार्थ वास्तविकरूपसे अनेक धर्म आत्मक सिद्ध हो रहा है तो एकपन और अनेकपना विरुद्ध कैसे कहा जाता है ? इस प्रकार स्याद्वादसे विशेष द्वेष करनेवालोंका उलाहना उन हीके ऊपर लागू होगा, जो कि किसी एक स्थानपर उन एकपन और अनेकपनको विरुद्ध देखकर सभी स्थानोंपर विरोध दोषको उठा देते हैं । किन्तु निर्बाध प्रतीतिके अनुसार वस्तुको जाननेवाले स्याद्वादियोंके ऊपर कोई उलाहना नहीं आता है । एक चन्द्रमामें अनेकपना बाधित है । किन्तु एक चन्द्रमाकी किरणोंमें अनेकपना प्रतीतसिद्ध है । अतः अनेक आकारोंवाले एक ईश्वर ज्ञानके समान मेचक ज्ञानको दृष्टान्त बनाकर एक ज्ञानमें प्रमाणपन और अप्रमाणपन किसी अपेक्षासे साध लिये जाते हैं । प्रतीत हो रहे पदार्थोंमें विरोध नहीं मानना चाहिये । जैसे कि नित्यत्व, अनित्यत्व, अस्तित्व नास्तित्व धर्म एक धर्मीमें अविरुद्ध होकर बैठे रहते हैं । एकान्तवादियोंकी मान्यता अनुसार विरोध शद्व कह दिया था, वस्तुतः उनका अविरोध है ।

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमित्युपवर्ण्यते ।
कैश्चित्तत्राविसंवादो यद्याकांक्षानिवर्तनम् ॥ ५९ ॥
तदा स्वप्नादिविज्ञानं प्रमाणमनुषज्यते ।
ततः कस्यविदर्थेषु परितोषस्य भावतः ॥ ६० ॥

अब ग्रन्थकार प्रमाणके सामान्य लक्षणोंपर विचार चलाते हैं । उनमें प्रथम " अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणं " जो ज्ञान विसम्वादोंसे रहित है, वह प्रमाण है । इस प्रकार किन्हीं बौद्धवादियों करके कहा जाता है । तिसपर हम बौद्धोंसे पूंछते हैं कि अविसम्वादका अर्थ क्या है ? यदि ज्ञात हो गये पदार्थमें आकांक्षाका निवृत्त हो जाना अविसंम्वाद है ? तब तो स्वप्न, मूर्च्छित, भ्रान्ति आदि अवस्थाओंमें हुये विज्ञानोंको भी प्रमाणपनेका प्रसंग आ जाता है । क्योंकि उन स्वप्नमें अथवा इन्द्रजालियाके निमित्तसे हुये ज्ञानों द्वारा जाने गये पदार्थोंमें भी किसी विनोदी जीवको परितोषका सद्भाव देखा जाता है । भांग पीनेवाले चतुर्वेदी (चौबे) को विजया पान करनेपर विसम्वादी ज्ञानों द्वारा आकांक्षाओंकी निवृत्ति हो जाती हैं । क्रीडा करनेवाले बालकोंको आरोपित (नकली) पदार्थोंमें मुख्य (असली) पदार्थोंके भ्रान्तज्ञानसे विशिष्ट परितोष प्राप्त हो जाता है । अतः बौद्धोंसे माना गया प्रमाणका लक्षण अतिव्याप्ति दोषसे ग्रस्त है ।

न हि स्वप्नौ वेदनेनार्थे परिच्छिद्य प्रवर्तमानोर्थक्रियायामाकांक्षातो न निवर्तते प्रत्यक्षतोनुमानतो वा दहनाद्यवभासस्य दाहाद्यर्थक्रियोपजननसमर्थस्याकांक्षितदहनाद्यर्थप्रापण-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

योग्यतास्वभावस्य जाग्रद्दशायामिवानुभवात् । तादृशस्यैवाकांक्षानिवर्तनस्य प्रमाणे प्रेक्षावद्भिरर्थ्यमानत्वात् । ततोतिव्यापि प्रमाणसामान्यलक्षणमिति आयातम् ।

स्वप्न अवस्थामें उत्पन्न हुये ज्ञान करके पदार्थकी ज्ञप्ति कर प्रवर्त रहा मनुष्य अर्थक्रियाको करनेमें आकांक्षाओंसे निवृत्त नहीं होता है, यह नहीं समझना । अर्थात्—स्वप्नज्ञान करते समय इष्ट पदार्थकी ज्ञप्ति होनेपर आकांक्षाएं निवृत्त हो जाती हैं । प्रेमप्रद या भयप्रद पदार्थके देखनेपर स्वप्नमें वैसी शारीरिक परिणतियें होती हैं । आठ महानिमित्त ज्ञानोंमें स्वप्न भी गिनाया है । अनेक पुरुष स्वप्नोंके द्वारा अतीन्द्रिय विषयोंको जानकर लाभ उठा लेते हैं । तथा सामान्य स्वप्नोंसे भी कैई प्रकारकी आकांक्षाएं निवृत्त हो जाती हैं । ब्रह्माद्वैतवादीके यहां तो स्वप्नज्ञान और जाग्रत् दशाके ज्ञानोंमें कोई अन्तर नहीं माना गया है । प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणसे जगती हुई दशामें जैसे दाह, पाक, सिंचन, पिपासानिवृत्ति, आदि अर्थक्रियाओंको पैदा करनेमें समर्थ और आकांक्षा किये गये अग्नि आदि अर्थोंको प्राप्त करानेकी योग्यता स्वभाववाले अग्नि, जल आदि अर्थोंका प्रतिभास होता है, वैसा ही स्वप्नमें भी अग्नि, जल आदिका प्रतिभास हो जाता है । और उस ही प्रकारकी आकांक्षानिवृत्तिकी हिताहित विचारनेवाले पुरुषों-करके प्रमाणमें अभिलाषा की जाती है । भावार्थ—अर्थक्रियाके साधक पदार्थका प्रदर्शन करा देना ही प्रमाणकी अर्थप्रापकता है । सूर्य, मोदक, आदि विषयोंको हाथमें या मुखमें थम्मादेना प्रमाणका अर्थप्राप्ति कराना नहीं है । उदार पुरुष आज्ञा दे देते हैं । रोकडिया रुपयोंको देता फिरता है । आकांक्षा, पुरुषार्थ, प्रवृत्ति, शक्यता आदि कारण पदार्थोंको प्राप्त करा देते हैं । जागती अवस्थामें पदार्थोंको देखकर जिस प्रकारकी आकांक्षा निवृत्ति हो जाती है, वैसी ही स्वप्नमें भी पदार्थोंका ज्ञान कर आकांक्षानिवृत्ति हो जाती है । विचारशील पुरुष प्रमाणज्ञानोंसे भी यही अभिलाषा रखते हैं । तिस कारण बौद्धोंसे माना गया आकांक्षा निवृत्तिरूप अविसम्वाद यह प्रमाणका सामान्य लक्षण अतिव्याप्ति दोषवाला है । बौद्धोंको यह बडा भारी दोष प्राप्त हुआ ।

अर्थक्रिया स्थितिः प्रोक्ताऽविमुक्तिः सा न तत्र चेत् ।
शाद्धादाविव तद्भावोस्त्वभिप्रायनिवेदनात् ॥ ६१ ॥

बौद्ध कहते हैं कि सम्वादका अर्थ वास्तविक अर्थक्रियाकी स्थिति होना बढिया कहा गया है । और वह अर्थक्रियाका ठहरना किसी प्रकार भी अर्थक्रियाकी विमुक्ति नहीं होना है । ऐसी अर्थक्रियाकी स्थिति उन स्वप्न, मत्त आदि अवस्थाओंके ज्ञानोंमें नहीं है । अतः हमारे लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष नहीं है । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि मनोहर वादित्र या संगीत आदिके शद्वजन्य ज्ञानोंमें या चित्र आदिके रूपज्ञानोंमें जैसी थोडी देर ठहरनेवाली अर्थक्रिया है, वैसी स्वप्न आदिकमें भी हो जाओ । वहां भी ज्ञाताको इष्ट अर्थके अभिप्रायका निवेदन करनेसे साध्यकी विमुक्ति न होना विद्यमान है ।

नाकांक्षानिवर्तनमविसंवादनं। किं तर्हि ? अर्थक्रिया स्थितिः। सा चाविमुक्तिर विचलनमर्थक्रियायां। न च तत्स्वप्नादौ दहनाद्यवभासस्यास्तीति केचित्। तेषां गीतादि-शब्दज्ञानं चित्रादिरूपज्ञानं वा कथं प्रमाणं। तथाऽविमुक्तेरभावात्। तदनंतरं कस्यचित्साध्यस्य फलस्यानुभवनात् तत्रापि प्रतिपत्तुरभिप्रायनिवेदनात् साध्याविमुक्तिरिति चेत्, तर्हि निराकांक्षतैव स्वार्थक्रियास्थितिः स्वप्नादौ कथं न स्यात्।

आकाक्षाओंकी निवृत्ति होना सम्वाद नहीं है। तो क्या है ? इस प्रश्नके उत्तरमें हम बौद्ध कहते हैं कि अर्थक्रियाका स्थित रहना सम्वाद है। वह अर्थक्रियाका स्थित रहना तो विमुक्त नहीं होना है। यानी अर्थक्रिया करनेमें विचलित नहीं होना। वह अविचलन तो स्वप्न आदिमें हुये अग्नि आदिके ज्ञानोंके नहीं है। अर्थात्—स्वप्नमें देखी गयी अग्निसे शीतबाधाकी निवृत्ति नहीं होती है। जाडा लगनेपर स्वप्नमें अग्नि दीखजाती है। विशेष प्यास लगनेपर स्वप्नमें पानी ही पानी दीखता है। दरिद्रको स्वप्नमें रुपयोंका ढेर मिलगया प्रतीत हो जाता है। किन्तु उन अग्नि, जल आदिकोंसे शीतबाधानिवृत्ति, पिपासानिवृत्ति आदि क्रियायें नहीं हो पाती हैं। अतः सम्वादका लक्षण अर्थ क्रियास्थिति करनेपर हमारे प्रमाणका लक्षण अतिव्याप्त नहीं होगा। इस प्रकार कोई सौत्रान्तिक बौद्ध कह रहे हैं। उनके यहां संगीत आदि शद्वोंका ज्ञान अथवा चित्र (तसवीर) बिजुली, जलतरंगे आदिका रूपज्ञान भला कैसे प्रमाण हो सकेगा ? क्योंकि तिस प्रकार अर्थक्रियाकी अविमुक्ति (स्थिति) होना तो वहां नहीं है। गीतको सुनकर या बिजुलीको देखकर उनसे होनेवाली अर्थक्रिया अधिक देरतक तो नहीं ठहरती है, झट विलाय जाती है। यदि बौद्ध यों कहे कि उस संगीत आदिके ज्ञानोंके अव्यवहित उत्तरकालमें उनके द्वारा साधेगये किसी न किसी सुख सम्वित्ति, प्रतिकूल वेदन, आदि फलका अनुभव हो जाता है। इस कारण वहां भी ज्ञाता पुरुषको अभिप्रेत हो रहे अर्थका निवेदन हो जानेसे स्वल्प कालके लिये साध्यकी अविमुक्ति (स्थिति) है। इस प्रकार कहनेपर तो आकांक्षारहितपना ही ज्ञानकी अपनी अर्थक्रिया सिद्ध हुई। वह स्वप्न, मद, (नशा) आदि अवस्थाओंमें क्यों नहीं होवेगी ? अर्थात्—यों पदार्थोंको जानकर थोडी देरतक अर्थक्रियाकी स्थिति होना स्वप्नमें भी हो रहा है। मद्यपायीकी भूमिका हलन, चलन, दीख रहा है। तभी उसकी गति चलन, पतन, स्खलन युक्त हो रही है। स्वप्नमें भयंकर पदार्थको देखनेपर कुछ देरतक हृदयमें धडकन होती रहती है। निर्बल युवा पुरुष स्वप्नमें इष्ट पदार्थका समागम कर वास्तविक अर्थक्रियाओंको कर बैठते हैं। अतः आकांक्षारहितपनको ही अविसम्वाद हो जानेसे बौद्धोंके यहां प्रमाणके सामान्यलक्षणमें अतिव्याप्ति दोष तदवस्थ रहा।

प्रबोधावस्थायां प्रतिपत्तुरभिप्रायचलनादिति चेत्, किमिदं तच्चलनं नाम ? धिङ् मिथ्या प्रतर्कितं मया इति प्रत्ययोपजननमिति चेत्, तत्स्वप्नादावप्यस्ति। न हि स्वप्नोप-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

लब्धार्थक्रियायाश्चलनं जाग्रद्दशायां बाधकानुभवनमनुमन्यते, न पुनर्जाग्रद्दशोपलब्धार्थक्रियायाः स्वप्नादाविति युक्तं वक्तुं, सर्वथा विशेषाभावात्।

जागृत अवस्थामें प्रतिपत्ताके अभिप्रायका चलन हो जाता है। अर्थात्—स्वप्नमें देखे हुये पदार्थोंका जागती हुई अवस्थामें परामर्श करनेपर स्वप्नकी ज्ञप्तियां चलित होती हुई प्रतीत हो रही हैं। इस कारण स्वप्नज्ञान द्वारा अर्थक्रिया स्थिति होना नहीं माना जाता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि यह उस अभिप्रायका चलना क्या पदार्थ है? बताओ। यदि बौद्ध यों कहें कि धिक्कार है कि मैंने स्वप्न अवस्थामें झूंठी ही प्रतर्कणाएं की थीं, इस प्रकार जागृत अवस्थाओंमें प्रतीतियोंका उत्पन्न हो जाना ही स्वप्न ज्ञानोंके अभिप्रायोंका चलायमानपना है। आचार्य बोलते हैं कि इस प्रकार कहनेपर तो हम कहते हैं कि वह चलन तो स्वप्न आदिकमें भी विद्यमान है। अर्थात्—जागृत अवस्थामें पदार्थोंको देखकर पुनः स्वप्नमें अन्य प्रकार जाननेपर स्वप्नमें ऐसा प्रत्यय उत्पन्न होता है कि धिक्कार है, मैंने जागृत अवस्थामें झूंठी ही तर्कणाएं कर लीं थीं। इष्ट पुरुषके मर जानेपर पुनः स्वप्नमें वह कभी दीख जाता है तो थोडी देर तक स्वप्नमें यही ज्ञान होता रहता है कि हम बहुत भूलमें थे कि इसको मरा हुआ समझ बैठे थे। किन्तु ये तो वास्तविक जीवित (जिन्दे) हैं। अर्थक्रियाओंको कर रहे हैं। यहां बौद्धका पक्षपातसहित यह कहना युक्त नहीं हो सकता है कि स्वप्नमें देखे गये अर्थक्रियाका चलायमान होना तो जागती हुई अवस्थामें बाधकका अनुभव होना मान लिया जाय और फिर जागती दशामें देखे गये पदार्थकी अर्थक्रियाका चलायमानपना स्वप्न आदिमें बाधकज्ञानका अनुभव होना न माना जाय। अर्थात्—सुषुप्तकी अर्थक्रियाका बाधक यदि जागृत दशाका अनुभव है तो जागृत दशाकी अर्थक्रियाका बाधक स्वप्न दशाका अनुभव भी हो जाओ। सभी प्रकारोंसे कोई अन्तर नहीं है।

स्वप्नादिषु बाधकप्रत्ययस्य सबाधत्वान्न तदनुभवनं तच्चलनमिति चेत्, कुतस्तस्य सबाधत्वसिद्धिः। कस्यचित्तादृशस्य सबाधकत्वदर्शनादिति चेत्, नन्वेवं जाग्रद्बाधकप्रत्ययस्य कस्यचित्सबाधत्वदर्शनात् सर्वस्य सबाधत्वं सिध्येत्।

बौद्ध कहते हैं कि जागृत दशाके ज्ञानोंके बाधक प्रत्यय जो स्वप्न आदि अवस्थामें हो रहे हैं, वे स्वयं बाधासहित हैं। उस कारण स्वप्न अवस्थाओंमें उन बाधकज्ञानोंका अनुभव करना तो जागृत दशाकी अर्थक्रियाका चलायमानपना नहीं है। हां, जागृत दशाके ज्ञान बाधारहित हैं। अतः वे स्वप्न दशाके ज्ञानोंकी अर्थक्रियाको चलायमानपना साधदेते हैं। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम बौद्धोंसे पूछते हैं कि स्वप्न आदि अवस्थाओंमें हुये उन बाधकज्ञानोंके स्वयं बाधासहितपनेकी सिद्धि कैसे हुई समझी जाय? बताओ। यदि तिस प्रकारके किसी एक ज्ञानको बाधकोंसे सहितपना देखनेसे स्वप्नके बाधकज्ञानोंका बाध्यपना समझा जायगा, तब तो हम भी अवधारण पूर्वक कहते हैं कि इस प्रकार तो किसी किसी जागृत

दशाके बाधक ज्ञानोंको बाधासहितपना देखा जाता है। अतः सभी जागृत दशाके ज्ञानोंको बाधासहितपना सिद्ध हो जावेगा। अर्थात्—जगते हुये पुरुषको सीपमें चांदीका ज्ञान बाधासहित हो रहा है। और भी बहुतसे ज्ञान आजकलके अल्प ज्ञानियोंको बाधासहित हो रहे हैं। इनको दृष्टान्त बनाकर जागरूकोंके अन्य ज्ञान भी बाध्य हो जायंगे।

तस्य निर्बाधस्यापि दर्शनान्नैवमिति चेत्, सत्यस्वप्नजप्रत्ययस्य निर्बाधस्यावलोकनात्सर्वस्य तस्य सबाधत्वं माभूत्। तस्मादविचारितरमणीयत्वमेवाविचलनमर्थक्रियायाः संवादनमभिप्रायनिवेदनात् क्वचिदभ्युपगंतव्यं। ते च स्वप्नादावपि दृश्यंत इति तत्प्रत्ययस्य प्रामाण्यं दुर्निवारम्।

बौद्ध कहते हैं कि उस जागृत दशाके बाधकज्ञान भला बाधाओंसे रहित भी तो देखे जाते हैं। अतः इस प्रकार सबको बाध्य कहना ठीक नहीं है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन भी कह देंगे कि स्वप्नमें उत्पन्न हुये सत्यज्ञानोंका बाधारहितपना भी देखा जाता है। अतः उन सभी स्वप्नज्ञानोंको बाधासहितपना मत (नहीं) होओ। तिस कारण स्वप्नमें भी किसी अंशमें प्रतिपत्ताके अभिप्रायका निवेदन हो रहा है। अतः अर्थक्रियाका नहीं चलायमानपनारूप सम्वादन मानना बौद्धोंका विना विचार किये गये ही मनोहर हो रहा है। विचार करनेपर तो जीर्ण वस्त्रके समान सैकडों खण्ड हो जाते हैं, यह मानलेना चाहिये। वे आकांक्षानिवृत्ति, परितोष, अर्थक्रियास्थिति, अभिप्राय निवेदनरूप अविसम्वाद तो स्वप्न आदिमें भी देखे जाते हैं। अतः उन स्वप्न आदिके ज्ञानोंको भी प्रमाणपना दुर्निवार हो जायगा। इस कारण बौद्धोंका माना हुआ प्रमाणका सामान्य लक्षण अतिव्याप्त ही रहा।

प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम्।
ततोपर्यनुयोज्याश्चेत्तत्रैते व्यवहारिणः॥ ६२॥
शास्त्रेण क्रियतां तेषां कथं मोहनिवर्तनम्।
तदनिष्टौ तु शास्त्राणां प्रणीतिर्व्याहता न किम्॥ ६३॥

बौद्ध मानते हैं कि लौकिक व्यवहारसे प्रमाणपना है। मुख्य प्रमाण कोई नहीं है। और विद्वानोंके बनाये हुये शास्त्र तो केवल मोहकी निवृत्ति करनेवाले हैं। कोई नवीन प्रमेयके ज्ञापक नहीं हैं। तिस कारण उस प्रमाणपनेमें ये व्यवहारी जन प्रश्नोत्तर करने योग्य नहीं हैं। अर्थात्—व्यवहारमें जिस किसीसे भी समीचीनज्ञान हो जाय वह प्रमाण है। और जिससे मोहकी निवृत्ति हो जाय वही सबसे अच्छा शास्त्र है। पारमार्थिक प्रमाण व्यवस्था कोई न्यारी बात है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कहेंगे कि ऐसे चाहें जिस किसी शास्त्र करके उन व्यवहारियोंके मोहकी निवृत्ति कैसे की जायगी! यदि उस मोहकी निवृत्तिको वास्तविक इष्ट न करोगे तो शास्त्रोंका प्रणयन (बनाना) करना व्याघात दोषयुक्त क्यों नहीं होगा!।

व्यवहारेण प्रामाण्यस्योपगमात्तत्रापर्यनुयोज्या एव व्यवहारिणः। किं न भवंतः स्वप्नादिप्रत्ययस्य जाग्रत्प्रत्ययवत् प्रमाणत्वं व्यवहरंति तद्वद्वादो जाग्रद्बोधस्याप्रमाणत्वमिति केवलं तदनुसारिभिस्तदनुरोधादेव क्वचित्प्रमाणत्वमप्रमाणत्वं चानुमंतव्यमिति ब्रुवाणः कथं शास्त्रं मोहनिवर्तनमाचक्षीत न चेद्व्याक्षिप्तः।

बौद्धोंका मत है कि हमारे यहां व्यवहारसे प्रमाणपना माना गया है। शासन करनेवाला भले ही यवन हो प्रमाण है। और असत्य पक्षपात रखनेवाला ब्राह्मण भी प्रमाण नहीं है। हस्ताक्षर साक्षी (गवाह) भोग (कावू) प्रमाणपत्र (सर्टिफिकट) ये सब प्रमाण मान लिये गये हैं। अतः व्यवहार करनेवाले लौकिकजन उस प्रमाणव्यवस्थामें तर्कणा करने योग्य नहीं हैं कि ज्ञान ही प्रमाण है। निर्विकल्पक प्रमाण नहीं हो सकता है। स्वप्नज्ञान भी प्रमाण हो जायगा इत्यादि। इसपर हम स्याद्वादी कहते हैं कि यों तो आप बौद्ध स्वप्न, मदमत्त आदिके ज्ञानोंको जगते हुये जीवोंके ज्ञानके समान प्रमाणपनेका व्यवहार क्यों नहीं करते हैं? अथवा स्वप्न आदि ज्ञानोंको अप्रमाणपनेके व्यवहार समान जागती अवस्थाके ज्ञानको भी वह अप्रमाणपना क्यों नहीं व्यवहृत हो जाता है? इसका उत्तर दो, केवल उस व्यवहारके अनुसार चलनेवाले लौकिक जनों करके उस व्यवहारके अनुरोधसे ही किसीमें प्रमाणपन और किसीमें अप्रमाणपन मान लेना चाहिए, इस प्रकार कह रहा बौद्ध भला शास्त्रोंको मोहकी निवृत्ति करानेवाला कैसे कह सकेगा? और कहेगा तो मत्तके समान घबडाया हुआ क्यों नहीं समझा जायगा? अर्थात्—मोही जीव ही तो व्यवहारी हैं। और व्यवहारके अनुसार प्रमाणपना माना गया ऐसी दशामें शास्त्र करके कषायों और इन्द्रियलोलुपताका निग्रह कैसे किया जा सकेगा? इस लीलाको तुम्ही जानो।

ये हि यस्यापर्यनुयोज्यास्तच्छास्त्रेण कथं तेषां मोहनिवर्तनं क्रियते। व्यवहारे मोहवत् क्रियत इति चेत् कुतस्तेषां विनिश्चियः? प्रसिद्धव्यवहारातिक्रमादिति चेत् कोसौ प्रसिद्धो व्यवहारः? सुगतशास्त्रोपदर्शित इति चेत् कपिलादिशास्त्रोपदर्शितः कस्मान्न स्यात्? तत्र व्यवहारिणामननुरोधादिति चेत्, तर्हि यत एव व्यवहारिजनानां सुगतशास्त्रोक्तो व्यवहारः प्रसिद्धात्मा व्यवस्थित एवमतिक्रामतां तत्र मोहनिवर्तनं सिद्धमिति किं शास्त्रेण तदर्थेन तेन तन्निवर्तनस्यानिष्टौ तु व्याहता शास्त्रप्रणीतिः किं न भवेत्?।

कारण कि जो संसारी जीव जिसके विषयमें तर्कणा करने योग्य ही नहीं है, उस शास्त्र करके उनके मोहकी निवृत्ति भला कैसे की जा सकेगी? बताओ। यदि बौद्ध यों कहें कि व्यवहारमें जैसे मोह कर लिया जाता है, वैसे ही शास्त्रों द्वारा मोहकी निवृत्ति भी कर ली जाती है। इसपर तो हम जैन पूछेंगे कि उन व्यवहारियोंको विशेषरूपसे निश्चय कैसे हुआ कि हमारा मोह निवृत्त हो गया है? यदि लोकमें प्रसिद्ध हो रहे व्यवहारका अतिक्रमण हो जानेसे निश्चय

होना माना जावेगा, तो फिर हम पूछेंगे कि वह प्रसिद्ध व्यवहार कौन है ? बताओ। यदि बुद्धके शास्त्रों द्वारा दिखलाया गया व्यवहार प्रसिद्ध कहा जायगा, तब तो कपिल, कणाद, गौतम, बृहस्पति, आदिके शास्त्रों द्वारा दिखलाया गया व्यवहार किस कारणसे नहीं प्रसिद्ध माना जाय ? उत्तर दो। यदि उन कपिल आदिकोंके शास्त्रद्वारा प्रदर्शित किये गये व्यवहारमें व्यवहारी जीवोंका अनुकूल वर्तना नहीं है, इस कारण वह व्यवहार प्रसिद्ध नहीं है, ऐसा कहोगे तो जिस ही कारणसे व्यवहारी मनुष्योंका सुगतशास्त्रोंमें कहा गया व्यवहार प्रसिद्धस्वरूप होकर व्यवस्थित हो रहा है, उसीका अतिक्रमण हो जाओ। और वहां तो मोहकी निवृत्ति पहिलेसे ही सिद्ध है। ऐसी दशामें उसके लिये बनाये गये उन शास्त्रोंकरके क्या लाभ हुआ ? बताओ। यदि शास्त्रसे उस मोहकी निवृत्ति करना नहीं इष्ट करोगे तब तो तुम्हारे यहां शास्त्रोंका बनाना व्यावातयुक्त क्यों न हो जावेगा ? अर्थात्—शास्त्रोंको बौद्ध प्रमाण मानते नहीं, मोहकी निवृत्ति भी उनसे नहीं हो पाती है। ऐसी दशामें शास्त्रोंका बनाना व्यर्थ है। प्राचीन गुरुओं द्वारा शास्त्र बनाये गये माने जाते हैं। यों शास्त्रोंको मानते हुये तदनुसार प्रमेयको नहीं माननेपर व्याघात दोष है।

युक्त्या यन्न घटामेति दृष्ट्वापि श्रद्दधे न तत्।
इति ब्रुवन् प्रमाणत्वं युक्त्या श्रद्धातुमर्हति ॥ ६४ ॥

" युक्त्यापन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वाऽपि न श्रद्दधे " जो कोई पदार्थ युक्ति (हेतुवाद) से घटनाको प्राप्त नहीं होता है, उसको देखकर भी मैं श्रद्धान नहीं करता हूं। हाथीको देखकर भी चीत्कार शुण्डा दण्ड और मोटे पांवोंसे उसका अनुमान करके गजका अध्यवसाय किया जाता है। इस प्रकार कह रहा बौद्ध प्रमाणपनेको भी युक्तिसे ही श्रद्धान करनेके लिये योग्य होगा अर्थात्—प्रमाणपना भी केवल व्यवहारसे ही न माने, किन्तु समीचीन युक्तियोंसे प्रमाणपनकी व्यवस्था करे।

न केवलं व्यवहारी दृष्टं दृष्टमपि तत्त्वं युक्त्या श्रद्धातव्यं। सा च युक्तिः शास्त्रेण व्युत्पाद्यते ततो शास्त्रप्रणीतिर्व्याहतेति ब्रुवन् कस्यचित्प्रमाणत्वं युक्त्यैव श्रद्धातुमर्हति।

वह व्यवहार करनेवाला लौकिक जन देखे हुये पदार्थका केवल यों ही श्रद्धान न कर लेवे किन्तु उसको देखे हुये तत्त्वका भी युक्तिसे घटित होनेपर श्रद्धान करना चाहिये। और वह युक्ति शास्त्र करके समझी जाती है। तिस कारण शास्त्रोंका बनाना व्याघातयुक्त नहीं है। इस प्रकार कहरहा बौद्ध किसीके प्रमाणपनका भी युक्तियों करके ही श्रद्धान करनेके लिये योग्य होता है। युक्ति विना अर्थात्—सबसे बढिया सभालने योग्य (जोखम) प्रमाणका श्रद्धान तो युक्तिसे निर्णीत होनेपर ही करना चाहिये। अन्यथा बुद्धूपनेके दोषका प्रसंग होगा।

तथा सति प्रमाणस्य लक्षणं नावतिष्ठते ।
परिहर्तुमतिव्याप्तेरशक्यत्वात्कथंचन ॥ ६५ ॥

तिस प्रकार होते संते तो बौद्धोंका माना गया प्रमाणका लक्षण ठीक व्यवस्थित नहीं होता है। क्योंकि स्वप्न आदि अवस्थाके ज्ञानोंमें लक्षणके चले जानेसे अतिव्याप्ति दोषका परिहार कैसे भी नहीं किया जासकता है। " अतः अविसंवादिज्ञानं प्रमाणं " यह लक्षण ठीक नहीं है।

प्रमाणस्य हि लक्षणमविसंवादनं तच्च यथा सौगतैरुपगम्यते तथा युक्त्या न घटत एवातिव्याप्तेर्दुःपरिहरत्वादित्युक्तं स्वप्नादिज्ञानस्य प्रमाणत्वापादनात् ।

प्रमाणका वह अविसंवादीपना लक्षण जिस प्रकार बौद्धों करके स्वीकार किया जाता है, उस प्रकार युक्तियोंसे ही घटित नहीं होता है। क्योंकि स्वप्न, भ्रान्न, आदिके ज्ञानोंको प्रमाणपनेका आपादन करनेसे अतिव्याप्ति दोषका परिहार करना अतीव दुःशक्य है। इस बातको हम साठवीं वार्त्तिकमें कहचुके हैं।

क्षणक्षयादिबोधेऽविमुक्त्यभावाच्च दूष्यते ।
प्रत्यक्षेपि किमव्याप्त्या तदुक्तं नैव लक्षणम् ॥ ६६ ॥
क्षणिकेषु विभिन्नेषु परमाणुषु सर्वतः ।
संभवोप्यविमोक्षस्य न प्रत्यक्षानुमानयोः ॥ ६७ ॥

तथा अर्थक्रियाके नहीं छूटनेपनका अभाव हो जानेसे क्षणिकत्व, संगीत आदिके ज्ञानोंमें वह लक्षण नहीं जाता है। अतः प्रत्यक्षमें भी लक्षणके न घटनेपर अव्याप्ति दोष करके वह लक्षण दूषित हो जाता है। तिस कारण वह बौद्धोंका कहा गया लक्षण ठीक नहीं है। तथा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणके विषयभूत माने गये क्षणिक और विशेषरूपसे भिन्न भिन्न पडे हुये परमाणुओंमें अविमोक्षरूप अर्थक्रियास्थितिका सब ओरसे सम्भव नहीं है। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंमें लक्षणके नहीं घटनेसे असम्भव दोष भी है।

न हि वस्तुनः क्षणक्षये सर्वतो व्यावृत्तिर्न स परमाणुस्वभावे वा प्रत्यक्षमपि संवादलक्षणमविमोक्षाभावादित्युक्तं प्राक्। प्रत्यक्षानुमानयोर्वाऽविमोक्षस्यासंभवादव्याप्त्या वासंभवेन च तल्लक्षणं दूष्यत एव, ततोतिव्याप्त्यव्याप्त्यसंभवदोषोपदुतं न युक्तिमल्लक्षणमविसंवादनम् ।

वस्तुके क्षणिकत्वमें सभी ओरसे व्यावृत्ति यानी अविचलपना नहीं है। अतः अनुमानमें लक्षण नहीं जाता है। और परमाणुस्वरूप स्वलक्षणमें उस अविमुक्तिके न होनेसे प्रत्यक्ष भी सम्वादस्वरूप नहीं है। इसको हम पहिले कह चुके हैं। अथवा प्रत्यक्ष और अनुमानमेंसे एकमें या दोनोंमें अविमोक्षरूप अविसंवादके असम्भव हो जानेसे अव्याप्ति और असम्भव दोषकरके वह प्रमाणका लक्षण अविसम्वाद दूषित हो ही जाता है। तिस कारण बौद्धोंके यहां प्रमाणका अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव दोषोंसे घेर लिया गया अविसम्वादस्वरूप लक्षण युक्तिसहित नहीं है।

अज्ञातार्थप्रकाशश्चेल्लक्षणं परमार्थतः।
गृहीतग्रहणान्न स्यादनुमानस्य मानता ॥ ६८ ॥
प्रत्यक्षेण गृहीतेपि क्षणिकत्वादिवस्तुनि।
समारोपव्यवच्छेदात्प्रामाण्यं लैंगिकस्य चेत् ॥ ६९ ॥
स्मृत्यादिवेदनस्यातः प्रमाणत्वमपीष्यताम्।
मानद्वैविध्यविध्वंसनिबंधनमबाधितम् ॥ ७० ॥
मुख्यं प्रामाण्यमध्यक्षेऽनुमाने व्यावहारिकम्।
इति ब्रुवन्न बौद्धः स्यात् प्रमाणे लक्षणद्वयम् ॥ ७१ ॥

" अज्ञातार्थ प्रकाशो वा स्वरूपाधिगतेः परम् " अबतक नहीं जाने गये अपूर्व अर्थका प्रकाश करना यदि परमार्थ रूपसे प्रमाणका लक्षण माना जायगा तो अनुमानको प्रमाणपना नहीं प्राप्त होगा। क्योंकि वस्तुभूत जिस क्षणिकत्वको निर्विकल्पक प्रत्यक्षने जानलिया था उसी ग्रहण किये जा चुकेका अनुमान द्वारा ग्रहण हुआ है। यदि बौद्ध यों कहें कि क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापण शक्ति आदि वस्तुभूत पदार्थोंका प्रत्यक्ष प्रमाण करके ग्रहण हो चुका है, फिर भी किसी कारण वश उत्पन्न होगये संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोपके निराकरण करदेनेसे अनुमान ज्ञानको प्रमाणपना है। इस प्रकार कहनेपर तो स्मृति, व्याप्तिज्ञान, आदिको भी इस ही कारण यानी समारोपका व्यवच्छेदक होनेसे बाधारहित प्रमाणपना इष्ट होजाओ, जो कि तुम बौद्धों द्वारा माने हुये प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाणोंकी द्विविधपनके विनाशका कारण है। बौद्ध फिर यों कहें कि प्रत्यक्षमें प्रमाणपना मुख्यरूपसे घटता है। और अनुमानमें प्रमाणपना केवल व्यवहारको साधनेके लिये मान लिया गया है। इस प्रकार प्रमाणमें दो लक्षणोंको कह रहा बौद्ध तो बौद्ध नहीं है। बुद्धियोंके समुदाय या बुद्धिके अपत्यका कार्य ऐसा अबुद्धिपूर्वक नहीं हो सकता है। चार्वाकके समान वह बहिर्बुद्ध समझा जायगा।

चार्वाकोपि ह्येवं प्रमाणद्वयमिच्छत्येव प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमगौणत्वात् प्रमाणस्येति वचनादनुमानस्य गौणप्रामाण्यानिराकरणात् ।

इस प्रकार तो चार्वाक भी दो प्रमाणोंको चाहता ही है। अपने पुरुषाओंकी धारा, भीतका परलाभाग, जलमें प्यासके निराकरणकी शक्ति, सूर्यगमन आदिके लौकिक अनुमान सबको मानने पडते हैं। चार्वाकका कहना है कि प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। क्योंकि प्रमाण अगौण होता है। प्रत्यक्षकी सहायतासे होनेवाले अनुमानको प्रमाणपना माननेसे गौणको प्रमाणपना आता है। इस कथनसे चार्वाकने अनुमानको गौणप्रमाणपनका निराकरण नहीं किया है। और उसी प्रकार बौद्ध कह रहे हैं, तब तो वे बौद्ध चार्वाक ही हो गये। दोनोंकी मुख्यरूपसे एक प्रमाण माननेमें कोई विशेषता न रही।

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
प्रमाणमिति योप्याह सोप्येतेन निराकृतः ॥ ७२ ॥
गृहीतग्रहणाभेदादनुमानादि संविदः ।
प्रत्यभिज्ञाननिर्णीतनित्यशब्दादिवस्तुषु ॥ ७३ ॥

सामान्यरूपसे प्रमाणके लक्षणको बखाननेवाले इस प्रकरणमें जो भी वादी इस प्रकार कह रहा है कि पहिले नहीं निश्चित किये हुये अपूर्व अर्थका बाधाओंसे रहित और निश्चयात्मक विज्ञान होना प्रमाण है, वह मीमांसक भी इस कथनसे निराकृत कर दिया गया समझ लेना चाहिये। अर्थात्—बौद्धोंके अज्ञात अर्थको प्रकाश करनेवाले प्रमाणके समान मीमांसकोंका सर्वथा अपूर्व अर्थको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है, यह सिद्धान्त भी अनुमानको प्रमाणपना न बन सकनेके कारण खण्डनीय है। अनुमान, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आदि सम्वितियोंको गृहीतका ग्रहण करनापन अभिन्न (एकसा) है। यह वही शब्द है। यह वही आत्मा है। इस प्रकारके प्रत्यभिज्ञान द्वारा निर्णीत किये गये शब्द, आत्मा आदि नित्य वस्तुओंमें अनुमान आदिकी प्रवृत्ति हो रही है। अतः कथञ्चित् गृहीतग्राहीको भी प्रमाण माननेमें कोई क्षति नहीं है।

न प्रत्यभिज्ञाननिर्णीतेषु नित्येषु शब्दात्मादिष्वर्थेष्वनुमानादिसंविदः प्रवर्तते पिष्टपेषणवद्वैयर्थ्यादनवस्थाप्रसंगाच्च ततो न गृहीतग्रहणमित्ययुक्तं, दर्शनस्य परार्थत्वादित्यादि शब्दनित्यत्वसाधनस्याभ्युपगमात् ।

मीमांसक कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञानसे निश्चित किये गये शब्द, आत्मा आदि नित्य अर्थोंमें अनुमान आदि सम्वितियां नहीं प्रवर्तती हैं। क्योंकि यों तो पिसे हुयेको पीसनेके समान जाने हुयेको जानना व्यर्थ पडता है। तथा जाने हुयेको जानना और फिर जाने हुयेको तिबारा जानना

इत्यादि ढंगसे अनवस्था दोषका भी प्रसंग है। तिस कारण अनुमान आदि सम्वितियोंको गृहीतका ग्राहकपना नहीं हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसकोंका कहना अयुक्त है। क्योंकि स्वयं मीमांसकोंने दर्शन यानी शद्वको परार्थ माना है। " दर्शनस्य परार्थत्वात् " इत्यादि ग्रन्थ करके शद्वके नित्यपनकी सिद्धि होना स्वीकार किया है। भावार्थ—आप्तवाक्य, कोष, व्याकरण, उपमान, व्यवहार, वाक्यशेष आदि हेतुओंसे शद्वका वाच्य अर्थके साथ जो संकेत ग्रहण किया है, वह संकेत ग्रहण अपने लिये उसी समय तो उपयोगी है नहीं। क्योंकि उस संकेत करते समय तो पदार्थका प्रत्यक्ष ही हो रहा है। किन्तु पश्चात् कालमें शद्वको सुनकर अर्थज्ञान करानेमें उसकी सफलता हो सकती है। यह तभी हो सकता है, जब कि संकेतकालका शद्व पीछे व्यवहारकालतक स्थिर रहे। अन्यथा संकेत किसी भी शद्वमें किया था और व्यवहार कालमें दूसरा ही न्यारा शद्व सुना जारहा है। ऐसी दशामें उसी शद्वसे वाच्यअर्थकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी। दूसरी बात यह है कि वक्ता (प्रतिपादयिता) स्वयं अपने हितार्थ तो शद्वोंको बोलता नहीं है। हां, कोई संगीत गाने वाला अपने लिये भी आनन्द प्राप्त करनेके लिये शद्व बोलता है। किन्तु वहां वाच्यअर्थकी प्रतिपत्ति उतनी इष्ट नहीं हैं। उस समय केवल शद्वका श्रावणप्रत्यक्ष अभिप्रेत हो रहा है। वस्तुतः अर्थकी प्रतिपत्ति करानेके लिये शद्वका उच्चारण करना दूसरे श्रोताओंके लिये ही उपयोगी है। वक्ताके मुख प्रदेशसे लेकर श्रोताके कानोंतक वह एक ही शद्व माना जावेगा तब तो शिष्यको यह प्रतिपत्ति हो सकती है कि जो गुरुजीने कहा है, उसीको मैं सुनरहा हूं। किन्तु यदि बौद्धोंके समान एक क्षण स्थायी और वैशेषिकोंके समान केवल दो क्षणस्थायी ही शद्व माना जायगा तो गुरुके कहे हुये शद्वके सदृश उपज रहे अन्य शद्वको मैं सुनरहा हूं, ऐसी प्रतीति होनेका प्रसंग होगा। अतः सिद्ध है कि संकेतकाल और व्यवहारकालमें व्यापक अथवा वक्ता और श्रोताके उच्चारण और सुननेतक तथा उससे भी पहिले पीछे कालान्तरतक स्थायी शद्व नित्य है। इस प्रकार मीमांसकोंने प्रत्यभिज्ञान द्वारा शद्वके नित्यत्वको जान चुकनेपर पुनः शद्व दूसरोंके लिये होता है, इस साधनसे अनुमानद्वारा शद्वकी नित्यता सिद्ध की है। इस प्रकार गृहीतग्राही अनुमानको प्रमाण भी इष्ट किया है। व्याप्तिज्ञानसे जाने जाचुके विषयमें ही अनुमानज्ञान प्रवर्तते हैं। इस कारण भी सभी अनुमान कथञ्चित् गृहीतग्राहक हैं।

तत एव तत्साधनं न पुनः प्रत्यभिज्ञानादित्यसारं, नित्यः शद्वः प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यत्र हेत्वसिद्धिप्रसंगात्। प्रत्यभिज्ञायमानत्वं हि हेतुः तदा सिद्धः स्याद्यदा सर्वेषु प्रत्यभिज्ञानं प्रवर्तेत तच्च प्रवर्तमानं शद्वनित्यत्वे प्रवर्तते न शद्वरूपमात्रे प्रत्यक्षत्ववदनेकांतार्थप्रसंगात्।

यदि मीमांसक मुकर जाकर यों कहें कि उस अनुमानसे ही शद्वकी नित्यता साधी जायगी, हम फिर प्रत्यभिज्ञानसे शद्वकी नित्यताको नहीं साधेंगे, अर्थात्—किसी शद्वमें प्रत्यभिज्ञानसे और

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अन्य शद्वमें अनुमानसे नित्यता साध ली जावेगी। एक ही शद्वमें दो प्रमाणोंसे नित्यताको साधनेका व्यर्थ परिश्रम नहीं उठावेंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसकोंका कहना निःसार है। क्योंकि शद्व (पक्ष) नित्य है (साध्य)। प्रत्यभिज्ञानका विषय होनेसे (हेतु)। इस अनुमानमें दिये गये हेतुकी असिद्धिका प्रसंग है। यानी अनुमानके अंग हेतुके शरीरमें प्रत्यभिज्ञायमानत्व घुसा हुआ है। यदि अनुमानसे जानने योग्य शद्वनित्यत्वमें प्रत्यभिज्ञानका विषयपना माना जायगा तो प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जायगा। कारण कि प्रत्यभिज्ञायमानपना हेतु तब सिद्ध हो सकेगा जब कि सम्पूर्ण शद्वोंमें प्रत्यभिज्ञान प्रवर्तेगा और प्रवर्त्ता हुआ शद्वके नित्यपनेमें प्रवृत्ति करे, केवल शद्वके स्वरूपमें प्रत्यक्षपनके समान यदि प्रत्यभिज्ञान विषयपन रह जायगा तब तो मीमांसकोंको अनेक धर्मवाले अर्थकी सिद्धिका प्रसंग हो जाता है। अतः प्रत्यभिज्ञानसे जान लिये गये नित्यत्वको अनुमान द्वारा जाना है, इस कारण सर्वथा अपूर्व अर्थका विज्ञान करना यह प्रमाणका निर्दोष लक्षण नहीं बन सकता है। इसमें अव्याप्ति दोष आता है।

यदि पुनः प्रत्यभिज्ञानान्नित्यशद्वादिसिद्धावपि कुतश्चित्तत्समारोपस्य प्रसूतेस्तद्व्यवच्छेदार्थमनुमानं न पूर्वार्थमिति मतं सदा स्मृतितर्कादेरपि पूर्वार्थत्वं मा भूत् तत एव। तथा च स्वाभिमतप्रमाणसंख्याव्याघातः। कथं वा प्रत्यभिज्ञानं गृहीतग्राहि प्रमाणमिष्टं ताद्धि प्रत्यक्षमेव वा ततोऽन्यदेव वा प्रमाणं स्यात्।

यदि फिर मीमांसक यों कहें कि प्रत्यभिज्ञानसे शद्व, आत्मा, आदिके नित्यत्वकी यद्यपि सिद्धि होगयी है। किन्तु फिर भी किसी कारणसे अज्ञान, संशय आदि समारोपकी उत्पत्ति होजाती है। इस कारण उस समारोपके निवारणार्थ प्रवर्त्त हुआ अनुमान प्रमाण अपूर्वार्थ ही है। पूर्वार्थग्राही नहीं है। जैनोंने भी तो " दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् " माना है। देख लिया गया भी पदार्थ मध्यमें समारोप हो जानेसे अपूर्वार्थके सदृश है। इस प्रकार मीमांसकोंका मन्तव्य होय तब तो स्मृति, व्याप्तिज्ञान, स्वार्थानुमान आदिको भी तिस ही कारण पूर्वगृहीत अर्थका ग्राहकपना मत (नहीं) होवो। स्मृति आदिक भी तो अस्मरण आदि समारोपके दूर करनेके लिये अवतीर्ण हुये हैं। और तिस प्रकार माननेपर मीमांसकोंको अपनी मानी गयी पांच या छह प्रमाणोंकी संख्याका व्याघात होना प्राप्त होता है। अर्थात्—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाद्व, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणोंमें अन्तर्भाव नहीं हो सकनेके कारण स्मृति, व्याप्तिज्ञान आदिको भिन्न प्रमाण माननेपर प्रमाणोंकी अभीष्ट संख्याका व्याघात हो जाता है। तथा आप मीमांसकोंने गृहीतका ग्रहण करने वाले प्रत्यभिज्ञानको भला प्रमाण कैसे मान लिया है ? बताओ। आपके माने गये पांच या छह प्रमाणोंमेंसे वह प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्षप्रमाणरूप ही तो होगा अथवा उस प्रत्यक्षसे भिन्न ही कोई दूसरा प्रमाणरूप प्रत्यभिज्ञान माना जावेगा ? आप निर्णय कीजिये।

प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञा चेद्ग्रहीतग्रहणं भवेत् ।
ततोन्यच्चेत्तथाप्येवं प्रमाणांतरता च ते ॥ ७४ ॥

यदि प्रत्यभिज्ञानको प्रत्यक्षप्रमाण माना जायगा तो वह गृहीतका ग्राही ही होगा । पहिलेके प्रत्यक्षको तो प्रत्यभिज्ञान मानोगे नहीं, किन्तु पूर्व पूर्वमें देखे हुये पदार्थका स्मरण कर उससे सहकृत हुई इन्द्रियां आपके यहां प्रत्यभिज्ञानरूप प्रत्यक्षको उत्पन्न करेंगी, ऐसी दशामें वह प्रत्यभिज्ञान गृहीतका ग्राही ही सिद्ध हुआ । तथा यदि उस प्रत्यक्षसे अन्यज्ञानको प्रत्यभिज्ञान मानोगे तो भी इस प्रकार तुम्हारे मतमें इष्ट प्रमाणोंसे अतिरिक्त अन्य प्रमाणको माननेका प्रसंग होवेगा । यह इष्ट प्रमाण-संख्याका व्याघात प्राप्त हुआ ।

न ह्यननुभूतार्थे प्रत्यभिज्ञा सर्वथातिप्रसंगात् । नाप्यस्मर्यमाणे यतो ग्रहीतग्राहिणी न भवेत् ।

पहिले सर्वथा नहीं अनुभव किये गये अर्थमें तो प्रत्यभिज्ञान नहीं प्रवर्त्तता है । क्यों कि अतिप्रसंग हो जायगा । यानी नवीन पदार्थोंको देखकर भी सदा प्रत्यभिज्ञान होते रहेंगे । और नहीं स्मरण किये जा रहे अर्थमें भी प्रत्यभिज्ञान नहीं प्रवर्तता है । जिससे कि प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही न होता । भावार्थ—अनुभव और स्मरणसे जान लिये गये अर्थमें प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है । अतः वह गृहीतग्राही ही है ।

प्रत्यक्षेणाग्रहीतेर्थे प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तते ।
पूर्वोत्तरविवर्त्तैकग्राहाच्चेन्नाक्षजत्वतः ॥ ७५ ॥

यदि मीमांसक भट्ट यों कहें कि पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायमें रहनेवाले एकपनका ग्रहण प्रत्यभिज्ञान करता है । उस एकपनको प्रत्यक्ष और स्मरणने नहीं जान पाया है । अतः प्रत्यक्षसे अग्रहीत अर्थमें प्रत्यभिज्ञा प्रवर्त्त रही है । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । क्यों कि तुम्हारे मतमें प्रत्यभिज्ञानको इन्द्रियोंसे जन्यपना अभीष्ट किया है । जो इन्द्रियोंके साथ अन्वयव्यतिरेक रखता है । वह इन्द्रियजन्य ही मानना चाहिये । किन्तु इन्द्रियोंकी उस एकत्वमें प्रवृत्ति नहीं है ।

पूर्वोत्तरावस्थयोर्यद्व्यापकमेकत्वं तत्र प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तते न प्रत्यक्षेण परिच्छिन्नेवस्थामात्रे स्मर्यमाणेनुभूयमाने वा ततो न ग्रहीतग्राहिणी चेत् तत् नेन्द्रियजत्वात्तस्याः कथमन्यथा प्रत्यक्षेंतर्भावः । न चेंद्रियं पूर्वोत्तरावस्थयोरतीतवर्तमानयोः वर्तमाने तदेकत्वे प्रवर्तितुं समर्थं वर्तमानार्थग्राहित्वात् संबद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिरिति वचनात् ।

पूर्वपक्षी कहता है कि पूर्व अवस्था और उत्तर अवस्थामें जो एकपना व्याप रहा है, उस एकत्वमें प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तती है । किन्तु प्रत्यक्षसे जान ली गयी, अनुभवमें आ रही, केवल वर्तमान अवस्थामें अथवा स्मरण की जा रही, जानी जा चुकी केवल पूर्व अवस्थामें तो प्रत्यभिज्ञा नहीं प्रवर्तती

है। तिस कारण वह गृहीत विषयको ग्रहण करनेवाली नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहो सो तो ठीक नहीं है। क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञा तुमने इन्द्रियोंसे जन्य मानी है। अन्यथा यानी प्रत्यभिज्ञानको इन्द्रियोंसे जन्य नहीं माना जायगा तो प्रत्यक्षमें उसका अन्तर्भाव कैसे किया जा सकेगा? इन्द्रियां तो व्यतीत हो चुकी पहिली अवस्था और वर्तमान हो रही उत्तर अवस्थामें वर्त्त रहे उस एकत्वमें प्रवृत्ति करनेके लिये समर्थ नहीं हैं। क्योंकि इंद्रियोंका स्वभाव वर्तमान कालके अर्थको ग्रहण करनेका हैं। तुम्हारे ग्रन्थोंमें ऐसा कथन है कि सम्बद्ध हुये और वर्तमान कालके अर्थोंका चक्षु आदि इन्द्रियोंकरके ग्रहण किया जाता है। ऐसी दशामें एकत्वको जाननेवाली प्रत्यभिज्ञा भला इन्द्रियोंसे कैसे उपज सकेगी? तुम्ही जानो।

पूर्वोत्तरविवर्ताक्षज्ञानाभ्यां सोपजन्यते।
तन्मात्रमिति चेत्केयं तद्भिन्नैकत्ववेदिनी ॥ ७६ ॥

पूर्वके विवर्तको जाननेवाला इन्द्रियजन्यज्ञान और उत्तर अवस्थाको जाननेवाला इन्द्रिय जन्यज्ञान इन दो ज्ञानोंसे वह प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है, और केवल उस एकत्वको विषय करती है, इस प्रकार कहनेपर तो हम अनुपपत्ति दिखलाते हैं कि ऐसी दशामें यह प्रत्यभिज्ञा उन दोनों विवर्तोंसे भिन्न एकत्वको जाननेवाली कहां हुई? दो विवर्त्तोंसे एकत्वको अभिन्न माननेपर तो प्रत्यभिज्ञा गृहीतग्राहिणी हो जायगी।

न हि पूर्वोत्तरावस्थाभ्यां भिन्ने च सर्वथैकत्वे तत्परिच्छेदिभ्यामक्षज्ञानाभ्यां जन्यमानं प्रत्यभिज्ञानं प्रवर्तते स्मरणवत् संतानांतरैकत्ववद्वा।

पूर्व अवस्था और उत्तर अवस्थासे सर्वथा अभिन्न एकत्वमें उन दोनों अवस्थाओंको जानने वाले दो इन्द्रिय ज्ञानसे उत्पन्न हुआ प्रत्यभिज्ञान नहीं प्रवर्तता है, जैसे कि स्मरणज्ञान विचारा अनुभूतसे सर्वथा भिन्न अर्थमें नहीं प्रवर्तता है, अथवा अन्य जिनदत्त आदि सन्तानोंका एकपना जो कि देवदत्त की बाल्यअवस्था कुमार अवस्थाओंमें रहनेवाले एकत्वसे सर्वथा भिन्न है। उसमें देवदत्तके एकपनको जाननेवाला प्रत्यभिज्ञान जैसे नहीं प्रवर्तता है।

विवर्ताभ्यामभेदश्चेदेकत्वस्य कथंचन।
तद्ग्राहिण्याः कथं न स्यात्पूर्वार्थत्वं स्मृतेरिव ॥ ७७ ॥

पूर्व और उत्तर दोनों विवर्तोंसे एकत्वका कथंचित् अभेद माना जायगा तो उस एकत्वको ग्रहण करनेवाली प्रत्यभिज्ञाको स्मृतिके समान पूर्वगृहीत अर्थका ग्राहीपना क्यों नहीं होगा? अर्थात् स्मृति जैसे पूर्व अर्थको गृहण करती है, वैसे ही पूर्व, उत्तरकी पर्यायोंसे अभिन्न एकत्वको जानने वाला प्रत्यभिज्ञान भी पूर्व अर्थका ग्राही है। सर्वथा अपूर्व अर्थका नहीं है।

यद्यवस्थाभ्यामेकत्वस्य कथंचिदभेदात्तद्ग्राहींद्रियज्ञानाभ्यां जनितायाः प्रत्यभिज्ञाया ग्रहणं न विरुध्यते सर्वथा भेदे तद्विरोधादिति मतिस्तदास्याः कथं पूर्वार्थत्वं न स्यात् स्मृतिवत् । कथंचित्पूर्वार्थत्वे वा सर्वं प्रमाणं नैकांतेनापूर्वार्थे तद्वदेवं च तत्रापूर्वार्थविज्ञानं प्रमाणमित्यसंबंधं ।

पहिली पीछी दो अवस्थाओंसे एकत्वका कथंचित् अभेद होनेके कारण उन पूर्व अपर अवस्थाओंके ग्रहण करनेवाले दो इंद्रियजन्य ज्ञानोंसे उत्पन्न हुई प्रत्यभिज्ञाका ग्रहण करना विरुद्ध नहीं होता है । हां, दोनों अवस्थाओंसे एकत्वका सर्वथा भेद होनेपर तो उसका विरोध है । यदि आप मीमांसकोंका मन्तव्य है, तब तो इस प्रत्यभिज्ञाको स्मृतिज्ञानके समान पूर्वगृहीत अर्थका ग्राहीपना क्यों नहीं होगा ? यानी पूर्वविवर्त और उत्तरविवर्तको दो ज्ञानोंसे जाना जा चुका है और दोनों विवर्तोंसे अभिन्न एकत्वका प्रत्यभिज्ञा जान रही है, तब तो प्रत्यभिज्ञानने गृहीत अर्थको ही जाना । यदि कथंचित् पूर्वमें गृहीत अर्थको ग्रहण करना भी माना जायगा तो सभी प्रमाण एकान्तसे अपूर्व अर्थको ही जाननेवाले नहीं हुये, जैसे कि वे प्रत्यभिज्ञान या स्मरण अपूर्व अर्थके ग्राही नहीं हैं और इस प्रकार " तत्रापूर्वार्थविज्ञानं " इस कारिकाद्वारा जो सर्वथा अपूर्व अर्थके ग्राहक ज्ञानको प्रमाण कह रहा है, उसका यह कहना असम्बद्ध है । पूर्वापरविरुद्ध है।

एतेनानुपानमेव प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणांतरमेव चेति प्रत्याख्यातं, सर्वथाप्यपूर्वार्थत्वनिराकृतेः सर्वप्रमाणानां, प्रमाणांतरासिद्धिप्रसंगाच्च ।

प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षप्रमाण नहीं है, यह उक्त कथनसे सिद्ध कर दिया है । इस कथनसे अनुमान प्रमाणरूप ही प्रत्यभिज्ञान है । अथवा आगम, अर्थापत्तिस्वरूप दूसरे प्रमाणरूप प्रत्यभिज्ञान है, यह भी खण्डित हो गया समझ लेना चाहिये । क्योंकि सभी प्रमाणोंको सभी प्रकारोंसे अपूर्व अर्थके ग्राहकपनका निराकरण कर दिया है और अन्य प्रमाणोंकी असिद्धि होनेका प्रसंग है । भावार्थ— प्रत्यक्षके अतिरिक्त प्रायः सभी प्रमाण कथंचित् ज्ञात हुए पूर्व अर्थको जानते हैं । अतः सर्वथा अपूर्व अर्थके ग्राहक ही ज्ञानको प्रमाण माननेपर अन्य प्रमाणोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी । श्वेताम्बर सम्प्रदायने प्रमाणके लक्षणमेंसे अपूर्वार्थ शब्द निकाल दिया है । उनका विचार है कि अनेक ज्ञान अपूर्व अर्थोंको ही जानते हैं । यों प्रतिक्षण नवीन नवीन परिणमे हुये पर्यायोंकी अपेक्षा विचारा जाय तो सभी ज्ञान अपूर्व अर्थको जानते हैं । केवलज्ञानके अपूर्व अर्थके ग्राहीपनका साधन भी यों अच्छा हो सकेगा । व्यर्थ अपूर्वार्थ विशेषण देनेसे कोई लाभ नहीं है । अतः " स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं " यह लक्षण प्रशस्त है । इसपर हम दैगम्बरोंका यह कहना है कि पूर्वार्थग्राही ज्ञानको प्रमाण माननेपर धारावाहिक ज्ञानको प्रमाणता आ जावेगी । यद्यपि उत्तर उत्तर क्षणवर्त्ती पर्यायें न्यारी न्यारी हैं । किन्तु वे सूक्ष्मपर्यायें तो हमारे ज्ञानमें नहीं झलक पाती हैं । जैसा विषय होय ठीक वैसा ही ज्ञान होय, यह कोई नियम नहीं है । अप्रमाण ज्ञान अन्यथा भी हो जाते हैं । अतः घट है,

घट है, घट है, केवल इतना ही हो रहा धारावाहिक ज्ञान भी प्रमाण हो जाना चाहिये। श्वेताम्बरोंके द्वितीय कथनसे कि सभी पर्यायें पर्यायार्थिकनयसे अपूर्व ही हैं, तो अपूर्व अर्थका ग्राहकपना प्रमाणमें भले प्रकार पुष्ट हो जाता है। अतः "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं" यह लक्षण ठीक है। केवलज्ञानमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालवर्ती समयोंकी विशिष्टतासे अपूर्वार्थग्राहीपना बन जाता है। सर्वज्ञदेव दूसरे समयोंमें भूतको चिरभूत समझते हैं। भविष्यको वर्तमान समझते हैं। और चिर भविष्यको भविष्य जानते हैं। एक एक समयकी अपेक्षासे पर्यायोंमें सूक्ष्म विशेषताऐं जानी जा रही हैं। अतः केवलज्ञान भी कथंचित् अपूर्व अर्थका ग्राहक है। वर्तनेमें आ रहे प्रमाणका अपूर्वार्थ विशेषण तो स्वरूपनिरूपणमें तत्पर है।

तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वाद्व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ॥ ७८ ॥
गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥ ७९ ॥

तिस कारण स्व और अर्थका व्यवसाय करनास्वरूप ज्ञान प्रमाण है, इस प्रकार इतने ही लक्षणसे सर्व प्रयोजन प्राप्त हो जाता है। अन्य सर्वथा अपूर्व अर्थका ग्राहकपन, बाधवर्जितपना, लोकसम्मतपना, आदि विशेषण व्यर्थ हैं। जो ज्ञान ग्रहण किये जा चुके अथवा नहीं गृहीत हुये भी अपने और अर्थको यदि निश्चय करता है, तो वह ज्ञान लोकमें और शास्त्रोंमें भी प्रमाणपनेको नहीं छोडता है। भावार्थ—स्व और अर्थके विषयमें पडे हुये अज्ञान आदि समारोपको जो ज्ञान स्वार्थ निश्चय द्वारा निवृत्त करता है, वह ज्ञान प्रमाण है। धारावाहिक ज्ञानोंसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो पाती है। अतः श्री माणिक्यनन्दी आचार्य द्वारा कहा गया अपूर्वार्थ विशेषण केवल स्वरूपके निरूपण करनेमें तत्पर है। धारावाहिक ज्ञानकी व्यावृत्ति करना भी उसका फल है। वह अपूर्वार्थविशेषण कहीं मूल लक्षणमें डाल दिया है। क्वचित् व्याख्यान करनेसे लब्ध हो जाता है।

बाधवर्जिततापेषा नापरा स्वार्थनिश्चयात्।
स च प्रबाध्यते चेति व्याघातान्मुग्धभाषितम् ॥ ८० ॥
बाधकोदयतः पूर्वं वर्तते स्वार्थनिश्चयः।
तस्योदये तु बाध्येतेत्येतदप्यविचारितम् ॥ ८१ ॥
अप्रमाणादपि ज्ञानात्प्रवृत्तेरनुषंगतः।
बाधकोद्भूतितः पूर्वं प्रमाणं विफलं ततः ॥ ८२ ॥

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितं। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्" इस प्रमाण लक्षणमें मीमांसकोंने जो बाधवर्जितपना प्रमाणके लक्षणमें डाला है, सो यह बाधवर्जितपना भी स्व और अर्थके निश्चयसे कोई भिन्न नहीं है। जब स्व और अर्थका निश्चय हो गया है, तो वह फिर किसी भी प्रमाणसे बाधा नहीं जासकता है। वह स्वार्थ निश्चय हो जाय और किसीके द्वारा वह प्रकृष्ट रूपसे बाधा जाय इसमें तो व्याघात दोष है। जो बाधित है, वह स्वार्थ निश्चय नहीं है। और जो स्वार्थनिश्चय आत्मक ज्ञान है, वह बाधित नहीं है। अतः स्वार्थनिश्चयमें भी व्यभिचारनिवारणार्थ बाधारहितपना लगाना भोले जीवोंका व्यर्थ भाषण है। यदि कोई यों कहे कि बाधक प्रमाणके उदयसे पहिले स्व और अर्थका निश्चय है, हां, पीछे उस बाधकका उदय होने पर तो स्वार्थनिश्चय बाधित हो जाता है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना भी विना विचार किये हुये है। क्योंकि यों तो अप्रमाणज्ञानसे भी प्रवृत्ति होनेका प्रसंग होगा। क्योंकि प्रवृत्ति हो चुकनेपर बाधकके उदय होनेसे पहिला ज्ञान बाध्य होगा। तिस कारण बाधकके उत्पन्न होनेसे पहिले प्रमाण व्यर्थ पडा।

बाधकाभावविज्ञानात्प्रमाणत्वस्य निश्चये।
प्रवृत्त्यंगे तदेव स्यात्प्रतिपत्तुः प्रवर्तकम् ॥ ८३ ॥
तस्यापि च प्रमाणत्वं बाधकाभाववेदनात्।
परस्मादित्यवस्थानं क्व नामैवं लभेमहि ॥ ८४ ॥

यदि मीमांसक यों कहें कि पीछे हुये बाधकाभावके विज्ञानसे प्रमाणपनका निश्चय कर चुकनेको प्रवृत्तिका अंग माना जायगा, तब तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि वह बाधकाभावका ज्ञान ही प्रतिपत्ताको प्रवर्तक हो जावे। दूसरी बात यह है कि उस बाधकाभावके विज्ञानको प्रमाणपना दूसरे बाधकाभाव ज्ञानसे निश्चित होगा और दूसरेका प्रमाणपना तीसरे बाधकाभाव ज्ञानसे ज्ञात होगा, इस प्रकार भला हम कहां अवस्थितिको प्राप्त कर सकेंगे। अनवस्था दोष हो जायगा।

बाधकाभावबोधस्य स्वार्थनिर्णीतिरेव चेत्।
बाधकांतरशून्यत्वनिर्णीतिः प्रथमेत्र सा ॥ ८५ ॥

यदि मीमांसक यों कहें कि दूसरे बाधकाभाव ज्ञानका स्वार्थनिर्णय करना ही अन्य बाधकोंकी शून्यताका निर्णय करना है। अतः तीसरे चौथे आदि बाधकाभावोंके ज्ञानोंकी आकांक्षा नहीं बढेगी, अनवस्था दोष नहीं लागू होगा, इसपर तो हमारा कहना है कि तो इस पहिले ज्ञानमें भी स्वतंत्र बाधकाभाव ज्ञान क्यों माना जाता है। प्रथमज्ञान द्वारा स्व और अर्थका निर्णय करना ही बाधकाभावोंका निर्णय करना है। अतः प्रमाणके लक्षणमें बाधकाभाव विशेषणका पुंछल्ला लगाना व्यर्थ है।

संप्रत्ययो यथा यत्र तथा तत्रास्त्वितीरणे ।
बाधकाभावविज्ञानपरित्यागः समागतः ॥ ८६ ॥

यदि मीमांसक यों कहें कि जिस प्रकार जहां भले प्रकार निर्णय हो जाय तिस प्रकार तहां तैसी व्यवस्था कर लो। रात्रिमें घटका प्रकाश हम तुमको दीपक द्वारा साध्य है। दीपक स्वयं प्रकाशमान है। इस प्रकार कहनेपर तो बाधकाभावके विज्ञानका परित्याग करना अच्छे ढंगसे प्राप्त हो जाता है। यानी स्व और अर्थका निर्णय हो जाना बाधकाभावका आग्रह छोडनेपर बन जाता है। जहां स्वार्थका निश्चय है, वहां कोई भी बाधक फटकने नहीं पाता है। प्रमाणज्ञान होनेपर सभी बाधकज्ञान स्वतः भग जाते हैं। व्यभिचार दोषोंकी निवृत्ति करनेवाला विशेषण ही सार्थक माना गया है।

यच्चार्थवेदने बाधाभावज्ञानं तदेव नः ।
स्यादर्थसाधनं बाधसद्भावज्ञानमन्यथा ॥ ८७ ॥

जो ही अर्थको जाननेमें मीमांसकोंने बाधकोंके अभावका ज्ञान माना है, वही हम स्याद्वादियोंके यहां अर्थको साधनेवाला ज्ञान माना गया है। और दूसरे प्रकारका यानी स्वार्थको नहीं साधनेवाला ज्ञान तो बाधकोंके सद्भावका ज्ञान है।

तत्र देशांतरादीनि वापेक्ष्य यदि जायते ।
तदा सुनिश्चितं बाधाभावज्ञानं न चान्यथा ॥ ८८ ॥

तिस प्रकरणमें देशान्तर, कालान्तर आदिकी अपेक्षा करके यदि वह ज्ञान उत्पन्न होता है, तब तो बाधकोंके अभावका ज्ञान अच्छा निश्चित हो सकता है। अन्यथा निश्चित नहीं है। भावार्थ—सभी देश और सभी कालोंमें बाधकोंके नहीं उत्पन्न होनेका यदि निर्णय होय तब तो बाधकाभाव ज्ञान प्रमाणताका हेतु हो सकता है। केवल कभी, कहीं, और किसी एक व्यक्तिको बाधकोंका अभाव तो मिथ्याज्ञानोंके होनेपर भी है। इतनेसे क्या वे प्रमाण हो जायंगे ? सब स्थानोंपर सब कालोंमें सम्पूर्ण पुरुषोंको बाधक उत्पन्न नहीं होवेंगे इसका निर्णय भला असर्वज्ञ कैसेकर सकता है ? अतः बाधवर्जितपना विशेषण लगाना प्रमाणोंमें अनुचित है। लक्षण ऐसा कहो जो कि सर्व दोषोंका निराकरण करता हुआ बहुत छोटा हो। काव्यमें दिये गये और न्यायमें कहे गये विशेषणमें अन्तर है।

अदुष्टकारणारब्धमित्येतच्च विशेषणम् ।
प्रमाणस्य न साफल्यं प्रयात्यव्यभिचारतः ॥ ८९ ॥

दुष्टकारणजन्यस्य स्वार्थनिर्णीत्यसंभवात् ।
सर्वस्य वेदनस्येत्थं तत एवानुमानतः ॥ ९० ॥
स्वार्थनिश्चायकत्वेनादुष्टकारणजन्यता ।
तथा च तत्त्वमित्येतत्परस्परसमाश्रितम् ॥ ९१ ॥

प्रमाणके सामान्य लक्षणमें दिया गया निर्दोष कारणोंसे जन्यपना इस प्रकार यह प्रमाणका विशेषण भी व्यभिचाररहितपनेसे सफलताको प्राप्त नहीं हो सकता है । जो ज्ञान दुष्ट कारणोंसे जन्य है, उसके द्वारा स्व और अर्थका निर्णय होना ही असम्भव है । अतः प्रमाणका लक्षण स्वार्थ निश्चय ही पर्याप्त है । अधिककी आवश्यकता नहीं । दूसरी बात यह है कि अनेक भ्रान्त ज्ञानोंके जनक कारणोंको भी लोक निर्दोष समझ बैठे हैं । तिस ही कारण अनुमानसे भी इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानोंकी निर्दोषकारणोंसे उत्पत्ति होनेको नहीं जान सकते हैं । क्योंकि उस अनुमानकी भी निर्दोष कारणोंसे उत्पत्तिको जानना कठिन है । व्याप्तिज्ञानकी निर्दोषताका परिज्ञान ततोपि कठिन है । यदि स्व और अर्थका निश्चय कारकपनसे ज्ञानकी निर्दोष कारणोंसे उत्पन्नता जानी जाय और निर्दोष कारणोंसे उत्पत्ति होनेका कारण वह स्वार्थनिश्चायकपना माना जाय, तिस प्रकार होनेपर तो यह अन्योन्याश्रय दोष हुआ चक्षु आदिक अतीन्द्रिय इन्द्रियोंकी निर्दोषता जानना कठिन विषय है । बाहरसे तो कहीं कहीं निर्दोषचक्षु भी सदोषसदृश दीखती है । और दूषित भी चक्षु निर्दोष दीख जाती है । भिन्न भिन्न दार्शनिकोंने सत्त्व हेतुसे क्षणिकत्व, नित्यत्व, कथंचित् नित्यपन, कारण रहितपना, कारणसहितपना, आदि साध्योंकी सिद्धि करली है । सभी बौद्ध, सांख्य, जैन, अद्वैत-वादी आदिने सत्त्व हेतुकी अपने अभीष्ट साध्यके साथ व्याप्ति मान रक्खी है । अविनाभावविकलता दोषसे रहित सत्त्व हेतु है । तथा कामधेनुके समान यथेष्ट अर्थको कहने वाले वैदिक शब्दोंसे भी कर्मकाण्डी, ब्रह्मवादी, हिंसापोषक, हिंसानिषेधक विद्वानोंने अपने मनोवांछित वाच्य अर्थका प्रतिपादन होना मान लिया है । वे सब अपने अपने शाब्दबोधके कारणोंको निर्दोष मान बैठे हैं । अतः प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द ज्ञानोंके कारणोंमें दोषोंके अभावका ज्ञान करना विषम समस्या है ।

यदि कारणदोषस्याभावज्ञानं च गम्यते ।
ज्ञानस्यादुष्टहेतूत्था तदा स्यादनवस्थितिः ॥ ९२ ॥
हेतुदोषविहीनत्वज्ञानस्यापि प्रमाणता ।
स्वहेतुदोषशून्यत्वज्ञानात्तस्यापि सा ततः ॥ ९३ ॥
गत्वा सुदूरमेकस्य तदभावेपि मानता ।
यदीष्टा तद्वदेव स्यादाद्यज्ञानस्य सा न किम् ॥ ९४ ॥

यदि प्रकृतज्ञानके उत्पादक कारणोंका निर्दोषपना अन्य ज्ञानसे जाना जायगा और उस अन्य ज्ञानकी भी निर्दोष कारणोंसे हुई उत्पत्तिको तीसरे ज्ञानसे जाना जायगा तब तो तीसरे ज्ञानकी प्रमाणताको पुष्ट करनेके लिये निर्दोष कारणोंसे उसका जन्यपना जानना आवश्यक पडेगा। इस प्रकार चौथे पांचवें आदि ज्ञानोंकी आकांक्षा बढ जानेसे अनवस्था दोष होगा। क्योंकि हेतुओंके दोषरहितपनको जाननेवाले ज्ञानकी भी प्रमाणता तभी आवेगी, जब कि उसके भी स्वकीय कारणोंमें दोषरहितपनेका ज्ञान हो जाय और उस ज्ञानकी भी प्रमाणता निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न हुये अन्य ज्ञान द्वारा हो सकेगी। यही धारा असंख्य ज्ञानोंतक चली जायगी। नहीं जाना गया ज्ञान तो अन्यका ज्ञापक होता नहीं। बहुत दूर भी जाकर अनवस्थाके निवारणार्थ यदि किसी एक ज्ञानको उस निर्दोष कारणोंसे जन्यपनेका ज्ञान न होते हुये भी प्रमाणपना इष्ट कर लोगे तो उस दूरवर्त्ती ज्ञानके समान ही सबसे पहिले हुये ज्ञानको भी निर्दोष कारणोंसे जन्यपनके ज्ञान विना ही वह प्रमाणता क्यों न हो जावे ? अतः प्रमाणके स्वरूपमें अदुष्ट कारणोंसे आरब्धपना यह विशेषण अव्यभिचारीपनसे सफल नहीं है। अर्थात्—व्यभिचारदोषकी निवृत्ति कर देता तब तो सफल हो सकता था। अन्यथा नहीं। यहां तो निर्दोष कारणोंका जानना ही दुर्गम हो रहा है। अतः वह प्रमाणका स्वरूप कथन करनेवाला भी नहीं माना जा सकता है।

एवं न बाधवर्जितत्वमदुष्टकारणारब्धत्वं लोकसंमतत्वं वा प्रमाणस्य विशेषणं सफलमपूर्वार्थवत्। स्वार्थव्यवसायात्मकत्वमात्रेण सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्मना प्रमाणत्वस्य वा व्यवस्थितेरपि परीक्षकैः प्रतिपत्तव्यम्।

इस प्रकार बाधवर्जितपना, निर्दोष कारणोंसे बनायापन, लोकमें भले प्रकार प्रतिष्ठित होरहापन ये प्रमाणके लक्षणमें मीमांसकों द्वारा कहे गये विशेषण सफल नहीं हैं, जैसे कि अपूर्वार्थ विशेषण व्यर्थ है। नैयायिक लोगोंने भी क्वचित् लोकसम्मतपना प्रमाणका विशेषण अभीष्ट किया है। किन्तु लोकमें कैई प्रमाणविरुद्ध रीतियां भी प्रचलित हो रही हैं, अतः वे विशेषण व्यर्थ हैं। केवल स्व और अर्थका निश्चय करा देना स्वरूप करके अथवा बाधक प्रमाणोंके असम्भवका भले प्रकार निश्चित हो जाना स्वरूप करके भी प्रमाणपनेकी व्यवस्था है। यह परीक्षकोंको श्रद्धान करने योग्य है।

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति केचन।
यतः स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुं नान्येन शक्यते ॥ ९५ ॥
तेषां स्वतोप्रमाणत्वमज्ञानानां भवेन्न किम्।
तत एव विशेषस्याभावात्सर्वत्र सर्वथा ॥ ९६ ॥

प्रमाणके लक्षणका निर्णय कर अब प्रमाणपनेकी ज्ञप्ति, उत्पत्ति और कार्यका विचार चलाते हैं। जैनसिद्धान्तके अनुसार अभ्यास अवस्थामें प्रमाणपनेकी ज्ञप्ति स्वतः मानी गयी है। अर्थात्—ज्ञानको जानते समय ही उसमें रहनेवाले प्रमाणपनको भी जान लिया जाता है। ज्ञानको प्रमाणको, और प्रामाण्यको जाननेका एक ही समय है। प्रतिभास भी एक ही है। और अनभ्यास दशामें ज्ञानका प्रमाणपना दूसरे ज्ञापक कारणोंसे जाना जाता है। ज्ञानके प्रवृत्तिरूप कार्यमें भी यही व्यवस्था है। अप्रमाणपनकी भी यही दशा है। हां, प्रमाणपन और अप्रमाणपनकी उत्पत्ति तो अन्य कारणोंसे ही होती है। मीमांसकोंके यहां प्रमाणपना स्वतः औत्सर्गिक माना गया है। और संशय आदिमें अप्रमाणपना अपवादरूप होकर अन्य कारणोंसे उत्पन्न हुआ माना है। ऐसा कोई यानी मीमांसक कह रहे हैं कि सम्पूर्ण प्रमाणोंको प्रमाणपना स्वतः ही प्राप्त (ज्ञात) हो जाता है। अर्थात्—सामान्य ज्ञानके कारणोंसे ही प्रमाणपना बन जाता है। अतिरिक्त हेतुओंकी आवश्यकता नहीं पडती है। कारण कि स्वरूपसे नहीं विद्यमान हो रही शक्ति तो अन्य कारणोंसे नहीं की जा सकती है। मिट्टीमें भी जलधारण शक्ति है। वह घट अवस्थामें व्यक्त हो जाती है। ऐसे ही ज्ञानमें प्रमाणपनेकी शक्ति विद्यमान है। ऐसा नहीं है कि पहिले सामान्यज्ञान उत्पन्न होवे और पीछे कारणोंसे उस ज्ञानमें प्रमाणपना चुपका दिया जाय। अब आचार्य कहते हैं कि उन मीमांसकोंके यहां तिस ही कारण संशय आदि अज्ञानोंका अप्रमाणपना भी स्वतः क्यों न हो जावे। क्योंकि सर्व ज्ञानोंमें समी प्रकारसे कोई विशेषता नहीं है। क्या अप्रमाणपनेकी शक्ति पीछेकी जा सकती है ? अर्थात्—नहीं। जैसे प्रमाणपना स्वतः पूर्वसे ज्ञात हुआ विद्यमान है, तैसे ही अप्रमाणपना भी पहिलेसे ही विद्यमान रहना चाहिये था। फिर मीमांसक अप्रमाणपनेको परसे उत्पन्न हुआ या जाना गया क्यों कहते हैं ? बताओ। जैनसिद्धान्तके अनुसार तो दोनों प्रमाणपन और अप्रमाणपन परसे ही पैदा होते हैं। हम ऐसा नहीं मानते हैं कि ज्ञानके सामान्य कारणोंसे पहिले ज्ञान उत्पन्न होय और पीछे निर्दोष कारणोंसे प्रमाणपना और सदोष कारणोंसे अप्रमाणपना उनमें जडदिया जाय, किन्तु निर्दोष या गुणवान् कारणोंसे पहिलेसे ही प्रमाणात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। और सदोष कारणोंसे पूर्वसे ही अप्रमाणज्ञान बनता है, जैसे कि चन्द्रविमान पहिले ही से काले, नीले पीले और शुक्लवर्णके रत्नोंसे बना हुआ है। कविजन उसको कलंकलांच्छन कहते हैं। और सूर्य एक वर्णके रत्नोंसे ही पहिले ही से अनादि निष्पन्न हुआ है। संतान क्रमसे आये हुए जीवोंके उच्च आचरण और नीच आचरणरूप उच्च गोत्र और नीच गोत्रमें भी यही प्रक्रिया है।

यथार्थबोधकत्वेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥ ९७ ॥

तथा मिथ्यावभासित्वादप्रमाणत्वमादितः ।
अर्थयाथात्म्यहेतूत्थगुणज्ञानादपोद्यते ॥ ९८ ॥

जिस प्रकार मीमांसकोंके यहां यह माना गया है कि अर्थके बोध करानेवाले ज्ञानपने करके प्रमाणपना व्यवस्थित हो रहा है । और अर्थके अन्यथापन तथा ज्ञानके कारणोंमें दोषोंका ज्ञान उत्पन्न हो जानेसे उस प्रमाणपनेका अपवाद हो जाता है । भावार्थ—अपवादको टालकर उत्सर्ग विधियां प्रवर्त्तती हैं । सब ज्ञानोंमें स्वतः प्रमाणपना है । किन्तु जहां अर्थके विपरीतपनेका ज्ञान हो जाय ऐसे अवसरपर सीपमें हुये चांदीके ज्ञानमें प्रमाणपना नहीं आसकता है । क्योंकि वहां " नेदम् रजतम् " यह चांदी नहीं है, ऐसा उत्तरकालमें ज्ञान हो गया है । तथा जहां ज्ञानके कारणोंमें दोषोंका ज्ञान उत्थित हो जाय वह भी प्रमाणपनेका अपवाद मार्ग है । जैसे कि शुक्ल शंखमें हुये पीत शंखके ज्ञानमें उत्सर्ग विधिके अनुसार प्रमाणपना नहीं आपाता है । क्योंकि मेरी आंखोंमें पीलिया रोग है । इस प्रकार ज्ञाताको कारणोंमें दोषका ज्ञान उत्पन्न होगया है । अतः दो अपवाद-स्थानोंको टालकर सर्वत्र प्रमाणपना राजमार्गसे स्वयं व्यवस्थित हो रहा है । आचार्य कहते हैं कि मीमांसक लोग जिस प्रकार प्रमाणको औत्सर्गिक राजमार्ग मानकर अप्रमाणपनेको अपवाद मार्ग मानते हैं, उसी प्रकार यह भी कहा जासकता है कि सब ज्ञानोंमें अप्रमाणपना उत्सर्गसे राजमार्ग है । और किन्हीं किन्हीं ज्ञानोंमें प्रमाणपना तो अपवाद मार्ग है । जिस प्रकार मीमांसकोंने प्रमाणपन व्यवस्थित किया था उसी प्रकार सभी ज्ञान मिथ्याप्रकाशक होनेके कारण प्रथमसे अप्रमाणरूप ही व्यवस्थित हो रहे हैं, यह कहा जा सकता है । हां, अर्थके यथात्मकपनेसे और हेतुओंमें उत्पन्न हुये गुणोंके ज्ञानसे उस अप्रमाणपनका अपवाद हो जाता है । भावार्थ—सभी ज्ञान प्रथमसे स्वयं अप्रमाणरूप हैं । किन्तु घट ही में हुये घटज्ञानकी यथार्थता जान लेनेपर अप्रमाणपनेको टालकर घटज्ञानमें प्रमाणपना अन्य नवीन कारणोंसे पैदा हो जाता है । तथा गुणयुक्त निर्मल चक्षु आदिसे उत्पन्न हुयेपनका पुस्तक आदिके ज्ञानोंमें निर्णय हो जानेसे उस अप्रमाणपनका अपवाद हो जाता है । अतः अर्थका यथार्थपन और गुणयुक्त कारणोंके ज्ञानसे होनेके कारण प्रमाणपना परतः है । नहीं तो सर्वत्र ज्ञानोंमें अप्रमाणपना औत्सर्गिक छाया हुआ है, यह आपादन हुआ । अतः विनिगमना विरहसे दोनों ही प्रमाणपन और अप्रमाणपनको परतः उत्पन्न होना मानना आवश्यक होगा ।

यद्यथार्थान्यथाभावाभावज्ञानं निगद्यते ।
अर्थयाथात्म्यविज्ञानमप्रमाणत्वबाधकम् ॥ ९९ ॥
तथैवास्त्वर्थयाथात्म्याभावज्ञानं स्वतः सताम् ।
अर्थान्यथात्वविज्ञानं प्रमाणत्वापवादकम् ॥ १०० ॥

जिस प्रकार मीमांसक लोग जो अर्थके अन्यथापनके अभावके ज्ञानको ही अर्थके यथार्थपनका विज्ञानरूप कह रहे हैं, और वही अप्रमाणपनका बाधक है। भावार्थ—अर्थका विपरीतपन तो अप्रमाणपनेको उत्पन्न कराता है। और उसका अभाव स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न हो जानेका प्रयोजक हो जाता है। अन्यथापनके अभावका ज्ञान कोई न्यारा स्वतंत्र हेतु नहीं है। जिससे कि हुआ प्रमाणपना परसे उत्पन्न हुआ कहा जाय, किन्तु अर्थके विपरीतपनका अभाव जानना ही तो अर्थके यथार्थपनका जानना है। अतः वह अर्थके अन्यथापनसे उत्पन्न होनेवाले अप्रमाणपनका बाधक होकर ज्ञानमें स्वतः प्रमाणपना धर देता है। अप्रमाणपनको टालनेके लिये ही अन्य कारणकी आवश्यकता है। प्रमाणपना तो स्वतः प्राप्त हो जाता है। जैसे कि रोगको दूर करनेके लिये औषधिकी आवश्यकता है। पुनः शरीर प्रकृतिमें चंचलता, स्फूर्ति तो स्वयं आ जाती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि अर्थके यथार्थपनके अभावका ज्ञान ही अर्थके अन्यथापनका विज्ञान है। वह प्रमाणपनेका अपवाद करनेवाला होकर विद्यमान सब ज्ञानोंके स्वतः अप्रमाणपनका व्यवस्थापक हो जाय। न्याय दोनों स्थानोंपर एकसा होना चाहिये। सज्जनताको स्वतः ही गर्भमेंसे ही चली आई मानकर दुर्जनताको बहिरंग कारणोंसे दूसरों द्वारा उत्पन्न हुई माननेवालोंके प्रति यह भी कहा जा सकता है कि दुर्जनता सभी जीवोंके जन्मसे ही अपने आप उत्पन्न हो जाती है। और पीछेसे सत्संग कर गुणोंके सीखनेसे दूसरों द्वारा सज्जनता उत्पन्न हो जाती है, ऐसा कहनेवालोंका मुख नहीं पकडा जा सकता है। अतः सज्जनता और दुर्जनता पीछेसे ही अन्य कारणोंसे उत्पन्न हुई मानना चाहिये। एकको उत्सर्गसे और दूसरीको अपवाद मार्गसे मानना अनुचित है। जल और स्थलमें एकसा बरसनेवाले मेघके समान न्याय एकसा होना चाहिये।

विज्ञानकारणे दोषाभावः प्रज्ञायते गुणः।
यथा तथा गुणाभावो दोषः किं नात्र मन्यते ॥ १०१ ॥
यथा च जातमात्रस्यादुष्टा नेत्रादयः स्वतः।
जात्यंधादेस्तथा दुष्टाः शिष्टैस्ते किं न लक्षिताः ॥ १०२ ॥

प्रामाण्यको स्वतः उत्पन्न कहनेवाले मीमांसक जिस प्रकार यह कहते हैं कि विज्ञानके कारणोंमें जो गुण हैं, वे दोषाभाव स्वरूप हैं। भावार्थ—गुण कोई स्वतंत्र होकर न्यारा हेतु नहीं है। हां, बहिर्भूत कामल, तिमिर आदि स्वतंत्र दोष अवश्य हैं। उन दोषोंसे परतः अप्रामाण्य हो जाता है। किन्तु चक्षुमें जो निर्मलता आदि गुण कहे गये हैं, वे तो चक्षुका स्वरूप (डील) हैं। यानी चक्षुमें कोई दोष नहीं है। ऐसी दशामें प्रमाणपनेको अपवादरहित राजमार्ग प्राप्त हो जाता है। तिसी प्रकार हम जैन भी कह सकते हैं कि अप्रमाणपनेको उत्पन्न करनेवाले दोष कोई

भिन्न स्वतंत्र हेतु नहीं हैं। किन्तु गुणोंके अभावस्वरूप दोष हैं। ऐसी दशामें परतः प्रमाणताको उत्पन्न करानेवाले गुणोंका अन्य कारणों द्वारा निराकरण हो जानेसे स्वतः ही अप्रमाणपन आ जाता है। यहां ऐसा क्यों नहीं माना जाता है? यदि मीमांसकोंका यह विचार होय कि निर्मलता तो चक्षुका शरीर है। हां, कामल, टेंट, मोतियाबिन्द, तमारा आदि ऊपरके भावरूप दोष हैं, तब तो हम भी कहेंगे कि हेतुका अविनाभावरहितपना उसके स्वरूपकी विकलता है। यानी जिस हेतुमें अविनाभाव नहीं है, उस हेतुका अभी शरीर ही नहीं बना है। बिना शरीरके दोष भला कहां रखे जांय, अतः अविनाभाव रहितपनेको दोष नहीं कहना चाहिये। यदि अविनाभाव रहितपनेको हेतुका दोष माना जाय तो मलरहितपनको चक्षुका गुण मानना भी आवश्यक है। तथा जिस प्रकार तत्काल उत्पन्न हुये बच्चेके भी नेत्र, कान, आदिक स्वतः ही अदुष्ट जाने जा रहे हैं। तिसी प्रकार जन्मसे अन्धे पुरुषके नेत्र भी स्वतः ही दुष्ट या निर्गुण हो रहे हैं। इस प्रकार क्या शिष्टों करके नहीं देखे गये हैं? भावार्थ—मीमांसक यदि यों कह दें कि नेत्रोंका स्वकीय शरीर निर्दोष है। किन्तु पीछे कारणोंसे कामल आदि दोष पैदा हो जाते हैं। अतः दोष स्वतंत्र न्यारे भावरूप कारण हैं। उत्पन्न हुये बच्चोंकी आंखें निर्दोष होती हैं। किसी किसीके पीछे उनमें दोष आ जाता है। किन्तु इसपर हम यों कह देंगे कि बहुतसे मनुष्य जन्मसे ही अन्धे, बहिरे, तोतले, आदि उत्पन्न होते हैं। पीछेसे किसी किसीकी योग्य चिकित्सा हो जानेपर उनकी इन्द्रियों या अन्य अवयवोंमें गुण उत्पन्न हो जाते हैं। अतः अदुष्टपना या निर्गुणपना किसीका भी निज गांठका स्वरूप नहीं कहा जा सकता है।

धूमादयो यथाग्न्यादीन् विना न स्युः स्वभावतः।
धूमाभासादयस्तद्वत्तैर्विना संत्यबाधिताः॥ १०३॥

मीमांसक जिस प्रकार यह कह सकते हैं कि अग्नि आदिक साध्योंके विना धूम आदिक हेतु स्वभावसे ही नहीं हो सकेंगे। अतः अविनाभावसहितपना धूमहेतुका स्वात्मलाभ है। हेतु शरीरके अतिरिक्त कोई ऊपरी गुण नहीं है। हां, अविनाभावरहितपना तो औपाधिक परभाव है। उस प्रकार हम भी आपादन कर सकते हैं कि धूमसदृश दीखनेवाले धूमाभास आदिक हेत्वाभास भी तो उन अग्निसदृश दीखनेवाले अग्न्याभास आदिके विना नहीं हो सकते हैं। अतः धूमाभास आदिक भी अबाधित होकर स्वभावसे ही स्वतः अप्रमाणपनके व्यवस्थापक हो जाओ। यानी प्रमाणपनके समान अनुमानमें अप्रमाणपनकी भी स्वतः व्यवस्था हो जायगी। कौन रोक सकता है?

यथा शब्दाः स्वतस्तत्त्वप्रत्यायनपरास्तथा।
शब्दाभासास्तथा मिथ्यापदार्थप्रतिपादकाः॥ १०४॥

दुष्टे वक्तरि शब्दस्य दोषस्तत्संप्रतीयते ।
गुणो गुणवतीति स्याद्वक्त्रधीनमिदं द्वयम् ॥ १०५ ॥
यथावक्तृगुणैर्दोषः शब्दानां विनिवर्त्यते ।
तथा गुणोपि तद्दोषैरिति स्पृष्टमभीक्ष्यते ॥ १०६ ॥
यथा च वक्त्रभावेन न स्युर्दोषास्तदाश्रयाः ।
तद्वदेव गुणा न स्युर्मेघध्वानादिवद्ध्रुवम् ॥ १०७ ॥

और मीमांसकोंके यहां जिस प्रकार शब्द स्वतः ही अपने वाच्यार्थ तत्त्वोंके सममझानेमें तत्पर हो रहे माने गये हैं, तिसी प्रकार शब्दाभास भी मिथ्यापदार्थोंके स्वतः ही प्रतिपादक हो रहे माने जा सकते हैं। कोई अन्तर नहीं है। अतः आगममें प्रमाणपनके समान कुशास्त्रोंमें अप्रमाणपन भी स्वतः उत्पन्न हो जावेगा, दोषयुक्त वक्ताके होनेपर जैसे शब्दके दोष भले प्रकार प्रतीत हो रहे हैं। तिस ही कारण गुणवान् वक्ताके होनेपर शब्दके गुण भी स्वतंत्र न्यारे अच्छे दीख रहे हैं। इस प्रकार ये गुण, दोष दोनों ही वैसे वैसे वक्ताके अधीन हैं। अतः दोनों स्वतंत्र हैं। सतर्क अवस्थामें गुण और दोषोंका परीक्षण अन्य कारणों द्वारा न्यारा न्यारा प्रतीत हो रहा है। तथा जिस प्रकार समीचीन सत्यवक्ता पुरुषके गुणों करके शब्दोंके दोष निवृत्त हो जाते हैं, और अप्रामाण्यके कारण दोषोंके टल जानेसे आगमज्ञानमें स्वतः प्रामाण्य आजाता है। उसी प्रकार उस झूंठ बकनेवाले वक्ताके दोषोंकरके शब्दके गुण भी निवृत्त हो जाते हैं। ऐसा स्पष्ट चारों ओर देखनेमें आरहा है। अतः प्रामाण्यके कारणपरभूतगुणोंके टल जानेसे वाच्यार्थ ज्ञानमें स्वतः अप्रमाणपना भी आजावेगा। फिर प्रमाणपनकी ही स्वतः उत्पत्तिका आग्रह क्यों किया जारहा है? अप्रमाणपन भी स्वतः उत्पन्न हो जायगा और जिस प्रकार वेदको अपौरुषेय मानकर स्वतः ही प्रमाणपना बतानेवाले मीमांसक यों कह रहे हैं कि वेदका वक्ता न होनेके कारण उसके आधारपर होने वाले दोष नहीं हो सकेंगे। " न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी " अतः अप्रमाणपनके कारणों (दोषों) के टल जानेसे स्वतः ही वेदमें प्रमाणपना आजाता है। उसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि मेघशब्द, वात्या (आंधी) के शब्द, समुद्रध्वनि आदिमें वक्ताके न होनेके कारण ही गुण भी नहीं हैं। अतः निश्चय कर उनमें अप्रमाणपना स्वतः उत्पन्न हो जावे। अर्थात्—अपौरुषेय मेघगर्जनका भी कोई वक्ता नहीं है। " आंख फूटी पीर गयी "। अतः उसके आधार पर होनेवाले गुणोंके अभाव हो जानेसे अप्रामाण्य स्वतः उत्पन्न हो जाओ। अपौरुषेयत्वको प्रमाणपनका कारण माननेपर तो घनगर्जन, बिजलीकी तडतडाहटमें प्रमाणपन भी प्राप्त हो जायगा। अतः आगममें दोनों ही स्वतः या प्रमाण,

अप्रमाणपन दोनों ही परतः मानलेने चाहिये। परिशेषमें विचार करनेपर दोनोकी उत्पत्ति परतः मानना समुचित होगा।

ततश्च चोदनाबुद्धिर्न प्रमाणं न चा प्रमा।
आप्तानाप्तोपदेशोत्थबुद्धेस्तत्त्वप्रसिद्धितः ॥ १०८ ॥
एवं समत्वसंसिद्धौ प्रमाणत्वेतरत्वयोः।
स्वत एव द्वयं सिद्धं सर्वज्ञानेष्वितीतरे ॥ १०९ ॥

और तिस कारण विधिलिङन्त वेद वाक्योंसे उत्पन्न हुई कर्मकाण्डकी प्रेरिका बुद्धि प्रमाण नहीं है और अप्रमाण भी नहीं है। क्योंकि आप्त और अनाप्तके उपदेशोंसे उत्पन्न हुई बुद्धिको उस प्रमाणपन और अप्रमाणपनकी व्यवस्था हो रही है। केवल अपौरुषेय होनेसे प्रमाणपनके समान अप्रमाणपन भी प्राप्त हो सकता है। किसी भी पुरुषके प्रयत्नसे नहीं उत्पन्न हुआ घनगर्जन या उससे जन्य ज्ञान अप्रमाण प्रसिद्ध हो रहा है। इस प्रकार मीमांसकोंके यहां प्रमाणपन और अप्रमाणपन दोनों ही समान जब भले प्रकार सिद्ध हो गये तब तो सम्पूर्ण ज्ञानोंमें दोनों प्रमाणपन और अप्रमाणपन स्वतः ही बन जाने चाहिये। इस प्रकार कोई अन्य जन कटाक्ष कर रहे हैं। जो कि समुचित है।

यथा प्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यं तथा अप्रमाणानां स्वतोऽप्रामाण्यं सर्वथा विशेषाभावात् तयोरुत्पत्तौ स्वकार्ये च सापेक्षत्वोपपत्तेः प्रकारांतरासंभवादित्यपरे।

जिस प्रकार प्रमाणज्ञानोंको स्वतः प्रमाणपना इष्ट है उसी प्रकार अप्रमाणभूत कुज्ञानोंको स्वतः अप्रमाणपना होजाओ, सभी प्रकारोंसे कोई अन्तर नहीं है। उन दोनोंकी उत्पत्तिमें और स्वकीय कार्यमें अन्य सामग्रियोंकी तथा अपने ग्रहणकी कोई अपेक्षा नहीं हो रही है। ऐसी दशामें दूसरोंसे प्रमाणपन या अप्रमाणपन उत्पन्न करानेमें अन्य किसी प्रकारका सम्भव नहीं है। इस प्रकार कोई अन्य कह रहे हैं। इन सबके लिये हमारा वही उत्तर है कि भिन्न भिन्न सामग्रीसे ही न्यारे न्यारे कार्य उत्पन्न हो सकते हैं। रसोईकी सामान्य सामग्री चकरा, वेलन, कढाई बर्तन, आदिसे मोदक, घृतवर (घेवर) पेडा आदि मनोहर व्यंजन नहीं बन पाते हैं। केवल साधारण कारणोंद्वारा लापसी, खिचडा आदि निकृष्ट भोजन भी नहीं बन सकते हैं। अतः ज्ञानकी सामान्य सामग्रीसे भी भी प्रमाणपन और अप्रमाणपन नहीं उत्पन्न हो पाते हैं। गुणोंकी यह सामर्थ्य है कि उनके सन्निधान होनेपर पहिलेसे ही वह ज्ञान प्रामाण्यको लिये हुये ही उत्पन्न होगा और दोषोंके सामग्रीमें पतित हो जानेपर प्रथमसे ही अप्रामाण्यको लिये हुये ही ज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसा नहीं है कि

प्रथमसे तो सामान्यज्ञान हो जाय और फिर गुण दोषोंसे उसमें प्रमाणपन या अप्रमाणपन उत्पन्न होता फिरे। इसका स्पष्टीकरण पूर्वमें कर दिया गया है।

स्वतः प्रमाणेतरैकांतवादिनं प्रत्याह।

अब प्रामाण्यकी ज्ञप्तिका विचार चलाते हैं। नैयायिक तो प्रमाणपनेकी ज्ञप्तिका होना परतः ही मानते हैं। और मीमांसक सभी ज्ञानोंमें प्रमाणपना स्वतः जान लिया गया मानते हैं। प्रथम ही जो प्रमाणपन और अप्रमाणपनका स्वतः ही जानना मानते हैं, उन एकान्तवादियोंके प्रति आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

तन्नानभ्यासकालेपि तथा भावानुषंगतः।
न च प्रतीयते तादृक् परतस्तत्त्वनिर्णयात् ॥ ११० ॥

वह प्रमाणपन और अप्रमाणपनकी स्वतः ज्ञप्ति होजानेका एकान्त करना ठीक नहीं है। क्योंकि यों तो अनभ्यास कालमें भी तिस प्रकार स्वतः ही प्रमाणपन या अप्रमाणपन हो जानेका प्रसंग होगा। किन्तु तिस प्रकार वहाँ स्वतः ज्ञप्ति होना प्रतीत नहीं हो रहा है। अनभ्यास दशामें तो अन्य ज्ञापकोंसे तत्त्व यानी उस प्रमाणपन या अप्रमाणपनका निर्णय हो रहा है। अर्थात्—अपने परिचित नदी, सरोवर आदिके जलकी गहराईके ज्ञानमें प्रमाणता स्वतः जानी जाती है। किन्तु देशान्तरमें जलकी गहराईके ज्ञानमें लठिया, परोपदेश आदि अन्य ज्ञापकोंसे प्रामाण्य जाना जाता है। अपरिचित औषधियोंके ज्ञानमें भी प्रामाण्य पीछे फल देखनेपर जाना जाता है। इसी प्रकार चन्द्रमाका दूरसे छोटा दीखना या निकट देशमें दीखते रहना और दूरसे रेलकी समानान्तर पटरिओंका आगे सिकुड जाना दीखना तथा एकसे कूपेका भी नीचेका ओर संकोच स्थल दीखना एवं पित्तज्वरमें पेडेका कडुआ स्वाद लगना, आदिक अभ्यास दशाके असमीचीन ज्ञानोंमें अप्रमाण स्वतः ही जान ली जाती है। अपरिचित दशाके कुज्ञानोंमें अप्रमाणपना परसे जाना जाता है। किसी अपरिचित पदार्थको विना विचारे झट अप्रमाण समझलेना भी तो उचित नहीं है।

स्वतः प्रामाण्येतरैकांतवादिनामभ्यासावस्थायामिवानभ्यासदशायामपि स्वत एव प्रमाणत्वमितरच्च स्यादन्यथा तदेकांतहानिप्रसंगात्। न चेदृक् प्रतीयतेऽनभ्यासे परतः प्रमाणत्वस्येतरस्य च निर्णयात्। न हि तत्तदा कस्यचित्तथ्यार्थावबोधकत्वं मिथ्यावभासित्वं वा नेतुं शक्यं स्वत एव तस्यार्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादर्थयाथात्म्यहेतूत्थगुणज्ञानाद्वा अनपवादप्रसंगात्। तथा च नाप्रमाणत्वस्यार्थान्यथाभावाभावज्ञानं बाधकं प्रमाणत्वस्य वार्थान्यथात्वविज्ञानं सिध्येत्।

प्रमाणपन और उससे भिन्न अप्रमाणपनका स्वतः ही ज्ञान होना माननेवाले एकान्तवादियोंके यहां अभ्यासदशाके समान अनभ्यास दशामें भी स्वतः ही प्रमाणपन और इससे न्यारा अप्रमाणपन

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जाना जायगा। अन्यथा यानी अनभ्यास दशामें दोनोंकी परतः ज्ञप्ति माननेपर तो उनको अपने एकान्तकी हानि हो जानेका यानी अपने पक्षके परित्याग करनेका प्रसंग होगा। स्वतः मानकर फिर परतः मान लेनेसे उनकी प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती है। किन्तु ऐसा होता हुआ नहीं प्रतीत हो रहा है। अनभ्यासदशाके जलमें हुये जलज्ञान और बालू रेत या कांसोंमें हुये जलज्ञानको प्रमाणपना और अप्रमाणपना पर (दूसरे) कारणोंसे निर्णीत किया जाता है। उस समय अनभ्यास दशामें वह प्रमाणपन चाहे किसीके सत्य अर्थके अवबोधकपनको प्राप्त नहीं किया जा सकता है, जिससे कि अर्थके विपरीतपन या कारणोंमें उत्पन्न हुये दोषोंके ज्ञानसे शंका प्राप्त अप्रमाणपनका निराकरण होकर अपवादरहित हो जानेके प्रसंगसे उस ज्ञानको स्वतः ही प्रमाणपना ज्ञात हो जाय। तथा अनभ्यास दशामें वह अप्रमाणपन किसी अर्थके मिथ्याप्रकाशकपनको भी प्राप्त नहीं कराया जा सकता है, जिससे कि अर्थके यथार्थ आत्मकपन या कारणोंमें उत्पन्न हुये गुणोंके ज्ञानसे शंका प्राप्त प्रमाणपनका निवारण कर अपवादरहित हो जानेसे उस ज्ञानको अप्रमाणपना स्वतः ही औत्सर्गिक जाना जाता, अर्थात्—अनभ्यास दशामें अपवाद विषयोंको टालकर स्वतः ही दोनों नहीं जाने जा सकते हैं। और तिस प्रकार होनेपर विषय अर्थके विपरीतपनका अभावज्ञान तो अप्रमाणपनेका बाधक नहीं सिद्ध हो सके और ज्ञेय अर्थके विपरीतपनका ज्ञान प्रमाणपनका बाधक नहीं सिद्ध हो सके, यानी अर्थका यथार्थपन और विपरीतपन उन अप्रमाणपन और प्रमाणपनेके वहां बाधक हो जायंगे। उनके दूर करनेके लिये अन्य ज्ञापकोंकी आवश्यकता पड जायगी।

न चानभ्यासे ज्ञानकारणेषु दोषाभावो गुणाभावो वा गुणदोषस्वभावः स्वतो विभाव्यते यतो जातमात्रस्यादुष्टा दुष्टा वा नेत्रादयः प्रत्यक्षहेतवः सिध्येयुः धूमादितदाभासा वा अनुमानहेतवः शब्दतदाभासा वा शाब्दज्ञानहेतवः प्रमाणांतरहेतवो वा यथोपवर्णिता इति।

दूसरी बात यह है कि अनभ्यासकी दशा उपस्थित होनेपर ज्ञानके कारणोंमें दोषोंका अभाव अथवा गुणोंका अभाव जो कि गुण या दोषस्वरूप है, स्वतः तो नहीं विचार किया जा सकता है, जिससे कि यों कह दिया जाय कि उसी समय उत्पन्न हुये बच्चेतकके भी नेत्र आदिक दोष रहित अथवा दोषसहित जाने जाकर होते हुये वे प्रत्यक्षके प्रमाणपन और अप्रमाणपनके कारण सिद्ध हो जावें अथवा निर्दोष धूम आदिक हेतु और सदोष हेत्वाभास ये अनुमानके प्रमाणपन और अप्रमाणपनके कारण सिद्ध हो जांय अथवा निर्दोष शब्द और सदोष शब्दाभास ये आगमज्ञानके प्रमाणपन एवं अप्रमाणपनके कारण सिद्ध हो जांय अथवा आपने जिस प्रकार अन्य प्रत्यभिज्ञान, अर्थापत्ति, आदि प्रमाणोंके हेतु वर्णन किये हैं, वे निर्दोष और सदोष होते हुये उनके प्रमाणपन और अप्रमाणपनके हेतु सिद्ध हो जांय। भावार्थ-अनभ्यास दशामें निर्दोष और सदोष कारणोंका जानना बडा कठिन है। नील आभावाले जलको स्वच्छ कहा जाता है। जिस कपडेमें धोबी थोडा नील रंग लगा लाता है, वह कपडा स्वच्छ धुला हुआ समझा जाता है। और स्वच्छ धुला हुआ

वस्त्र कुछ मैला समझा जाता है। मीठा चूरमा बनानेके लिए दस सेर चूनमें एक रुपये भर निमक डालना रसको व्यक्त करनेवाला समझा जाता है। निमकीन चटनी और खट्टे नीबूमें स्वल्प बूरा डालकर उन रसोंको उद्भूत कर लिया जाता है। किसी पुरुषकी लाल लाल आंखे भी सत्य प्रतीतिका कारण हैं। कचित् शुक्ल या नील आंखे भी मिथ्याज्ञान करा देती हैं। बात यह है कि दोष और गुण अनेक प्रकारके हैं। अनभ्यास दशामें उनका निर्णय होना कठिन है। अतः बच्चे तकके नेत्रोंमें दोष और गुण जाने जाकर स्वतः प्रमाणतावाले प्रत्यक्ष ज्ञानको करा देंगे, यह केवल सेखी मारना है। इसी प्रकार अनुमान आदि ज्ञानोंके प्रमाण, अप्रमाणपनके ज्ञापकोंका निर्णय कराना भी अनभ्यास दशामें कठिन है।

कथं वानभ्यासे दुष्टो वक्ता गुणवान् वा स्वतः शक्योवसातुं यतः शब्दस्य दोषवत्त्वं वा वक्त्रधीनमनुरुध्यते। तथा वक्तुर्गुणैः शब्दानां दोषोऽपनीयते दोषैर्वा गुण इत्येतदपि नानभ्यासे स्वतो निर्णेयं, वक्तृरहितत्वं वा गुणदोषाभावनिबंधनतया चोदनाबुद्धेः प्रमाणेतरत्वाभावनिबंधनमिति न प्रमाणेतरत्वयो समत्वं सिध्येत् स्वतस्तन्निबंधनं सर्वथानभ्यासे ज्ञानानामुत्पत्तौ स्वकार्ये च सामग्र्यंतरस्वग्रहणानिरपेक्षात्वासिद्धेश्च। ततो न स्वत एवेति युक्तमुत्पश्यामः।

और यह भी तो विचारोंकी अनभ्यास दशामें दोषवान् वक्ता अथवा गुणवान् वक्ताका स्वतः ही निर्णय कैसे किया जा सकता है? जिससे कि आप मीमांसकोंका यह अनुरोध हो सके कि शब्दका दोषयुक्तपना और गुणयुक्तपना तो वक्ताके अधीन है तथा वक्ताके गुणोंकरके शब्दके दोषोंका निवारण हो जाता है। और वक्ताके दोषोंकरके शब्दके गुण दूर कर दिये जाते हैं। इस प्रकार यह भी अनभ्यासदशामें अपने आप निर्णय करने योग्य नहीं है। अथवा वेदका वक्ता-रहितपना ही गुणके अभावका कारण हो जानेसे वेदवाक्यजन्य ज्ञानके प्रमाणपनके अभावका कारण हो जाय और वक्ताका रहितपना आश्रय विना दोषोंके अभावका कारणपना हो जानेसे वेद वाक्यजन्य ज्ञानके अप्रमाणपनके अभावका कारण हो जाय, यह भी निर्णय नहीं किया जा सकता है। भावार्थ—मीमांसकोंने अपनी श्लोकवार्तिकमें कहा है कि "**शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितं,तदभावः क्वचित्तावद्गुणवद्वक्तृकत्वतः॥१॥ तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसम्भवात् यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः॥२॥**" शब्दोंमें दोषोंकी उत्पत्ति वक्ताके अधीन है। तहां कहीं तो गुणवान् वक्ता होनेके कारण शब्दोंमें दोषोंका अभाव हो जाता है। क्योंकि वक्ताके गुणोंकरके निराकृत किये दोषोंका शब्दमें संक्रमण होना असम्भव है। अथवा अपौरुषेय वेदमें सबसे अच्छी बात यह है कि सर्वथा वक्ताके अभाव होनेसे आश्रयके विना दोष नहीं ठहर पाते हैं। अतः वेदमें स्वतः प्रमाणपना प्राप्त हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकोंकी मीमांसा

ठीक नहीं है। क्यों कि अनभ्यास दशामें निर्णय होना बडा कठिन है और इस मायाचारीके बाहुल्यके युगमें झट किसीके दोष या गुणका निर्णय करना तो अतीव कष्टसाध्य है, जिससे कि इस प्रकार अभ्यास और अनभ्यास दशामें प्रमाणपन और अप्रमाणपनका एकसापन सिद्ध नहीं होवे। अर्थात्—दोनों एकसे हैं। स्वतः होनेके अथवा परतः ज्ञप्ति होनेके उनके कारण एकसे हैं। और अनभ्यास दशामें ज्ञानोंकी उत्पत्ति और स्वकार्यमें भी अन्य सामग्री और स्वग्रहणका निरपेक्षपना असिद्ध है। यानीं प्रमाणके कार्य यथार्थ परिच्छेद अथवा " यह प्रमाण है " ऐसा निर्णय होना रूप कार्यमें अन्य सामग्रीकी और स्वके ग्रहणकी ज्ञानको अपेक्षा है। प्रामाण्यकी उत्पत्तिमें ज्ञानके सामान्य कारणोंसे अतिरिक्त कारणोंकी अपेक्षा पहिले बतला दी गयी है। तिस कारण उत्पत्ति, ज्ञप्ति और स्वकार्य करनेमें प्रामाण्य स्वतः ही है, यह एकान्तवादियोंका कहना युक्त नहीं है। ऐसा हम ठीक युक्तिपूर्ण समझ रहे हैं।

द्वयं परत एवेति केचित्तदपि साकुलम्।
स्वभ्यस्तविषये तस्य परापेक्षानभीक्षणात् ॥ १११ ॥

नैयायिक कहते हैं कि प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी ज्ञप्ति चाहे अभ्यास दशा हो अथवा अनभ्यास दशा हो, दूसरे कारणोंसे ही होती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि वह कहना भी आकुलता सहित है। क्योंकि अच्छे ढंगसे अभ्यासको प्राप्त हुये विषयमें उस प्रामाण्य-अप्रामाण्यके द्वयको अन्य कारणोंकी अपेक्षा रखना नहीं देखा जाता है।

स्वभ्यस्तेपि विषये प्रमाणाप्रमाणयोस्तद्भावसिद्धौ परापेक्षायामनवस्थानापत्तेः कुतः कस्यचित्प्रवृत्तिनिवृत्ती च स्यातामिति न परत एव तदुभयमभ्युपगंतव्यं।

भले प्रकार अभ्यासको प्राप्त किये गये भी विषयमें प्रमाण और अप्रमाणके उस प्रमाणपन और अप्रमाणपनके अधिगमकी सिद्धि करनेमें यदि अन्योंकी अपेक्षा मानी जायगी तो अनवस्था दोषका प्रसंग होता है। क्योंकि उस ज्ञापक अन्य प्रमाणके प्रामाण्यको जाननेके लिये भी अन्य ज्ञापक प्रमाणके उत्थापनकी आकांक्षा बढती जायगी। अज्ञान तो अन्योंका ज्ञापक होता नहीं है। इस कारण भला किसकी किससे प्रवृत्ति और निवृत्ति हो सकेगी? ज्ञापक कारणोंको ढूंढते ढूंढते शक्तियां नष्ट हो जावेंगी। पार नहीं मिलेगा। अतः वह प्रमाणपन और अप्रमाणपन दोनोंकी ज्ञप्तिका परसे ही होना नहीं स्वीकार करना चाहिये।

तत्र प्रवृत्तिसामर्थ्यात्प्रमाणत्वं प्रतीयते।
प्रमाणस्यार्थवत्त्वं चेन्नानवस्थानुषंगतः ॥ ११२ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रमाणेन प्रतीतेर्थे यत्तद्देशोपसर्पणम् ।
सा प्रवृत्तिः फलस्याप्तिस्तस्याः सामर्थ्यमिष्यते ॥ ११३ ॥
प्रसूतिर्वा सजातीयविज्ञानस्य यदा तदा ।
फलप्राप्तिरपि ज्ञाता सामर्थ्यं नान्यथा स्थितिः ॥ ११४ ॥
तद्विज्ञानस्य चान्यस्मात् प्रवृत्तिबलतो यदि ।
तदानवस्थितिस्तावत्केनात्र प्रतिहन्यते ॥ ११५ ॥

तहां नैयायिक या वैशेषिक प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे प्रमाणपना प्रतीत होता है, यह मानते हैं। **"प्रमाणतो अर्थप्रतीतौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणं"**। जलको जानकर स्नान, पान, अवगाहनमें प्रवृत्ति हो जानेकी सामर्थ्यसे प्रमाण अर्थवान् है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार प्रमाणको अर्थ सहितपना तो ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेपर अनवस्था दोषका प्रसंग होता है। उस दोषको स्पष्ट कर दिखलाते हैं कि प्रवृत्तिकी सामर्थ्यका अर्थ आप नैयायिक क्या करेंगे ? बताओ ! प्रमाणकरके अर्थके प्रतीत हो जानेपर जो उस प्रमेयके देशमें झटपट गमन करता है, वह प्रवृत्ति है। और जलज्ञानसे जलको जानकर स्नान, पान, अवगाहनरूप फलकी प्राप्ति हो जाना उस प्रवृत्तिकी सामर्थ्य मानी जा रही है ? अथवा जलज्ञानकी दृढताको सम्पादन करनेके लिये जलज्ञानके समान जातिवाले दूसरे विज्ञानकी उत्पत्ति हो जाना सामर्थ्य है ? यदि पहिला पक्ष ग्रहण करोगे तब तो स्नान, पान आदि फलकी प्राप्ति भी अन्यज्ञानसे होती हुई ही सामर्थ्य बन सकती है। अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अब विचारिये कि उस फलप्राप्तिको जाननेवाले विज्ञानकी प्रमाणता अन्य किसी प्रवृत्ति सामर्थ्यसे यदि जानी जावेगी तो वह दूसरा प्रवृत्तिसामर्थ्य भी फलप्राप्तिरूप होगा। वह फलप्राप्ति भी किसी ज्ञानसे जानी गयी होकर ही सामर्थ्य बन सकती है। नहीं जानी गयी हुई फलप्राप्ति तो प्रवृत्तिसामर्थ्य बन नहीं सकती है। अतिप्रसंग हो जायगा। यानी धूमके न जाननेपर भी पर्वतमें अग्निके निश्चय हो जानेका प्रसंग हो जायगा। अज्ञात पदार्थ तो किसीके ज्ञापक होते नहीं हैं। अतः फलप्राप्तिको पुनः जाननेके लिये अन्य ज्ञानोंकी आवश्यकता पडेगी और उन ज्ञानोंको प्रमाणपना अन्य प्रवृत्तिसामर्थ्योंसे होगा। तब तो यहां अनवस्था दोषका प्रतिघात भला किसके द्वारा हो सकता है ? फलप्राप्तिके ज्ञानको प्रमाणपन पूर्व ज्ञानसे और पूर्व ज्ञानका प्रमाणपना यदि प्रवृत्ति सामर्थ्यरूप फलप्राप्तिसे माना जायगा तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। इस कारण परतः प्रामाण्यवादी नैयायिकोंके यहां प्रवृत्तिसामर्थ्यसे प्रमाणपना व्यवस्थित नहीं हो सकता है।

स्वतस्तद्बलतो ज्ञानं प्रमाणं चेत्तथा न किम् ।
प्रथमं कथ्यते ज्ञानं प्रद्वेषो निर्निबन्धनम् ॥ ११६ ॥

अनवस्था दोषके निवारणके लिये यदि उस प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे हुये दूसरे ज्ञानको प्रमाणपना स्वतः माना जायगा, तब तो तिसी प्रकार पहिला ज्ञान भी क्यों नहीं स्वतः प्रमाणरूप कहा जाता है। कारणके विना ही दोनोंमेंसे किसी एकके साथ विशेष द्वेष करना समुचित नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि आप नैयायिकोंको अपने सिद्धान्तसे विरोध लगेगा। आपने प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे परतः प्रामाण्य होना स्वीकार किया है।

एतेनैव सजातीयज्ञानोत्पत्तौ निवेदिता ।
अनवस्थान्यतस्तस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः ॥ ११७ ॥
न च सामर्थ्यविज्ञाने प्रामाण्यानवधारणे ।
तन्निबंधनमाद्यस्य ज्ञानस्यैतत् प्रसिध्यति ॥११८॥

इस उक्त कथन करके ही सजातीय ज्ञानकी उत्पत्तिरूप प्रवृत्तिसामर्थ्यका भी निवारण कर दिया गया है। द्वितीय पक्षके अनुसार मानी गयी सजातीय ज्ञानकी उत्पत्तिमें भी अनवस्था दोष होनेका निवेदन किया जा चुका है। क्योंकि उस दूसरे सजातीय ज्ञानको प्रमाणपना अन्य सजातीय ज्ञानसे व्यवस्थित होगा और उस ज्ञानकी प्रमाणताके लिये भी तीसरे-चौथे आदि सजातीय ज्ञानोंको उत्पन्न करना पडेगा। इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। जबतक प्रवृत्ति सामर्थ्यके विज्ञानमें प्रामाण्यका निर्णय न होगा तबतक उस प्रवृत्तिसामर्थ्यको कारण मानकर उत्पन्न होनेवाली आदिके ज्ञानकी यह प्रमाणता प्रसिद्ध नहीं हो सकती है। अन्य ज्ञानोंसे प्रवृत्ति सामर्थ्यके विज्ञानमें प्रामाण्यका निर्णय करनेपर अनवस्था हो जाती है।

न ह्यनवधारितप्रमाण्याद्विज्ञानात् प्रवृत्तिसामर्थ्यं सिध्यति यतोनवस्थापरिहारः। प्रमाणतोर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमित्येतद्वा भाष्यं सुघटं स्यात् प्रवृत्तिसामर्थ्यादसिद्धात् प्रमाणस्यार्थवत्त्वाघटनात्।

नहीं निर्णीत किया है प्रामाण्य जिसका, ऐसे विज्ञानसे प्रवृत्तिकी सामर्थ्य सिद्ध नहीं होती है, जिससे कि अनवस्थाका परिहार हो जाय और प्रमाणसे अर्थकी प्रतिपत्ति हो जानेपर प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे प्रमाण अर्थवान् है, इस प्रकार यह न्यायभाष्य भले प्रकार घटित हो जावे। अर्थात्—नैयायिकोंके ऊपर अनवस्था दोष लागू रहेगा और न्यायभाष्यकार वाचस्पतिमिश्रका वचन घटित नहीं होगा। क्योंकि प्रमाणोंसे नहीं सिद्ध किये गये प्रवृत्तिसामर्थ्यसे तो प्रमाणका अर्थवान्पना नहीं घटता है।

किं च प्रमाणतः प्रवृत्तिरपि ज्ञातप्रामाण्यादज्ञातप्रामाण्याद्वा स्यात् ।

दूसरी बात नैयायिकोंसे हम यह पूंछते हैं कि जान लिया गया प्रमाणपना जिसमें ऐसे प्रमाणसे प्रवृत्ति करना मानोगे अथवा नहीं जाना गया है प्रामाण्य जिसमें ऐसे प्रमाणसे भी प्रवृत्ति हो सकेगी ? बताओ ।

ज्ञातप्रामाण्यतो मानात्प्रवृत्तौ केन वार्यते ।
परस्पराश्रयो दोषो वृत्तिप्रामाण्यसंविदोः ॥ ११९ ॥
अविज्ञातप्रमाणत्वात् प्रवृत्तिश्चेद्वृथा भवेत् ।
प्रामाण्यवेदनं वृत्ते क्षौरे नक्षत्रपृष्टिवत् ॥ १२० ॥

जान लिया गया है प्रामाण्य जिसका ऐसे प्रमाणसे यदि प्रमेयमें प्रवृत्ति होना माना जायगा तो प्रवृत्ति और प्रामाण्यक ज्ञानमें अन्योन्याश्रय दोष भला किस करके निवारित किया जा सकता है ? अर्थात्—प्रवृत्ति करानेवाले ज्ञानका प्रमाणपना निश्चय कर चुकनेपर उस प्रामाण्यग्रस्त ज्ञानसे प्रमेयकी प्रतिपत्ति होय और प्रमेयकी प्रतिपत्ति हो जानेपर उसमें प्रवृत्ति होनेकी सामर्थ्यसे प्रमाणपनेका निश्चय होय यह अन्योन्याश्रय दोष है । द्वितीयपक्षके अनुसार नहीं जाना गया है प्रामाण्य जिसका, ऐसे ज्ञानसे यदि प्रवृत्ति होना माना जायगा तो सर्वत्र प्रामाण्यका निश्चय करना व्यर्थ पडेगा जैसे कि बालोंके कटाचुकनेपर फिर नक्षत्रका पूछना व्यर्थ है । भावार्थ—अधिक प्यास लगनेपर परदेशमें चाहे जिस स्पृश्य अस्पृश्य व्यक्तिके घरका पानी पीलिया, पीछे पिलानेवालेका जाति, गोत्र, वर्ण पूछना जैसा व्यर्थ है, तथा स्वाति, धनिष्ठा, पुष्य आदि शुभ नक्षत्रोंमें बाल कटाना प्रशस्त है किन्तु आतुरतासे मुंडन करा चुकनेपर पुनः नक्षत्रका पूछना जैसे व्यर्थ है, उसी प्रकार अज्ञात प्रमाणपनवाले ज्ञानसे प्रवृत्ति होना माननेपर ज्ञानोंमें प्रमाणपनका निश्चय करना व्यर्थ है ।

अर्थसंशयतो वृत्तिरनेनैव निवारिता ।
अनर्थसंशयाद्वापि निवृत्तिर्विदुषामिव ॥ १२१ ॥

यदि कोई यों कहे कि सुवर्ण, रुपया, आदि अर्थोंमें संशय ज्ञानसे भी प्रवृत्ति होना देखा जा सकता है, आचार्य कहते हैं कि सो ठीक नहीं है । क्योंकि " **अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्** " संशयज्ञानोंसे ही प्रवृत्ति होने लगे तो प्रमाणज्ञान क्यों ढूंढा जाय ? अतः अनर्थके संशय (सम्भावना) से भी विद्वानोंकी अनुचित कार्योंसे जैसे निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही इष्ट अर्थके संशयसे पदार्थोंमें प्रवृत्ति हो जाती है, यह पक्ष भी इस उक्त कथनसे निवारित करदिया गया समझलेना चाहिये । प्रेक्षापूर्वकारी पुरुष संशयसे प्रवृत्ति नहीं करते हैं ।

परलोकप्रसिध्द्यर्थमनुष्ठानं प्रमाणतः ।
सिद्धं तस्य बहुक्लेशवित्तत्यागात्मकत्वतः ॥ १२२ ॥
इति ब्रुवन् महायात्राविवाहादिषु वर्तनम् ।
संदेहादभिमन्येत जाड्यादेव महत्तमात् ॥ १२३ ॥

परलोककी प्रसिद्धिके लिये दीक्षा, वनवास, उपवास, परीषहसहन, ब्रह्मचर्य, आदि अनुष्ठान करना प्रमाणोंसे सिद्ध है। क्योंकि वह अनुष्ठान अधिकक्लेश, धनत्याग, स्त्रीपुत्रनिवारण-स्वरूप है। जब कि अत्यन्त परोक्ष परलोकके लिये प्रमाणोंसे साधे गये अनुष्ठानमें प्रवृत्ति होना मानते हो किन्तु बडी यात्रा, विवाह, धनअर्जन, अध्ययन, आदिकमें संदेहसे प्रवृत्ति करना अभिमानपूर्वक अभीष्ट करते हो, आचार्य कहते हैं कि यों कह रहा एकान्ती पुरुष महामूर्ख है। इसमें बहुत बढी हुई जडता ही कारण कही जा सकती है। तत्त्व यह है कि संशयसे परीक्षकोंकी अर्थ, अनर्थमें प्रवृत्ति, निवृत्ति होना अशक्य है। नैयायिक लोग आत्माको ज्ञानस्वरूप नहीं मानते हैं। आत्मामें ज्ञान न्यारा पडा रहता है। यह नैयायिकोंके आत्माकी जडता है। तथा महायात्रा आदिमें संशयसे प्रवृत्ति मानना तो महाजडता है। बढ रही, जडतासे ही कोई मनुष्य व्याघात दोषयुक्त विषयको बक देता है।

परलोकार्थानुष्ठाने महायात्राविवाहादौ च बहुक्लेशवित्तत्यागाविशेषेपि निश्चितप्रामाण्याद्वेदनादेकत्रान्यत्र वर्तनं संदेहाच्च स्वयमाचक्षाणस्य किमन्यत्कारणमन्यत्र महत्तमाज्जाड्यात्। एकत्र परस्पराश्रयस्यान्यत्र प्रामाण्यव्यवस्थापनवैयर्थ्यस्य च तदवस्थत्वात्।

परलोकके अर्थ नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, दीक्षा, तपस्या, आदि कर्मोंके अनुष्ठान करनेमें और महायात्रा संघ चलाना, विवाह, प्रतिष्ठा कर्म आदिमें बहुत क्लेश और धनत्यागके विशेषतारहित हुये भी एकस्थलपर यानी परलोकके लिए तो प्रामाण्यनिश्चयवाले वेदनसे प्रवृत्ति होना कह रहे हैं। तथा दूसरे स्थलपर विवाह आदिमें नैयायिक लोग स्वयं संदेहसे प्रवृत्ति होनेको बखान रहे हैं। उनके इस कथनमें अधिक बढी हुई जडताके अतिरिक्त दूसरा क्या कारण कहा जाय ? एक स्थान पर अन्योन्याश्रय दोष और दूसरे स्थानपर प्रमाणपनेकी व्यवस्था करानेका व्यर्थपना दोष वैसाका वैसा ही अवस्थित रहेगा। भावार्थ—प्रमाणपनेके निश्चयवाले ज्ञानसे परलोकके उपयोगी अनुष्ठानोंमें प्रवृत्ति होना माननेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है। जैसा कि पूर्वमें कहा जा चुका है। और संदेहसे प्रवृत्ति होना माननेसे ज्ञानोंमें प्रमाणपनका ढूंढना व्यर्थ पडता है।

तस्मात्प्रेक्षावतां युक्ता प्रमाणादेव निश्चितात् ।
सर्वप्रवृत्तिरन्येषां संशयादेरपि क्वचित् ॥ १२४ ॥

तिस कारण हिताहित विचारनेकी बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषोंका सभी क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना प्रामाण्यका निश्चयवाले प्रमाणसे ही होना युक्त है। हां, नहीं विचारकर कार्यको करनेवाले दूसरोंकी किसी किसी कार्यमें संशय, विपर्यय, आदिसे भी प्रवृत्तिका होना मान लिया गया है। भ्रान्तज्ञानोंसे अभ्रान्त ज्ञान न्यारे हैं।

द्विविधा हि प्रवर्तितारो दृश्यंते विचार्य प्रवर्तमानाः केचिदविचार्य चान्ये। तत्रैकेषां निश्चितप्रामाण्यादेव वेदनात् क्वचित्प्रवृत्तिरन्यथा प्रेक्षावत्त्वविरोधात्। परेषां संशयाद्विपर्ययाद्वा अन्यथाऽप्रेक्षाकारित्वव्याघातादिति युक्तं वक्तुं, लोकवृत्तानुवादस्येवं घटनात्। सोयमुद्योतकरः स्वयं लोकप्रवृत्तानुवादमुपयन् प्रामाण्यपरीक्षायां तद्विरुद्धमभिदधातीति किमन्यदनात्मज्ञतायाः।

कारण कि प्रवृत्ति करनेवाले जीव दो प्रकारके देखे जाते हैं। एक तो विचार कर प्रवृत्ति कर रहे हैं। दूसरे कोई प्राणी नहीं विचार कर भी प्रवृत्ति कर रहे हैं। तिन दोनोंमें एक प्रकारके पहिली श्रेणीके जीवोंके यहां प्रामाण्यका निश्चयवाले ज्ञानसे ही किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति होना बनता है। अन्यथा यानी प्रामाण्यके निश्चय नहीं रखनेवाले ज्ञानसे प्रवृत्ति करना यदि मान लिया जायगा तो उन जीवोंके विचारशालिनी बुद्धिसे सहितपनेका विरोध होगा तथा दूसरी श्रेणीमें पडे हुये अन्य जीवोंके यहां संशयज्ञान और विपर्ययज्ञानसे भी कहीं प्रवृत्ति होना बन जाता है। अन्यथा उनके विचारकर नहीं कार्य करनेवाली बुद्धिसे सहितपनका व्याघात होगा, इस प्रकार कहनेके लिये युक्त है। लोकमें ऐसा ही बर्ताव देखा गया है कि थूक लगजानेका संशय हो जानेपर धोना या स्नान करना पाया जाता है। निश्चित कुकर्म और संदिग्ध कुकर्मका प्रायश्चित्त एकसा है। लेजमें सर्पका विपर्ययज्ञान होनेपर निवृत्ति होना, चकित होना, देखा जाता है। इस प्रकार लोकमें प्रसिद्ध हो रहे आचरणका अनुवाद करना यों घटित हो जाता है। सो यह नैयायिकोंके चिन्तामणि ग्रन्थकी उद्योत नामक टीकाको करनेवाला विद्वान् स्वयं लोकमें आचरण किये जा रहेके अनुवादको स्वीकार करता हुआ फिर प्रमाणपनकी परीक्षा करते समय उससे विरुद्ध कह रहा है। इसमें अपनी आत्माको नहीं पहचाननेके अतिरिक्त और क्या कारण कहा जाय? भावार्थ—लोकमें आचरे गये व्यवहारके अनुसार संशय और विपर्ययसे प्रवृत्ति होना नैयायिक इष्ट करते हैं। किंतु यथार्थरूपसे प्रमाणपनकी परीक्षा करते समय उससे प्रतिकूल बोल देते हैं। इसमें उनका आत्माका ज्ञानस्वरूप नहीं मानना ही कारण है। आत्माको ज्ञानसे रहित जड कहनेवाले कुछ भी कहें। ऐसे मनमानी कहनेवालेको कौन रोक सकता है?

ननु च लोकव्यवहारं प्रति बालपंडितयोः सदृशत्वादप्रेक्षावत्तयैव सर्वस्य प्रवृत्तेः क्वचित्संशयात् प्रवृत्तिर्युक्तैवान्यथाऽप्रेक्षावतः प्रवृत्त्यभावप्रसंगादिति चेत् न, तस्य क्वचित्कदाचित्प्रेक्षावत्तयापि प्रवृत्त्यविरोधात्।

नैयायिक अनुनय (खुशामद) करते हैं कि लौकिक व्यवहारके प्रति बालक और पण्डित दोनों समान हैं। अतः विचार नहीं करनेवाली बुद्धिसे सहितपने करके ही सब जीवोंकी प्रवृत्ति होना बन जायगा, इस कारण संशयज्ञानसे प्रवृत्ति हो जाना युक्त ही है। अन्यथा यानी ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारसे मानोगे तो जैनोंके मतानुसार नहीं विचार करनेवाले अज्ञजनोंकी प्रवृत्ति होनेके अभावका प्रसंग होगा, आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नैयायिकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उन सब जीवोंकी कहीं कहीं कभी कभी विचारयुक्त बुद्धिसहितपने करके भी प्रवृत्ति हो जानेका कोई विरोध नहीं है। घास खोदनेवाला भी विचार कर इष्टकार्यमें प्रवृत्ति करता है। विचार कर कार्य करनेवाले संज्ञीजीवोंके प्रामाण्यग्रस्त ज्ञानसे प्रवृत्ति होना पाया जाता है। अज्ञजीवोंका प्रमाणपनकी परीक्षामें कोई अधिकार नहीं है।

प्रेक्षावता पुनर्ज्ञेया कदाचित्कस्यचित्क्वचित्।
अप्रेक्षकारिताप्येवमन्यत्राशेषवेदिनः ॥ १२५ ॥

जीवोंमेंसे किसी जीवका प्रेक्षावानपना किसी विषयमें किसी भी समय किसी कारणसे हो जाता समझ लेना चाहिये। और फिर इसी प्रकार किसी जीवके कहीं किसी समय विचारे विना कार्य करनेवाली बुद्धिसे सहितपना भी अंतरंग बहिरंग कारणोंसे बन जाता है। सम्पूर्ण पदार्थोंको युगपत् जाननेवाले सर्वज्ञ भगवान्के मनःपूर्वक विचार करना नहीं माना गया है। वे तो हथेलीपर रक्खे हुये आमलेके समान तीन काल और तीनों लोक तथा अलोकके पदार्थोंका युगपत् प्रत्यक्ष कर रहे हैं। अतः सर्वज्ञके अतिरिक्त अन्य जीवोंके प्रेक्षासहितपना और प्रेक्षारहित होकर कार्य करनापन स्वकीय कारणोंसे बन जाता है।

प्रेक्षावरणक्षयोपशमविशेषस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामसंभवात् कस्यचिदेव क्वचित्कदाचिच्च प्रेक्षावत्तेतरयोः सिद्धिरन्यत्र प्रक्षीणाशेषावरणादशेषज्ञादिति निश्चितप्रामाण्यात्प्रमाणात्प्रेक्षावतः प्रवृत्तिः कदाचिदन्यदा तस्यैवाप्रेक्षावतः यतः संशयादेरपीति न सर्वदा लोकव्यवहारं प्रति बालपंडितसदृशौ।

हित अहित विचार करनारूप विशिष्ट मतिज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मके विशेष क्षयोपशमका सभी विषयोंमें सब जीवोंके सदा नहीं सम्भव है। अतः किसी ही जीवके किसी किसी विषयमें कभी कभी प्रेक्षासहितपना और प्रेक्षारहितपनेकी सिद्धि हो जाती है। भविष्यमें नहीं बंधने और वर्तमानमें किंचित् भी सत्तामें नहीं रहनेकी प्रकर्षतासे क्षीण हो गये हैं, सम्पूर्ण ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म जिसके, ऐसे सर्वज्ञके अतिरिक्त दूसरे संसारी जीवोंमें प्रेक्षा और अप्रेक्षा व्यवस्थित हो रही है। इस प्रकार प्रमाणपनका निश्चय रखनेवाले प्रमाणसे प्रेक्षावान् पुरुषकी प्रवृत्ति होना

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कभी कभी बनता है। और दूसरे समय जब कि उस ही जीवके प्रेक्षाको आवरण करनेवाले कर्मका उदय है, तब अप्रेक्षावालेकी भी प्रामाण्यग्रस्त ज्ञानसे ही प्रवृत्ति हो सकेगी। जिससे कि नैयायिकोंके अनुसार संशयादिकसे भी प्रवृत्ति होना माना जाय। यानी संशय आदिकसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। बालक और मूर्खोंकी कथा निराली है। इस कारण लौकिकव्यवहारके प्रति बालक और पण्डित समान नहीं हैं। कोई बन्दर अच्छे होनेवाले फोडेका खोंट उतारकर खुजली मिटा लेता है। और फोडेको अच्छा नहीं होने देता है। किंतु विचारशाली मनुष्य इन क्रियाओंको नहीं करता है। अतः प्रवृत्तिसामर्थ्यसे ज्ञानके प्रमाणपनके निश्चयका लोकव्यवहारके अनुसार अनुवाद करना युक्त नहीं है।

कथमेवं प्रेक्षावतः प्रामाण्यनिश्चयेऽनवस्थादिदोषपरिहार इति चेत्।

कोई शंकाकार कहता है कि इस प्रकार प्रेक्षावान् पुरुषके भी ज्ञानमें प्रमाणपनका निश्चय करनेमें अनवस्था, अन्योन्याश्रय, चक्रक, आदि दोषोंका परिहार कैसे होगा, बताओ ? अर्थात्—प्रकृत ज्ञानमें प्रमाणपनका निश्चय करनेके लिये अन्य सम्वादिज्ञान, प्रवृत्तिसामर्थ्य ज्ञान, फलज्ञान आदिकी आकांक्षा होगी और सम्वादीज्ञानमें प्रामाण्यके सम्पादनके लिये पुनः अन्य ज्ञानोंकी आवश्यकता पडेगी। यही ढंग चलता रहेगा, अतः अनवस्था है। और पूर्वज्ञानका प्रामाण्य निश्चय करनेके लिए दूसरे सम्वादी ज्ञानकी आकांक्षा होगी और सम्वादी ज्ञानका प्रामाण्य पूर्वज्ञानसे निश्चित किया जायगा, तो वह अन्योन्याश्रय दोष है तथा सम्वादीज्ञान, प्रवृत्तिसामर्थ्य और अर्थक्रियाज्ञान, फलप्राप्ति, आदिसे प्रमाणपनका निश्चय किया जायगा, तो चक्रक भी हो जायगा। अतः जैनोंका ज्ञानमें परतः प्रमाणपनका निश्चय करना नहीं बनता है। इस प्रकार शंका होनेपर तो आचार्य उत्तर देते हैं:—

तन्नाभ्यासात्प्रमाणत्वं निश्चितं स्वत एव नः।
अनभ्यासे तु परत इत्याहुः केचिदंजसा ॥ १२६ ॥
तच्च स्याद्वादिनामेव स्वार्थनिश्चयनात् स्थितम्।
न तु स्वनिश्चयोन्मुक्तनिःशेषज्ञानवादिनाम् ॥ १२७ ॥

कि सो शंका तो नहीं करना अथवा कारिकामें तत्र पाठ होनेपर तिस प्रमाणके निश्चय करनेके प्रकरणमें हम जैनोंके यहां ज्ञानमें प्रमाणपना स्वतः ही निश्चित हो रहा माना गया है। अपने घरके परिचित जीनेमें अंधेरा होनेपर भी मनुष्य झट संशयरहित चढ, उतर आते हैं। अंधा मनुष्य भी देहरी चौखटको परिचित स्थलमें शीघ्र उलंघ जाता है। अतः अभ्यास दशामें ज्ञानस्वरूपका निर्णय करते समय ही युगपत् उसके प्रमाणपनका भी निर्णय करलिया जाता है।

प्रमाणपनको जाननेके लिये दूसरा ज्ञान नहीं उठाया जाता है। हां, नहीं परची हुई अनभ्यास दशामें तो दूसरे कारणोंसे ही प्रमाणपना जाना जाता है। जैसे कि अपरिचितस्थलमें शीतल वायु, कमलगन्ध आदिसे जलज्ञानमें प्रमाणपनका निर्णय होता है। दूसरी तीसरी कोटिपर अवश्य अभ्यासदशाका ज्ञापक मिल जाता है। इस प्रकार कोई विद्वान् निर्दोष सिद्धान्तको कह रहे हैं। किंतु वह किन्हीं विद्वानोंका कहना स्याद्वादियोंके ही सिद्धांत अनुसार माननेपर घटित होता है। क्योंकि स्याद्वादियोंने स्व और अर्थका निश्चय करनेवाला होनेसे प्रमाणपन व्यवस्थित किया है। तभी तो पहिले हांसे अपने न्यारे कारणोंसे अपने प्रमाणपन या अप्रमाणपनको लेता हुआ ज्ञान स्व और विषयको युगपत् जान रहा है। हां, जो नैयायिक या वैशेषिक सम्पूर्णज्ञानोंका अपना निश्चय करनेसे रहित अस्वसंवेदी कह रहे हैं, उनके यहां यह व्यवस्था नहीं बनती है। वहां अन्योन्याश्रय, अनवस्था, चक्रक दोष अवश्य हो जावेंगे। हम जैनोंके यहां चाहे कोई भी सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान हो अपने प्रमाणपन या अप्रमाणपनसे सहित शरीरको अवश्य जानेगा। इतना विशेष है कि अनभ्यास दशामें जबतक प्रमाणपनका निर्णय नहीं हुआ है, तबतक अप्रमाणपनसे सहित सदृश अपनेको जानेगा अथवा अनभ्यास दशामें जबतक अप्रमाणपन नहीं जाना गया है। तबतक स्वयंको प्रामाण्यग्रस्त सरिखा जानता रहेगा। केवल सामान्यज्ञानको जाननेका अवसर नहीं है। क्योंकि विशेषोंसे रहित सामान्य विचारा अश्वविषाणके समान असत् है। अतः सम्पूर्ण ज्ञानोंको स्वशरीर का निश्चय करनेवाला मानना आवश्यक है।

क्वचिदत्यंताभ्यासात् स्वतः प्रमाणत्वस्य निश्चयान्नानवस्थादिदोषः।

कहीं अधिक परिचितस्थलमें अत्यन्त अभ्यास हो जानेसे प्रमाणपनका स्वतः निश्चय हो जाता है। अतः अनवस्था आदिक दोष नहीं आते हैं। आत्माश्रय दोष भी नहीं आता है। अन्यत्र आत्माश्रय दोष है। जैसे कि खोगये उपनेत्र (चश्मा) को ढूंढनेके लिये उसी अपने उपनेत्रकी आवश्यकता है। अंधेरेमें दिया (लालटेन) को खोजनेके लिये स्वयं दीपककी आकांक्षा हो जाती है। किन्तु ज्ञान ही संसारमें एक ऐसा पदार्थ है, जो कि स्व और अर्थको प्रकाशता रहता है। अतः यहां आत्माश्रय तो दोष नहीं गुण है। कहीं कहीं एक दूसरेके आश्रय कर दो लकडियोंको तिरछा खडाकर देनेपर अथवा नट और बांसके प्रकरणमें अन्योन्याश्रय हो जाता है। वह गुण है। बीज, अंकुर या संसारकी अनादिता अथवा नित्यपरिणामी द्रव्य आदिमें अनवस्था भी दोष नहीं माना गया है। किन्तु ज्ञापक पक्ष होनेके कारण मूलको क्षय करनेवाले अनवस्था और अन्योन्याश्रय यहां दोष ही हैं। कारकपक्षमें भले ही ये क्वचित् गुण हो जावें, जहां कि दोषोंके होते हुये भी कार्य हो रहे दीखते हों, अन्यत्र नहीं। अतः नैयायिकोंके यहां वे दोष लागू हो जाते हैं। स्याद्वादियोंके यहां वे गुणरूप हैं। एकान्तवादी श्लेष्म रोगवालोंको दुग्धपान दोष है। किन्तु अनेका-

न्तवादी स्वस्थपुरुषोंको पयःपान बलवर्धक है। हाथीकी शोभाकारक झूल छिरियाकी विपत्तिका कारण बन बैठती है।

क्वचिदनभ्यासात् परतस्तस्य व्यवस्थितेर्नाव्याप्तिरित्येतदपि स्याद्वादिनामेव परमार्थतः सिध्येत् स्वार्थनिश्चयोपगमात्। न पुनः स्वरूपनिश्चयरहितसकलसंवेदनवादिनामनवस्थाद्यनुषंगस्य तदवस्थत्वात्। तथाहि। वस्तुव्यवस्थानिबंधनस्य स्वरूपनिश्चयरहितस्यास्वसंवेदितस्यैवानुपयोगात्। तत्र निश्चयं जनयत एव प्रमाणत्वमभ्युपगंतव्यम्। तन्निश्चयस्य स्वरूपे स्वयमनिश्चितस्यानुत्पादिताविशेषान्निश्चयांतरजननानुषंगादनवस्था, पूर्वनिश्चयस्योत्तरनिश्चयात्सिद्धौ तस्य पूर्वनिश्चयादन्योन्याश्रयणं।

कहीं अपरिचित स्थलमें अनभ्यास होनेसे उस प्रमाणपनकी दूसरे कारणोंसे ज्ञप्ति व्यवस्था कर दी जाती है, इस कारण अव्याप्ति दोष नहीं है। इस प्रकार यह कहना भी स्याद्वादियोंके यहां ही वास्तविकरूपसे सिद्ध हो सकता है। क्योंकि उन्होंने ज्ञानके द्वारा स्व और अर्थका निश्चय हो जाना स्वीकार किया है। किन्तु जो नैयायिक फिर सम्पूर्णज्ञानोंको स्वरूपका निश्चय करनेसे रहित कह रहे हैं, वे ईश्वरके भी दो ज्ञान मानते हैं। एकसे सम्पूर्ण पदार्थोंको जानता है, और दूसरे ज्ञानसे उस सर्वज्ञातृ ज्ञानको जानता है। उनके यहां अनवस्था, अन्योन्याश्रय आदि दोषोंका प्रसंग होना वैसाका वैसा ही अवस्थित रहेगा। तिसको स्पष्ट कर कहते हैं। सुनिये। सम्पूर्ण वस्तुओंकी यथार्थ व्यवस्था करनेका कारण ज्ञान माना गया है। यदि ज्ञानको स्वका संवेदन करनेवाला ही नहीं माना जायगा तो स्वरूपका निश्चय करनेसे रहित उस ज्ञानका वस्तुव्यवस्था करनेमें कोई उपयोग नहीं है। हां, उस स्वरूपमें निश्चयको उत्पन्न करा रहे ही ज्ञानको प्रमाणपन स्वीकार करना चाहिये। और वह प्रमाणपनका निश्चय भी यदि स्वरूपमें स्वयं अनिश्चित है, तब तो ऐसे अज्ञात स्वनिश्चयवालेका उत्पन्न नहीं होनेसे कोई अन्तर नहीं है। जैसे कि जिस सुखदुःखका ज्ञान नहीं हुआ वह उत्पन्न हुआ भी उत्पन्न नहीं हुआ सरीखा है। अतः स्वका निश्चय करनेके लिये फिर दूसरे निश्चयकी उत्पत्ति करनेका प्रसंग होगा और आगे भी यही ढचरा चलेगा। अतः अनवस्था होगी। पहिले निश्चयकी उत्तरकालमें होनेवाले निश्चयसे सिद्धि मानी जाय और उस उत्तरकालके निश्चयकी पूर्वकालके निश्चयसे सिद्धि मानी जाय तो परस्पराश्रय दोष होगा।

यदि पुनर्निश्चयः स्वरूपे निश्चयमजनयन्नपि सिध्यति निश्चयत्वादेव न प्रत्यक्षमनिश्चयत्वादिति मतं तदार्थज्ञानज्ञानं ज्ञानांतरापरिच्छिन्नमपि सिध्येत् तद्ज्ञानत्वात् न पुनरर्थज्ञानं तस्यातत्त्वादिति ज्ञानांतरवेद्यज्ञानवादिनोपि नार्थचिन्तनमुत्सीदेत्। ज्ञानं ज्ञानं च स्याज्ज्ञानांतरपरिच्छेद्यं च विरोधाभावादिति चेत्, तर्हि निश्चयो निश्चयश्च स्यात्स्वरूपे निश्चयं च जनयेत्तत एव सोपि तथैवेति स एव दोषः।

यदि फिर नैयायिकोंका यह मन्तव्य होय कि जैसे मिश्री चारों ओर (तरफ) से मीठी है, उसी प्रकार सर्वाङ्गनिश्चय स्वरूप होनेके कारण ही निश्चयात्मकज्ञान स्वरूपमें निश्चय नहीं कराता हुआ भी स्वयं निश्चयरूप सिद्ध हो जाता है। हां, प्रत्यक्ष स्वयं निश्चयरूप सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि प्रत्यक्षज्ञानका शरीर स्वयं निश्चयरूप नहीं है। तब तो हम जैन भी कहेंगे कि अर्थ ज्ञानको जाननेवाला दूसरा ज्ञान तीसरे अन्य ज्ञानसे नहीं जाना गया हुआ भी सिद्ध हो जायगा। क्योंकि वह घटको जाननेवाले पहिले ज्ञानका ज्ञान है। किन्तु फिर पहिला अर्थका ज्ञान दूसरे ज्ञानसे नहीं जाना गया हुआ तो नहीं सिद्ध होगा। क्योंकि वह ज्ञानका ज्ञान नहीं है। इस प्रकार अन्य ज्ञानोंसे जानने योग्य प्रकृतज्ञानको कहनेवाले नैयायिकोंके यहां भी अर्थका संवेदन होना नहीं उद्घाटित हो सकेगा। यदि नैयायिक यों कहें कि पहिला अर्थज्ञान जो है, सो ज्ञान भी बना रहे और दूसरे ज्ञानोंसे जानने योग्य भी होता रहे, कोई विरोध नहीं है। ऐसा कहनेपर तो हम भी कह देंगे कि अर्थका निश्चय भी निश्चय बना रहे और स्वरूपमें निश्चयको भी उत्पन्न कराता रहे, उस ही कारणसे कोई विरोध नहीं है। यदि वह निश्चय भी तिस ही प्रकार माना जायगा, तब तो वही दोष उपस्थित होगा जो कि पूर्वमें कहा जा चुका है।

स्वसंविदितत्वान्निश्चयस्य स्वयं निश्चयान्तरानपेक्षत्वेनुभवस्यापि तदपेक्षा माभूत्।

यदि निश्चय ज्ञानको स्वसंवेदन होनेके कारण स्वयं निश्चय स्वरूपपना है, स्वयंको अन्य निश्चयोंकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहोगे तो प्रत्यक्षरूप अनुभवको भी उन अन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा नहीं होओ। सभी ज्ञान अपने अपने स्वरूपका स्वयं निश्चय कर लेते हैं।

शक्यनिश्चयमजनयन्नेवार्थानुभवः प्रमाणमभ्यासपाटवादित्यपरः। तस्यापि "यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इति ग्रंथो विरुध्यते।

निश्चय करनेकी सामर्थ्यको नहीं उत्पन्न करा रहा ही अर्थका अनुभव प्रमाण हो जाता है, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञानको अभ्यासकी पटुता (दक्षता) है। इस प्रकार कोई प्रतिवादी कह रहा है। उस बौद्धके भी माने गये इस ग्रंथका उक्त कथनसे विरोध होता है कि निर्विकल्पक ज्ञान जिस ही विषयमें इस निश्चयरूप सविकल्पक बुद्धिको उत्पन्न करा देवेगा, उस ही विषयमें इस प्रत्यक्षको प्रमाणपना है। अर्थात् जैसे कि घटका प्रत्यक्ष हो जानेपर पीछेसे उसके रूप, स्पर्श, आदिमें निश्चयज्ञान उत्पन्न हो गया है। अतः रूप और स्पर्शको जाननेमें निर्विकल्पकज्ञान प्रमाण माना जाता है। किन्तु प्रत्यक्षद्वारा वस्तुभूत क्षणिकत्वके जान लेनेपर भी पीछेसे क्षणिकपनका निश्चय नहीं हुआ है। अतः क्षणिकको जाननेमें प्रत्यक्षकी प्रमाणता नहीं है। अतः निश्चयको नहीं पैदा करनेवाला प्रत्यक्ष यदि प्रमाण मान लिया जायगा तो "यत्रैव जनयेदेनां" इस ग्रन्थसे विरोध पडेगा।

कश्चायमभ्यासो नाम ? पुनः पुनरनुभवस्य भाव इति चेत्, क्षणक्षयादौ तत्प्रमाणत्वापत्तिस्तत्र सर्वदा सर्वार्थेषु दर्शनस्य भावात् परमाभ्याससिद्धेः।

और हम बौद्धोंसे पूछते हैं कि यह आपका माना हुआ अभ्यास भला क्या पदार्थ है ? विद्यार्थी कई बार बोल बोल करके घोषणा करते हैं। मल्ल व्यायामकर अभ्यास करते हैं। घोडाको अनेक शोभनगतियोंका अभ्यास कराया जाता है। इसी प्रकार प्रत्यक्षज्ञानका अभ्यास क्या पडेगा। बताओ ! यदि पुनः पुनः प्रत्यक्षरूप अनुभवकी उत्पत्ति हो जाना अभ्यास कहा जायगा, तब तो क्षणिकपन आदिमें उस निर्विकल्पकको प्रमाणपनेका प्रसंग होगा। क्योंकि संपूर्ण अर्थोंमें तदात्मक हो रहे उस क्षणिकपनरूप विषयमें निर्विकल्पकज्ञान सदा होते रहते हैं। स्वलक्षणोंसे क्षणिकपन अभिन्न है। अतः क्षणिकत्वमें तो बहुत बढिया अभ्यास सिद्ध हो रहा है। भावार्थ—स्वलक्षण-पदार्थ तो विकल्पोंसे रहित है, क्षणस्थायी है। अतः क्षणिकपनेका ज्ञान स्वलक्षणको जानते समय ही प्रत्यक्ष द्वारा हो चुका है। किन्तु कालान्तरस्थायीपनके समारोपको दूर करनेके लिये सत्त्व हेतुसे क्षणिकपनको पुनः साधा जाता है। अतः फिर फिर अनुभवोंकी उत्पत्तिको यदि अभ्यास माना जायगा तो क्षणिकपनमें परम अभ्यास होनेके कारण बडी सुलभतासे निश्चय हो जायगा और क्षणिकपनको जाननेमें प्रत्यक्षज्ञानको प्रमाणपना प्राप्त हो जावेगा, जो कि तुम बौद्धोंको इष्ट नहीं है। अतः यह पक्ष अच्छा नहीं है।

पुनः पुनर्विकल्पस्य भावः स इति चेत्, ततोनुभवस्य प्रमाणत्वे निश्चयजननादेव तदुपगतं स्यादिति पक्षांतरं पाटवमेतेनैव निरूपितं।

यदि फिर फिर विकल्पज्ञानोंकी उत्पत्ति होना वह अभ्यास है, ऐसा कहोगे तब तो उस अभ्याससे अनुभव (प्रत्यक्ष) को प्रमाणपना लाया जावेगा, ऐसा होनेपर निश्चयकी उत्पत्तिसे ही वह प्रमाणपना स्वीकार किया गया समझा जायगा और ऐसा माननेपर अनवस्था और अन्योन्याश्रय दोष पहिले कहे जा चुके हैं। इस कथनसे ही अनुभवकी पटुताका दूसरा पक्ष भी निरूपण कर दिया गया समझ लेना चाहिये। अभ्यासपाटव, प्रकरण और अर्थीपन इन चार पक्षोंमें दक्षताका भी ग्रहण करना इष्टसाधक न हो सका।

अविद्यावासनाप्रहाणादात्मलाभोनुभवस्य पाटवं न तु पौनःपुन्येनानुभवो विकल्पोत्पत्तिर्वा, यतोभ्यासेनैवास्य व्याख्येति चेत्, कथमेवमप्रहाणाविद्यावासनानां जनानामनुभवात्कचित्प्रवर्तनं सिध्येत्, तस्य पाटवाभावात् प्रमाणत्वायोगात्। प्राणिमात्रस्याविद्यावासनाप्रहाणादन्यत्र क्षणक्षयाद्यनुभवादिति दोषापाकरणे कथमेकस्यानुभवस्य पाटवापाटवे परस्परविरुद्धे वास्तवेन स्यातां। तयोरन्यतरस्याप्यवास्तवत्वे क्वचिदेव प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोरेकत्रानुभवेनुपपत्तेः।

बौद्ध कहते हैं कि अविद्यारूप लगी हुई चिरकालकी वासनाके भले प्रकार नाश हो जानेसे अनुभवका आत्मलाभ होना ही पटुता है। पुनः पुनः करके अनुभव उत्पन्न होना अथवा बहुत बार विकल्पज्ञानोंकी उत्पत्ति होना तो पटुता नहीं है, जिससे कि अभ्यास करके ही इस पटुत्वकी व्याख्या

हो जाय, अर्थात्—अभ्याससे पाटव न्यारा है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि ऐसे ढंगसे अविद्याका सर्वथा नाशकर सम्यग्ज्ञानको धारनेवाले जीवोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति भले ही होजाय किन्तु जिन मनुष्योंकी अविद्यावासना नष्ट नहीं हुयी है, उन जीवोंकी किसी विषयमें अनुभवज्ञानसे प्रवृत्ति होना कैसे सिद्ध होगा? बताओ! क्योंकि आपकी मानी हुयी इस पटुताके न होनेके कारण उनके उस अनुभवमें प्रमाणपना नहीं प्राप्त हो सकता है। यदि बौद्ध इस दोषका निवारण यों करें कि सम्पूर्णप्राणियोंकी अविद्यावासनाके नाश हुये विना भी क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापणशक्ति, आदिका अनुभव हो जाता है, तब तो हम जैन कहेंगे कि एक अनुभवके स्वलक्षण विषयमें पाटव और क्षणिकत्व विषयमें अपाटव ये परस्पर विरुद्ध हो रहे धर्म भला वास्तविक क्यों नहीं हो जावेंगे? अनेकान्त आजावेगा। फिर बौद्धोंका धर्म निरात्मकपना कहां रहा? उन दोनों पाटव अपाटवोंमेंसे किसी एकको भी वस्तुभूत नहीं माना जायगा तो एक अनुभवमें किसी विषयकी अपेक्षा प्रमाणपन और किसी दूसरे विषयकी अपेक्षा अप्रमाणपनकी सिद्धि न हो सकेगी।

प्रकरणाप्रकरणयोरनुपपत्तिरनेनोक्ता। अर्थित्वानर्थित्वे पुनरर्थज्ञानात्प्रमाणात्मकादुत्तरकालभाविनी कथमर्थानुभवस्य प्रामाण्येतरहेतुतां प्रतिपद्येते स्वमतविरोधात्। ततः स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानाभिधायिनामेवाभ्यासे स्वतोऽनभ्यासे परतः प्रामाण्यसिद्धिः।

इस कथनसे यानी अभ्यास और पाटवका विचार करचुकनेसे प्रकरण और अप्रकरणकी उपपत्ति न हो सकना भी कह दिया गया समझ लेना। अर्थात्—क्षणिकपनके प्रकरण भी सदा प्राप्त हो रहे हैं। अतः एक अंशमें निश्चय पैदा करानेका प्रकरण और क्षणिकत्वके निश्चय करनेका अप्रकरण नहीं कह सकते हो तथा ज्ञेय विषयका अर्थीपन और क्षणिक विषयका अनभिलाषुकपन तो फिर प्रमाणरूप अर्थज्ञानसे उत्तरकालमें होनेवाले हैं। वे अर्थके अनुभवकी प्रमाणता और अप्रमाणताके हेतुपनको कैसे प्राप्त हो सकेंगे? अर्थात्—अर्थज्ञानमें प्रमाणपना उत्पन्न हो जानेपर पीछेसे अर्थमें अभिलाषुकता या अनर्थिता हो सकेगी। अतः अन्योन्याश्रय दोष आता है। अर्थीपन या अनर्थीपनसे अर्थज्ञानमें प्रमाणता या अप्रमाणता होवे और ज्ञानमें प्रमाणता अप्रमाणताके हो जानेपर अभिलाषा होवें, अर्थात्—बौद्धोंको अपने मतसे विरोध होगा। उन्होंने प्रमाणपनकी व्यवस्थाका यह ढंग स्वीकार नहीं किया है। तिस कारण स्व और अर्थको निश्चय करना स्वरूपज्ञानको कहनेवाले स्याद्वादियोंके यहां ही अभ्यास दशामें ज्ञानकी प्रमाणता स्वतः जानने और अनभ्यास दशामें ज्ञानकी प्रमाणता परतः जाननेकी सिद्धि होती है। एकान्तवादी नैयायिक बौद्ध आदिके यहां अनेक दोष आते हैं।

स्वतः प्रमाणता यस्य तस्यैव परतः कथम्।
तदेवैकत्र नैवातः स्याद्वादोस्ति विरोधतः॥ १२८॥

नैतत्साधु प्रमाणस्यानेकरूपत्वनिश्चयात् ।
प्रमेयस्य च निर्भागतत्त्ववादस्तु बाध्यते ॥ १२९ ॥

जिस ही ज्ञानको स्वांशमें स्वतः प्रमाणपना है, उस ही ज्ञानको अनभ्यास दशामें परतः प्रमाणपना कैसे होगा ? एक स्थानपर एक ही समयमें दो विरुद्ध धर्म नहीं ठहर सकते हैं। अतः विरोध हो जानेसे स्याद्वाद मत ठीक नहीं है, यह किसीका कहना प्रशस्त नहीं है। क्योंकि प्रमाण ज्ञानको अनेक स्वरूपोंसे सहितपनेका निश्चय हो रहा है। तथा प्रमाणसे जानने योग्य प्रमेय पदार्थ भी अनेक स्वरूपोंको लिये हुये है। जो बौद्ध प्रमाण और प्रमेयोंको अंशोंसे रहित मानते हैं, उनका तत्त्वोंके स्वरूपरहित माननेका पक्षपरिग्रह करना तो बाधित हो जाता है। चाहे जिस पदार्थमें निःस्वरूपत्व या अनेक धर्मोंसे रहितपना किसी भी प्रमाणसे जाना नहीं जाता है।

तत्र यत्परतो ज्ञानमनभ्यासे प्रमाणताम् ।
याति स्वतः स्वरूपे तत्तामिति क्वैकरूपता ॥ १३० ॥

तिन ज्ञानोंमें जो ज्ञान अनभ्यास दशामें दूसरे ज्ञापक हेतुओंसे प्रमाणपनको प्राप्त करता है, वह ज्ञानस्वरूप अंशमें स्वतः ही उस प्रमाणपनको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार भला एकरूपपना ज्ञानमें कहां रहा ? भावार्थ—ज्ञानमें अनेक स्वभाव विद्यमान हैं। प्रमेयके भी अनेक स्वभाव हैं। अनभ्यासदशाके ज्ञानके विषय अंशमें परतः प्रामाण्य जाना जाता है। किन्तु ज्ञान अंशमें वह स्वतः प्रमाणरूप है।

स्वार्थयोरपि यस्य स्यादनभ्यासात्प्रमाणता ।
प्रतिक्षणविवर्त्तादौ तस्यापि परतो न किम् ॥ १३१ ॥
स्याद्वादो न विरुद्धोतः स्यात्प्रमाणप्रमेययोः ।
स्वद्रव्यादिवशाद्वापि तस्य सर्वत्र निश्चयः ॥ १३२ ॥

जिस वादीके यहां अनभ्यास दशा होनेसे स्व और अर्थमें भी प्रमाणपना परतः माना जाता है, उसके यहां भी प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्याय आदिमें दूसरोंसे प्रमाणपना क्यों नहीं माना जावेगा। इस कारण प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्वोंमें कथंचित् अनेक स्वरूपोंको कहनारूप स्याद्वाद सिद्धांत कैसे भी विरुद्ध नहीं होगा अथवा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अधीनतासे अस्तिपना और परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्तिपनेकरके भी उस स्याद्वादका सभी स्थलोंपर निश्चय हो रहा है।

केवलज्ञानमपि स्वद्रव्यादिवशात्प्रमाणं न परद्रव्यादिवशादिति सर्वं कथंचित्प्रमाणं, तथा तदेव स्वात्मनः स्वतः प्रमाणं छद्मस्थानां तु परत इति सर्वं स्यात् स्वतः, स्यात्परतः,

प्रमाणमुपगम्यते विरोधाभावात्। न पुनर्यत्स्वतः तत्स्वत एव यत्परतस्तत्परत एवेति सर्वथैकांतप्रसक्तेरुभयपक्षप्रक्षिप्तदोषानुषंगात्।

सबसे बडा केवलज्ञान भी अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके वशसे प्रमाण है। दूसरे जड या मतिज्ञानके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अधीनतासे प्रमाण नहीं है। इस प्रकार सभी सम्यग्ज्ञान कथंचित् प्रमाण हैं, और किसी अपेक्षासे प्रमाण नहीं भी हैं। रसना इन्द्रियसे उत्पन्न हुये मोदकके रासनप्रत्यक्षको जैसी प्रमाणता है, केवलज्ञानसे जाने गये मोदकरसके ज्ञानको वैसी प्रमाणता नहीं है। तथा वह केवलज्ञान ही स्वकीय आत्माको स्वतः प्रमाणरूप है। और क्षायोपशमिक ज्ञानी छद्मस्थोंको तो अन्य कारणोंसे प्रमाणरूप जानने योग्य है। इस कारण सभी ज्ञान कथंचित् स्वतः प्रमाणरूप हैं। और कथंचित् परतः प्रमाणरूप स्वीकार किये जाते हैं। कोई विरोध नहीं आता है। फिर ऐसा नहीं है, जो स्वतः ही होय वह स्वतः ही रहे और जो परसे होय वह परसे ही होता रहे। यों सभी प्रकारसे एक ही धर्म माननेका प्रसंग आता है, जो कि प्रतीतसिद्ध नहीं है। क्यों कि ऐसा माननेपर स्वतः और परतः इन दोनों पक्षोंमें दिये गये दोषोंका प्रसंग होगा।

नन्वसिद्धं प्रमाणं किं स्वरूपेण निरूप्यते।
शशशृंगवदित्येके तदप्युन्मत्तभाषितम् ॥ १३३ ॥
स्वेष्टानिष्टार्थयोर्ज्ञातुर्विधानप्रतिषेधयोः।
सिद्धिः प्रमाणसंसिध्यभावेस्ति न हि कस्यचित् ॥ १३४ ॥

कोई शून्यवादी या संशयमिथ्यादृष्टि शंका करता है कि जब प्रमाण अपने स्वरूपसे सिद्ध नहीं है, तो शशके सींग समान उसका क्यों निरूपण किया जाता है? इस प्रकार कोई एक उद्भ्रान्त मनुष्य कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि वह कहना भी उन्मत्तोंका भाषण है। क्योंकि किसी नास्तिक शून्यवादी या विभ्रान्त भी ज्ञाताको अपने इष्ट अर्थके विधमान करनेकी और अपने अनिष्ट अर्थके निषेध करनेकी सिद्धि होना प्रमाणकी भले प्रकार सिद्धि न होनेपर कथमपि नहीं बनता है। इष्टसाधन अनिष्टबाधन ये दोनों प्रमाणकी सिद्धि कर चुकनेपर सम्भवते हैं। अन्यथा नहीं।

इष्टार्थस्य विधेरनिष्टार्थस्य वा प्रतिषेधस्य प्रमाणानां तत्त्वतोऽसंभवे कदाचिदनुपपत्तेर्न स्वरूपेणासिद्धं प्रमाणमनिरूपणात् शशशृंगवन्नास्ति प्रमाणं विचार्यमाणस्यायोगादिति स्वयमिष्टमर्थं साधयन्ननिष्टं च निराकुर्वन् प्रमाणत एव कथमनुन्मत्तः। ततः प्रमाण-सिद्धिरर्थादायाता।

वास्तविक रूपसे प्रमाणोंका असम्भव माननेपर इष्ट अर्थकी विधि और अनिष्ट अर्थके निषेधकी कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती है। इस कारण प्रमाणतत्त्व भला स्वरूपसे असिद्ध नहीं

है, जिसका कि शशशृङ्गके समान निरूपण नहीं किया जा सके। यदि शून्यवादी अनुमान बनाकर यों कहें कि प्रमाण (पक्ष) नहीं है (साध्य)। विचार किया जा चुकनेपर प्रमाणतत्त्वका योग नहीं बन पाता है (हेतु)। इस प्रकार स्वयं अनुमान प्रमाण स्वीकार नहीं करनारूप इष्ट अर्थको दूसरोंके प्रति प्रमाणसे साधन करा रहा और प्रमाण प्रमेय आदि अनिष्ट तत्त्वोंको प्रमाणोंसे ही निराकरण कर रहा शून्यवादी कैसे स्वस्थ कहा जा सकता है ? पूर्वापरविरुद्ध बातोंको कहनेवाला उन्मत्त है। तिस कारण विना कहे हुये ही अर्थापत्तिसे प्रमाणकी सिद्धि होना आ गया। विशेष श्रम करना नहीं पडा।

ननु प्रमाणसंसिद्धिः प्रमाणांतरतो यदि ।
तदानवस्थितिर्नो चेत् प्रमाणान्वेषणं वृथा ॥ १३५ ॥
आद्यप्रमाणतः स्याच्चेत्प्रमाणांतरसाधनम् ।
ततश्चाद्यप्रमाणस्य सिद्धेरन्योन्यसंश्रयः ॥ १३६ ॥

वैभाषिक बौद्ध कहते हैं कि प्रमाणकी अच्छे ढंगकी सिद्धि यदि दूसरे प्रमाणोंसे होना मानोगे तब तो अनवस्था हो जायगी। क्योंकि उन दूसरे आदि प्रमाणोंकी सिद्धि अन्य तीसरे, चोथे, आदि प्रमाणोंसे होते होते कहीं विश्राम प्राप्त नहीं होगा। तथा यदि दूसरे प्रमाणोंसे प्रकृत प्रमाणकी अच्छी सिद्धि होना नहीं मानोगे यानी - अन्य प्रमाणोंके विना भी इस प्रमाणकी समीचीन रूपसे सिद्धि हो जायगी तो प्रमेयकी सिद्धि भी किसी भी प्रमाणको माने विना यों ही हो जावेगी। ऐसी दशामें प्रमाणोंका ढूंढना व्यर्थ है। तथा आदिमें होनेवाले प्रमाणसे यदि दूसरे प्रमाणकी सिद्धि होना माना जायगा, और उस दूसरे प्रमाणसे प्रथम होनेवाले प्रमाणकी सिद्धि मानी जायगी, ऐसा करनेसे अन्योन्याश्रय दोष होता है।

प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य विधानमिति नोत्तरम् ।
प्रसिद्धस्याव्यवस्थानात् प्रमाणविरहे क्वचित् ॥ १३७ ॥
परानुरोधमात्रेण प्रसिद्धोर्थो यदीष्यते ।
प्रमाणसाधनस्तद्वत्प्रमाणं किं न साधनम् ॥ १३८ ॥

बौद्ध ही कहते हैं कि कोई यों कहें कि प्रतीतियोंसे साधलिये गये प्रसिद्ध पदार्थ करके यदि अप्रसिद्ध प्रमाण या प्रमेयकी व्यवस्था कर ली जावेगी, इस प्रकारका उत्तर भी ठीक नहीं है। क्योंकि कहीं भी निर्णीतरूपसे प्रमाणतत्त्वको माने विना प्रसिद्धतत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। यदि कोई यों माने कि दूसरे नैयायिक, जैन आदि वादियोंके केवल अनुरोधसे पदार्थ प्रसिद्ध हो

रहा मान लिया जाता है, जो कि प्रसिद्ध पदार्थ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको साधनेवाला है। इसपर हम बौद्धोंका कहना है कि उस ही प्रकार प्रमाणका साधन भी क्यों न कर लिया जाय ? अर्थात्—दूसरोंके अनुसार चलनेसे प्रमाण भी साधलिया जाय। प्रथम दूसरोंके कहनेसे पदार्थ प्रसिद्ध किया जाय और पुनः उससे प्रमाणकी सिद्धि मानी जाय। इस परम्पराका परिश्रम उठानेसे क्या लाभ हुआ ? तात्त्विकरूपसे प्रमाणको माननेकी आवश्यकता नहीं है।

पराभ्युपगमः केन सिध्यतीत्यपि च द्वयोः।
समः पर्यनुयोगः स्यात्समाधानं च नाधिकम् ॥ १३९ ॥
तत्प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारः प्रवर्तते।
सर्वस्याप्यविचारेण स्वप्नादिवदितीतरे ॥ १४० ॥

बौद्ध ही कह रहे हैं कि वह दूसरे वादियोंका स्वीकार करना किस करके सिद्ध हो रहा है ? इस प्रकारका प्रश्न उठाना दोनोंको समान है और समाधान करना भी दोनोंका एकसा है। कोई अधिक नहीं है। अर्थात्—प्रमाणको माननेवाले और न माननेवाले दोनोंके यहां अन्य वादियोंके माने गये पदार्थोंको स्वीकार करनेमें शंकासमाधान करना एकसा है। किसीके यहां कोई अधिकता नहीं है। तिस कारण प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, आदिक व्यवहार सभीके यहां विना विचार करके प्रवर्त्त रहे हैं। जैसे कि स्वप्न, मूर्च्छित, ग्रामीण झूंठी किम्वदन्तियां आदिके व्यवहार मिलिके विना यों ही झूंठ मूठ प्रचलित हो रहे हैं। इस प्रकार यहांतक अन्य बौद्ध या शून्यवादी कह रहे हैं।

तेषां संवित्तिमात्रं स्यादन्यद्वा तत्त्वमंजसा।
सिद्धं स्वतो यथा तद्वत्प्रमाणमपरे विदुः ॥ १४१ ॥
यथा स्वातंत्र्यमभ्यस्तविषयेऽस्य प्रतीयते।
प्रमेयस्य तथा नेति न प्रमान्वेषणं वृथा ॥ १४२ ॥
परतोपि प्रमाणत्वेऽनभ्यस्तविषये क्वचित्।
नानवस्थानुषज्येत तत एव व्यवस्थितेः ॥ १४३ ॥

उन बौद्धोंके यहां केवल शुद्ध सम्वित्ति अथवा अन्य कोई शून्य पदार्थ या तत्त्वोपप्लव तत्त्वका जिस प्रकार शीघ्र अपने आप सिद्ध होना माना गया है, उसीके समान दूसरे जैन, मीमांसक, नैयायिक आदि वादी विद्वान् प्रमाणतत्त्वको स्वतः सिद्ध होना मान रहे हैं। तथा जिस प्रकार अभ्यास किये गये परिचित विषयमें इस प्रमाणको स्वतंत्ररूपसे प्रमाणपना प्रतीत हो रहा है, तिस

मार्गदर्शक :— आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रकार प्रमेय पदार्थको स्वतंत्रपना नहीं जाना जा रहा है। अर्थात्—प्रमेयकी सिद्धि प्रमाणके अधीन है। इस कारण प्रमेयकी सिद्धिको करानेके लिये प्रमाणका ढूंढना व्यर्थ नहीं है। हां, कहीं अपरिचित स्थलपर अभ्यस्त नहीं किये गये विषयमें प्रमाणज्ञानकी प्रमाणता दूसरे ज्ञापकोंसे भी जानी जायगी तो भी अनवस्था दोषका प्रसंग नहीं आवेगा। क्योंकि उस ही अभ्यास दशावाले दूसरे प्रमाणसे अनभ्यस्त दशाके प्रमाणमें प्रमाणपनकी व्यवस्था हो जाती है। अतः सम्पूर्ण प्रमाण, प्रमेय, आदि पदार्थोंका आप्त चिकित्सक प्रमाणतत्त्व अवश्य मानना चाहिये।

स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति संविदद्वैतं ब्रह्म वा स्वतः सिद्धमुपयन्नभ्यस्तविषये सर्वं प्रमाणं तथाभ्युपगंतुमर्हति। नो चेदनवधेयवचनो न प्रेक्षापूर्ववादी।

ज्ञानाद्वैतवादी या ब्रह्माद्वैतवादी विद्वान् सम्पूर्ण पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान होना स्वतः ही मानते हैं। ज्ञान और आत्माका स्वयं अपने आपसे ज्ञान होना प्रसिद्ध ही है। और अद्वैतवादी सर्व तत्त्वोंको चैतन्य आत्मक स्वीकार करते हैं। तब उनके मतानुसार सम्पूर्ण पदार्थोंके स्वरूपका स्वतः ही ज्ञान होना ठीक पडजाता है। अस्तु. कुछ भी हो, जब कि अद्वैतवादी पण्डित शुद्ध सम्वेदन या ब्रह्मतत्त्वको स्वतः ही सिद्ध होना स्वीकार कर रहा है, तो अभ्यस्तविषयमें सम्पूर्ण प्रमाणोंको तिस प्रकार स्वतः सिद्ध स्वीकार करनेके लिये भी वह अवश्य योग्य हो जाता है। यदि वह ऐसा न मानेगा तो विश्वास नहीं करने योग्य कथन करनेवाला होता हुआ विचारपूर्वक कहनेवाला नहीं कहा जा सकता है। अर्थात्—न्यायसे प्राप्त हुये सिद्धान्तको टालकर एक पक्ष (इकतरफा) की बातके आग्रह करनेवालेका वचन विश्वास करलेने योग्य नहीं है। वह विवाग्शाली भी नहीं माना जाता है। अतः अभ्यासदशामें प्रमाणकी स्वतः ही सिद्धि होना मान लेना चाहिये।

न च यथा प्रमाणं स्वतः सिद्धं तथा प्रमेयमपि तस्य तद्वत्स्वातंत्र्याप्रतीतेः तथा प्रतीतौ वा प्रमेयस्य प्रमाणत्वापत्तेः, स्वार्थप्रमितौ साधकतमस्य स्वतंत्रस्य प्रमाणत्वात्मकत्वात्। ततो न प्रमाणान्वेषणमफलं, तेन विना स्वयं प्रमेयस्याव्यवस्थानात्। यदा पुनरनभ्यस्तेर्थे परतः प्रमाणानां प्रामाण्यं तदापि नानवस्था परस्पराश्रयो वा स्वतः सिद्धप्रामाण्यात् कुतश्चित्कचित्प्रमाणादवस्थोपपत्तेः।

जिस प्रकार सूर्य या दीपकके स्वप्रकाशकपनेके समान प्रमाणतत्त्व स्वतः सिद्ध है, उस प्रकार घट, पट, आदि प्रमेय भी अपने आपसे सिद्ध नहीं होते हैं। क्योंकि उन प्रमेयोंको उस प्रमाणके समान सिद्धि होनेमें स्वतंत्रता नहीं प्रतीत हो रही है। यदि प्रमेयकी भी तिस प्रकार स्वतंत्रतासे स्वयं प्रतीति होना माना जायगा तो प्रमेयको प्रमाणपनका प्रसंग होगा। प्रमाणका अद्वैत छाजायगा। क्योंकि स्व (अपनी) और अर्थकी प्रमिति करनेमें प्रकृष्ट उपकारक स्वतंत्र पदार्थको प्रमाणपना स्वरूप व्यवस्थित है। तिस कारण प्रमाणका ढूंढना निष्फल नहीं है। कारण कि उस

स्वतंत्र प्रमाणके विना प्रमेयतत्त्वकी स्वयं व्यवस्था नहीं हो पाती है। तथा जब फिर अनभ्यस्त विषयमें हुये प्रमाणोंकी प्रमाणता अन्य ज्ञापक कारणोंसे मानी जायगी तो भी अनवस्था अथवा अन्योन्याश्रय दोष नहीं आते हैं। अर्थात्—दूसरे, तीसरे, चौथे आदि ज्ञापकोंकी आकांक्षा बढनेसे अनवस्था तथा पहिले प्रमाणकी प्रमाणता दूसरे प्रमाणसे और दूसरेकी प्रमाणता पहिले प्रमाणसे जाननेमें अन्योन्याश्रय दोष होनेकी सम्भावना नहीं है। क्योंकि किसी भी अनभ्यास दशाके प्रमाणमें अभ्यास दशाके स्वतः सिद्ध प्रमाणतावाले किसी भी स्वतंत्र प्रमाणसे दूसरी तीसरी कोटीपर अवस्थिति होना बन जाता है।

ननु च कचित्कस्यचिदभ्यासे सर्वत्र सर्वस्याभ्यासोस्तु विशेषाभावादनभ्यास एव प्रतिप्राणि तद्वैचित्र्यकारणाभावात्। तथा च कुतोभ्यासानभ्यासयोः स्वतः परतो वा प्रामाण्यव्यवस्था भवेदिति चेत्। नैवं, तद्वैचित्र्यसिद्धेः।

बौद्ध शंका करते हैं कि कहीं भी विशेष अभ्यस्तस्थलपर किसी व्यक्तिका यदि अभ्यास माना जावेगा, तो सभी स्थलोंपर सब जीवोंका अभ्यास हो जाओ। कोई विशेषता नहीं दीखती है तथा यदि किसी जीवका किसी अपरिचित स्थलपर अनभ्यास माना जावेगा तो सभी जीवोंका सभी स्थानोंपर अनभ्यास ही रहो। प्रत्येक प्रत्येक प्राणीमें उस अभ्यास या अनभ्यासकी विचित्रताका कोई कारण नहीं है। तिस प्रकार होनेपर अभ्यासदशामें स्वतः प्रमाणपनेकी व्यवस्था और अनभ्यास दशामें दूसरोंसे प्रमाणपनेकी व्यवस्था भला कैसे होगी? ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार तो शंका नहीं करना। क्योंकि संसारी जीवोंके उस अभ्यास और अनभ्यासकी विचित्रताके कारण सिद्धि है। सो सुनिये—

दृष्टादृष्टनिमित्तानां वैचित्र्यादिह देहिनाम्।
जायते क्वचिदभ्यासोऽनभ्यासो वा कथंचन ॥ १४४ ॥

इस संसारमें कुछ देखे हुये कारण और कतिपय नहीं देख सकने योग्य परोक्ष निमित्त कारणोंकी विचित्रतासे प्राणियोंके किसी परिचित विषयमें अभ्यास और किसी अपरिचित विषयमें अनभ्यास कैसे न कैसे हो ही जाता है। उर्द या मूंगका रंधना और मिट्टीसे घडा बनना जैसे अंतरंग, बहिरंग कारणोंसे होता है, वैसे ही अभ्यास, अनभ्यास भी कहीं कहीं दोनों कारणोंसे हो जाते हैं।

दृष्टानि निमित्तान्यभ्यासस्य क्वचित्पौनःपुन्येनानुभवादीनि तदज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमादीन्यदृष्टानि विचित्राण्यभ्यास एव स्वहेतुवैचित्र्यात् जायंते, अनभ्यासस्य च सकृदनुभवादीन्यनभ्यासज्ञानावरणक्षयोपशमादीनि च। तद्वैचित्र्याद्वैचित्र्येऽभ्यासोऽनभ्यासश्च जायते। ततः युक्ता स्वतः परतश्च प्रामाण्यव्यवस्था।

किसी विषयमें अभ्यासके दृष्ट कारण पुनः पुनः करके अनुभव होना घोषणा (घोखना) आदि हैं। किसी मेधावी जीवके एक बार देखनेसे भी अभ्यास हो जाता है। अवधान करना, स्मरण-शक्तिपर बल देना, ब्राह्मी, बादाम, घृत, आदिका सेवन भी बहिरंग निमित्त कारण है तथा उस विषय संबंधी ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंका क्षयोपशम होना, विनयसंपत्ति होना, स्फूर्ति, प्रतिभा, विशुद्धि, आदि अन्तरंग जो कि बहिरंग इन्द्रियों द्वारा नहीं दीखे जांय, ऐसे नाना प्रकारके निमित्त कारण हैं। ये दृष्ट, अदृष्ट विचित्र कारण भी अभ्यास होनेपर ही अपने कारणोंकी विचित्रतासे बन जाते हैं। पुरुषार्थ करनेसे पुनः पुनः अनुभव हो जाता है। कषायोंकी मन्दता, गुरुभक्ति, सदाचार, शुद्धभोजनपान, ब्रह्मचर्य, आदिसे ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम बढिया हो जाता है। ऋतुपरिवर्तनके समान कारणोंकी विचित्रता अनेक निमित्तोंसे संसारमें हो रही प्रसिद्ध है। तथा अनभ्यासके भी दृष्ट निमित्तकारण तो एक बार अनुभव करना, उपेक्षा रखना, अन्यमनस्क होना, खोटा आचार करना, आदि हैं। और अनभ्यासके अदृष्ट कारण अनभ्यास ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मोंका क्षयोपशम, उद्धतपना, कषायसद्भाव, बुद्धिस्थूलता आदि हैं। उनके भी कारणोंकी विचित्रतासे उन कारणोंमें विचित्रता होनेपर किसी जीवका किसी विषयमें अभ्यास और अनभ्यास होना बन जाता है। तिस कारणसे अभ्यास दशामें स्वतः और अनभ्यास दशामें परतः प्रमाणपनके ज्ञानकी व्यवस्था होना युक्त है।

तत्प्रसिद्धेन मानेन स्वतोसिद्धस्य साधनम्।
प्रमेयस्य यथा तद्वत्प्रमाणस्येति धीधनाः॥ १४५॥

तिस कारण स्वतः नहीं सिद्ध हुये प्रमेयकी स्वतंत्र प्रसिद्ध प्रमाण करके जिस प्रकार सिद्धि की जाती है, उसीके समान अनभ्यास दशामें प्रमाणकी सिद्धि भी अभ्यासके प्रसिद्ध प्रमाण करके कर ली जाती है। इस प्रकार बुद्धिधनके स्वतंत्र अधिकारी आचार्य महाराज कह रहे हैं।

न हि स्वसंवेदनवदभ्यासदशायां स्वतः सिद्धेन प्रमाणेन प्रमेयस्य स्वयमसिद्धस्य साधनमनुरुध्यमानैरनभ्यासदशायां स्वयमसिद्धस्य तदपाकर्तुं युक्तं, सिद्धेनासिद्धस्य साधनोपपत्तेः। ततः सूक्तं संति प्रमाणानीष्टसाधनादिति।

स्वसंवेदन प्रत्यक्षके समान अभ्यास दशामें स्वतः प्रसिद्ध प्रमाण करके स्वयं असिद्ध हो रहे प्रमेयकी सिद्धिको अनुरोध कर कहनेवाले वादियोंकरके अनभ्यास दशामें स्वयं असिद्ध हो रहे प्रमाणकी सिद्धि भी प्रसिद्ध प्रमाण करके हो जाती मान लेनी चाहिये। उन वादिओंको उसका खण्डन करना उचित नहीं है। क्योंकि असिद्ध पदार्थकी सिद्धि पहिलेसे प्रसिद्ध हो चुके तत्त्वसे होती हुयी बन जाती है। पण्डितोंकी समीचीन शिक्षासे मूर्ख भी पण्डित बन जाते हैं। दानियोंके परोपकारसे दरिद्र भी सफलमनोरथ हो जाते हैं। तिस कारण यह अनुमान बहुत अच्छा कहा

था कि प्रमाण (पक्ष) हैं (साध्य) । क्योंकि इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि हो रही है (हेतु) । यहांतक अद्वैतवादी या शून्यवादीके सन्मुख प्रमाणतत्त्वकी सिद्धिका प्रकरण समाप्त हुआ ।

एवं विचारतो मानस्वरूपे तु व्यवस्थिते ।
तत्संख्यानप्रसिद्ध्यर्थं सूत्रे द्वित्वस्य सूचनात् ॥ १४६ ॥

इस प्रकार उक्त विचार करनेसे प्रमाणका स्वरूप व्यवस्थित हो जानेपर तो उस प्रमाणकी संख्याकी प्रसिद्धिके लिये " तत्प्रमाणे " इस सूत्रमें द्विवचन " औ " विभक्तिके द्वारा प्रमाणके दो पनेका सूचन किया गया है ।

तत्प्रमाणे, इति हि द्वित्वनिर्देशः संख्यांतरावधारणनिराकरणाय युक्तः कर्तुं तत्र विप्रतिपत्तेः ।

" तत्प्रमाणे " इस प्रकार सूत्रमें नियमसे द्विवचनपनेका कथन करना तो अन्य नैयायिक, मीमांसक, आदि द्वारा मानी गयीं प्रमाणोंकी संख्याओंके नियमको निवारण करनेके लिये किया जाना समुचित है । क्योंकि उस प्रमाणकी संख्यामें अनेक वादियोंका विवाद पडा हुआ था ।

प्रमाणमेकमेवेति केचिदाक्षिप्तदुर्दृष्टयः ।
प्रत्यक्षमुख्यमन्यस्मादर्थनिर्णीत्यसंभवात् ॥ १४७ ॥

तिन विवाद करनेवालोंमें कोई चार्वाक मिथ्यादृष्टि तो इस प्रकार कह रहे हैं कि प्रमाण एक ही है । सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मुख्य प्रत्यक्ष प्रमाण है । क्योंकि अन्य अनुमान, आगम आदिसे अर्थका निर्णय होना असम्भव है । प्रमाणका सबसे पहिले अर्थका निर्णय करना फल है । अनुमान आदिसे विशेष तथा अर्थोंका निर्णय नहीं हो पाता है । सामान्य रूपसे अग्नि आदिकको तो व्याप्ति-ज्ञानके समय ही जान लिया जाता है । वाच्य अर्थके शब्दजन्य आगम ज्ञानमें भी अनेक न्यूनता अधिकतायें हो जाती हैं । अतः प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ।

प्रत्यक्षमेव मुख्यं स्वार्थनिर्णीतावन्यानपेक्षत्वादन्यस्य प्रमाणस्य जन्मनिमित्तत्वात् न पुनरनुपादि तस्य प्रत्यक्षापेक्षत्वात् प्रत्यक्षजननानिमित्तत्वाच्च गौणतोपपत्तेः न च गौणं प्रमाणमतिप्रसंगात् । ततः प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमगौणत्वात् प्रमाणस्येति केचित् ।

प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रमाण है, क्योंकि अपने और अर्थके निर्णय करनेमें उसको अन्यकी अपेक्षा नहीं है । दूसरा हेतु यह है कि प्रत्यक्ष ही अन्य अनुमान आदि प्रमाणोंके जन्मका निमित्त है । अतः प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रमाण है । फिर अनुमान, उपमान, आदिक ज्ञान मुख्य नहीं हैं । क्योंकि उनको प्रत्यक्षकी अपेक्षा होनेके कारण तथा प्रत्यक्षके जन्मका निमित्तपना नहीं होनेके कारण गौणपना प्रसिद्ध हो रहा है । किन्तु गौण पदार्थ तो प्रमाण नहीं होता है । क्योंकि यों तो अति-

प्रसंग हो जावेगा। यानी चक्षु, उपनेत्र, (चश्मा) लेखनी, शब्द, सादृश्य आदि जड भी प्रमाण बन बैठेंगे। तिस कारण एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। सम्पूर्ण विषयोंकी व्यवस्था करनेवाला प्रमाण पदार्थ तो अगौण होना चाहिये। इस प्रकार कोई बृहस्पति मतके अनुगामी चार्वाक कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि—

तेषां तत्किं स्वतः सिद्धं प्रत्यक्षांतरतोपि वा।
स्वस्य सर्वस्य चेत्येतद्भवेत् पर्यनुयोजनम् ॥ १४८ ॥

उन चार्वाकोंके यहां स्वयं अपने पूर्वापरकालभावी अनेक प्रत्यक्ष और अन्य संपूर्ण प्राणियोंके प्रत्यक्षप्रमाण क्या स्वतः ही सिद्ध हो रहे हैं ? अथवा क्या अन्य प्रत्यक्षोंसे भी वे सिद्ध किये जाते हैं ? बताओ। इस प्रकार यह कटाक्षसहित प्रश्न करना उनके ऊपर लागू होयगा।

स्वस्याध्यक्षं सर्वस्य वा स्वतो वा सिध्येत् प्रत्यक्षांतराद्वेति पर्यनुयोगोऽवश्यंभावी।

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण माननेवाले चार्वाकोंके ऊपर इस प्रकारका प्रश्न अवश्य होवेगा कि अपना प्रत्यक्ष अथवा सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रत्यक्ष क्या स्वतः ही सिद्ध हो जावेंगे ? अथवा अन्य प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे साधे जावेंगे ? भावार्थ—अपनी निज आत्मामें हुये भूत, भविष्यत् कालके प्रत्यक्ष भी तो प्रमाण हैं। तुम्हारे पास उनके प्रत्यक्ष करनेका क्या उपाय है ? और स्वयं उस वर्तमानकालके प्रत्यक्षको कैसे जाना जायगा ? तथा अन्य प्राणियोंके भूत भविष्यत् वर्तमानकालके असंख्य प्रत्यक्षोंको भी प्रमाणपन स्वरूपसे जाननेके लिये तुम्हारे पास इस समय क्या साधन है ? बताओ।

स्वस्यैव चेत् स्वतः सिद्धं नष्टं गुर्वादिकीर्तनम्।
तदध्यक्षप्रमाणत्वसिध्यभावात्कथंचन ॥ १४९ ॥
प्रत्यक्षांतरतो वास्य सिद्धौ स्यादनवस्थितिः।
क्वचित्स्वतोऽन्यतो वेति स्याद्वादाश्रयणं परम् ॥ १५० ॥

यदि अपने ही प्रत्यक्षोंकी अपने आपसे सिद्धि होना इष्ट करोगे तो गुरु, पिता, सम्राट, परोपकारी आदिका गुणगायन करना नष्ट हुआ जाता है। क्योंकि उन गुरु आदिके प्रत्यक्षोंको प्रमाणपनकी कैसे भी सिद्धि नहीं हो पाती है। अर्थात्—गुरुकी पूज्यताके कारण उनके प्रत्यक्ष प्रमाणोंको तुम अपने प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे कैसे भी नहीं जान सकते हो अथवा बहुत वर्ष प्रथम हो चुके गुरुओंका या उनके प्रत्यक्ष ज्ञानोंका तुमको प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता है। फिर स्तुति किसकी की जाय ? गुरू आदिके इस प्रत्यक्षकी यदि आप अन्य प्रत्यक्षोंसे सिद्धि होना मानोगे तो उन प्रत्यक्षोंकी सिद्धि भी अन्य प्रत्यक्षोंसे होगी और उनकी भी अन्योंसे होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा अज्ञात

पदार्थ तो किसीका ज्ञापक होता नहीं है। कहीं स्वतः और कहीं अन्य प्रत्यक्षोंसे यदि प्रत्यक्षज्ञानोंकी सिद्धि होना मानोगे इस प्रकार तो स्याद्वादसिद्धान्तका आश्रय लेना ही बढिया पडा।

सर्वस्यापि स्वतोध्यक्षप्रमाणमिति चेन्मतिः।
केनावगम्यतामेतदध्यक्षाद्योगिविद्विषाम् ॥ १५१ ॥

यदि चार्वाकोंका यह मन्तव्य होय कि सम्पूर्ण जीवोंके सभी प्रत्यक्षोंको स्वयं अपने आप ही से प्रत्यक्ष होकर प्रमाणपना प्रसिद्ध हो रहा है, तब तो हम पूछेंगे कि सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने अपने प्रत्यक्षोंका स्वयं प्रत्यक्ष प्रमाण हो रहा है। यह किसके द्वारा जाना जाय? इस बातका हमको निर्णय भला कैसे हो सकता है? बताओ। प्रत्यक्ष प्रमाणसे सम्पूर्ण पदार्थोंका एक ही समयमें अवलोकन करनेवाले केवलज्ञानी योगियोंसे विशेष द्वेष करनेवाले चार्वाकोंके यहां यह निर्णय कैसे भी नहीं हो सकता है कि सबके प्रत्यक्ष अपने अपने स्वरूपमें प्रत्यक्ष करते हुये प्रत्यक्षपनेसे व्यवस्थित हैं। किन्तु यह जानना तो आवश्यक है, जो अन्योंके प्रत्यक्षोंको नहीं मानना चाहता है, वह अकेले स्वयंको और अपने वर्तमानकालके प्रत्यक्षको ही जीवित देखना चाहता है। किन्तु उसके चाहनेसे अन्य प्राणियोंका और उनके प्रत्यक्षोंका प्रलय नहीं माना जा सकता है। अन्यथा स्वयं उसके भूत, भविष्यत् कालके हो चुके और होनेवाले प्रत्यक्षोंकी क्या दशा होगी?।

प्रमाणांतरतो ज्ञाने नैकमानव्यवस्थितिः।
अप्रमाणाद्गतावेव प्रत्यक्षं किमुपोष्यते ॥ १५२ ॥

अन्य प्रमाणोंसे यदि सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रत्यक्षोंका ज्ञान होना इष्ट करोगे तो चार्वाकोंके यहां एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण माननेकी व्यवस्था नहीं हो सकी। अन्योंके प्रत्यक्षप्रमाणोंको जाननेके लिये अनुमान, आगमकी भी शरण लेनी पडी। यदि अप्रमाणज्ञानसे ही उन प्राणियोंके प्रत्यक्षोंका जानलेना मानोगे तो फिर एक प्रत्यक्षको भी प्रमाणपना क्यों पुष्ट किया जा रहा है! जहां पण्डिताभास ही कार्यकारी हो रहे हैं, वहां घोर तपस्या कर विद्वत्ताको प्राप्त कर चुके ठोस पण्डितोंकी क्या आवश्यकता है? मिथ्याज्ञानोंसे ही पदार्थोंकी इति माननेपर एक प्रत्यक्षको भी प्रमाण माननेका व्यर्थ बोझ क्यों लादा जाता है? गोंगचियोंके भूषणमें मोती मिलाना असङ्गत है।

सर्वस्य प्रत्यक्षं स्वत एव प्रमाणमिति प्रमाणमंतरेणाधिगच्छन् प्रमेयमपि तथाधिगच्छतु विशेषाभावात्। ततस्तैः प्रत्यक्षं किमुपोष्यत इति चिंत्यम्।

सभी प्राणियोंके प्रत्यक्ष स्वयं अपने आप ही से प्रत्यक्ष प्रमाणरूप निर्णीत हो रहे हैं। इस सिद्धान्तको प्रमाणके विना ही अधिगम कर रहा चार्वाकवादी घट, पट, आदि प्रमेयोंको भी तिस ही प्रकार प्रमाणके विना ही जान लो, दोनों प्रकारके ज्ञेयोंमें कोई विशेषता नहीं है। तो फिर तिन

चार्वाकोंकरके प्रत्यक्ष भी प्रमाण क्यों पुष्ट किया जा रहा है ? इस बातका आप स्वयं कुछ कालतक चिंतवन कीजिये, तब उत्तर देना। अर्थात् इसका उत्तर तुम नहीं दे सकोगे। सदा चिन्तामें ही डूबे रहोगे।

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे इति केचन।
तेषामपि कुतो व्याप्तिः सिध्येन्मानांतराद्विना ॥ १५३ ॥

कोई कह रहे हैं सूत्रमें " प्रमाणे " यह द्विवचन ठीक है। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण हैं। चार्वाकोंके ऊपर आये हुये दोषोंका अनुमान प्रमाण मान लेनेसे निवारण हो जाता है। अब आचार्य कहते हैं कि उन बौद्ध या वैशेषिकोंके यहां भी अन्य तर्कप्रमाणको माने विना साध्य और साधनकी व्याप्ति कैसे सिद्ध होगी ? भावार्थ—अनुमानमें व्याप्तिकी आवश्यकता है। उसको जाननेके लिये तर्कज्ञान मानना आवश्यक होगा। मिथ्याज्ञानस्वरूप तर्कसे समीचीन अनुमान नहीं उपज सकता है।

योप्याह–प्रत्यक्षं मुख्यं प्रमाणं स्वार्थानिर्णीतावन्यानपेक्षत्वादिति तस्यानुमानं मुख्यमस्तु तत एव। न हि तत्तस्यामन्यानपेक्षं। स्वोत्पत्तौ तदन्यापेक्षमिति चेत्, प्रत्यक्षमपि तत्स्वनिमित्तमक्षादिकमपेक्षते न पुनः प्रमाणमन्यदिति चेत्, तथानुमानमपि। न हि तत्त्रिरूपलिंगनिश्चयं स्वहेतुमपेक्ष्य जायमानमन्यत्प्रमाणमपेक्षते। यत्तु तत्त्रिरूपलिंगग्राहि प्रमाणं तदनुमानोत्पत्तिकारणमेव न भवति, लिंगपरिच्छित्तावेव चरितार्थत्वात्।

प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोंको माननेवाले वैशेषिक या बौद्ध कुछ देरतक अपना सिद्धांत पुष्ट कर रहे हैं कि जो भी चार्वाकवादी यों कह रहा है कि प्रत्यक्षज्ञान ही अकेला मुख्य प्रमाण है। क्योंकि प्रत्यक्षको स्व और अर्थके निर्णय करनेमें अन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा नहीं है। उस चार्वाकके यहां अनुमान प्रमाण भी तिस ही कारण यानी स्व और अर्थके निर्णय करनेमें अन्यकी अपेक्षा न पडनेके कारण मुख्य प्रमाण हो जाओ। वह अनुमान उस स्व और अर्थके निर्णय करनेमें अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता है। यदि कोई यों कहे कि वह अनुमान अपनी उत्पत्तिमें तो अन्य हेतु, व्याप्ति ज्ञान, पक्षवृत्तिता, आदिकी अपेक्षा रखता है। ऐसा कहनेपर तो हम बौद्ध कहेंगे कि यों तो प्रत्यक्ष भी अपनी उत्पत्तिमें अन्य कारणोंकी अपेक्षा रखता है। हां, प्रत्यक्षके उत्पन्न हो जानेपर स्वार्थके निर्णय करनेमें वह अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता है, तैसा अनुमान भी तो है। इसपर चार्वाक यदि यों कहें कि वह प्रत्यक्ष अपने निमित्त कारण इन्द्रिय, आलोक आदिकी अपेक्षा रखता है। किन्तु फिर दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं रखता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम वैशेषिक कहेंगे कि यों सभी कार्य अपनी उत्पत्तिमें कारणोंकी अपेक्षा रखते हैं। तिस प्रकार अनुमान भी अपने

उत्पादक निमित्तोंकी अपेक्षा रखता है। स्वविषयकी ज्ञप्ति करानेमें अन्य प्रमाणोंको नहीं चाहता है देखिये। वह अनुमान पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तिस्वरूप अथवा कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि-स्वरूप या पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टरूप तीनरूपवाले लिंगके निश्चय करनेरूप अपने हेतुकी अपेक्षा करके उत्पन्न हो रहा संता किसी अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करता है। किन्तु जो तीन स्वरूपवाले हेतुको जाननेवाले प्रमाण है, वह तो अनुमानकी उत्पत्तिका कारण ही नहीं होता है। क्योंकि व्याप्तियुक्त हेतुके जाननेमें ही वह लिंगज्ञान कृतकृत्य हो रहा है। अतः स्वार्थोंको जाननेमें प्रत्यक्षके समान अनुमान भी स्वतंत्र है। अतः अपने प्रमेयकी ज्ञप्ति करनेमें वह भी मुख्य प्रमाण है। सूर्यकी गति, बडापन, आदिमें झूंठा ज्ञान करानेके कारण प्रत्यक्षका न्याय अनुमान प्रमाणके न्यायालयमें होता है और प्रत्यक्षज्ञानको बाधित होना पडता है। अपने भूत भविष्यत्के प्रत्यक्षों और अन्य प्राणियोंके प्रत्यक्षोंका छद्मस्थोंको ज्ञान होना अनुमानसे ही साध्य कार्य है।

यदप्यभ्यधापि, प्रत्यक्षं मुख्यं प्रमाणांतरजन्मनो निमित्तत्वादिति तत्त्रिरूपलिंगादिनानैकांतिकं। यदि पुनरर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षं मुख्यं तदानुमानमपि तत एव विशेषाभावात्। तदुक्तं—" अर्थस्यासंभवे भावात् प्रत्यक्षेपि प्रमाणता। प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम् " इति।

तथा जो भी चार्वाकोंने यह कहा था कि प्रत्यक्ष ही मुख्य है। क्योंकि अन्य प्रमाणोंके जन्म देनेका वह निमित्त है। इसपर हम बौद्ध कहते हैं कि इस प्रकार वह हेतु त्रिरूपलिंग, सादृश्यज्ञान, संकेतज्ञान, व्याप्ति, आदिकसे व्यभिचारी हो जाता है। ये लिंग आदिक अनुमान आदि प्रमाणोंकी उत्पत्तिके कारण हैं। किंतु चार्वाकोंके यहां मुख्यप्रमाण तो नहीं माने गये हैं। यदि फिर चार्वाक यों कहें कि वस्तुभूत अर्थके न होनेपर प्रत्यक्षप्रमाण नहीं उत्पन्न होता है। अतः प्रत्यक्षप्रमाण मुख्य है। तब तो अनुमान भी तिस ही कारण यानी अर्थके न होनेपर नहीं होनेसे मुख्यप्रमाण हो जाओ। कोई विशेषता नहीं है। वही हमारे बौद्धोंके यहां कहा है कि अर्थके नहीं विद्यमान होनेपर हुये प्रत्यक्षमें भी प्रमाणताका अभाव है और ज्ञानका अर्थके साथ अविनाभाव संबंध रखने स्वभावको यदि प्रमाणपनेका हेतु माना जायगा तब तो दोनों प्रत्यक्ष और अनुमान समान कोटिके प्रमाण हैं। अर्थात्—स्वलक्षण क्षणिकपन आदि वस्तुभूत अर्थोंके होनेपर ही उत्पन्न होनेसे प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंको प्रमाणपना एकसा है।

संवादकत्वात्तन्मुख्यमिति चेत् तत एवानुमानं न पुनर्द्वाभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोर्थक्रियायां विसंवाद्यते।

सफलप्रवृत्तिका जनक हो जानारूप सम्वादकपनसे यदि उस प्रत्यक्षको मुख्य कहोगे तब तो तिस ही सम्वादकपनेसे अनुमान भी मुख्य हो जाओ। दोनों प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे

अर्थकी परिच्छित्ति कर प्रवर्त रहा जीव अर्थक्रियामें विसम्वाद (असफलता) को प्राप्त नहीं कराया जाता है। अनुमानसे अग्नि, जल, सोपानकी सीढीका निर्णय कर सफलअर्थक्रियायें ठीक ठीक हो जाती हैं। किसी अनुमानाभाससे कहीं चूक हो जानेपर सभी अनुमानोंको बट्टा नहीं लग जाता है। यों तो अनुमानोंसे अधिक प्रत्यक्षाभासोंसे अनेक स्थलोंपर मिथ्याज्ञप्तियां होतीं देखी जाती हैं। एतावता समीचीन प्रत्यक्षोंमें लांच्छन नहीं आ सकता है।

वस्तुविषयत्वान्मुख्यं प्रत्यक्षमिति चेत् तत एवानुमानं तथास्तु प्राप्यवस्तुविषयत्वादनुमानस्य वस्तुविषयं प्रामाण्यं द्वयोः इति वचनात्। ततो मुख्ये द्वे एव प्रमाणे प्रत्यक्षमनुमानं चेति केचित्, तेषामपि यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोप्यग्निजन्मानग्निजन्मा वा न भवतीति व्याप्तिः साध्यसाधनयोः कुतः प्रमाणांतराद्विनेति चिंत्यम्।

बौद्ध ही कह रहे हैं कि यदि चार्वाक यथार्थवस्तुको विषय करनेवाला होनेके कारण प्रत्यक्षको मुख्य प्रमाण कहेंगे तो उस ही कारण यानी वस्तुको विषय करनेवाला होनेसे ही अनुमान भी तिस प्रकार मुख्यप्रमाण हो जाओ। हम बौद्धोंने इस प्रकार अपने ग्रन्थोंमें कथन किया है कि प्राप्यवस्तुको विषय करनेवाला होनेसे अनुमानको वस्तुविषयकी जाननेवाली प्रमाणता है। इस कारण प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंमें प्रमाणता आ जाती है। अर्थात्— हमारे यहां ज्ञानके विषय आलम्बन और प्राप्य माने गये हैं। घटको ही घट जाननेवाले ज्ञानका विषयभूत आलम्बन और प्राप्त करने योग्य एक ही घट है। किंतु सीपमें हुये चांदीके ज्ञानका आलम्बन चांदी है और प्राप्ति करने योग्य विषय सीप है। प्राप्य वस्तुको ही आलम्बन करे, वह ज्ञान प्रमाण होता है। ऐसी प्रमाणता दोनोंमें है। तिस कारण प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही मुख्य प्रमाण हैं। जैनोंके " तत्प्रमाणे " सूत्रका अर्थ प्रत्यक्ष और परोक्ष नहीं कर प्रत्यक्ष और अनुमान करना हमें अभीष्ट है। इस प्रकार " योऽप्याह " से लेकर " अनुमानं च " तक कोई (बौद्ध) कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि उन बौद्धोंके यहां भी जितने भी कोई धूम हैं, वे सभी अग्निसे जन्म लेनेवाले हैं। अग्नि भिन्न पदार्थोंसे वे उत्पन्न होनेवाले नहीं हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण देश और कालको व्यापकर होनेवाली साध्य और साधनकी व्याप्तिको तीसरे तर्क प्रमाणके विना भला किससे जान सकोगे ? इस प्रश्नके उत्तरको कितने ही दिनतक विचार कर कहो। अधिक देरतक चिन्ता करनेसे व्याप्तिज्ञानका मानना उपस्थित हो जावेगा। " व्याप्तिज्ञानं चिन्ता "। ऐसी दशामें बौद्धोंको तीसरा प्रमाण मानना सिरपर आ पडा।

प्रत्यक्षानुपलंभाभ्यां न तावत्तत्प्रसाधनम्।
तयोः सन्निहितार्थत्वात् त्रिकालागोचरत्वतः ॥ १५४ ॥

कारणानुपलंभाच्चेत्कार्यकारणतानुमा ।
व्यापकानुपलंभाच्च व्याप्यव्यापकतानुमा ॥ १५५ ॥
तद्व्याप्तिसिद्धिरप्यन्यानुमानादिति न स्थितिः ।
परस्परमपि व्याप्तिसिद्धावन्योन्यसाश्रयः ॥ १५६ ॥

साध्य और साधनका क्षयोपशमके अनुसार एक ही बार या पुन पुनः (बार बार) निश्चय होनारूप प्रत्यक्ष और साध्यके न होनेपर साधनके न होनेका एक ही बारमें या बार बारमें निश्चयरूप अनुपलम्भसे तो उस व्याप्तिका निर्दोष साधन करना नहीं बन सकेगा। क्योंकि आप बौद्धोंने उन प्रत्यक्ष और अनुपलम्भोंको अत्यन्त निकटवर्ती अर्थोंको विषय करनेवाला माना है। तीनों कालके साध्य या साधनोंको वे विषय नहीं करते हैं। किन्तु व्याप्तिज्ञान तो सर्वदेश और सर्वकालके साध्यसाधनोंको जानता है। यदि कारणके अनुपलम्भसे कार्यके न दीखनेपर कार्यकारणभावसम्बन्ध (व्याप्ति) का अनुमान किया जायगा और व्यापकके अनुपलम्भसे व्याप्यके नहीं दीखनेपर व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध (व्याप्ति) का अनुमान कर लिया जायगा, इस प्रकार कहोगे तब तो उस व्याप्तिको साधनेवाले अनुमानकी जनक व्याप्तिका साधन भी अन्य अनुमानसे किया जायगा। इस प्रकार आगे भी यही धारा चलेगी, कहीं स्थिति न होवेगी। अनुमानसे व्याप्तिको जाननेमें अनवस्था दोष स्फुट है। प्रकृत अनुमानसे उस व्याप्तिको जाननेवाले अनुमानकी व्याप्ति सध जायगी और उस अनुमानसे प्रकृत अनुमानकी व्याप्ति सध जायगी। इस प्रकार परस्परमें भी व्याप्तिको सिद्ध करनेमें अन्योन्याश्रय दोष आता है।

योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिसिद्धिरित्यपि दुर्घटम् ।
सर्वत्रानुमितिज्ञानाभावात् सकलयोगिनः ॥ १५७ ॥
परार्थानुमितौ तस्य व्यापारोपि न युज्यते ।
अयोगिनः स्वयं व्याप्तिमजानानः जनान् प्रति ॥ १५८ ॥
योगिनोपि प्रति व्यर्थः स्वस्वार्थानुमिताविव ।
समारोपविशेषस्याभावात् सर्वत्र योगिनाम् ॥ १५९ ॥

बौद्ध यदि सबको जाननेवाले योगियोंके प्रत्यक्षसे व्याप्तिकी सिद्धि होना मानेंगे यह भी घटित करना कठिन है। क्योंकि सकल भूत, भविष्यत्, वर्तमानके त्रिलोकवर्त्ती पदार्थोंको युगपत् जाननेवाले सकल योगीके सभी विषयोंमें प्रत्यक्षज्ञान हो रहा है। उनको अनुमानज्ञान नहीं होता है। अतः स्वयं अपने प्रत्यक्षसे व्याप्तिको जानकर सर्वज्ञके स्वार्थानुमान करना जब है ही नहीं तो

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सकल योगीको व्याप्ति जान लेनेपर भी क्या लाभ हुआ ? तथा जो अयोगी अल्प ज्ञानी जीव स्वयं व्याप्तिको नहीं जान रहे हैं, उन मनुष्योंके प्रति परार्थानुमान करानेमें भी उस योगिप्रत्यक्षका व्याप्तिको जाननेवाला व्यापार उपयोगी नहीं होता है। और सर्वज्ञ योगियोंके प्रति तो स्वयं अपने प्रत्यक्षसे जानी हुयी व्याप्तिके ज्ञानका व्यापार करना व्यर्थ ही है। जैसे कि अपने स्वार्थानुमान करनेमें निकटवर्त्ती साध्य और साधनकी प्रत्यक्षसे जानी हुयी व्याप्तिका ज्ञान व्यर्थ पडता है। योगियोंको सम्पूर्ण त्रिलोक त्रिकालवर्त्ती पदार्थोंमें अज्ञान, संशय, आदि विशेष समारोपोंके होनेका तो अभाव है। अतः प्रत्यक्ष किये गये पदार्थोंमें भी किसी कारणसे होगये समारोपको दूर करनेके लिये अनुमान ज्ञान सर्वज्ञके हो जाता, वह तो हो नहीं सकता है।

एतेनैव हता देशयोगिप्रत्यक्षतो गतिः ।
संबंधस्यास्फुटं दृष्टेत्यनुमानं निरर्थकम् ॥ १६० ॥
तस्याविशदरूपत्वे प्रत्यक्षत्वं विरुध्यते ।
प्रमाणांतरतायां तु द्वे प्रमाणे न तिष्ठतः ॥ १६१ ॥

इस उक्त कथन करके ही योगियोंके देशप्रत्यक्षसे व्याप्तिको जानलेनेके सिद्धान्तका व्याघात करदिया है। अर्थात्—एकदेश योगियोंके अवधि, मनःपर्यय आदिरूप प्रत्यक्षोंसे व्याप्तिरूप सम्बन्धकी ज्ञप्ति होना नहीं बनता है। क्योंकि उन देशयोगियोंको भी साध्य साधनके सम्बन्धका व्याप्तिज्ञान चारों ओरसे स्फुट प्रत्यक्षरूप देखा जारहा है। अतः उन प्रत्यक्षज्ञानियोंको अनुमानका करना व्यर्थ है। यदि व्याप्तिको जाननेवाले उस देश प्रत्यक्षको अविशदरूप मानोगे तो उसको प्रत्यक्षपना विरुद्ध पडेगा। यदि व्याप्तिको जाननेवाले प्रमाणको अन्य प्रमाण माना जावेगा, तो प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं, यह व्यवस्थित नहीं होता है। तीसरा व्याप्तिज्ञान भी प्रमाणरूप मानना अनिवार्य होगया।

न चाप्रमाणतो ज्ञानाद्युक्तो व्याप्तिविनिश्चयः ।
प्रत्यक्षादिप्रमेयस्याप्येवं निर्णीतसंगतः ॥ १६२ ॥

वैशेषिकोंके अनुसार अप्रमाणरूप व्याप्तिज्ञान मान लिया जाय। मिथ्याज्ञानके संशय, विपर्यय और तर्क तीन भेद किये गये हैं। इसपर आचार्य कहते हैं कि अप्रमाणज्ञानसे व्याप्तिका बढिया निश्चय करना युक्त नहीं हैं। इस प्रकार तो प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणोंके प्रमेय तत्त्वोंका भी निर्णय होना संगत हो जायगा। फिर भला प्रत्यक्ष आदिको प्रमाणपना क्यों पुष्ट किया जाता है ? चोर या व्यभिचारी मनुष्य भी यदि उपदेशक बन जावें तो सदाचारी विद्वानोंकी आज्ञाका अनुसरण करना क्यों वैध होगा ?।

प्रत्यक्षं मानसं येषां संबंधं लिंगलिंगिनोः ।
व्याप्त्या जानाति तेप्यर्थेतींद्रिये किमु कुर्वते ॥ १६३ ॥
यत्राक्षाणि प्रवर्तंते मानसं तत्र वर्तते ।
नोन्यत्राक्षादि वैधुर्यप्रसंगात् सर्वदेहिनाम् ॥ १६४ ॥

जिन वादियोंके यहां मन इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान साध्य और साधनके व्याप्ति करके हो रहे सम्बन्धको जान लेता है। वे भी वादी इन्द्रियोंके अगोचर अतीन्द्रिय विषयमें भला क्या उपाय करते हैं ? बताओ। जिस विषयमें बहिरंग इन्द्रियां प्रवर्त रही हैं। उस ही विषयमें अन्तरंग मन प्रवर्तता माना गया है। अन्य विषयोंमें नहीं प्रवर्तता है। यों तो सम्पूर्ण प्राणियोंके बहिरंग इन्द्रिय और मन आदिसे रहितपनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—उन प्राणियोंके अतीन्द्रिय, इन्द्रिय, मन आदिको अल्पज्ञ जीव अपने इन्द्रियोंसे नहीं जान सकेगा। अतः अनुमान भी नहीं कर सकेगा। चालिनी न्यायसे किसी भी जीवकी इन्द्रियां नहीं सध सकेंगी। आगम, अर्थापत्ति, आदिको तुम प्रमाण नहीं मानते हो, अतः अतीन्द्रिय पदार्थोंकी सिद्धि होना असम्भव है। किन्तु आत्मा, परमाणु, पुंण्य, पाप, परलोक आदिकी सिद्धि, समीचीन व्याप्तिवाले हेतुओंसे हो रही है।

संबंधोतींद्रियार्थेषु निश्चीयेतानुमानतः ।
तद्व्याप्तिश्चानुमानेनान्येन यावत्प्रवर्तते ॥ १६५ ॥
प्रत्यक्षनिश्चितव्याप्तिरनुमानेऽनवस्थितिः ।
निवर्त्यते तथान्योन्यसंश्रयश्चेति केचन ॥ १६६ ॥
तेषां तन्मानसं ज्ञानं स्पष्टं न प्रतिभासते ।
अस्पष्टं च कथं नाम प्रत्यक्षमनुमानवत् ॥ १६७ ॥

कोई कह रहे हैं कि अतीन्द्रिय अर्थोंमें अनुमानसे सम्बन्धका निश्चय कर लिया जाता है, और उस अनुमानकी व्याप्तिका भी निश्चय अन्य अनुमान करके कर लिया जाता है। यह धारा तबतक चलती रहेगी जबतक कि कहीं प्रत्यक्षसे व्याप्तिका निश्चय कर लिया जाय। इस कारण अनुमानमें अनवस्था और अन्योन्याश्रय दोष तिस प्रकार निवृत्त हो जाते हैं। ऐसा जो कोई कह रहे हैं। उनके यहां वह प्रत्यक्षसे व्याप्तिको निश्चय करनेवाला अन्तिम मानसज्ञान स्पष्ट तो नहीं प्रतिभासता है। और अस्पष्टज्ञान भला प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? जैसे कि अविशद अनुमान प्रत्यक्ष नहीं कहा जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तर्कश्चैवं प्रमाणं स्यात्स्मृतिः संज्ञा च किं न वः ।
मानसत्वाविसंवादाविशेषान्नानुमान्यथा ॥ १६८ ॥

इस प्रकार तुम बौद्धोंके यहां व्याप्तिको जाननेवाला तर्क क्यों नहीं प्रमाण हो जावेगा ? तथा स्मृति और प्रत्यभिज्ञान भी क्यों नहीं प्रमाण हो जायेंगे ? क्योंकि मनसे उत्पन्न होनापन और सम्वादीपनकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है । अन्यथा यानी अविसम्बादी होते हुये भी मन इन्द्रिय जन्य ज्ञानोंको प्रमाणपना यदि न मानोगे तो आपका माना हुआ अनुमान भी प्रमाण न हो सकेगा, अनुमान भी आपके मत अनुसार सम्वादी है और मन--इन्द्रियजन्य है ।

मानसं ज्ञानमस्पष्टं व्याप्तौ प्रमाणमविसंवादकत्वादिति वदन् कथमयं तर्कमेव नेच्छेत् ? स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं वा कुतः प्रतिक्षिपेत् तदविशेषात् । मनोज्ञानत्वान्न तत्प्रमाणमिति चेन्नानुमानस्याप्रमाणत्वप्रसंगात् । संवादकत्वादनुमानं प्रमाणमिति चेत्, तत एव स्मरणादि प्रमाणमस्तु । न हि ततोर्थं परिच्छिद्य वर्तमानोर्थक्रियायां विसंवाद्यते प्रत्यक्षादिवत् ।

मनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अविशद होता हुआ भी व्याप्तिको जाननेमें भी प्रमाण है, क्योंकि वह सफलप्रवृत्ति करानेवाला सम्वादक है । इस प्रकार कह रहा बौद्ध यों तर्कको कैसे प्रमाण नहीं कहना चाहेगा ? तथा स्मरण और प्रत्यभिज्ञानका कैसे किस प्रमाणसे खण्डन कर देगा ? क्योंकि वह अविशद होकर सम्वादीपना, तर्क, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान तीनोंमें विशेषता रहित (एकसा) है । यदि बौद्ध यों कहें कि मनसे जन्य होनेके कारण वे तर्क आदिक तीन ज्ञान प्रमाण नहीं हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि सो तो न कहना । क्योंकि यों तो अनुमानको भी अप्रमाणपनका प्रसंग होगा । यदि सम्वादी होनेके कारण अनुमानको प्रमाण मानोगे तो तिस ही कारण स्मरण आदिक भी प्रमाण हो जाओ । उन स्मरण आदिकसे भी अर्थकी परिच्छित्ति कर प्रवर्त्तनेवाला पुरुष अर्थक्रियामें धोखा नहीं खा जाता है । जैसे कि प्रत्यक्ष और अनुमानसे जल आदि अर्थोंको जानकर वस्तुभूत स्नान, पान, आदिक अर्थक्रियायें निधडक हो जाती हैं, तिस ही प्रकार स्मरण आदिसे खाट, चौकी आदिका ज्ञानकर निःसंशय बैठ जाना आदि अर्थक्रियायें करली जाती हैं ।

तर्कादेर्मानसेध्यक्षे यदि लिंगानपेक्षिणः ।
स्यादंतर्भवनं सिद्धिस्ततोध्यक्षानुमानयोः ॥ १६९ ॥

लिंगकी नहीं अपेक्षा करनेवाले तर्क, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, प्रमाणोंको यदि मानस प्रत्यक्षमें गर्भित करोगें तब तो प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो ही प्रमाणोंकी सिद्धि हो सकेगी । अन्य कोई उपाय नहीं है । और स्पष्ट न होनेसे तथा लिंगकी अपेक्षा नहीं करनेसे प्रत्यक्ष और अनुमानमें तर्क

आदिका अन्तर्भाव हो नहीं सकता है। अतः इनको न्यारे प्रमाण मानो। यह आपको बलात्कारसे मानना पड़ा। सीधी अंगुलीसे घृत नहीं निकलता है।

यदि तर्कादेर्मानसेऽध्यक्षेंतर्भावः स्यालिंगानपेक्षत्वात्ततोऽध्यक्षानुमानयोः सिद्धिः प्रमाणांतराभाववादिनः संभाव्यते नान्यथा।

यदि तर्क आदिको ज्ञापक हेतुकी नहीं अपेक्षा करनेसे मानसप्रत्यक्षमें गर्भित किया जायगा, तैसा होनेसे तो तीसरे आदि अन्य प्रमाणोंको नहीं माननेवाले बौद्ध या वैशेषिकोंके यहां प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाणोंकी सिद्धि सम्भव सकती है। अन्यथा नहीं। अथवा इस पंक्तिका द्वितीय गौण अर्थ यह भी कर सकते हो कि तर्क आदिको प्रत्यक्षप्रमाणमें गर्भित करनेपर ही सभी जीवोंके सम्पूर्णप्रत्यक्षोंको प्रमाणपना और अनुमानोंको प्रमाणपना आता है। अन्यथा केवल अपना ही वर्तमानकालका प्रत्यक्ष और दृष्टान्तमें प्रत्यक्षसे जानी हुयी व्याप्ति करके उत्पन्न हुआ अनुमान ये तो प्रमाण हो सकेंगे। शेष बहुतसे प्रत्यक्ष और अनुमान अप्रमाण ठहर जायेंगे। अतः तर्क आदिकको मानो, विचार करनेपर प्रत्यक्षमें उनका अन्तर्भाव होता नहीं है। अतः परोक्षमें उनकी गिनती की जाय।

तदा मतेः प्रमाणत्वं नामांतरधृतोस्तु नः।
तद्वदेवाविसंवादाच्छ्रुतस्येति प्रमात्रयम् ॥ १७० ॥

तब तो स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, आदि या अवग्रह ईहाप्रभृति दूसरे नामोंको धारण करनेवाले मतिज्ञानका हम स्याद्वादियोंके यहां प्रमाणपना व्यवस्थित हो रहा धन्यवादको प्राप्त होओ। हमारे और तुम्हारे माने हुये इस ज्ञानमें केवल न्यारे नामनिर्देशका भेद है, अर्थका भेद नहीं है। तथा तिस मतिज्ञानके समान श्रुतज्ञानको भी अविसम्वाद होनेके कारण प्रमाणपना हो जाओ। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, और श्रुतज्ञान ये तीन प्रमाण सिद्ध हो जाते हैं।

यो ह्यवग्रहाद्यात्मकमिंद्रियजं प्रत्यक्षमक्षैर्जनितत्वात् तदनपेक्षं तु स्मरणादि मानसं लिंगानपेक्षणादिति ब्रूयात् तेन मतिज्ञानमेवास्माकमिष्टं नामांतरेणोक्तं स्यात्। तद्विशेषस्तु लिंगापेक्षोनुमानमिति च प्रमाणद्वयं मतिज्ञानव्यक्त्यपेक्षयोपगतं भवेत्। तथा च शब्दापेक्षत्वात्कुतो ज्ञानं ततः प्रमाणांतरं न सिध्येत् संवादकत्वाविशेषादिति प्रमाणत्रयसिद्धेः।

जो कोई वादी यों कहेगा कि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेके कारण अवग्रह, ईहा, आदि स्वरूप ज्ञान इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हैं, और इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिक तो मानस प्रत्यक्ष हैं, हेतुकी नहीं अपेक्षा होनेके कारण ये स्मरण आदिक अनुमानप्रमाण नहीं हो सकते हैं, इसपर आचार्य कहते हैं कि यों तो उस वादीने हमारा माना गया मतिज्ञान ही

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दूसरे नाम करके कह दिया, यह समझा जायगा। उसी मतिज्ञानका एक भेद तो लिंगकी अपेक्षा रखनेवाला अनुमान है। इस प्रकार एक सामान्य मतिज्ञानके व्यक्तिकी अपेक्षासे भेदको प्राप्त हुये दो प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान स्वीकृत हुये कहने चाहिये। और तिसी प्रकार शद्बकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान क्यों नहीं उससे भिन्न तीसरा न्यारा प्रमाण सिद्ध होगा ? क्योंकि प्रत्यक्ष या अनुमानके समान सम्वादकपना श्रुतज्ञानमें भी एकसा है। कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार तीन प्रमाण प्रसिद्ध हो जाते हैं।

यत्प्रत्यक्षपरामर्शिवचः प्रत्यक्षमेव तत् ।
लैंगिकं तत्परामर्शि तत्प्रमाणांतरं न चेत् ॥ १७१ ॥

श्रुतज्ञानको प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न नहीं माननेवाला बौद्ध या वैशेषिक पंडित कहते हैं कि जो प्रत्यक्षका विचार करनेवाला वचन है, वह प्रत्यक्षरूप ही है। और जो अनुमानका परामर्श करनेवाला वचन है, वह अनुमानप्रमाणरूप ही है। अतः शद्बसे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान तीसरा न्यारा प्रमाण नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार यदि कहोगे तोः—

सर्वः प्रत्यक्षेणानुमानेन वा परिच्छिद्यार्थं स्वयमुपदिशेत् परस्मै नान्यथा तस्यानाप्तत्वप्रसंगात्। तत्र प्रत्यक्षपरामर्श्युपदेशः प्रत्यक्षमेव यथा लैंगिकमिति न श्रुतं ततः प्रमाणांतरं येन प्रमाणद्वयनियमो न स्यादिति चेत्।

बौद्ध कहते हैं कि सभी उपदेशक विद्वान् प्रत्यक्ष अथवा अनुमान करके स्वयं अर्थको जानकर दूसरोंके लिये उपदेश देवेंगे, अन्यथा यानी प्रत्यक्ष और अनुमानसे स्वयं नहीं जानकर तो स्वयं उपदेश नहीं दे सकते हैं। क्योंकि यों तो उन उपदेशकोंको झूंठा कहनेवाले अनाप्तपनेका प्रसंग होगा। तहां प्रत्यक्ष ज्ञानसे अर्थको जानकर परामर्श करनेवाला उपदेश प्रत्यक्ष ही है। जैसे कि अनुमानसे अर्थको जानकर उपदेश देनेवालेका वचन अनुमानरूप है। इस कारण श्रुतज्ञान उन प्रत्यक्ष और अनुमानसे न्यारा प्रमाण नहीं है, जिससे कि हमारे प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंका नियम नहीं हो सके। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार यदि कहोगे ? भावार्थ—"तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्" प्रतिपादकके ज्ञानसे उत्पन्न और प्रतिपाद्यके ज्ञानका जनक होनेके कारण जैसे परार्थानुमानके वचनको जैन अनुमानप्रमाण कह देते हैं, वैसे ही वचन या तज्जन्यज्ञान तो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण हो सकता है। इसके लिये श्रुतको तीसरा प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं। यों बौद्ध कहेंः—

नाक्षलिंगविभिन्नायाः सामग्र्या वचनात्मनः ।
समुद्भूतस्य बोधस्य मानांतरतया स्थितेः ॥ १७२ ॥

सो तो ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षकी सामग्री इन्द्रिय और अनुमानकी सामग्री अविनाभावी हेतुसे सर्वथा भिन्न हो रही वचनस्वरूप सामग्रीसे भले प्रकार उत्पन्न हुये श्रुतज्ञानको तीसरे न्यारे प्रमाणपन करके व्यवस्था मानना उपयुक्त हो रहा है। वचनको तो उपचारसे प्रमाण माना गया है। कारण कि विशिष्ट ज्ञानका अतिनिकट कारण शब्द है।

अक्षलिंगाभ्यां विभिन्ना हि वचनात्मा सामग्री तस्याः समुद्भूतं श्रुतं प्रमाणांतरं युक्तमिति न तदध्यक्षमेवानुमानमेव वा सामग्रीभेदात् प्रमाणभेदव्यवस्थापनात्।

जिससे कि प्रत्यक्ष और अनुमानके कारण इन्द्रियां और ज्ञापक हेतुओंसे वचनस्वरूप सामग्री सर्वथा (बिलकुल) न्यारी है, उससे समुत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान न्यारा प्रमाण है। यह सिद्धान्त युक्तिपूर्ण है। इस कारण वह श्रुतज्ञान प्रत्यक्षरूप ही अथवा अनुमानस्वरूप ही नहीं है। सामग्रीके भिन्न भिन्न होनेसे प्रमाणके भेदकी व्यवस्था की ही जाती है।

यत्रेंद्रियमनोध्यक्षं योगिप्रत्यक्षमेव वा।
लैंगिकं वा श्रुतं तत्र वृत्तेर्मानांतरं भवेत् ॥ १७३ ॥
प्रत्यक्षादनुमानस्य माभूत्तर्हि विभिन्नता।
तदर्थे वर्तमानत्वात् सामग्रीभित्समा श्रुतिः ॥ १७४ ॥

जिस बौद्धके यहां इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ये चार प्रत्यक्ष माने गये हैं, अथवा तीन प्रकारके हेतुओंसे उत्पन्न हुआ अनुमान माना गया है, उसके यहां प्रवृत्ति करानेवाला होनेसे श्रुतज्ञान भी तीसरा भिन्न प्रमाण हो जावेगा। यदि सामग्रीके भेदसे प्रमाणके भेदको न मानकर प्रमेयके भेदसे प्रमाणका भेद मानोगे तब तो बौद्धोंके यहां प्रत्यक्ष प्रमाणसे अनुमानप्रमाणका भेद नहीं हो पावेगा। क्योंकि प्रत्यक्षके द्वारा ही जानलिये गये वस्तुभूत क्षणिकपनरूप उसके विषयमें अनुमान प्रमाण वर्त्तरहा है। हां, यदि सामग्रीके भेदसे प्रत्यक्ष और अनुमानका भेद माना जावेगा तब तो श्रुतज्ञान भी अनुमानके समान सामग्रीभेद होनेसे भिन्नप्रमाण हो जाओ। अर्थात्—प्रत्यक्ष ज्ञानकी इन्द्रिय आदिक सामग्री है। और अनुमानकी हेतु, व्याप्ति स्मरण, आदि न्यारी सामग्री है। उसीके समान शब्दसंकेत स्मरण, आदिक सामग्री श्रुतज्ञानकी निराली है।

न हि विषयभेदात् प्रमाणभेदः प्रत्यक्षादनुमानस्याभेदप्रसंगात्। न च तत्ततो भिन्नविषयं सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वात्। प्रत्यक्षमेव सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयं न पुनरनुमानं तस्य सामान्यविषयत्वादिति चेत् ततः कस्यचित्कचित्प्रवृत्त्यभावप्रसंगात्। सर्वोर्थक्रियार्थी हि प्रवर्तते न च सामान्यमशेषविशेषरहितं कांचिदर्थक्रियां संपादयितुं समर्थं तत्तु ज्ञानमात्रस्याप्यभावात्।

आचार्य महाराज बौद्धोंके प्रति कहते हैं कि विषयके भेदसे प्रमाणका भेद मानना ठीक नहीं है। अन्यथा प्रत्यक्षप्रमाणसे अनुमानके अभेद हो जानेका प्रसंग होगा। देखिये, वह अनुमानप्रमाण उस प्रत्यक्षसे भिन्न विषयवाला तो नहीं है। क्योंकि सामान्य विशेषरूप वस्तुको दोनों भी प्रमाण विषय करते हैं। यदि बौद्ध यों कहें कि प्रत्यक्ष ही सामान्यविशेषरूप वस्तुको विषय करता है। किन्तु अनुमान तो फिर सामान्यविशेषस्वरूप वस्तुको विषय नहीं करता है। वह अनुमान केवल सामान्यको ही विषय करता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम कहेंगे कि उस अनुमानसे किसीकी भी कहीं (कार्यमें) प्रवृत्ति नहीं हो सकनेका प्रसंग आता है। अभिलाषुक जीवोंकी प्रवृत्ति केवल सामान्यमें हो नहीं सकती है। विशेषोंके विना कोरा सामान्य असत् है। विशेष घोडेके विना सामान्य घोडेपर कोई चढ नहीं सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ, पतित, भोगभूमियां, लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंके अतिरिक्त सामान्य मनुष्य कोई वस्तु नहीं है। अर्थक्रियाको चाहनेवाले सभी मनुष्य अर्थोंमें प्रवृत्ति कर रहे हैं, किन्तु सम्पूर्ण विशेषोंसे रहित होता हुआ सामान्य किसी भी अर्थक्रियाको बनानेके लिये समर्थ नहीं हैं। यहांतक कि वह विशेषरहित सामान्य सुलभतासे की जा सकनेवाली केवल अपना ज्ञान करादेनारूप अर्थक्रियाको भी तो नहीं बना सकता है। इससे बढकर और अर्थक्रियारहितपना क्या होगा ? प्रत्येक पदार्थ कमसे कम सर्वज्ञके ज्ञानमें अपनी ज्ञप्ति करादेनारूप अर्थक्रियाको तो कर ही रहे हैं। इस कार्यमें तो किसी पदार्थको किसीसे कुछ नहीं लेना देना पडता है।

सामान्यादनुमिताद्विशेषानुमानात् प्रवर्तकमनुमानमिति चेत्, न अनवस्थानुषंगात्। विशेषेपि ह्यनुमानं तत्सामान्यविषयमेव परं विशेषमनुमाय यदेव प्रवर्तकं तत्राप्यनुमानं तत्सामान्यविषयमिति सुदूरमपि गत्वा सामान्यविशेषविषयमनुमानमुपगंतव्यं ततः प्रवृत्तौ तस्य प्राप्तिप्रसिद्धेः।

यदि कोई यों कहे कि पूर्वके अनुमानसे जान लिये गये सामान्यसे पुनः दूसरा विशेषको जाननेके लिये अनुमान किया जायगा, और उस दूसरे अनुमानसे विशेषव्यक्तिमें प्रवृत्ति हो जायगी, अतः अनुमानप्रमाण प्रवर्त्तक है, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि अनवस्था दोषका प्रसंग होता है। विशेषमें भी जो पीछेसे अनुमान होगा वह सामान्यको विषय करनेवाला ही होगा। कारण कि सामान्यरूपसे व्याप्तिका ग्रहण होता है। धूम हेतुकरके अग्निका सामान्यरूपसे ज्ञान होगा और अग्नि सामान्यसे अग्निविशेषको यदि जाना जायगा तो भी सामान्यरूपसे ही अग्नि विशेषको जान सकोगे। धूम हेतुकी अग्नि विशेषके साथ व्याप्ति नहीं जानी गयी है। जहां धुआ है, वहां विशेष अग्नि है। अथवा जहां अग्नि सामान्य है, वहां अग्निविशेष है, ऐसी व्याप्ति बनानेसे जैसे व्यभिचार दोष आता है, तिस ही प्रकार विशेषका अनुमान भी सामान्यरूपसे होगा। पुनः उस अन्य विशेषको अनुमान करके जानकर जो ही अनुमान प्रवर्त्तक कहा जावेगा, वहां भी

विशेषको जाननेवाला वह अनुमान पुनः सामान्यको ही विषय करेगा और फिर सामान्यके द्वारा विशेषकी सामान्यपने करके ही अनुमिति होगी। क्योंकि " सामान्येन तु व्याप्तिः " सामान्यरूपसे साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति होती है। व्याप्तिके अनुसार वैसा अनुमान अपने साध्यका सामान्यरूपसे ज्ञान कर पाता है। इस प्रकार धारा चलेगी। बहुत दूर भी जाकर सामान्य और विशेष दोनोंको विषय करनेवाला अनुमान स्वीकार करना पडेगा। उस अनुमानसे प्रवृत्ति होना माननेपर उस सामान्य विशेष आत्मक वस्तुकी ही प्राप्ति होना प्रसिद्ध हो जाता है।

सामग्रीभेदाद्भिन्नमनुमानमध्यक्षादिति चेत् तत एव श्रुतं ताभ्यां भिन्नमस्तु विशेषाभावात्।

विषय भेदसे नहीं, किन्तु सामग्रीके भेदसे यदि अनुमानको प्रत्यक्षसे भिन्न मानोगे तब तो तिस ही कारण यानी न्यारी न्यारी उत्पादक सामग्री होनेसे ही श्रुतज्ञान भी उन प्रत्यक्ष और अनुमानोंसे भिन्न हो जाओ। भिन्न भिन्न सामग्री होनेका कोई अन्तर नहीं है। यहांतक तीन प्रमाणोंकी सिद्धि की जा चुकी है।

शब्दलिंगाक्षसामग्रीभेदाद्येषां प्रमात्रयं।
तेषामशब्दलिंगाक्षजन्मज्ञानं प्रमांतरम् ॥ १७५ ॥
योगिप्रत्यक्षमप्यक्षसामग्रीजनितं न हि।
सर्वार्थागोचरत्वस्य प्रसंगादस्मदादिवत् ॥ १७६ ॥

शब्द, संकेतग्रहण, आदि सामग्री आगमज्ञानकी है, और हेतु, व्याप्तिग्रहण, पक्षता ये अनुमानकी सामग्री है। तथा इन्द्रिय, योग्य देश, विशद क्षयोपशम ये प्रत्यक्षकी सामग्री हैं। इस प्रकार सामग्रियोंके भेदसे जिन वादियोंके यहां प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम ये तीन प्रमाण माने गये हैं, उन कापिलोंके यहां जो ज्ञान शब्द, लिंग और अक्षसे जन्य नहीं है, वह चौथा न्यारा प्रमाण मानना पडेगा। देखिये। योगियोंका सम्पूर्ण पदार्थोंको युगपत् जाननेवाला प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय सामग्रीसे उत्पन्न हुआ नहीं है। योगीके प्रत्यक्षको भी यदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ माना जायगा तो अस्मदादिकोंके अल्पज्ञान समान सर्वज्ञके प्रत्यक्षको भी सम्पूर्ण अर्थोंको विषय नहीं करनेपनका प्रसंग होगा। इन्द्रियां तो सम्पूर्ण भूत, भविष्यत्, देशांतरवर्ती, सूक्ष्म, आदि अर्थोंको नहीं जता सकती है। कई वादियोंने कहा है कि " सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः " सम्बंधित और वर्तमान कालके अर्थको इन्द्रियां जान पाती हैं।

न हि योगिज्ञानमिंद्रियजं सर्वार्थग्राहित्वाभावप्रसंगादस्मदादिवत्। न हींद्रियैः साक्षात्परंपरया वा सर्वेर्थाः सकृत् संनिकृष्यंते न चासंनिकृष्टेषु तज्ज्ञानं संभवति। योग-

जधर्मानुग्रहीतेन मनसा सर्वार्थज्ञानसिद्धेरदोष इति चेत्, कुतः पुनस्तेन मनसोऽनुग्रहः ? सकृत्सर्वार्थसन्निकर्षकरणमिति चेत् तद्वदसौ योगजो धर्मः स्वयं सकृत्सर्वार्थज्ञानं परिस्फुटं किं न कुर्वीत परंपरापरिहारश्चैवं स्यान्नान्यथा योगजधर्मात् मनसोनुग्रहस्ततोऽशेषार्थज्ञानमिति परंपराया निष्प्रयोजनत्वात् ।

योगी केवलज्ञानियोंका ज्ञान [पक्ष] इन्द्रियोंसे जन्य नहीं है [साध्य]। अन्यथा सम्पूर्ण अर्थोंके ग्राहकपनेके अभावका प्रसंग होगा। जैसे कि हम सारिखे छद्मस्थोंका इन्द्रियजन्य ज्ञान सम्पूर्ण अर्थोंको नहीं जानपाता है। इन्द्रियोंके साथ सम्पूर्ण अर्थोंका अव्यवहित रूपसे अथवा परम्परा करके भी युगपत् सन्निकर्ष नहीं हो रहा है और इन्द्रियोंसे नहीं संनिकृष्ट हुये अर्थोंमें वह इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान होता नहीं सम्भवता है। यदि नैयायिक या सांख्य यों कहें कि सयोगकेवलीके चित्त की वृत्तियोंको रोककर एक अर्थमें शुभध्यानरूप योगसे उत्पन्न हुए धर्मकरके अनुग्रहको प्राप्त हुये मन इन्द्रियसे सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान होना सिद्ध हो जायगा। अतः कोई दोष नहीं है। ऐसा कहने पर तो हम जैन पूछते हैं कि बताओ, उस समाधिजन्य धर्मकरके मनका अनुग्रह फिर किस ढंगसे हुआ है ? इसपर तुम यों कहो कि एक ही बारमें संपूर्ण अर्थोंके साथ मनका संनिकर्ष कर देना ही धर्मका मनके ऊपर उपकार है, तब तो उसीके समान यानी सम्पूर्ण अर्थोंके साथ मनका संनिकर्ष कर देनेके समान यह योगज धर्म युगपत् (एकदम) स्वयं अतीव विशद सम्पूर्ण अर्थोंके ज्ञान ही को सीधा क्यों नहीं कर देवेगा ? इस प्रकार करनेसे बीचमें परंपरा लेनेका परिहार भी हो जाता है। अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे परम्पराका निवारण नहीं हो पाता है। योगज धर्मसे मनके ऊपर अनुग्रह पहिले किया जाय और पीछे उससे सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान किया जाय। इस परम्परा माननेका कुछ प्रयोजन नहीं दीखता है। अतः मध्यमें संनिकर्षको माने विना ही एकत्व वितर्क अवीचार नामके योगसे उत्पन्न हुए केवल ज्ञानद्वारा साक्षात् सम्पूर्ण अर्थोंका ग्रहण हो जाना अभीष्ट कर लेना चाहिये। यही जैनसिद्धान्त है।

करणाद्विना ज्ञानमित्यदृष्टकल्पनत्यागः प्रयोजनमिति चेत्। नन्वेवं सकृत्सर्वार्थसन्निकर्षो मनस इत्यदृष्टकल्पनं तदवस्थानं, सकृत्सर्वार्थज्ञानान्यथानुपपत्तेस्तस्य सिद्धेर्नादृष्टकल्पनेति चेत् न, अन्यथापि तत्सिद्धेः आत्मार्थसन्निकर्षमात्रादेव तदुपपत्तेः। तथाहि। योगिज्ञानं करणक्रमातिवर्ति साक्षात्सर्वार्थज्ञानत्वात् यन्नैवं तन्न तथा यथास्मदादिज्ञानमिति युक्तमुत्पश्यामः।

यदि सांख्य या वैशेषिक यों कहें कि प्रत्यक्षज्ञानका करण संनिकर्ष है। करणके विना ज्ञान हो जाय ऐसा देखा नहीं गया है। अतः केवलज्ञानीके प्रत्यक्ष करनेमें अशेष अर्थोंके साथ संनिकर्ष माननेका यह प्रयोजन है कि करण विना ज्ञान हो गया, ऐसी अदृष्ट कल्पनाको त्याग दिया जाय। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेपर तो आपके ऊपर प्रश्न होता है कि इस प्रकार

एक ही बारमें सम्पूर्ण अर्थोंके साथ मनका संनिकर्ष होना यह अथापि नहीं देखे गये अर्थकी कल्पना करना तो वैसीकी वैसी अवस्थित है । अर्थात्—अणु मनके साथ संपूर्ण अर्थोंका संनिकर्ष होना यह अदृष्ट अर्थकी कल्पना तुमने ही की है । संनिकर्षके विना तो असंख्य पदार्थोंकी चक्षुसे, मनसे, तर्कसे, ज्ञप्तियां हो रही हैं । यदि तुम यों कहो कि एक ही समयमें सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान हो जाना अन्यथा यानी मनके साथ सम्पूर्ण अर्थोंका संनिकर्ष हुये विना नहीं बन सकता है । अतः उस सर्व अर्थके संनिकर्षकी सिद्धि हो रही है । इस कारण यह अदृष्टकी कल्पना नहीं है । ग्रन्थकार कहते हैं कि सो तो न कहना । क्योंकि अन्य प्रकारोंसे भी उस साक्षात् एक ही बार सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान हो जानेकी सिद्धि हो जाती है । नैयायिकोंके मत अनुसार त्रिलोक त्रिकालवर्ती, व्यापक, नित्य, आत्माके साथ अर्थका संन्निकर्ष मात्र हो जानेसे ही उस सम्पूर्ण अर्थोंके ज्ञान हो जानेकी उपपत्ति है । अथवा आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थका संनिकर्ष हुये विना भी केवल आत्मा करके ही ज्ञानावरणका क्षय हो जानेपर सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान होना बन जाता है । तिस ही को स्पष्टकर अनुमान द्वारा कहते हैं । योगीका ज्ञान (पक्ष) इन्द्रियोंके क्रमका उल्लंघन करता है (साध्य) । साक्षात् सम्पूर्ण अर्थोंको जाननेवाला ज्ञान होनेसे (हेतु) । जो ज्ञान क्रमवर्ती इन्द्रियोंके अनुक्रमका उलंघन नहीं करता है, वह ज्ञान तिस प्रकार सम्पूर्ण अर्थोंको जाननेवाला नहीं है । जैसे कि हम सारिखे अल्पज्ञ जीवोंका ज्ञान (व्यतिरेक दृष्टान्त) । इस सिद्धान्तको हम युक्तिपूर्ण समझते हुये यथार्थ देख रहे हैं ।

अत एव करणाद्विना ज्ञानमिति दृष्टपरिकल्पनं प्रक्षीणकरणावरणस्य सर्वार्थपरिच्छित्तिः स्वात्मन एव करणत्वोपपत्तेश्च भास्करवत् । न हि भानोः सकलजगन्मंडलप्रकाशनेर्थांतरं करणमस्ति । प्रकाशस्तस्य तत्र करणमिति चेत्, स ततो नार्थांतरं । निःप्रकाशत्वापत्तेरनर्थांतरमिति चेत्, सिद्धं स्वात्मनः करणत्वं समर्थितं च कर्तुरनन्यदविभक्तकर्तृकं करणमग्नेरौष्ण्यादिवदिति नार्थांतरकरणपूर्वकं योगिज्ञानं । नाप्यकरणं येन तदिंद्रियजमदृष्टं वा कल्पितं संभवेत् ।

इस ही कारण करणके विना भी ज्ञान हो जाता है । यह स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें देखे हुये तत्त्वकी ही कल्पना है । जिस आत्माके करणज्ञानको रोकनेवाले ज्ञानआवरणोंका प्रकृष्ट रूपसे क्षय हो गया है, उसको संनिकर्षके विना भी सम्पूर्ण अर्थोंकी परिच्छित्ति हो जाती है । यहां करणका अर्थ प्रमितिका करण हो रहा प्रमाणज्ञान है । इन्द्रिय नहीं । दूसरी बात यह है कि अर्थोंकी परिच्छित्ति करनेमें तुम्हें करणज्ञान आवश्यक ही होय तो ज्ञानकी स्वकीय आत्माको ही करणपना बन सकता है । जैसे कि सूर्य सम्पूर्ण अर्थोंके प्रकाशित करनेमें स्वयं ही करण है । यहां कर्त्तासे भिन्न करणकी आकांक्षा नहीं है । सर्वथा स्वाधीन केवलज्ञानरूप करणको आवरण करनेवाले ज्ञानावरण पटलका प्रलय हो जानेपर सब ओर परिच्छित्ति ही होती रहती है । आत्माको अपनेसे न्यारे करणोंकी आवश्यकता नहीं है ।

देखो, सूर्यको हजारों योजनतक सम्पूर्ण जगत् मण्डलका प्रकाश करनेमें कोई दूसरा भिन्न पदार्थ करण आकांक्षणीय नहीं है। यदि उस सूर्यका उस मण्डलका प्रकाश करनेमें प्रकाशको करण माना जायगा तब तो हम पूछते हैं कि वह प्रकाश उस सूर्यसे भिन्न तो नहीं है ? अन्यथा सूर्यको स्वयं गांठके प्रकाश रहितपनेका प्रसंग होगा। यदि सूर्यसे प्रकाश अभिन्न है तो स्वयं अपनेको करणपना सिद्ध हो गया। हम पहिले प्रकरणोंमें भी कर्त्तासे नहीं विभक्त हो रहे करणको कर्त्ताका स्वरूप बन गये का समर्थन कर चुके हैं, जैसे अग्नि उष्ण परिणामसे जला रही है। ऊर्ध्वगमन स्वभाव करके ऊपरको लौ उठ रही है। यहां अग्निके उष्णता, ऊर्ध्वगमनस्वभाव आदिक करण उस कर्त्तारूप अग्निसे अभिन्न हैं। इस कारण सर्वथा अपनेसे भिन्न न्यारे करणको कारण मानकर योगीका ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, और योगीका ज्ञान करणके विना ही उत्पन्न हो जाय यह भी नहीं है, जिससे कि वह इन्द्रियजन्य माना जाय या पूर्व उक्त अदृष्टकी कल्पना करना सम्भावित होय। भावार्थ—कर्त्तासे अभिन्न करणवाले केवलज्ञान द्वारा इन्द्रिय, संनिकर्ष, आदिके विना ही सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान हो जाता है।

येत्वाहुः, इन्द्रियानिंद्रियप्रत्यक्षमतींद्रियप्रत्यक्षं चाक्षाश्रितं क्षीणोपशांतावरणस्य क्षीणावरणस्य चात्मनोऽक्षशब्दवाच्यत्वादनुमानं लिंगापेक्षं शब्दापेक्षं श्रुतमिति प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि व्यवतिष्ठंते अक्षादिसामग्रीभेदादिति तेषां स्मृतिसंज्ञाचिंतानां प्रत्यक्षत्वप्रसंगः क्षीणोपशांतावरणात्मलक्षणमक्षमाश्रित्योत्पत्तेः लिंगशब्दानपेक्षत्वाच्च।

किन्तु जो वादी ऐसा कह रहे हैं कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष, और मानस प्रत्यक्ष, तथा योगियोंका अतींद्रिय प्रत्यक्ष, ये सभी प्रत्यक्ष ज्ञान भला अक्षका आश्रय लेकर उत्पन्न हुये हैं। क्योंकि ज्ञानावरणके क्षयोपशमको रखनेवाले और ज्ञानावरणके क्षयको रखनेवाले आत्माको अक्ष शब्दका वाच्य अर्थपना है। यानी " शब्दलिंगाक्षसामग्रीभेदात् " यहां अक्षका अर्थ आत्मा लिया गया है। अतः अक्षकी अपेक्षा रखनेवाला प्रत्यक्ष और लिंगकी अपेक्षा रखनेवाला अनुमान तथा शब्दसामग्रीकी अपेक्षा रखनेवाला श्रुतज्ञान, इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण व्यवस्थित हो रहे हैं। क्योंकि अक्ष, लिंग, आदि सामग्री इनमें भिन्न भिन्न हैं। इस प्रकार उनके कहनेपर आचार्य आपादन करते हैं कि यों तो उनके यहां स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और व्याप्तिज्ञान इनको भी प्रत्यक्षपनेका प्रसंग होगा। क्योंकि मतिज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशमस्वरूप आत्मा नामके अक्षको लेकर इनकी उत्पत्ति हो रही है। लिंग तथा शब्दकी अपेक्षा न होनेसे अनुमान और श्रुतज्ञानमें स्मृति आदिका गर्भ हो नहीं सकेगा। महाशयजी! इनको आप अतिरिक्त प्रमाण मानते नहीं हैं। अतः स्मृति आदि परोक्ष ज्ञानोंको आपके कथन अनुसार आत्मारूप अक्षसे उत्पन्न होनेके कारण प्रत्यक्षपना आ जायगा, जो कि किसी भी वादीको इष्ट नहीं है।

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं योगीतरजनेषु चेत्।
स्मरणादेरवैशद्यादप्रत्यक्षत्वमागतम् ॥ १७७ ॥

इन्द्रियजन्य या संनिकर्षजन्य अथवा योगज धर्मसे अनुग्रहको प्राप्त हुये मनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। इन सब लक्षणोंको छोडकर यदि प्रत्यक्षका लक्षण विशदज्ञानको स्वीकार करोगे जो कि सर्वज्ञके प्रत्यक्षोंमें और अन्य संसारी जीवोंके प्रत्यक्षोंमें भले प्रकार घटित हो जाता है, तब तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिको अविशद होनेके कारण अप्रत्यक्षपना आया, यानी स्मरण आदिक तो अब प्रत्यक्ष नहीं हो सकेंगे। परोक्ष हो जावेंगे।

विशदं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति वचने स्मृत्यादेरप्रत्यक्षत्वमित्यसाधु। तथा च प्रमाणांतरत्वं लैंगिके शाब्दे वानंतर्भावादप्रमाणत्वानुपपत्तेः। कथम्—

अन्य सजातीय विजातीय प्रतीतियोंके व्यवधानरहितपनेसे अर्थमें विशेष विशेषांशोंको स्पष्ट प्रतिभासन करनारूप वैशद्यको धारण करनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। इस प्रकार कहनेपर तो स्मृति आदिक ज्ञानोंको प्रत्यक्षरहितपना यह प्राप्त हुआ और तिस प्रकार होनेपर स्मृति आदिकको प्रत्यक्षसे भिन्न न्यारा प्रमाणपना मानना पडेगा। हेतुसे उत्पन्न हुये अनुमानप्रमाणमें अथवा शब्दजन्य आगम ज्ञानमें स्मृति आदिकोंका अन्तर्भाव नहीं होता है। तथा अप्रमाणपना भी नहीं बन पाता है। अतः वैशेषिक या बौद्धों तथा कापिलोंको स्मृति आदिक न्यारे परोक्ष प्रमाण कहने पडेंगे वे स्मृति आदिक अनुमान, आगमरूप कैसे नहीं है? या अप्रमाण भी क्यों नहीं हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर उत्तर सुनिये।

लिंगशब्दानपेक्षत्वादनुमागमता च न।
संवादान्नाप्रमाणत्वमिति संख्या प्रतिष्ठिता ॥ १७८ ॥

स्मरण आदिको लिंगकी अपेक्षा नहीं होनेके कारण अनुमानपना नहीं है। शब्दकी संकेत-स्मरण द्वारा सहकारिता न होनेके कारण आगमप्रमाणपना भी नहीं है। तथा सफलप्रवृत्तिको करनेवाले सम्वादीज्ञान होनेके कारण स्मरण आदिक अप्रमाण भी नहीं हैं। इस प्रकार आप लोगों द्वारा मानी गयी प्रमाणोंकी संख्या इस ढंगसे तो प्रतिष्ठित हो चुकी। अर्थात्—यों दो या तीन प्रमाणोंकी संख्या ठीक प्रतिष्ठित नहीं हुयी। यहां उपहास वचनसे निषेध करना ध्वनित हो जाता है। अथवा स्मृति, चिन्ता, संज्ञा आदिको न्यारा प्रमाण मानकर गिननेसे प्रमाणोंकी संख्या प्रतिष्ठित हो जाती है।

यथा हि स्मरणादेरविशदत्वान्न प्रत्यक्षत्वं तथा लिंगशब्दानपेक्षत्वान्नानुमानागमत्वं संवादकत्वान्नाप्रमाणत्वमिति प्रमाणांतरतोपपत्तेः सुप्रतिष्ठिता संख्या त्रीण्येव प्रमाणानीति।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुनिधिसागर जी महाराज

चूंकि जिस प्रकार स्मरण आदिको अविशद होनेके कारण प्रत्यक्षपना नहीं है, तिस ही प्रकार लिंग और शद्वसामग्रीका सहकृतपना न होनेसे अनुमान और आगमपन भी नहीं है। साथहीमें सम्वादक होनेके कारण अप्रमाणपना भी नहीं है। अतः स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्कको तीन प्रमाणोंसे अतिरिक्त चौथा आदि प्रमाणपना सुलभतापूर्वक प्राप्त हो जाता है। इस कारण तीन ही प्रमाण हैं। यह संख्या तुमने अच्छी प्रतिष्ठित की अर्थात्–उपहासपूर्वक व्यंग्यकर प्रमाणकी तीन संख्याका सिद्ध न होना कह दिया है।

एतेनैव चतुःपंचषट्प्रमाणाभिधायिनां।
स्वेष्टसंख्याक्षतिर्ज्ञेया स्मृत्यादेस्तद्विभेदतः॥ १७९॥

इस कथन करके ही यानी स्मृति आदिकोंको भिन्न प्रमाणपना सिद्ध हो जानेसे और स्वीकृत प्रमाणोंमें अन्तर्भाव न होनेसे ही चार, पांच, छः, सात, आठ प्रमाणोंको कहनेवाले वादियोंकी मानी हुयी अपनी अभीष्ट संख्याकी क्षति होगयी समझलेनी चाहिये। क्योंकि स्मृति आदिक उन माने हुये नियत प्रमाणोंसे विभिन्न होते हुये सिद्ध हो चुके हैं।

येप्यभिदधते प्रत्यक्षानुमानोपमानशद्धाः प्रमाणानि चत्वार्येवेति सहार्थापत्त्या पंचैवेति वा सहाभावेन षडेवेति वा, तेषामपि स्वेष्टसंख्याक्षतिः प्रमाणत्रयवादीष्टसंख्यानिराकरणेनैव प्रत्येतव्या। स्मृत्यादीनां ततो विशेषापेक्षयार्थांतरत्वसिद्धेः। न ह्युपमानेर्थापत्त्यामभावे वा स्मृत्यादयोंतर्भावयितुं शक्याः सादृश्यादिसमग्र्यनपेक्षत्वात् उपमानार्थापत्तिरूपत्वेनवस्थाप्रसंगात्। अभावरूपत्वे सदंशे प्रवर्तकत्वविरोधात्।

जो भी नैयायिक प्रभृतिवादी यों कह रहे हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शद्व ये चार ही प्रमाण हैं। यह न्यायदर्शनका तीसरा सूत्र है। अथवा इन चारको अर्थापत्तिके साथ मिलाकर पांच ही प्रमाण हैं, ऐसा प्रभाकर, मीमांसक कहरहे हैं। तथा इन पांचको अभावके साथ मिलाकर छह ही प्रमाण हैं, इस प्रकार जैमिनि मान रहे हैं। कोई कोई सम्भव, इतिहास, प्रतिभा आदिको भी इनसे न्यारे प्रमाण मान रहे हैं। सौमें पचास हैं, पांचसेर दूधमें ढाईसेर दूध है, यह सम्भव है। इस वटवृक्षपर यक्ष रहता है ऐसा वृद्ध पुरुष कहते आये हैं, यह इतिहास है। कल मेरा भाई आवेगा, चांदी मंदी होगी यह प्रतिभा है, इत्यादि। आचार्य कहते हैं कि उन सबकी भी अपने अभीष्टसंख्याकी क्षति इस तीन प्रमाण प्रत्यक्ष अनुमान और आगमको माननेवाले वादीकी इष्ट संख्याके निराकरण करदेनेसे ही समझलेना चाहिये। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्कोंको विशिष्ट अर्थोंके ग्रहण करनेकी अपेक्षासे उन प्रमाणोंसे भिन्न प्रमाणपना सिद्ध है। नैयायिक आदिकोंके अतिरिक्त माने गये उपमानप्रमाण या अर्थापत्ति अथवा अभावमें तो स्मृति आदिकोंका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उपमानकी सामग्री सादृश्य और अर्थापत्तिकी सामग्री

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सविधिसागर जी महाराज

अनन्यथाभवन तथा अभावकी सामग्री आधार ' वस्तुग्रहण ' मनइन्द्रिय, प्रतियोगिस्मरण, आदि हैं। उनकी अपेक्षा तो स्मरण आदि ज्ञानोंमें नहीं है। स्मरण आदिको उपमान या अर्थापत्तिरूप माननेपर अनवस्था दोषका भी प्रसंग होता है। अर्थात्—उपमान प्रमाणके उत्थानमें भी तो वृद्धवाक्यस्मरण आदिकी अपेक्षा होगी। उस स्मरणको भी पुनः उपमानरूप स्मरणकी आवश्यकता होगी, कहीं ठहरना नहीं हो सकेगा। अर्थापत्तिमें भी व्याप्तिस्मरण या तर्ककी आकांक्षा है। और वे स्मरण या तर्क पुनः अर्थापत्तिरूप होंगे। उनके उठानेमें भी तर्ककी और व्याप्तिस्मरणकी आवश्यकता पडेगी और वे तर्क भी तुम्हारे विचार अनुसार अर्थापत्तिमें ही गर्भित किये जायेंगे, यह अनवस्था हुयी। स्मरण आदिको अभाव प्रमाणरूप माननेपर तो भाव अंशमें प्रवर्त्तकपनेका विरोध आता है। क्योंकि मीमांसकोंके यहां असत् अंशको जाननेके कारण अभाव प्रमाणको निवृत्ति करनेवाला माना हैं। प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाणोंको उन्होंने प्रवर्त्तक माना है। **प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते। वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥** किन्तु स्मृति आदिसे भाव अंशोंमें प्रवृत्ति हो रही देखी जाती है।

सादृश्यस्मृत्यादयो हि यद्युपमानरूपास्तदा तदुत्थापकसादृश्यादिस्मृत्यादिभिर्भवितव्यं अन्यथा तस्य तदुत्थापनसामर्थ्यासंभवात् स्मृत्याद्यगोचरस्यापि तदुत्थापनसामर्थ्येतिप्रसंगात्। प्रत्यक्षगोचरचारि सादृश्यमुपमानस्योत्थापकमिति चेन्न, तस्य दृष्टदृश्यमानगोगवयव्यक्तिगतस्य प्रत्यक्षागोचरत्वात्। गोसदृशो गवय इत्यतिदेशवाक्याहितसंस्कारो हि गवयं पश्यन् प्रत्येति गोसदृशोऽयं गवय इति। तत्र गोदर्शनकाले यदि गवयेन सादृश्यं दृष्टं श्रुतं गवयदर्शनसमये स्मर्यते प्रत्यभिज्ञायते च गवयप्रत्ययनिमित्तः सोयं गवयशब्दवाच्य इति संज्ञासंज्ञिसंबंधप्रतिपत्तिनिमित्तं वा तदा सिद्धमेव स्मृत्यादि विषयत्वमुपमानजननस्य सादृश्यस्येति कुतः प्रत्यक्षगोचरत्वं? यतस्तत्सादृश्यस्मृत्यादेरुपमानत्वे अनवस्था न स्यात्।

अभी दी गयी अनवस्थाको ग्रन्थकार कंठोक्त पुष्ट करते हैं कि गौ और रोझके सदृशपन की स्मृति और प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आदिकोंको यदि नैयायिक उपमानस्वरूप मानेंगे तब तो उस उपमानके उत्पन्न करनेवाले सादृश्य आदिको जाननेके लिये पुनः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदिक होने चाहिये। अन्यथा यानी ज्ञात हुये विना उस सादृश्य आदिको उस उपमान प्रमाणके उत्थान करानेकी सामर्थ्यका असम्भव है। यदि स्मृति आदिकसे नहीं विषय किये सादृश्यकी भी उस उपमानके उत्थित करानेमें शक्ति मानी जायगी तो अतिप्रसंग दोष हो जायगा। यानी जिस मूर्खने गौ और गवयके सादृशपनको नहीं भी जाना है, उसके भी वनमें रोझको देखकर इस (गवय) के सदृश गौ होती है, ऐसा उपमान प्रमाण उस सादृश्यके विद्यमान होने मात्रसे उत्पन्न हो जाना चाहिये। किन्तु होता नहीं है। यदि नैयायिक यों कहें कि उपमानप्रमाणका उत्थापक

सादृश्य तो प्रत्यक्षज्ञानके विषयमें चल रहा है। अतः प्रत्यक्षसे सादृश्यको जानकर उस सादृश्यसे उपमान प्रमाण उठा लिया जायगा, अनवस्था दोष नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि पूर्वकालमें देखी गयी गौ और वर्तमानमें देखे जा रहे गवय व्यक्ति इन दोमें प्राप्त हो रहा, वह सादृश्य कथमपि प्रत्यक्षज्ञानका विषय नहीं हो सकता है। वर्तमानकालकी वस्तुओं को हमारा प्रत्यक्ष जान सकता है। भूत और भविष्यत्कालके अर्थोंमें पडे हुए सादृश्यको इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं जान पाता है। गौके सदृश गवय होता है, इस प्रकार वृद्धवाक्यको सुनकर धारणा-नामके संस्कारको धारनेवाला पुरुष वनमें गवयको देखता हुआ अवश्य ऐसा निर्णय कर लेता है कि यह गवय गौके सदृश है। तहां पहिले गौका दर्शन करते समय यदि गवयके साथ गायका सदृश-पना देखा या सुना है, पीछे गवयका दर्शन करते समय उस देखे या सुने हुये सादृश्यका स्मरण हो जाता है। और वैसे सादृश्यका स्मरण हो जाता है और वैसे सादृश्यका प्रत्यभिज्ञान हो जाता है, तब वह अरण्यमें देखे गये विशिष्ट पशुमें गवयज्ञानका निमित्तकारण होता है कि वो (देखा या सुना गया) यह व्यक्ति गवयशब्दका वाच्य है। अथवा यों संज्ञा और संज्ञावाले सम्बन्धकी प्रतिपत्तिरूप उपमानका निमित्त वह स्मृत या प्रत्यभिज्ञात सादृश्य है, तब तो उपमानको उत्पन्न करनेवाले सादृश्यको स्मृति या प्रत्यभिज्ञानका विषयपना सिद्ध ही हो गया, इस प्रकार वह सादृश्य भला प्रत्यक्षका विषय कहां रहा? जिससे कि फिर उस सादृश्यको जाननेवाले स्मृति आदिको उपमान प्रमाण मानते मानते अनवस्था दोष न होय, अर्थात्—अनवस्था दोष हुआ।

तथार्थापत्युत्थापकस्यानन्यथा भवनस्य परिच्छेदकस्मृत्यादयो यद्यर्थापत्तिरूपास्तदा तदुत्थापका परानन्यथाभवनप्रमाणरूपत्वपरिच्छेदिभिरपरैः स्मृत्यादिभिर्भवितव्यमित्य-नवस्था तासामनुमानरूपत्ववत्प्रतिपत्तव्या।

तथा स्मृतिको अर्थापत्तिरूप माननेमें भी अनवस्था होती है। क्योंकि अर्थापत्ति प्रमाणको उत्थापन करानेवाले अन्यथा नहीं होने रूप हेतुके जाननेवाले स्मृति आदिक पुनः यदि अर्थापत्ति रूप होयेंगे तब तो उन अर्थापत्तियोंके उत्थापक दूसरे अनन्यथा भवनको प्रमाणरूप होते हुये जाननेवाले दूसरे स्मृति आदिकोंको होना चाहिये। और वे स्मृति आदिक भी पुनः अर्थापत्तिरूप पडेंगे, तब तो मोटा, पुष्ट, देवदत्त दिनको नहीं खाता है। अतः रातको भोजन करना उसका अर्थापत्तिसे जान लिया जाता है। क्योंकि पुष्ट स्थूलपना भोजनके विना नहीं हो पाता है। अतः अनन्यथा भवनस्वरूप पीनत्वसे रात्रिभोजन करना अर्थापत्तिगम्य है। इस अर्थापत्तिमें स्मरणकी और तर्ककी आवश्यकता पडती है। अन्यथा अर्थापत्तिके उत्थापक अनन्यथा भवनकी प्रतिपत्ति नहीं हो पायगी। इस प्रकार अनेक अर्थापत्तिरूप स्मृति आदिकोंकी आकांक्षा बढती रहनेके कारण अनवस्था होती है। जैसे कि उन स्मृति आदिकोंको अनुमानस्वरूप कहनेसे अनवस्था हुयी थी,

वैसी ही समझ लेना। क्योंकि उस अनुमानके उत्थापक व्याप्तिस्मरण और लिंगके प्रत्यभिज्ञानको भी पुनः अनुमानरूप कहना आवश्यक होगा। इस ही प्रकार तीसरे चौथे आदि अनुमानमें स्मरण, प्रत्यभिज्ञानरूप अनुमानोंकी अभिलाषा बढती ही जायगी। स्मृति आदिको अनुमान, उपमान, अर्थापत्तिस्वरूप माननेसे अनवस्था दोष स्पष्ट दिखला दिया है।

कथमभावप्रमाणरूपत्वे स्मृत्यादीनां सदंशे प्रवर्तकत्वं विरुध्यत इति चेत्, अभावप्रमाणस्यासदंशनियतत्वादिति ब्रूमः। न हि तद्वादिभिस्तस्य सदंशविषयत्वमभ्युपगम्यते। सामर्थ्यादभ्युपगम्यत इति चेत्, प्रत्यक्षादेरसदंशविषयत्वं तथाभ्युपगम्यतां विशेषाभावात्। एवं चाभावप्रमाणवैयर्थ्यमसदंशस्यापि प्रत्यक्षादिसमधिगम्यत्वसिद्धेः।

मीमांसक पूछते हैं कि आप जैनोंने पूर्वमें कहा था कि स्मृति आदिको अभाव प्रमाणस्वरूप माननेपर सद्रूपभाव अंशमें प्रवृत्ति करादेनेपनका विरोध है, सो बताओ कि स्मृति आदिकोंको अभाव प्रमाणरूप माननेपर भाव अंशमें प्रवृत्ति करादेना कैसे विरुद्ध पडता है? आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार पूछनेपर तो हम धडल्लेके साथ यह उत्तर कहते हैं कि आप मीमांसकोंने अभाव प्रमाणको असद्रूप अभाव अंशमें नियत हो रहा माना है। उस अभाव प्रमाणको माननेवाले मीमांसक वादियोंकरके उस अभाव प्रमाणका विषय कथमपि भाव अंश नहीं स्वीकार किया गया है। ऐसी दशामें अभावप्रमाणरूप स्मृति आदिकसे काष्ठासन, धूम आदिको जानकर भावमें प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? यदि आप मीमांसक यों कहें कि अभाव प्रमाण मुख्यरूपसे वस्तुके असत् अंशको जानता है और सत् अंशके विना रीता असत् अंश ठहर नहीं पाता है। इस सामर्थ्यसे अभाव प्रमाणद्वारा भाव अंशका जानना भी हमें स्वीकृत है, इस प्रकार कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि तिस प्रकार सामर्थ्य होनेसे प्रत्यक्ष अनुमान आदि पांच भावग्राही प्रमाणोंको भी असत् अंशका विषय करलेनापन मान लिया जाय कोई अन्तर नहीं है। और इस प्रकार व्यवस्था होनेपर तो छट्ठे अभाव प्रमाणका मानना व्यर्थ हुआ। क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ही असत् अंशका भी भले प्रकार अधिगम योग्य हो जाना सिद्ध हो गया है। अर्थात्—अभाव प्रमाण माननेका प्रयोजन-भावप्रमाणोंसे ही भले प्रकार सध गया।

साक्षादपरभावपरिच्छेदित्वान्नाभावप्रमाणस्य वैयर्थ्यमिति चेत्, तर्हि स्मृत्यादीनामभावप्रमाणरूपाणां साक्षादभावविषयत्वात्सदंशे प्रवर्तकत्वं कथं न विरुद्धं। ततो नोपमानादिषु स्मृत्यादीनामंतर्भाव इति प्रमाणांतरत्वसिद्धेः सिद्धा स्वेष्टसंख्याक्षतिः चतुःपंचषट्प्रमाणाभिधायिनाम्।

अभाव प्रमाण साक्षात् यानी अव्यवहितरूपसे अन्य भावोंका परिच्छेदी न होकर अभावका परिच्छेदक है। और प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण तो भावको जानकर पीछे परम्परासे अभावको जानते

हैं। अतः अभाव प्रमाण व्यर्थ नहीं है, इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो यही आया कि अभाव प्रमाणस्वरूप स्मृति आदिक भी अव्यवहितरूपसे अभावको ही विषय करेंगी। इस कारण स्मृति आदिको भाव अंशमें प्रवर्त्तकपना क्यों नहीं विरुद्ध पडेगा ? अर्थात्—अवश्य पडेगा, वही हमने पूर्वमें कहा था। तिस कारण उपमान, अनुमान, अर्थापत्ति, अभाव, आगम, प्रमाणोंमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्कका अन्तर्गर्भ नहीं हो पाता है। इस कारण स्मृति आदिकको भिन्न प्रमाणपनेकी सिद्धि हो जाती है। अतः चार, पांच, छह अथवा और भी अधिक प्रमाणोंको कहनेकी टेव रखनेवाले नैयायिक, मीमांसक आदिकोंके यहां अपने अभीष्ट प्रमाणोंकी संख्याका विघात हो जाना सिद्ध हुआ।

तद्वक्ष्यमाणकात् सूत्रद्वयसामर्थ्यतः स्थितः।
द्वित्वसंख्याविशेषोत्राकलंकैरभ्यधायि यः ॥ १८० ॥

तिस कारण अभी आगे कहे जानेवाले दो सूत्रोंके बलसे प्रमाणके दोपनकी संख्याका विशेष यहां प्रतिष्ठित हुआ, जो कि श्रीअकलंक महाराजने अनुमानी स्वाद्वादी विद्वानों करके भी पूर्णरूपसे कहा गया है। अर्थात्—" तत्प्रमाणे " इस द्विवचनकी सामर्थ्यसे दो प्रमाण मानने चाहिये। भविष्यके " आद्ये परोक्षम् " और " प्रत्यक्षमन्यत् " इन दो सूत्रों द्वारा उमास्वामी महाराजने उसका कंठोक्त स्पष्टीकरण कहा है। श्री अकलंकदेव महोदयोंने भी राजवार्त्तिकमें वैसा दो प्रमाणोंमें ही सम्पूर्ण स्मृति, अर्थापत्ति, संभव, आदिकके गर्भित हो जानेका व्याख्यान किया है।

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लुतम्।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः ॥ १८१ ॥

श्री अकलंक देवका यह अभिप्राय है कि विशदज्ञान प्रत्यक्ष है। वह अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञानके भेदसे तीन प्रकारका है। तथा अनेक बाधाओंके विप्लव होनेसे रहित श्रुतज्ञान और प्रत्यभिज्ञान तर्क आदिक तो परोक्ष प्रमाण हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण हैं। इनमें सभी प्रमाणोंका संग्रह हो जाता है।

त्रिधा प्रत्यक्षमित्येतत्सूत्रव्याहतमीक्ष्यते।
प्रत्यक्षातींद्रियत्वस्य नियमादित्यपेशलम् ॥ १८२ ॥
अत्यक्षस्य स्वसंवित्तिः प्रत्यक्षस्याविरोधतः।
वैशद्यांशस्य सद्भावात व्यवहारप्रसिद्धितः ॥ १८३ ॥

कोई कहते हैं कि आप जैनोंने यह तीन प्रकारका जो प्रत्यक्ष माना है, यह तो सूत्रसे व्याघातयुक्त दीख रहा है। क्योंकि अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन तीन अतींद्रिय ही

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज

प्रत्यक्षोंका आपने नियम किया है । आचार्य कहते हैं कि यह किसीका कहना सुंदर नहीं है। क्योंकि इंद्रियोंसे अतिक्रान्त प्रत्यक्षका स्वसंवेदन हो रहा है। कोई विरोध नहीं है। तथा एक देशसे विशदपना इन्द्रियप्रत्यक्षोंमें भी विद्यमान है । इस कारण व्यवहारकी प्रसिद्धिसे अवग्रह आदिक भी प्रत्यक्षरूप हैं । भावार्थ—मुख्यरूपसे तो अवधि आदिक तीन ही प्रत्यक्ष हैं। हां, थोडा विशदपना होनेसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी परीक्षामुख आदि न्यायके अन्य ग्रन्थोंमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष-मान लिये गये हैं । वस्तुतः वे परोक्ष हैं । अतः अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष हैं । देखिये, इन्द्रियोंके विना ज्ञानका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो रहा है ।

प्रत्यक्षमेकमेवोक्तं मुख्यं पूर्णेतरात्मकम् ।
अक्षमात्मानमाश्रित्य वर्तमानमतींद्रियम् ॥ १८४ ॥
परासहतयाख्यातं परोक्षं तु मतिश्रुतम् ।
शब्दार्थश्रयणादेवं न दोषः कश्चिदीक्ष्यते ॥ १८५ ॥

पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान तथा अपरिपूर्ण प्रत्यक्ष अवधि और मनःपर्ययस्वरूप, ये सब एक ही प्रत्यक्षप्रमाण मुख्य कहा गया है । क्योंकि अक्ष यानी आत्माको ही आश्रय लेकरके वह प्रवर्तता है । अतः इन्द्रियोंसे अतिक्रान्त अवधि आदि तीन ज्ञान तो पर इन्द्रिय, आलोक, हेतु, शब्द, आदिकी सहकारितासे नहीं होते हुये मुख्य प्रत्यक्ष कहे गये हैं । तथा मति और श्रुत तो मुख्य रूपसे परोक्ष माने गये हैं । इस प्रकार शब्द संबंधी न्याय और अर्थसम्बन्धी न्यायका आश्रय लेने से कोई भी दोष नहीं दीखता है ।

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधेति ब्रुवाणेनापि मुख्यमतींद्रियं पूर्णं केवलमपूर्णमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति निवेदितमेव, तस्याक्षमात्मानमाश्रित्य वर्तमानत्वात् । व्यवहारतः पुनरिंद्रियप्रत्यक्षमनिंद्रियप्रत्यक्षमिति वैशद्यांशसद्भावात् । ततो न तस्य सूत्रव्याहतिः । श्रुतं प्रत्यभिज्ञादि च परोक्षमित्येतदपि न सूत्रविरुद्धं, आद्ये परोक्षमित्यनेन तस्य परोक्ष-त्वप्रतिपादनात् ।

विशदज्ञान प्रत्यक्ष है, वह तीन प्रकार है, इस प्रकार कहनेवाले स्याद्वादी करके भी मुख्य रूपसे अतीन्द्रिय और पूर्णविषयोंको जाननेवाला केवलज्ञान है, तथा अपूर्ण विषयोंको जाननेवाला अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं, यह निवेदन कर ही दिया गया समझो । क्योंकि वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अकेले आत्मारूप अक्षका आश्रय लेकर प्रवर्त्त रहा है । हां, व्यवहारसे फिर पांच इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये प्रत्यक्ष और मनसे उत्पन्न हुये प्रत्यक्ष भी हैं । क्योंकि एक देशसे विशदपना

उनमें भले प्रकार विद्यमान है। तिस कारण द्विवचनान्त पदसे एक परोक्ष और एक ही विशद प्रत्यक्षको कहनेवाले उस सूत्रका व्याघात नहीं हुआ। तथा श्रुतज्ञान और प्रत्यभिज्ञान आदिक परोक्ष हैं। इस प्रकार यह भी सूत्रसे विरुद्ध नहीं है। क्योंकि भविष्यके "आद्ये परोक्षम्" इस सूत्र करके उनको परोक्षपना समझाकर कहा गया है।

अवग्रहेहावायधारणानां स्मृतेश्च परोक्षत्ववचनात् तद्विरोध इति चेन्न, प्रत्यभिज्ञादीत्यत्र वृत्तिद्वयेन सर्वसंग्रहात्। कथं। प्रत्यभिज्ञाया आदिः पूर्वे प्रत्यभिज्ञादीति स्मृतिपर्यंतस्य ज्ञानस्य संग्रहात् प्राधान्येनावग्रहादेरपि परोक्षत्ववचनात् प्रत्यभिज्ञा आदिर्यस्येति वृत्त्या पुनरभिनिबोधपर्यंतसंगृहीतेर्न काचित्परोक्षव्यक्तिरसंग्रहीता स्यात्। तत एव प्रत्यभिज्ञादीति युक्तं व्यवहारतो मुख्यतः स्वेष्टस्य परोक्षव्यक्तिसमूहस्य प्रत्यायनात्। अन्यथा स्मरणादि परोक्षं तु प्रमाणे इति संग्रह इत्येवं स्पष्टमभिधानं स्यात्। ततः शब्दार्थाश्रयणान्न कश्चिद्दोषोत्रोपलभ्यते।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा और स्मृतिको भी परोक्षपना कहा गया है। अतः केवल श्रुत और प्रत्यभिज्ञा आदिको ही परोक्षपना कहनेसे उस सूत्रका विरोध तदवस्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि प्रत्यभिज्ञादि इस शब्दमें षष्ठी तत्पुरुष और बहुव्रीहि समास इन दो वृत्तियोंसे सभी परोक्ष प्रमाणोंका संग्रह हो जाता है। कैसे हो जाता है? सो उत्तर सुनिये। जो ज्ञान प्रत्यभिज्ञाके आदि यानी पूर्ववर्त्ती हैं, वे प्रत्यभिज्ञादि हैं, इस प्रकार तत्पुरुष द्वारा अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृतिपर्यन्त ज्ञानोंका संग्रह हो जाता है। अवग्रह आदिकोंको भी प्रधानतासे परोक्षपनका कथन किया गया है। तथा प्रत्यभिज्ञा है आदिमें जिसके, ऐसी बहुव्रीहि नामक समास वृत्तिसे फिर चिन्ता (व्याप्तिज्ञान) अभिनिबोध (अनुमान) पर्यंत ज्ञानोंका संग्रह हो जाता है। अतः कोई भी परोक्षव्यक्ति असंग्रहीत नहीं हुयी। तिस ही कारण प्रत्यभिज्ञादि इस प्रकार वार्त्तिकमें कहना युक्ति पूर्ण है। क्योंकि व्यवहार और मुख्यरूपसे स्वयंको अभीष्ट हो रहे परोक्ष व्यक्तियोंके समुदायका निर्णय करा दिया गया है। अवग्रह आदिक मुख्यरूपसे परोक्ष हैं। हां, व्यवहारसे प्रत्यक्ष भी हैं। अन्यथा यानी सभी परोक्षोंका संग्रह करना यदि इष्ट नहीं है और अवग्रह आदिकको परोक्षमें नहीं डालना चाहते होते तो स्मरण आदिक तो परोक्ष हैं, इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण हैं, ऐसा यह स्पष्ट ही कथन कर दिया जाता। किन्तु "प्रत्यभिज्ञादि" कह देनेसे उक्त स्वरस है। तिस कारण शब्द और अर्थसम्बन्धी न्यायका आसरा लेनेसे कोई भी दोष यहां नहीं दीखता है। अतः स्वकीयभेद प्रभेदोंसे युक्त प्रत्यक्ष और अपने भेद प्रभेदोंसे युक्त परोक्ष ये दो मुख्य प्रमाण हैं। शेष प्रमाणज्ञान इन्हीं दोके परिवार हैं।

इस सूत्रका सारांश

इस सूत्रके प्रकरणोंकी सूचनिका इस प्रकार है। प्रथम ही पांचों ज्ञानोंको दो प्रमाणरूप स्वीकार किया है। एक, तीन, आदि अभीष्ट प्रमाणोंमें सभी प्रमाणोंका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। प्रमाणके स्वरूप और संख्यामें पडे हुये विवादोंका मूलसूत्रसे निराकरण हो जाता है। जड इन्द्रियोंको मुख्य प्रमाणता नहीं है। हां, चेतन भावेंद्रियां स्वार्थकी परिच्छित्तिमें साधकतम हैं। कोई भी जडपदार्थ प्रमितिका करण नहीं है। वैशेषिकोंसे माना गया सन्निकर्ष भी प्रमाण नहीं है। सर्वथा भिन्न पडे हुये आत्मा और ज्ञान भी प्रमाण नहीं हो सकते हैं। अन्यथा ज्ञानका सम्बन्ध (स्वसमवायि संयोग) होनेसे शरीर भी प्रमाता बन बैठेगा। तादात्म्यपरिणामके अतिरिक्त समवाय पदार्थ कुछ नहीं है। अतः प्रमिति, प्रमाण, प्रमाताका सर्वथा भेद नहीं है। हां, प्रमिति और प्रमाणसे प्रमाताका सर्वथा अभेद भी नहीं है। किन्तु कथंचित् भेद, अभेद, है, जैसे कि चित्रज्ञान है। यहां स्याद्वादका रहस्य समझने योग्य है। जिन वैशेषिकोंने संयोग आदिक छह संनिकर्ष माने हैं, उनमें अनेक दोष आते हैं। लौकिक संन्निकर्ष और अलौकिक संनिकर्षोंको प्रमितिका साधकपना नहीं बनता है। कर्मोंके पटलका विघटन हो जानेसे आत्मा ही सम्पूर्ण प्रमितियोंको बना लेता है। योग्यतारूप संनिकर्षको भले ही प्रमाण कह दो। यहां अन्य भी आनुषंगिक विचार किये गये हैं। बौद्धोंकी मानी हुयी तदाकारता भी प्रमाण नहीं है। तादूप्य, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय, ये तीनों ज्ञानके विषयका नियम नहीं करा सकते हैं। संनिकर्ष और तदाकारता आदिमें अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार होते हैं। स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञानको आकार पडे विना भी प्रमाण माना गया है। सम्वेदनाद्वैत माननेसे भी कार्य नहीं चलेगा और भी यहां चोखा विचार है। बात यह है कि उपचारसे चाहे कुछ भी कह लो, वस्तुतः अज्ञानकी निवृत्ति करनेवाला सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। सम्यक् शब्दका अधिकार चले आनेसे संशय आदि मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं हैं। जितने अंशमें जिस प्रकार ज्ञानका अविसम्वाद है, उतने अंशमें उस ज्ञानको प्रमाणता है। जैसे कि सम्यग्दृष्टिके जितने अंशमें राग है, उतने अंशसे बन्ध है और शेष अंशोंसे संवर है। पांच ज्ञानोंमें से मति, श्रुतको एक देशसे प्रमाणपना है। अवधि मनःपर्ययको पूर्णरूपसे प्रमाणता है। केवल ज्ञानको भी सम्पूर्ण पदार्थोंमें पूर्णरूपसे प्रमाणता है। शहाजांहपुर, बरेली, बलिया, सहारनपुरकी बनी हुई खांडोंमें मीठेपनका अन्तर है। मिश्री, खांड, गुडमें भी मीठेपनका तारतम्य है। इसका यही अभिप्राय है कि उन पुद्गल पिण्डोंमें अनेक छोटे छोटे पुद्गलस्कन्ध मिठाईसे रहित हुए मिले हुए हैं। मालगाडीसे सवारीगाडी और उससे भी अधिक डांक गाडी तेज चलती है। यहां यह ध्वनित हो जाता है कि डांकगाडीसे सवारीगाडी पटरी या आकाश प्रदेशोंपर अधिक ठहरती है और सवारी गाडीसे मालगाडी रेल पटरियोंपर देरतक खडी रहती है। अन्य एक घंटेमें दो सौ मील

चलनेवाले विमानोंकी अपेक्षा दौडती हुई डांक गाडीका भी पटरीपर आपेक्षिक ठहरना कहना पडेगा। अन्य कोई उपाय नहीं है। शीघ्रगमन और मन्थरगमनका अन्तर डालनेवाली दूसरी कोई परिभाषा नहीं हो सकती है। इसी प्रकार प्रमाणोंमें भी प्रमाणता और अप्रमाणता जडी हुई है। इन्द्रियजन्य ज्ञानोंमें और श्रुतज्ञानोंमें अप्रमाणताका अंश स्पष्ट दीख रहा है, जिसमें बहुतसा अंश प्रमाणपनेका है, वह प्रमाणज्ञान है। और जिसमें बहुभाग अप्रमाणता भरी हुयी है, वह अप्रमाण है। अतः भरपूर प्रमाण ही या अप्रमाण ही ज्ञान होनेका एकान्त करना समुचित नहीं है। यह श्रीविद्यानन्द आचार्यका स्वतंत्र विचार प्रशस्त है। सभी ज्ञान स्वको जाननेमें प्रमाण हैं। एक ज्ञानमें प्रमाणपना और अप्रमाणपना धर्म विरुद्ध नहीं हैं। यहां बुद्धमतके ऊपर विचार किया है। सर्वत्र अनेकान्त फैला हुआ है। ईश्वरका एक ज्ञान अनेक आकारवाला प्रसिद्ध है। क्रमवर्ती ज्ञानोंसे सर्वज्ञता नहीं है। स्याद्वादके ऊपर उलाहना देनेवाले स्वयं ग्रस्त हो जाते हैं। बौद्धोंके यहां प्रमाणका लक्षण समीचीन नहीं है, उनसे अविसम्वादकी ठीक ठीक परिभाषा न हो सकी। युक्तिसिद्ध ही पदार्थोंको माननेवाला वादी शास्त्रमें कहे गये तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं कर सकता है। स्वप्न ज्ञानमें अतिव्याप्ति हो जानेसे प्रमाणका लक्षण आकांक्षानिवृत्तिरूप अविसंवाद ठीक नहीं है। अव्याप्ति, असंभव, दोष भी आते हैं। अज्ञात अर्थका प्रकाश करना यह प्रमाणका लक्षण भी ठीक नहीं है। प्रत्यक्षको मुख्यप्रमाण और अनुमानको गौण प्रमाण माननेसे बौद्धका कार्य नहीं चल सकता है। मीमांसकोंका माना हुआ प्रमाणका लक्षण भी ठीक नहीं है। अनेक दोष आते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ये कथंचित् पूर्व अर्थको जानते हुए भी प्रमाण माने गये हैं। पर्याय और पर्यायीका कथंचित् अभेद है। स्व और अर्थका निर्णय करनेवाला ज्ञान प्रमाण हैं। इतने लक्षणसे ही कार्य चल जाता है। अन्य विशेषण लगाना व्यर्थ है। अधिक भूलमें पड जानेवाला अनेक उपाधियोंको लगा लेता है। असुन्दर पुरुष अधिक आभूषणोंको पहनता है। बाधवर्जितपना विशेषण भी व्यर्थ है। अन्यथा बडा टंटा लग जायगा। निर्दोष कारणोंसे बनाया गयापन भी व्यर्थ है। अनवस्था दोष आता है। सम्पूर्ण प्रमाणोंकी प्रमाणता स्वतः ही माननेवाले मीमांसकोंका पक्ष समीचीन नहीं है। यों तो मिथ्या ज्ञानोंमें भी प्रमाणपना घुस बैठेगा। यहां स्वतः प्रामाण्यके ऊपर विस्तृत विचार किया है। अनभ्यास दशामें प्रामाण्यको परतः जाननेकी व्यवस्था की है। प्रमाणता और अप्रमाणता दोनोंको परतः ही माननेवाले नैयायिकोंके यहां आकुलता मच जायगी। प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे प्रमाणको अर्थवान् माननेमें अनवस्था होती है। यहां प्रवृत्तिकी सामर्थ्यमें विकल्प उठाकर न्यायमतका खण्डन किया है। संशयज्ञानसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। प्रेक्षावान् पुरुषोंकी प्रवृत्ति प्रमाणोंसे होती है। विशेष विशेष ज्ञानावरणके विघट जानेसे किसीकी प्रेक्षापूर्वक क्रिया करना और अन्यके अप्रेक्षापूर्वक क्रिया करना बन रहा है। अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपाटव, ये विशेष कार्यकारी

नहीं हैं। अभ्यास दशामें स्वतः और अनभ्यास दशामें परतः प्रामाण्य जान लिया जाता है। यही बात अप्रामाण्यमें समझो। सम्पूर्ण तत्त्व स्याद्वादसे विंध रहे हैं। सम्पूर्ण अंगोंमें प्रमाणताको धारण करनेवाला भी केवलज्ञान परकीय चतुष्टयसे प्रमाण नहीं है। शून्य वादियोंके यहां इष्टविघात और अनिष्टनिषेध यह प्रक्रिया प्रमाण माननेपर ही सिद्ध होती है। अन्यथा किसी बातकी भी व्यवस्था नहीं है। विशेष क्षयोपशमके अनुसार अभ्यास और अनभ्यास किसी किसी प्राणीके अनेक विषयोंमें हो जाते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण हैं। चार्वाकोंका एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण मुख्य है, यह मन्तव्य अच्छा नहीं है। गुरु, पिता, आदिके प्रत्यक्षोंका प्रमाणपना प्रत्यक्षसे तुमको नहीं ज्ञात हो सकता है। अतः अनुमान मानना पडेगा। बौद्धोंके द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानना भी ठीक नहीं है। व्याप्तिको जाननेके लिये अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता होगी योगी। प्रत्यक्षसे तुमको व्याप्तिका ज्ञान नहीं हो सकता है। अनुमानसे व्याप्तिका ज्ञान करनेमें अनवस्था, अन्योन्याश्रय, दोष होते हैं। तर्कके समान स्मृति, संज्ञा, आदि भी प्रमाण मानने पडेंगे। स्मृति आदिक भेदोंको धारनेवाली मति और अनुमान तथा श्रुत ये तीन प्रमाण हो गये, फिर दोका नियम कहां रहा ? विषयभेदसे प्रमाणभेद नहीं है। किन्तु सामग्रीभेदसे प्रमाणभेद मानना चाहिये। शब्द, लिंग और अक्ष, सामग्रीसे उत्पन्न हुये तीन प्रमाण हुये जाते हैं। सर्वज्ञका ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है। समाधिसे उत्पन्न हुआ उपकार कुछ उपयोगी नहीं है। कर्त्तासे अभिन्न भी करण हो जाते हैं। जैसे कि वृक्षके गिरनेमें उसकी शाखाओंका बोझ करण हो जाता है। प्रत्यक्षका लक्षण विशदपना ठीक है। विशद न होनेसे और सम्वादी होनेसे स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, और तर्क न्यारे परोक्ष प्रमाण हैं। स्मरणको जैसे अनुमानमें गर्भित करनेसे अनवस्था आती है, उसी प्रकार उपमान, अर्थापत्तिमें अन्तर्भाव करनेपर भी अनवस्था दोष होगा। क्योंकि उपमान और अर्थापत्तिके उत्पादक कारणोंमें स्मृति आदिक पडे हुये हैं। गौके सदृश पदार्थ गवयपदका वाच्य होता है। उपमितिमें ऐसे अतिदेश वाक्य (वृद्धवाक्य) के अर्थका स्मरण करना व्यापार माना गया है। तत्प्रकारक शाब्दबोधमें तद-वच्छेद करके शक्तिका ग्रहण करना कारण माना गया है। स्मृति आदिकोंको अभाव प्रमाण माननेपर विधि अंशमें प्रवर्त्तकपना विरुद्ध हो जायगा। इस प्रकार चार, पांच, छह प्रमाण माननेवालोंके यहां भी प्रमाणोंकी संख्या ठीक नहीं बैठती है। क्योंकि आवश्यक प्रमाण स्मृति आदिक उनमें प्रविष्ट नहीं हो पाते हैं। और जैनसिद्धान्तमें माने गये दो प्रमाणोंमें सभी प्रमितिकरणतावच्छेदकावच्छिन्न-गर्भित हो जाते हैं। अवग्रह आदिक और अवधि आदिक सर्व सम्यग्ज्ञान इन्हींके भेद हैं। इस प्रकार वे मति आदिक पांचों ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्षरूप दो प्रमाण हैं।

स्तां प्रत्यक्षपरोक्षे नः स्पष्टास्पष्टप्रकाशिनी। रोदसी पुष्पवन्ताभे व्याप्याज्ञाननिवृत्तये॥

(व्याख्यात स्पष्टास्पष्टप्रतिपादक प्रत्यक्षपरोक्ष प्रमाण अज्ञाननिवृत्तिके लिए भूमंडलमें जयवंत रहे।)

तिन पांच ज्ञानोंको सूत्रकार स्वयं कण्ठोक्त रूपसे इष्ट भेदोंमें विभक्त करनेके लिये सूत्र कहते हैं।

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आदिमें होनेवाले या सूत्रमें पहिले उच्चारण किये गये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो परोक्ष प्रमाण हैं।

अक्षादात्मनः परावृत्तं परोक्षं ततः परैरिंद्रियादिभिरूक्ष्यते सिंच्यतेभिवर्ध्यत इति परोक्षं। किं पुनस्तत्, आद्ये ज्ञाने मतिश्रुते।

जो ज्ञान अक्ष यानी आत्मासे परावृत्त है वह परोक्ष है। अर्थात्—आत्माको गौण कारण मानकर उससे न्यारे इन्द्रिय, मन, आदि कारणोंसे ऊक्षित होता है, सींचा जाता है, पुष्टिकर बढाया जाता है, इस प्रकार निरुक्तिसे साधा गया परोक्ष शब्द है। वह परोक्ष शब्दका वाच्य दूसरोंसे बढाया गया फिर क्या पदार्थ है? इस प्रकार उद्देश्य दलकी जिज्ञासा होनेपर आदिके दो ज्ञान मति और श्रुत हैं, यह उत्तर है।

कुतस्तयोराद्यता प्रत्येयेत्युच्यते।

उन मति और श्रुत दोनोंको आदिमें होनापन कैसे समझ लिया जाय? चाहे लाखों, करोडों कितनी ही वस्तुयें क्यों न हों, उनकी आदिमें एक ही वस्तु कही जा सकती है। यहां पांचमे ही दोको आदिमें हो जानापना कैसे हो गया? ऐसा प्रश्न होनेपर अब उत्तर कहा जाता है।

आद्ये परोक्षमित्याह सूत्रपाठक्रमादिह।
ज्ञेयाद्यता मतेर्मुख्या श्रुतस्य गुणभावतः ॥ १ ॥

द्विवचनान्त आद्ये शब्द है "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" इस सूत्रके पढे जानेके क्रमसे यहां आदिके दो ज्ञान परोक्ष हैं, ऐसा ग्रन्थकार कहते हैं। इस कारण मतिज्ञानको मुख्य आद्यपना है और उसके निकट होनेके कारण श्रुतज्ञानको गौणरूपसे आद्यपना है। प्रथमबाधे प्रथमसदेशस्य" आदिमें कहे गये अकेलेको यदि दोपना यदि बाधित है, तो उसके निकट कहे गये दूसरेको मिलाकर दोपनेका निर्वाह करलिया जाता है, ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध है। "अन्त्यबाधे अन्त्यसदेशस्य" ऐसी भी परिभाषा व्याकरणमें मान्य की गयी है।

यस्मादाद्ये परोक्षमित्याह सूत्रकारस्तस्मान्मत्यादिसूत्रपाठक्रमादिहाद्यता ज्ञेया। सा च मतेर्मुख्या कथमप्यनाद्यतायास्तत्राभावात् श्रुतस्याद्यता गुणीभावात् निरुपचरिताद्यसामीप्यादाद्यत्वोपचारात्। अवध्याद्यपेक्षयास्तु तस्य मुख्याद्यतेति चेत् न, मनः पर्ययाद्यपेक्षया वधेरप्याद्यत्वसिद्धेर्मत्यवध्योर्ग्रहणप्रसंगात् द्वित्वनिर्देशस्याप्येवमविरोधात्।

जिस कारणसे कि सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने आदिके दो ज्ञान परोक्ष हैं, ऐसा सूत्र कहा है, तिस कारण "मतिश्रुत" आदि सूत्रके पठनक्रमसे यहां पहिले दो को आदिपना जानना चाहिये। और वह आदिपना मतिज्ञानको तो मुख्य है। क्योंकि उस मतिज्ञानमें तो कैसे भी आदिमें नहीं होनेपनका अभाव है। हां, उसके निकटवाले श्रुतज्ञानको आद्यपना गौणरूपसे है। उपचारको नहीं प्राप्त हुये यानी मुख्यरूपसे आदिमें पडे हुये मतिज्ञानकी समीपतासे श्रुतको आद्यपनका उपचार करलिया गया है। यदि कोई यों कहे कि अवधि आदिककी अपेक्षासे तो उस श्रुतज्ञानको मुख्यरूपसे आद्यपना बन जाता है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यों तो मनःपर्ययआदिकी अपेक्षा अवधिको भी आद्यपना सिद्ध हो जावेगा। और ऐसा होनेपर मति और अवधि इन दोके ग्रहण करनेका प्रसंग होगा। आद्ये शब्दको द्विवचनरूपसे कथन करनेका भी इस प्रकार कोई विरोध नहीं आता है। अतः अपेक्षाको टालकर ठीक ठीक आदिमें या उपचारसे आदिमें हुओंका ग्रहण करना चाहिये। अन्योंका नहीं।

केवलापेक्षया सर्वेषामाद्यत्वेपि मत्यादीनां मतिश्रुतयोरिह संप्रत्ययः साहचर्यादिति चेन्न, मत्यपेक्षया श्रुतादीनामनाद्यताया अपि सद्भावान्मुख्याद्यतानुपपत्तेस्तदवस्थत्वात्।

कोई विद्वान् यों सन्तोष देना चाहते हैं कि केवलज्ञानकी अपेक्षासे तो सब चारों मति आदि ज्ञानोंको आद्यपना होते हुये भी मति आदिकोंमेंसे मति और श्रुतका ही यहां समीचीन ज्ञान हो जाता है। क्योंकि पांच ज्ञानोंमेंसे मति और श्रुत ये दो ही ज्ञान साथ रहते हैं। अन्य दो ज्ञानोंके सहचर रहनेका नियम नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह समाधान तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो मतिकी ही अपेक्षासे विचारा जाय तो श्रुत आदिकोंको आद्यरहितपना भी विद्यमान है। अतः श्रुत आदिकोंको मुख्यरूपसे आद्यपनेकी असिद्धि होना वैसा ही तदवस्थ रहा। आदिमें होनेपनका निर्णय करनेके लिये सहचरपना प्रयोजक नहीं है।

आद्यशब्दो हि यदाद्यमेव तत्प्रवर्तमानो मुख्यः, यत्पुनराद्यमनाद्यं च कथंचित्तत्र प्रवर्तमानो गौण इति न्यायात्तस्य गुणभावादाद्यता क्रमार्पणायाम्।

जो आदिमें ही हो रहा है, उसीमें आद्य शब्द प्रवर्त्त रहा तो मुख्य है, और जो पदार्थ फिर किसी अपेक्षासे आद्य और अनाद्य भी है, उसमें प्रवर्त रहा आद्य शब्द गौण है। इस न्यायसे उस श्रुतज्ञानको गौणभावसे आद्यपना है। क्योंकि सूत्रमें पढे गये पाठके क्रमकी विवक्षा हो रही है। अतः द्विवचनान्त प्रयोगसे आद्ये शब्दकरके मतिश्रुत पकडे जाते हैं।

बुद्धौ तिर्यगवस्थानान्मुख्यं वाद्यत्वमेतयोः।
अवध्यादित्रयापेक्षं कथंचिन्न विरुध्यते ॥ २ ॥

अथवा एक यह भी उपाय है कि बुद्धिमें तिरछा अवस्थित करदेनेसे इन मति, श्रुत, दोनोंको अवधि आदि तीनकी अपेक्षा रखता हुआ कथंचित् मुख्य आपना विरुद्ध नहीं पडता है। अर्थात्—अवधि आदिक तीन की अपेक्षा बुद्धिमें तिरछा फैलानेसे मति श्रुतको आदिपना बन जाता है।

परोक्ष इति वक्तव्यमाद्ये इत्यनेन सामानाधिकरण्यादिति चेत्। अत्रोच्यते—

शंका है कि उद्देश्यके समान विधेयमें संख्या होनी चाहिये। जब कि आद्ये ऐसा द्विवचनान्त प्रयोग है, तो इसके साथ समान अधिकरणपना होनेसे परोक्षे इस प्रकार द्विवचनान्त प्रयोग सूत्रमें कहना चाहिये। लिंग, संख्या और वचनके समान होनेपर ही सामानाधिकरण्य बढिया बनता है। ऐसी शंका होनेपर यहां समाधान कहा जाता है।

परोक्षमिति निर्देशो ज्ञानमित्यनुवर्तनात्।
ततो मतिश्रुते ज्ञानं परोक्षमिति निर्णयः॥ ३॥
द्वयोरेकेन नायुक्ता समानाश्रयता यथा।
गोदौ ग्राम इति प्रायः प्रयोगस्योपलक्षणात्॥ ४॥
प्रमाणे इति वा द्वित्वे प्रतिज्ञाते प्रमाणयोः।
प्रमाणमिति वर्तेत परोक्षमिति संगतौ॥ ५॥

यहां मति आदि सूत्रमें पडे हुये विधेय दलके "ज्ञान" इस पदकी अनुवृत्ति हो रही है। वह एक वचन है। नपुंसक लिंग है। इस कारण ज्ञानके समान अधिकरणपनेसे परोक्षं ऐसा एक वचन निर्देश सूत्रमें कहा है। तिस कारण मति और श्रुत दो ज्ञान परोक्ष हैं, इस प्रकार निर्णय हो जाता है। दो उद्देश्योंका भी एक विधेयके साथ समानाधिकरणपना अयुक्त नहीं है, जैसे कि "गोदौ ग्रामः" "पञ्चालाः जनपदः" "तपःश्रुते साधोः कार्ये"। गौदौ (गोद) नामके दो ह्रद हैं, उन दोनोंके निकट होनेवाला ग्राम है। वह एक ग्राम गोदौ है। यहां ग्राम शब्द जाति वाचक है। गोदौके समान द्विवचन नहीं हुआ। हां, जातिवाचक न होता तो उसके लिंग और संख्या अवश्य प्राप्त होते, जैसे कि गोदौ रमणीयौ"। जैनेन्द्र व्याकरणके "युक्तवदुसिलिंगसंख्ये" इस सूत्रमें अजातेः ऐसा वक्तव्य है। अतः ग्रामः एक वचन है। इस प्रकारके बाहुल्यपनेसे प्रयोगोंका उपलक्षण हो रहा है। यदि "प्रमाणे" ऐसे द्विवचनान्त प्रयोगकी प्रतिज्ञा की जायगी, तो फिर भी दो मति श्रुत प्रमाणोंमें एक वचन प्रमाणकी अनुवृत्ति की जायगी, तभी परोक्ष प्रमाणके साथ मति और श्रुत संगत हो सकते हैं। भावार्थ—आद्ये परोक्षे कहना, फिर परोक्षे प्रमाणं कहना इसकी अपेक्षा प्रथमसे ही "आद्ये परोक्षम्" कहना अच्छा है। इसमें लाघव है, सूत्रमें लघुपना बहुत प्रशंसनीय गुण है।

किं पुनस्तदनुवर्तनात्सिद्धमित्याह ।

फिर उस ज्ञानकी अनुवृत्ति करनेसे क्या सिद्ध करना है ? ऐसी आकांक्षा होनेपर ग्रन्थकार श्रीविद्यानन्द आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं ।

ज्ञानानुवर्तनात्तत्र नाज्ञानस्य परोक्षता ।
प्रमाणस्यानुवृत्तेर्न परोक्षस्याप्रमाणता ॥ ६ ॥
अक्षेभ्यो हि परावृत्तं परोक्षं श्रुतमिष्यते ।
यथा तथा स्मृतिः संज्ञा चिंता चाभिनिबोधिकम् ॥ ७ ॥
अवग्रहादिविज्ञानमक्षादात्मविधानतः ।
परावृत्ततयाम्नातं प्रत्यक्षमपि देशतः ॥ ८ ॥

तिस सूत्रमें आदिके दो ज्ञान परोक्ष हैं । यहां ज्ञानकी अनुवृत्ति करनेसे अज्ञान, इन्द्रिय, संनिकर्ष, आदि जड पदार्थोंको परोक्षप्रमाणपना नहीं सिद्ध हो पाता है । और प्रमाणकी अनुवृत्ति करनेसे परोक्षको अप्रमाणपना नहीं सिद्ध हो पाता है । जिस कारणसे कि इन्द्रियोंसे परावृत्त होता हुआ श्रुतज्ञान परोक्ष इष्ट किया गया है, तिस प्रकार स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान भी परोक्ष हैं । अक्षशब्दका अर्थ आत्मा करनेसे आत्मासे परावृत्त होनेके कारण अवग्रह आदिक विज्ञान यद्यपि पूर्वाचार्योंके सम्प्रदाय अनुसार परोक्ष कहे गये हैं, फिर भी एकदेश विशद होनेसे प्रत्यक्ष भी हैं । अक्षका अर्थ इन्द्रिय और अनिन्द्रिय भी ले लिया जाता है । किन्तु विशदपना रहना प्रत्यक्षके लिये आवश्यक है ।

श्रुतं स्मृत्याद्यवग्रहादि च ज्ञानमेव परोक्षं यस्मादाम्नातं तस्मान्नाज्ञानं शब्दादिपरोक्षमनधिगममात्रं वा प्रतीतिविरोधात् ।

जिस कारण श्रुतज्ञान, स्मृति आदिक और अवग्रह आदिक ज्ञान ही परोक्ष हैं, ऐसा पूर्व आम्नायसे प्राप्त हो रहा है, तिस ही कारण शब्द, इन्द्रिय, संनिकर्ष, आदि अज्ञान पदार्थ परोक्ष नहीं हैं । अथवा किसी स्वपर प्रमेयका अधिगम नहीं होना (प्रसज्य) भी परोक्ष नहीं है । क्योंकि जड या ज्ञानशून्य तुच्छको परोक्ष प्रमाण माननेपर प्रतीतिओंसे विरोध आता है ।

अस्पष्टं वेदनं केचिदर्थानालंबनं विदुः ।
मनोराज्यादि विज्ञानं यथैवेत्येव दुर्घटम् ॥ ९ ॥
स्पष्टस्याप्यवबोधस्य निरालंबनतास्थितः ।
यथा चंद्रद्वयज्ञानस्येति क्वार्थस्य निष्ठितिः ॥ १० ॥

कोई बौद्ध कह रहे हैं कि अविशद परोक्षज्ञान वास्तविक अर्थको विषय करनेवाला नहीं है। जिस ही प्रकार क्रीडा करते हुये बालकों द्वारा अपने मन अनुसार स्वांग रचे हुये राजा, सेनापति, मंत्रि, आदिके अविशदज्ञान उन वस्तुभूत राजा आदिकको विषय नहीं करते हैं। उसी ढंगसे सभी अविशदज्ञान अर्थको विषय नहीं करते हुये निरालंब हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना दुर्घट ही है। यानी यह युक्तियोंसे घटित नहीं होपाता है। क्योंकि यों तो विशद प्रत्यक्ष-ज्ञानको भी आलम्बनरहितपनेका प्रसंग होता है। जिस प्रकार कि एक चन्द्रमामें हुये चन्द्रद्वयका ज्ञान आलम्बनरहित है, अर्थात् झूठे मनोराज्यको विषय करनेवाले परोक्षज्ञानका दृष्टान्त देकर यदि सभी परोक्षज्ञानको निरालम्ब (विषयको न छूनेवाले) कह दिया जायगा तो आंखमें नैंक अंगुली लगाकर अविद्यमान दो चन्द्रोंको देखनेवाले चाक्षुष प्रत्यक्षका दृष्टान्त देकर सम्पूर्ण प्रत्यक्षज्ञानोंको भी निर्विषय कहा जासकता है। ऐसा होनेपर भला अर्थका प्रतिष्ठितपना कहां किस ज्ञानके द्वारा समझा जायगा ? बताओ। भ्रान्तज्ञानोंको अभ्रान्तज्ञानोंसे पृथग्भूत मानना अनिवार्य है।

परोक्षं ज्ञानमनालंबनमस्पष्टत्वान्मनोराज्यादिज्ञानवत् अतो न प्रमाणमित्येतदपि दुर्घटमेव। प्रत्यक्षमनालंबनं स्पष्टत्वाच्चंद्रद्वयज्ञानादिति तस्याप्यप्रमाणत्वप्रसंगात्। तथा च केष्टस्य व्यवस्था उपायासत्त्वात्॥

सम्पूर्ण परोक्षज्ञान (पक्ष) जानने योग्य विषयोंसे रहित हैं (साध्य)। क्योंकि वे अविशद-रूपसे जाननेवाले हैं (हेतु)। जैसे कि कोई खिलाडी बालक या स्वांग रचनेवाला बहुरूपिया अथवा नाटकमें अभिनय करनेवाला पुरुष अपने मनमें राज्य प्राप्त हुआ आदि समझ बैठे। वह ज्ञान वास्तविक राज्य आदि वस्तुओंको स्पर्श करनेवाला नहीं है। इस कारण कोई भी परोक्षज्ञान प्रमाण नहीं है। आचार्य कहते हैं, इस प्रकार यह कहना भी दुर्घट ही है। क्योंकि यों तो प्रत्यक्ष (पक्ष) अपने ग्राह्य विषयको स्पर्श नहीं करता है (साध्य)। स्पष्टज्ञान होनेसे (हेतु)। जैसे कि चन्द्रद्वयका या पीतशंखका और सीपमें हुये चांदीका ज्ञान स्पष्ट होता हुआ भी निर्विषय है। इस प्रकार पोलम्पोलसे अनुमान द्वारा उस तुम्हारे माने हुये प्रत्यक्षको भी अप्रमाणपनेका प्रसंग होता है। और तिस प्रकार होनेपर अपने अभीष्ट तत्त्वकी व्यवस्था कहां किस प्रमाण हो सकेगी ? क्योंकि उपाय तत्त्व प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रमाण कोई भी तुम्हारे पास विद्यमान नहीं है।

अनालंबनताव्याप्तिर्न स्पष्टत्वस्य ते यथा।
अस्पष्टत्वस्य तद्विद्धि लैंगिकस्यार्थवत्त्वतः॥ ११॥
तस्यानर्थाश्रयत्वेर्थे स्यात्प्रवर्तकता कुतः।
संबंधाच्चेन्न तस्यापि तथात्वेनुपपत्तितः॥ १२॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तुम बौद्धोंके यहां जिस प्रकार स्पष्टपनेकी निर्विषयपनेके साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं मानी जायगी। क्योंकि समीचीन घट, पट आदिके प्रत्यक्षोंमें व्यभिचार होगा। अतः प्रत्यक्षको निर्विषय सिद्ध करनेवाला अनुमान ठीक नहीं है। उसीके समान अस्पष्टपनेकी भी निर्विषयपनेके साथ व्याप्ति नहीं बन पाती है। क्योंकि अनुमानसे व्यभिचार होगा। सम्यक् अनुमान अस्पष्ट होते हुये भी अपने प्राह्य अर्थसे सहित माना गया है। यदि उस अनुमानको अर्थवान् नहीं माना जायगा तो अर्थमें उसको प्रवर्त्तकपना कैसे हो सकेगा ? यदि बौद्ध यों कहें कि अनुमान द्वारा अवस्तुभूत सामान्यको जानकर फिर सामान्यका विशेष अर्थके साथ सम्बन्ध हो जानेसे अनुमानकी अर्थमें प्रवर्त्तकता हो जायगी, ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि सामान्यके संबंधी विशेषको जाननेवाला वह ज्ञान भी तिस प्रकार निर्विषय है। ऐसी दशा होनेपर अर्थमें प्रवृत्ति करानापन नहीं बनता है।

लिंगलिंगिधियोरेवं पारंपर्येण वस्तुनि।
प्रतिबंधात्तदाभासशून्ययोरप्यवंचनम् ॥ १३ ॥
मणिप्रभामणिज्ञाने प्रमाणत्वप्रसंगतः।
पारंपर्यान्मणौ तस्य प्रतिबंधाविशेषतः ॥ १४ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि उन हेत्वाभास और साध्याभासोंसे रहित जो समीचीन हेतु और साध्य हैं, उनको जाननेवाले ज्ञानोंका भी परम्परासे यथार्थ वस्तुमें अविनाभावसंबंध हो रहा है। अर्थात्—स्वनिष्ठज्ञापकतानिरूपित–ज्ञाप्यत्व सम्बन्धसे लिङ्गवान् लिङ्गी हो जाता है। समीचीन हेतुकी साध्यसामान्यके साथ व्याप्ति है। और साध्यसामान्यका स्वलक्षणस्वरूप यथार्थ वस्तु विशेषके साथ संबंध है। अतः परम्परासे अनुमान प्रमाण वस्तुभूत अर्थका स्पर्शी है। अनुमान प्रमाणसे जानकर वस्तुकी अर्थक्रियामें कोई ठगाया नहीं जाता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि यों तो मणिकी प्रभामें हुये मणिके जाननेवाले ज्ञानको भी प्रमाणपनेका प्रसंग हो जायगा। क्योंकि उस मणिज्ञानका भी परम्परासे यथार्थ मणिमें अविनाभावरूप करके संबंध हो रहा है, कोई विशेषता नहीं है। भावार्थ—किसी गृह (मकान) या संदूकमें चमकीली मणि रक्खी हुई है। तालीके छेदमेंसे उसकी प्रभा चमक रही है। छेदकासा आकार मणिका भी संभव है। मणि जैसा प्रकाश करती है, छेदकी प्रभा भी कुछ न्यून वैसी चमकको कर रही है। ऐसी दशामें किसी आततायी पुरुषने छेदके आकारवाली प्रभाको ही मणि समझ लिया। यहां भी मणिप्रभाका मणिके साथ संबंध हो जानेसे यह ज्ञान भी प्रमाण बन बैठेगा। किन्तु चमकते हुये तालीके छेदको उस आकारवाली मणि समझ लेना तो सम्यग्ज्ञान नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यथैव न स्पष्टत्वस्यानालंबनतया व्याप्तित्वे स्वसंवेदनेन व्यभिचारात्तथैवास्पष्टत्वस्यानुमानेनानेकांतात् तस्याप्यनालंबनत्वे कुतोर्थे प्रवर्त्तकत्वं ? संबंधादिति चेन्न, तस्याप्यनुपपत्तेः । यद्धि ज्ञानं यमर्थमालंबते तत्र तस्य कथं संबंधो नामातिप्रसंगात् ।

जिस ही प्रकार स्पष्टपनेकी विषयरहितपनेंके साथ व्याप्ति माननेपर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करके व्यभिचार हो जानेके डरसे समीचीन स्पष्टज्ञानोंको विषयसहित मानना आवश्यक पड जाता है, तिस ही प्रकार अस्पष्टपनेकी निर्विषयपनेके साथ व्याप्ति होना माननेपर अनुमानसे व्यभिचार हो जानेके कारण समीचीन परोक्षज्ञानोंको भी विषयसहित मानना आवश्यक है । यदि व्यभिचारनिवृत्तिके लिये उस अनुमानको भी विषयरहित मानोगे तो उस अनुमानको अर्थमें प्रवर्तकपना कैसे बनेगा ? बताओ ! सामान्य और विशेषका संबंध हो जानेसे विशेषरूप अर्थमें अनुमानको प्रवर्तकपना है, यह तो न कहना । क्योंकि यों तो तुम्हारे बौद्धमत अनुसार उस सम्बन्धकी भी सिद्धि नहीं हो पाई है । कारण कि जो भी कोई ज्ञान जिस किसी अर्थको विषय करता है, उस ज्ञानमें उस अर्थका भला संबंध कैसे कहा जा सकता है ? ज्ञान और अर्थका कल्पनासे गढ लिया गया विषयविषयिभाव संबंध है, जो कि वृत्तिपनेका नियामक नहीं है । ज्ञान और जडका या ज्ञान और भिन्न पडे हुये चेतनद्रव्योंका योजक भला सम्बन्ध भी क्या हो सकता है ? यों तो अंटसन्ट बादरायण सम्बन्ध करनेसे चाहे जिसका सम्बन्ध हो जायगा । अतिप्रसंग हो जावेगा । आकाशका रूपसे भी सम्बन्ध हो जाओ । आकाशका पुद्गलसे संयोग है, और पुद्गलमें रूप रहता है । बौद्धजन सम्बन्ध पदार्थको मानते भी नहीं हैं । अतः उनके यहां कल्पितसंबंधसे अनुमानको अर्थमें प्रवर्तकपना कथमपि नहीं आ सकता है ।

तदनेन यदुक्तं " लिंगलिंगिधियोरेवं पारंपर्येणवस्तुनि । प्रतिबंधात्तदाभासशून्ययोरप्यवंचनं " इति तन्निषिद्धं, स्वविषये परंपरयापीष्टस्य संबंधस्यानुपपत्तेः सत्यपि संबंधे मणिप्रभायां मणिज्ञानस्य प्रमाणत्वप्रसंगाच्च तदविशेषात् ॥

तिस कारण जो बौद्धोंने यह कहा था कि लिंग ज्ञान और साध्यज्ञानका इस प्रकार परंपरासे परमार्थभूत वस्तुमें सम्बन्ध होनेसे अनुमानको अर्थमें प्रवर्त्तकपना है । अतः हेत्वाभास या साध्याभासोंसे शून्य होरहे हेतु साध्योंके ज्ञानद्वारा कोई भी नहीं ठगाया जाता है । वह ठीक ठीक अर्थ क्रियाको कर लेता है । इस प्रकार वह कथन भी इस कथनसे निषेध कर दिया गया समझ लेना चाहिये । क्योंकि ज्ञानका अपने विषयमें परम्परासे भी इष्ट किया गया सम्बन्ध नहीं बनता है । इसमें व्यभिचार दोष आता है । देखिये कि सन्दूकके भीतर मणि चमक रही है । और कुडी (ताळी) के छेदकी मणिप्रभामें किसी उद्भ्रान्त पुरुषको मणिका ज्ञान है । छेदकी प्रभा भी अंधेरेमें मणिके समान बाहर प्रकाश कर रही है । वस्तुतः देखा जाय तो यह अर्थक्रिया करना सन्दूकमें रक्खी हुई मणिका ही कार्य है । समवशरणमें विराजमान तीर्थंकर भगवान्के संनिधानसे

भामण्डलकी कान्ति भी अनेक सूर्योकी दीप्तिको अतिक्रान्त कर देती है। अतः सम्बन्धके होनेपर भी यदि प्रमाणता मान ली जायगी, तो कुंजीके छेदकी मणिप्रभामें हुये मणिज्ञानको प्रमाणपनेका प्रसंग आता है। यहां उस परम्परासे अर्थके साथ संबंध होनेका कोई अन्तर नहीं है।

तच्चानुमानमिष्टं चेन्न दृष्टांतः प्रसिध्यति।
प्रमाणत्वव्यवस्थानेनुमानस्यार्थलब्धितः ॥ १५ ॥

वह मणिप्रभामें हुआ मणिज्ञान यदि अनुमान प्रमाण माना जायगा तब तो अर्थकी प्राप्तिसे अनुमानको प्रमाणपनकी व्यवस्था करनेमें कोई दृष्टान्त प्रसिद्ध नहीं होता है। अर्थात् अनुमान (पक्ष) प्रमाण है (साध्य) अर्थकी प्राप्ति होनेसे (हेतु), जैसे कि मणिप्रभामें मणिज्ञान (दृष्टान्त) इस अनुमानका दृष्टान्त समीचीन नहीं है। ऐसी झूठी बातोंसे बौद्ध अनुमानमें प्रवर्तकपना नहीं सिद्ध कर सकते हैं। अनुमान स्वयं अपना दृष्टान्त नहीं बन सकता है।

न हि स्वयमनुमानं मणिप्रभायां मणिज्ञानमर्थप्राप्तितोनुमानस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितौ दृष्टांतो नाम साध्यवैकल्यात्तथा।

अर्थकी प्राप्तिसे अनुमानको प्रमाणपनकी व्यवस्था करनेमें वह मणिज्ञान तो दृष्टान्त नहीं हो सकता है। जो कि मणिप्रभामें हुआ मणिज्ञान स्वयं अनुमान प्रमाणमान लिया गया है। क्योंकि यह दृष्टान्त साध्यसे विकल है। अर्थात् झूठे मणिज्ञानमें प्रमाणपना नहीं है। तथा दूसरी बात यह भी है:—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेपि विशेषोर्थक्रियां प्रति ॥ १६ ॥
यथा तथा यथार्थत्वेप्यनुमानं तदोभयोः।
नार्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥ १७ ॥

कुञ्जीके छेदकी मणिप्रभामें एक व्यक्तिको मणिज्ञान हुआ। दूसरेको दीपककी प्रभामें मणिज्ञान हुआ। दोनों ही ज्ञान भ्रान्त हैं। यहां मणिकी प्रभामें मणिबुद्धिसे और दीपककी प्रभा(लौ) में मणिकी बुद्धिसे अर्थप्राप्तिके लिये उस ओर दौड़नेवाले दो पुरुषोंको मिथ्याज्ञानका अविशेष होते हुये भी अर्थक्रियाके प्रति विशेषता जैसी मानी जाती है, उसी प्रकार यथार्थपना होते हुये भी अनुमान ज्ञान प्रमाण है। उस समय विषयसहित होनेके कारण प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंको प्रमाणपना है। अर्थक्रियाके अनुसार अनुरोध करके प्रमाणपना व्यवस्थित नहीं हुआ।

ततो नास्यानुमानतदाभासव्यवस्था।

तिस कारण इस बौद्धके यहां अनुमान और अनुमानाभासकी व्यवस्था नहीं हो सकी। जिस कार्यको मणि करती है, उससे कुछ कमती कार्यको मणिप्रभा कर देती है। दीपकी प्रभा भी थोडेसे कार्यको कर देती है। वस्तुतः विचारा जाय तो मणि आदिकका कार्य सर्वथा न्यारा न्यारा है। किन्तु सामान्यको विषय करनेवाले अनुमान प्रमाणकी व्यवस्था करनेवाले बौद्धोंके यहां भेद रूपसे उक्त निर्णय नहीं बन पाता है। मिथ्या अनुमान और सम्यक् अनुमान सब एकसे हो जाते हैं।

दृष्टं यदेव तत्प्राप्तमित्येकत्वाविरोधतः।
प्रत्यक्षं कस्यचित् तच्चेन्न स्याद्भ्रांतं विरोधतः॥ १८॥

मार्गदर्शक:- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जो ही पदार्थ देखा गया वही पदार्थ यदि प्राप्त किया जाय, इस प्रकार एकपनेके अविरोधसे किसीका भी प्रत्यक्ष होना यदि मानोगे वह तो भ्रान्तज्ञान न हो सकेगा। क्योंकि विरोध है। अर्थात्—मणिप्रभामें हुआ भ्रान्त मणिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। जो मणि जानी गई है, वह हाथमें प्राप्त नहीं हुई है। दूसरी बात यह है कि क्षणवर्ती पदार्थोंको माननेवाले बौद्धोंके यहां पहले क्षणमें जानकर दूसरे क्षणमे अभिलाषा कर तीसरे क्षणमें प्रवृत्ति करना चौथे क्षणमें प्राप्ति कराना ऐसी क्रियायें क्षणिक ज्ञानसे होना असम्भव है। अर्थकी प्राप्ति करा देनेसे ज्ञानमें प्रमाणपना नहीं माना गया है। ज्ञानमें हेय, उपादेय, अर्थका प्रदर्शकपना ही प्रापकपना है। अन्यथा सूर्य, चंद्र आदि के ज्ञानमें या सर्वज्ञज्ञानमें प्रामाण्य दुर्लभ हो जायगा।

प्रत्यक्षमभ्रान्तमिति स्वयमुपयन् कथं भ्रांतं ज्ञानं प्रत्यक्षं सन्निदर्शनं ब्रूयात्?।

भ्रान्तिरहित प्रत्यक्ष होता है, इस बातको स्वयं स्वीकार कर रहा बौद्ध भला मणिप्रभाके भ्रान्त ज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाणका समीचीन दृष्टांत कैसे कह सकेगा? अर्थात् नहीं। सज्जनोंके दृष्टान्त दुर्जन नहीं होते हैं।

अप्रमाणत्वपक्षेपि तस्य दृष्टांतता क्षतिः।
प्रमाणांतरता यांतु संख्या न व्यवतिष्ठते॥ १९॥
ततः सालंबनं सिद्धमनुमानं प्रमात्वतः।
प्रत्यक्षवद्विपर्यासो वान्यथा स्याद्दुरात्मनाम्॥ २०॥

उस मणिप्रभामें हुए मणिज्ञानको यदि अप्रमाण माना जायगा तो भी उसको दृष्टान्तपनेकी क्षति होगी। प्रत्यक्ष आदिसे अन्य निराला प्रमाण माननेपर तो संख्या नहीं व्यवस्थित होती है। तिस कारण अनुमानप्रमाण आलंबनसहित सिद्ध हुआ। क्योंकि वह प्रमाण ज्ञान है। जैसे कि प्रत्यक्षज्ञान अपने ग्राह्य विषयसे सहित है। अन्यथा प्रतिकूल भी हो जाओ, यानी दुराग्रही जीवोंके

यहां यदि परोक्ष अनुमान ज्ञानको निर्विषय माना जायगा तो प्रत्यक्ष भी निर्विषय हो जावेगा। अथवा दुष्टजीवोंको विपर्यय ज्ञान हो जावेगा। खोटा अभिप्राय रखनेवाले चाहे जैसा गढकर अर्थका अनर्थ कर सकते हैं। कल्पित दृष्टान्त है कि एक भेडिया नदीके ऊपर भागमें जल पी रहा था और बकरीसे कहा, क्योंरी, झूंठा यानी मैला पानी इधर बहारही है, तेरा चचा भी ऐसा बुरा कार्य किया करता था। बेचारी बकरीने कहा महाराज ! मैं तो नीचेकी ओर पानी पी रही हूं नीचेका पानी कहीं ऊपर चढता है ? और मेरा चचा तो था ही नहीं। इसपर भेडियेने कहा तू बडी नीच है। उत्तर देती है, मुंह लेती चली आती है। ले दण्ड भोग, ऐसा कहकर बकरीको मार डाला।

कथं सालंबनत्वेन व्याप्तं प्रमाणत्वमिति चेत्—

विषय सहितपने (साध्य) के साथ प्रमाणपना हेतु केसे व्याप्तियुक्त है ? ऐसी यदि शंका करोगे तो यह उत्तर है।

अर्थस्यासंभवेऽभावात्प्रत्यक्षेपि प्रमाणताम्।
ततो व्याप्तं प्रमाणत्वमर्थवत्त्वेन मन्यताम् ॥ २१ ॥
प्राप्यार्थापेक्षयेष्टं चेत्तथाध्यक्षेपि तेस्तु तत्।
तथा चाध्यक्षमप्यर्थानालंबनमुपस्थितम् ॥ २२ ॥

तुम बौद्धोंके यहां अर्थके असम्भव होनेपर प्रत्यक्षमें भी प्रमाणपनेका अभाव है। तिस कारण अर्थसहितपनेके साथ प्रमाणपना व्याप्त हो रहा मान लो। यदि प्राप्ति करने योग्य अर्थकी अपेक्षासे अनुमानमें अर्थसहितपना इष्ट करोगे तो तुम बौद्धोंके यहां प्रत्यक्षमें भी तिस प्रकार प्राप्य अर्थकी अपेक्षासे वह प्रमाणपना इष्ट किया जाय, किन्तु अवलम्ब कारणकी अपेक्षा अर्थसहितपना प्रत्यक्षमें नहीं माना जाय और तिस प्रकार होनेपर प्रत्यक्षप्रमाण भी अर्थको नहीं आलम्बन करनेवाला उपस्थित हुआ, जो कि आप बौद्धोंको अभीष्ट नहीं है।

प्रत्यक्षं यद्यवस्त्वालंबनं स्यात्तदा नार्थं प्रापयेदिति चेत्—

प्रत्यक्षप्रमाण यदि वस्तुभूत स्वलक्षणको आलंबन न करेगा तब तो वह अर्थको प्राप्त नहीं करा सकेगा। अतः प्रत्यक्ष तो वस्तुको आलम्बन कारण मानकर उत्पन्न होता है। अन्यज्ञान नहीं, यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो—।

अनुमानमवस्त्वेव सामान्यमवलंबते।
प्रापयत्यर्थमित्येतत्सचेता नाद्य मोक्ष्यते ॥ २३ ॥

तस्माद्वस्त्वेव सामान्यविशेषात्मकमंजसा ।
विषयीकुरुतेध्यक्षं यथा तद्वच्च लैंगिकम् ॥२४॥

आप बौद्ध यों कैसे कह देते हैं कि अनुमान प्रमाण अवस्तुभूत सामान्यको ही अवलम्ब (विषय) करता है। किन्तु अर्थको ज्ञात करा देता है। इस प्रकार यह पक्षपातकी बातको कह रहा सहृदय बौद्ध आज नहीं छूट सकेगा। अर्थात् अनुमानके समान प्रत्यक्ष भी अवस्तुको आलंबन करता हुआ अर्थको प्राप्त करा देगा। फिर प्रत्यक्षको सावलम्बन क्यों माना जाता है। तिस कारण परिशेषमें यही सिद्ध होगा कि सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको ही निर्दोषरूपसे जैसे प्रत्यक्ष विषय करता है। उसीके समान लिंगजन्य अनुमान प्रमाण भी सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको ही विषय करता है।

सर्वं हि वस्तु सामान्यविशेषात्मकं सिद्धं तद्व्यवस्थापयत्प्रत्यक्षं यथा तदेव विषयीकुरुते तथानुमानमपि विशेषाभावात्। तथा सति—

जिस कारणसे कि सम्पूर्ण वस्तुयें सामान्य विशेष उभय आत्मक सिद्ध हो रहीं हैं। अनुगत आकार और व्यावृत्त आकार पदार्थोंमें पाये जाते हैं। तिस कारण उन वस्तुओंकी व्यवस्था करता हुआ प्रत्यक्ष जिस प्रकार उस वस्तुको ही विषय करता है, तिसी प्रकार अनुमान भी उसी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप सामान्य विशेषात्मक वस्तुको जानता है। कोई अंतर नहीं है। और तिस प्रकार सिद्ध हो जानेपर—

स्मृत्यादिश्रुतपर्यंतमस्पष्टमपि तत्त्वतः ।
स्वार्थालंबनमित्यर्थशून्यं तन्निभमेव नः ॥ २५ ॥

स्मृतिको आदि लेकर श्रुतज्ञानपर्यंत परोक्षज्ञान वस्तुतः अस्पष्ट ही हैं तो भी स्वयं अपनेको और अर्थको आलंबन करनेवाले हैं, यह सिद्ध हुआ। हां, जो ज्ञान अपने ग्राह्य विषयसे रहित है, वह हम स्याद्वादियोंके यहां तदाभास ही माना गया है। यहां भी स्मृत्यादि शब्दमें तत्पुरुष और बहुव्रीहिसमास करनेसे अवग्रह ईहा, अवाय, धारणा तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम, ये आगे पीछे होनेवाले सभी वस्तुतः परोक्ष ज्ञानोंका संग्रह हो जाता है।

यदर्थालंबनं परोक्षं तत्प्रमाणमितरत्प्रमाणाभासमिति प्रमाणस्यानुवर्त्तनात्सिद्धं ।

जो परोक्षज्ञान वास्तविक अर्थको विषय करता है, वह प्रमाण है और जो उससे भिन्नज्ञान ठीक अर्थको आलंबन नहीं करता है, वह प्रमाणाभास है, जैसे कि देवदत्तमें यज्ञदत्तका स्मरण करना या उसके सदृशको वही कहना अथवा सरोवरमें उठती भापको धुआं समझकर उससे अग्निका ज्ञान करना। एवं शब्दका अन्य प्रकार अर्थ करना ये सब स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास,

आदि मिथ्याज्ञान हैं। यह पूर्वसूत्रसे प्रकृतसूत्रमें प्रमाणपदकी अनुवृत्ति करनेसे सिद्ध हो जाता है। भावार्थ—प्रमाणस्वरूप मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों परोक्ष प्रमाण हैं। जो अप्रमाण हैं वे तदाभास हैं। शिष्टों और दुष्टोंका जोडा सदासे चला आरहा है। विचारशील पुरुषके पास उपादेय और हेय अर्थको जाननेके लिये मनीषा विद्यमान है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रमें ये प्रकरण हैं। प्रथम ही परोक्ष शब्दकी निरुक्ति कर मतिज्ञानको मुख्य आद्यपना और श्रुतको गौणरूपसे आद्यपना साधा है। बुद्धिमें तिरछा फैलानेसे मुख्यता करके भी दोनोंमें आद्यपना है। आद्ये द्विवचनके साथ परोक्षं एक वचनका उद्देश्य विधेयभाव पुष्ट किया है। साधुका कार्य क्या है, ऐसा प्रश्न होनेपर तपस्या करना और शास्त्राभ्यास करना, ये दो कर्त्तव्य बताये जा सकते हैं। " चत्वारोऽनुयोगाः प्रमाणं " चार अनुयोग समानतासे एक प्रमाणरूप हैं। ऐसे अनेक प्रयोग देखे जारहे हैं। अज्ञान पदार्थ परोक्ष नहीं है। और परोक्षज्ञान अप्रमाण भी नहीं है। यह सूत्रके उद्देश्य विधेय दलोंकी सार्थकता है। पुनः परोक्षज्ञानको निरालम्ब माननेवाले बौद्धोंके मतका निराकरण किया है। प्राप्य और आलम्बन दो कारण मानना व्यर्थ है। अर्थकी ज्ञप्ति करा देना ही ज्ञानमें प्रापकता है। सुमेरु, समुद्र, स्वर्ग, आदिका श्रुतज्ञान उन अर्थोंका ज्ञाताकी गोदमें नहीं प्राप्त करा देता है। अतः विषयको ज्ञानका अवलम्ब कारण भले ही मानलो जैसे कि अव्यक्त चन्द्रमाको देखनेके लिये वृक्ष, शाखा, या बादलोंका अवलम्ब ले लेते हैं। अविशद रूपसे अर्थोंको जाननेवाला परोक्षज्ञान भी सालम्बन है। मिथ्याज्ञान अनेक प्रकारके होते हैं। अपने अपने देश और कालमें वर्त्त रहे अर्थोंको जाननेवाला ज्ञान अर्थवान् हो जाय, कोई क्षति नहीं है। अकेला सामान्य या विशेष कोई वस्तु नहीं है। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको स्पष्ट और अस्पष्ट रूपसे प्रकाशित कर रहे हैं।

मेरुवत्तुङ्गता मत्यां श्रुते गाम्भीर्यमब्धिवत्। स्वान्यप्रकाशके भातां परोक्षे सविकल्पके॥

—०—

दूसरे प्रत्यक्षप्रमाणके उद्देश्य अंशको प्रकट करनेके लिये श्रीउमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

दो मति, श्रुत, ज्ञानोंसे अन्य बचे हुये अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

ननु च प्रत्यक्षाण्यन्यानीति वक्तव्यमवध्यादीनां त्रयाणां प्रत्यक्षविधानादिति न शंकनीयं। यस्मात्—

यहां एक शंका है कि सूत्रकारको बहुवचनका प्रयोग करते हुये तीन प्रमाण प्रत्यक्ष हैं। ऐसा जस् विभक्तिवाले प्रत्यक्षाणि, अन्यानि, ऐसे पद बोलने चाहिये थे। क्योंकि अवधि आदिक तीनको भिन्न प्रकारसे प्रत्यक्षोंका विधान किया है। अब श्रीविद्यानंद आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो शंका नहीं करनी चाहिये, जिस कारणसे कि—

प्रत्यक्षमन्यदित्याह परोक्षादुदितात्परं।
अवध्यादित्रयं ज्ञानं प्रमाणं चानुवृत्तितः ॥ १ ॥

ज्ञानं और प्रमाणं ऐसे एक वचनान्त दो पदोंकी पूर्वसूत्रोंसे अनुवृत्ति हो रही है। इस कारण उक्त परोक्षसे अन्य बचा हुआ अवधि आदिक तीन अवयवोंका समुदायज्ञान प्रत्यक्ष है। अतः अन्यज्ञान प्रत्यक्ष है, इस प्रकार श्रीउमास्वामी महाराज कहते हैं। जातिकी अपेक्षा एक वचन प्रसिद्ध हो रहा है, जैसे कि गेंहू मंहगा है। चावल अखरा है। ज्ञानं ऐसे एक वचनकी अनुवृत्तिसे उद्देश्य और विधेयपदमें एक वचन करना पडा है। "आद्ये परोक्षम्" सूत्रमें यदि आद्यं कह दिया जाता है तो अकेले मतिज्ञानको ही परोक्षपना आता, श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष बन बैठता। अतः उपस्थिति, प्रमाण, अर्थ और गुणकी अपेक्षा लाघव होनेसे इस सूत्रमें एकवचन किया है। बहु-वचन करके सूत्रका बोझ बढाना व्यर्थ है।

उक्तात्परोक्षादवशिष्टमन्यत्प्रत्यक्षमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति संबध्यते ज्ञानमित्यनुवर्तनात्। प्रमाणमिति च तस्यानुवृत्तेः। ततो न प्रत्यक्षाण्यन्यानीति वक्तव्यं विशेषानाश्रयात् सामान्याश्रयणादेवेष्टविशेषसिद्धेर्ग्रन्थगौरवपरिहाराच्च।

पूर्वमें कहे गये परोक्षज्ञानसे जो भिन्न सम्यग्ज्ञान अवशिष्ट रह गया है, वह प्रत्यक्ष है। इस प्रकार ज्ञानकी अनुवृत्ति करनेसे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इनका यहां सम्बन्ध हो जाता है। और मति, श्रुत आदि सूत्रसे या "तत्प्रमाणे" सूत्रमेंसे तत्पदवाच्य ज्ञानके अनु-सार एक वचन 'प्रमाणं' इस प्रकार उसकी अनुवृत्ति हो रही है। अतः इस सूत्रका एक वचनांत प्रयोग करना युक्त है। तिस कारण विशेष व्यक्तियोंके कहनेका आश्रय नहीं करनेसे बहुवचनवाले "प्रत्यक्षाणि अन्यानि" इस प्रकार नहीं कहना चाहिये। क्योंकि प्रकरणमें एक सामान्यका आश्रय लेनेसे ही हमारे अभीष्ट विशेषकी सिद्धि हो जाती है। तथा बहुवचन प्रयोगसे होनेवाले ग्रन्थके गौरवका भी परिहार हो जाता है।

ज्ञानग्रहणसंबंधात्केवलावधिदर्शने।
व्युदस्येते प्रमाणाभिसंबंधादप्रमाणता ॥ २ ॥

सम्यगित्यधिकाराच्च विभंगज्ञानवर्जनं ।
प्रत्यक्षमिति शब्दाच्च परापेक्षान्निवर्त्तनम् ॥ ३ ॥

अन्यज्ञान प्रत्यक्ष हैं, इस प्रकार ज्ञानके ग्रहणका संबंध होजानेसे निराकार केवलदर्शन और अवधिदर्शनका निवारण हो जाता है। क्योंकि वे दर्शन हैं, ज्ञान नहीं । अतः अतिव्याप्ति नहीं हुई। तथा प्रमाणपदका भले प्रकार सम्बन्ध लगा देनेसे अवधि आदिकका अप्रमाणपना खंडित होजाता है। एवं सम्यक्पदका अधिकार चला आनेसे विभंग (कुअवधि) का निवारण हो जाता है। तथैव सूत्रमें पडे हुये प्रत्यक्ष इस शब्द करके दूसरोंकी अपेक्षा रखनेवाले परोक्ष ज्ञानसे इस प्रत्यक्षकी व्यावृत्ति हो जाती है अथवा प्रत्यक्षपदसे आत्ममात्रापेक्ष होकर अन्यकी सहायताको नहीं चाहनेवाले प्रत्यक्षज्ञानको दुसरे इन्द्रिय आदिककी अपेक्षा रखनेकी व्यावृत्ति हो जाती है।

न हि अक्षमात्मानमेवाश्रितं परेंद्रियानिंद्रियं वापेक्षते यतः प्रत्यक्षशब्दादेव परापेक्षान्निवृत्तिर्न भवेत् । तेनेंद्रियानिंद्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणमित्येतत्सूत्रोपात्त मुक्तं भवति । ततः ।

प्रत्यक्षप्रमाण अक्ष यानी आत्माको ही आश्रय लेकर उत्पन्न होता है, उससे भिन्न इन्द्रिय और मनकी वह अपेक्षा नहीं करता है, जिससे कि प्रत्यक्षशब्द करके ही परकी अपेक्षा रखनेसे निवृत्ति अवधि आदिककी न होय। तिस कारण इन्द्रिय और अनिन्द्रियकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला तथा व्यभिचार दोषसे रहित ऐसा सविकल्पक ग्रहण करना प्रत्यक्ष है। इस प्रकार इस सूत्रसे ही ग्रहण किया गया अर्थ श्री अकलंकदेव द्वारा राजवार्तिकमें कह दिया गया है। तिस हेतुसे—

प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमंजसा ।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥ ४ ॥
सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलंकावबोधने ।
प्रधानगुणभावेन लक्षणस्याभिधानतः ॥ ५ ॥

सूत्र बनानेवाले श्रीउमास्वामी महाराज प्रत्यक्षका लक्षण इस प्रकार बढिया कहते हैं। श्रीअकलंकदेवके वार्त्तिकों द्वारा समझानेमें यही आता है कि स्पष्ट और सविकल्प तथा व्यभिचार आदि दोषरहित होकर सामान्यरूप द्रव्य और विशेषरूप पर्याय अर्थोंको तथा अपने स्वरूपको जानना ही प्रत्यक्षका लक्षण है। उक्त विशेषणोंसे परोक्षज्ञान, दर्शन, विभंग इनकी व्यावृत्तियां हो जाती हैं। क्योंकि प्रधानपने और गौणपनेसे लक्षणका कथन किया है।

यदा प्रधानभावेन द्रव्यार्थात्मवेदनं प्रत्यक्षलक्षणं तदा स्पष्टमित्यनेन मतिश्रुतमिन्द्रियानिंद्रियापेक्षं व्युदस्यते, तस्य साकल्येनास्पष्टत्वात्। यदा तु गुणभावेन तदा प्रादेशिक प्रत्यक्षवर्जनम् तदपाक्रियते, व्यवहाराश्रयणात्।

जिस समय प्रधानपनेसे द्रव्यस्वरूप अर्थ और स्वयं अपना वेदन करना प्रत्यक्षका लक्षण है, तब तो (स्पष्टं) ऐसे इस विशेषण करके इन्द्रिय और अनिन्द्रियकी अपेक्षा रखनेवाले मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका निराकरण किया है। क्योंकि वे स्मृति आदिक सभी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान संपूर्ण अंशोंसे अस्पष्ट हैं। अतः प्रत्यक्षके लक्षणमें स्पष्टपद देनेसे ही उनका वारण हो सकता है। किन्तु जब गौणरूपसे द्रव्य अर्थ और आत्माका वेदन करना प्रत्यक्षका लक्षण है, तब तो एक देशसे विशद हो रहे, अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणारूप इन्द्रिय अनिन्द्रिय, प्रत्यक्षोंका जो छूटना हो रहा था, उसका निराकरण किया गया है। क्योंकि व्यवहारनयका आश्रय लिया है। अर्थात् मुख्यरूपसे प्रत्यक्ष माननेपर तो इन्द्रियजन्य या मनोजन्य ज्ञानोंको प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं। क्योंकि वे पूर्ण अंशोंमें स्पष्ट नहीं हैं। भले ही वे स्वार्थोंको जान रहे हैं। हां, व्यवहारनयकी दृष्टिसे इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुआ एक देश विशद मतिज्ञान तो व्यवहारप्रत्यक्ष मान लिया है। इस प्रत्यक्षको ग्रहण करनेके लिये स्पष्ट पदपर मुख्यरूपसे बल नहीं दिया गया है।

साकारमिति वचनान्निराकारदर्शनव्युदासः। अंजसेति विशेषणद्विभंगज्ञानमिंद्रियानिंद्रियप्रत्यक्षाभासमुत्सारितं। तच्चैवंविधं द्रव्यादिगोचरमेव नान्यदिति विषयविशेषवचनाद्दर्शितं। ततः सूत्रवार्तिकाविरोधः सिद्धो भवति। न चैवं योगिनां प्रत्यक्षमसंग्रहीतं यथा परेषां तदुक्तं।

प्रत्यक्षके लक्षणको कहनेवाले वार्तिकमें साकार इस वचनसे विकल्परहित दर्शनकी व्यावृत्ति करी है। तथा अंजसा इस विशेषणसे विभंगज्ञान और इन्द्रियप्रत्यक्षाभास, मानसप्रत्यक्षाभासका निवारण किया है। ये ज्ञान स्पष्ट तो हैं, किंतु निर्दोष नहीं हैं। मिथ्याज्ञानपनेसे दूषित हो रहे हैं। सो इस प्रकारका प्रत्यक्षप्रमाण द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेषस्वरूप हो रहे अर्थको और स्वको ही विषय करनेवाला है। इससे भिन्न केवल विशेष अथवा अकेले सामान्यको जाननेवाला नहीं है। यह बात विषयविशेषके कथन करनेसे दिखला दी गई है। तिस कारण सूत्र और वार्तिकका अविरोध होना सिद्ध हो जाता है। तथा इस प्रकार प्रत्यक्षका लक्षण करनेसे योगी महाराज केवलज्ञानियोंका प्रत्यक्ष असंग्रहीत नहीं हुआ। यानी अतीन्द्रियज्ञानका भी संग्रह हो जाता है। जिस प्रकार कि दूसरे वादियोंने यों कहा था कि " इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् " यह गौतम सूत्र है। " आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत् " इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न हुआ व्यभिचार दोषसे रहित (भ्रमभिन्न) निर्विकल्पक और सविकल्पकरूप ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमिति है। यह वैशेषिक या नैयायिकोंका माना गया लक्षण है।

" इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणं " चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके वृत्ति यानी व्यापार (नेत्र उघाडना आदि) करना प्रत्यक्ष है। यह सांख्योंका मत है। आत्मा और इन्द्रियोंका सत् पदार्थके साथ सम्प्रयोग होनेपर जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है। ऐसा मीमांसक कह रहे हैं, " सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्मप्रत्यक्षम् "। इन सब प्रत्यक्षके लक्षणोंसे अतीन्द्रियप्रत्यक्षोंका संग्रह नहीं हो पाता है। किन्तु आर्हतोंके लक्षणसे सम्पूर्ण प्रत्यक्षोंका संग्रह हो जाता है।

लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरं।
अक्रमं करणातीतमकलंकं महीयसाम् ॥ ६ ॥

ऊपर कहा गया प्रत्यक्षका लक्षण व्यवहारप्रत्यक्ष और मुख्यप्रत्यक्षमें समानरूपसे घटित हो जाता है। इतना ही विशेष है कि अधिक पूज्य पुरुषोंका केवलज्ञानरूप प्रत्यक्ष सम्पूर्ण अर्थोंको विषय करता है। और क्रमसे अर्थोंको जाननेकी टेवसे रहित है। इन्द्रिय, मन, आदि करणोंसे अतिक्रान्त है। तथा ज्ञानावरण-कर्मकलंकसे रहित है। किन्तु इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तो अल्पपदार्थोंको विषय करता है। क्रमक्रमसे अर्थोंको जानता हुआ उत्पन्न होता है। करणोंके अधीन है, कर्मपटलसे घिरा हुआ है।

तदस्तीति कुतोऽवगम्यत इति चेत्;—

उक्त प्रकार वह योगियोंका प्रत्यक्ष जगत्में है, यह कैसे जाना जाय ? इस प्रकार पूछनेपर तो यों उत्तर है।

एतच्चास्ति सुनिर्णीता संभवद्बाधकत्वतः।
स्वसंवित्तिवदित्युक्तं व्यासतोन्यत्र गम्यताम् ॥ ७ ॥

यह योगियोंका प्रत्यक्ष (पक्ष) है (साध्य)। क्योंकि इसके बाधकोंके असम्भवका भले प्रकार निर्णय हो रहा है [हेतु]। जैसे कि स्वयं अपने प्रत्यक्ष जाननेमें आ रही स्वसंवित्ति है [दृष्टान्त]। बाधकोंका असम्भव हो जानेसे परोक्षपदार्थोंकी भी सिद्धि हो जाती है। सबके धनको गुप्त अंगोंको, धर्मको कौन देखता फिरता है। किन्तु बहुभाग पदार्थोंकी सिद्धि उनके बाधकोंका असम्भव जान लेनेसे हो जाती है। इस बातको हम पहिले कह चुके हैं। अधिक विस्तारसे समझना हो तो अन्य विद्यानंद महोदय आदि ग्रन्थोंमें देखकर समझ लेना।

धर्म्यत्रासिद्ध इति चेन्नोभयसिद्धस्य प्रत्यक्षस्य धर्मित्वात्। तद्धि केषांचिदशेषगोचरमक्रमं करणातीतमिति साध्यतेऽकलंकत्वान्यथानुपपत्तेः। न चाकलंकत्वमसिद्धं तस्य पूर्वं साधनात्। प्रतिनियतगोचरत्वं विज्ञानस्य प्रतिनियतावरणविगमनिबंधनं भानुप्रकाशवत् निःशेषावरणपरिक्षयात् निःशेषगोचरं सिध्यत्येव। ततः एवाक्रमं तत्क्रमस्य कलंकविगमक्रमकृतत्वात्। युगपत्तद्विगमे कुतो ज्ञानस्य क्रमः स्यात्।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस उक्त अनुमानमें पक्ष असिद्ध है, यह तो न कहना। क्योंकि वादी प्रतिवादी दोनोंसे सिद्ध किया जा चुका, प्रत्यक्षप्रमाण यहां धर्मी है। हां, वह किन्ही योगियोंका प्रत्यक्ष सम्पूर्ण पदार्थोंको युगपत् विषय करनेवाला है, क्रमरहित है, और इन्द्रियोंकी अधीनतासे अतिक्रान्त है, इस प्रकार धर्मीसे युक्तपने करके साधा जारहा है। क्योंकि उसका निर्दोषपना दूसरे प्रकारोंसे नहीं बन सकता है। जो स्वांशमें निर्दोष होता है, वह पराधीन न होकर सबको युगपत् विषय कर लेता है। यहां अकलंकपना हेतु असिद्ध नहीं है। यानी हेतु पक्षमें ठहर जाता है। पूर्व प्रकरणोंमें हम उसको साध चुके हैं। प्रत्येक नियत पदार्थके ज्ञानको रोकनेवाले ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमको कारण मानकर उत्पन्न हुआ विज्ञान दीपकके समान प्रत्येक नियत पदार्थोंको विषय कर रहा है। किन्तु सम्पूर्ण ज्ञानावरणके अनन्तकालतक क्षय हो जानेसे उत्पन्न हुआ केवलज्ञान तो सूर्यके प्रकाश समान सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय करनेवाला सिद्ध हो ही जाता है। तिस ही कारण यानी सम्पूर्ण ज्ञानावरणके क्षय हो जानेसे ही वह ज्ञान क्रमसे पदार्थोंको जाननेवाला नहीं है। किन्तु युगपत् सम्पूर्ण पदार्थोंको जान लेता है। अल्पज्ञोंके आवरणरूप कलंकोंका दूर होना क्रमसे हो रहा था। इस कारण हम लोगोंका ज्ञान नियत अर्थोंको जाननेवाला क्रमसे किया जाता है। अतः छद्मस्थोंका ज्ञान क्रमवाला है। किन्तु पूज्य पुरुषोंके जब युगपत् उस आवरणका विध्वंस हो गया है, तो फिर ज्ञानका क्रम किससे होगा ? कारणके न होनेपर कार्य नहीं होता है। अतः सर्वज्ञका प्रत्यक्ष क्रम-रहित है। सर्वको युगपत् जानता है। और फिर भूतभविष्यपनेके तारतम्यको विशेषण लगाकर उसी ढंगसे पदार्थोंकी नवीन नवीन अनन्त कालतक करता रहता है।

करणक्रमादिति चेन्न, तस्य करणातीतत्वात्। देशतो हि ज्ञानमविशदं चाक्षमनोपेक्षं सिद्धं न पुनः सकलविषयं परिस्फुटं सकृदुपजायमानमिति। न चैवंविधं ज्ञानं प्रत्यक्षं संभवद्बाधकं प्रत्यक्षादेरतद्विषयस्य तद्बाधकत्वविरोधात्। तत एव न संदिग्धासंभवद्बाधकं, निश्चितासंभवद्बाधकत्वात्।

कोई कहे कि इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है। अतः सर्वज्ञका ज्ञान भी क्रमसे पदार्थोंको जानेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि वह केवलज्ञान करणोंसे अतिक्रान्त है। जो ज्ञान एकदेशसे विशद है या सर्वथा अविशद है, वही इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखने-वाला सिद्ध है। किन्तु जो ज्ञान फिर सम्पूर्ण विषयोंको एक ही समयमें अधिक स्पष्टरूपसे विषय करनेवाला उत्पन्न हो रहा है, वह तो बहिरंग अंतरंग इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं करता है। इस प्रकार अकलंकपनेसे करणातीतपनकी और करणातीतपनसे अक्रमपनकी और अक्रमपनसे अशेष-गोचरपनेकी सर्वज्ञज्ञानमें सिद्धि हो जाती है। तथा इस प्रकारका कोई प्रत्यक्षज्ञान बाधकोंकी संभा-वनासे युक्त नहीं है। क्योंकि उस सर्वज्ञपनको नहीं विषय करनेवाले प्रत्यक्ष, अनुमान आदिक प्रमाणोंको तो उसके बाधकपनका विरोध है। जो ज्ञान जिस विषयमें प्रवृत्ति ही नहीं करता है।

वह उसका साधक या बाधक नहीं होता है। जैसे कि रूपको जाननेमें रसना इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष कथमपि साधक या बाधक नहीं है। तिस ही कारण यानी बाधकोंका असम्भव होनेसे ही वह सर्वज्ञ प्रत्यक्ष भला बाधकोंके नहीं संभव होनेके संदेहको प्राप्त भी नहीं है। यानी उसके बाधकोंके होनेका संदेह मात्र भी नहीं है। क्योंकि बाधकोंके असम्भवका पक्का निश्चय हो रहा है।

न हि तादृशं प्रत्यक्षं किंचित्संभवद्बाधकमपरमसंभवद्बाधकं सिद्धं येनेदं संप्रतिसंदेहविषयतामनुभवेत् । कथं वात्यंतमसंदिग्धासंभवद्बाधकं नाम ? । नियतदेशकालपुरुषापेक्षया निश्चितासंभवद्बाधकत्वेपि देशांतराद्यपेक्षया संदिग्धासंभवद्बाधकत्वमिति चेन्न, सुष्ठु तथाभावस्य सिद्धेः। यथाभूतं हि प्रत्यक्षादेः प्रमाणमत्रेदानींतनपुरुषाणामुत्पद्यमानबाधकं केवलस्य तथाभूतमेवान्यदेशकालपुरुषाणामपीति कुतस्तद्बाधनं संदेहो वा यदि पुनरन्यादृशं प्रत्यक्षमन्यद्वा तद्बाधकमभ्युपगम्यते तदा केवले को मत्सरः, केवलेनैव केवलबाधनसंभवात्।

तिस प्रकारका अनुमानोंसे निर्णीत कर दिया गया सकल प्रत्यक्ष कोई तो बाधकोंके संभववाला और दूसरा कोई प्रत्यक्षप्रमाण बाधकोंकी संभावनासे रहित ऐसा सिद्ध नहीं हो रहा है। जिससे कि यह प्रत्यक्ष इस समय संदेहके विषयपनका अनुभव करता। यानी सामान्य धर्मोंका कहीं अन्यत्र उपलब्ध हो जानेपर उनका स्मरण करते हुये पुरुषको किसी दूसरे स्थलपर संशय हो सकता है। अन्यथा नहीं। प्रकरणमें बाधक प्रमाणोंके नहीं होनेका संदेह होना नहीं सम्भवता है। कोई पूछता है कि सर्वज्ञके प्रत्यक्षमें बाधकोंके अत्यन्तरूपसे, असंभव होनेका, संदेहरहितपना भला तुमने कैसे जाना ? बताओ। नियत हो रहे परिदृष्ट देश और वर्त्तमान काल तथा स्थूलबुद्धि साधारण पुरुषोंकी अपेक्षासे भले ही बाधकोंके असम्भवका निश्चय कर लिया गया होय तो भी अन्य देश अन्य काल और असाधारण बुद्धिवाले पुरुषोंकी अपेक्षासे बाधकोंके असम्भवका संदेह प्राप्त हो रहा है। अनेक पदार्थ ऐसे हैं कि इस देशमें उनमें संदेह नहीं है। किन्तु देशान्तरमें संदेह हो जाता है। देखो ! इस देशमें शीशोंकी बेलि नहीं होती है। किन्तु देशान्तरमें शीशोंकी बेलि सम्भावित है। अतः शीशोंके वृक्षपनके बाधक प्रमाणोंका असम्भव देशांतरमें संदिग्ध हो गया। विवक्षित कालमें आम खट्टा होता है, किन्तु कालान्तरमें मीठा हो जाता है। सुगन्धित पुष्प कालान्तरमें सडकर दुर्गन्धी हो जाता है। यहां भी सुगंधिके बाधक प्रमाणोंके अभावका कालान्तरमें संदेह हो गया। एक रागी पुरुषको धन, पुत्र, आदिमें इष्टपनेका ज्ञान हो रहा है। किन्तु उदासीन पुरुषको इष्टताका ज्ञान नहीं है। अतः तटस्थ पुरुषको उसकी इष्टताका संदेह है। इस कारण देशान्तर आदिकी अपेक्षा सर्वज्ञप्रत्यक्षमें भी बाधकोंकी असम्भवताका संदेह होना संभावित है। अब ग्रंथकार कहते हैं कि सो यह प्रश्न तो नहीं करना। क्योंकि केवलज्ञानमें बहुत अच्छी तिस प्रकार बाधकोंके अस-

म्भवपनेकी सिद्धि की जा चुकी है। इस देशमें रहनेवाले और आजकल समयके पुरुषोंके जिस प्रकार होते हुये प्रत्यक्ष आदि प्रमाण उस केवलज्ञानके बाधक हो सकनेवाले उपज रहे हैं, तैसे ही हो रहे वे अन्य देश अन्यकाल और विशिष्ट पुरुषोंके भी प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण केवलज्ञानके बाधक हो सकते थे। किन्तु ये प्रत्यक्ष तो बाधक नहीं है तो वे प्रत्यक्ष भला कैसे बाधक होंगे ? ऐसी दशामें उनसे बाधा होना कैसे सम्भवता है ? और भला संदेह भी कैसे हो सकता है ? यदि फिर देशान्तर या कालान्तरमें होनेवाले विजातीय पुरुषोंके प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदि प्रमाण अन्य प्रकारके हैं वे इस देश और इस कालके पुरुषोंकेसे नहीं हैं, अतः वे उस सर्वज्ञ प्रत्यक्षके बाधक स्वीकार कर लिये जाते हैं, यों अप्रसिद्ध पदार्थोंकी कल्पना कर कहोगे तब तो हम जैन कहते हैं कि आपकी केवल ज्ञानमें ईर्षा क्या है ? केवलज्ञान करके ही केवलज्ञानकी बाधा होना संभव है। और वह उसका प्रत्युत साधक हो जाता है। भावार्थ—यदि देशान्तर कालान्तरके मनुष्योंमें विलक्षण प्रकारके प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिको मानना स्वीकार करते हो युगपत् सर्वदर्शी केवलज्ञान ही क्यों न मान लिया जाय जो कि पूर्वमें साधा जा चुका है।

ततः प्रसिद्धाल्लुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वात्सर्वदेशवर्त्तीनां प्रत्यक्षमकलंकमस्तीति प्रतीयते प्रपंचतोऽन्यत्र तत्समर्थनात्।

तिस कारण बाधकोंके असम्भवका भले प्रकार निर्णीत हो जाना प्रसिद्ध हुआ होनेसे अतिशय पूज्य पुरुषोंका प्रत्यक्ष अपने अपने स्वसंवेदनके समान सिद्ध है। और वह ज्ञानावरण कलंकसे रहित है, ऐसा प्रतीत हो रहा है। प्रपंचसे उस सर्वज्ञ प्रत्यक्षका अन्य ग्रन्थोंमें समर्थन किया गया है। अष्टसहस्रीमें या विद्यानंद महोदयमें इसका विस्तार है।

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रांतमिति केचन।
तेषामस्पष्टरूपा स्यात् प्रतीतिः कल्पनाथवा ॥ ८ ॥
स्वार्थव्यवसितिर्नान्या गतिरस्ति विचारतः।
अभिलापवती वित्तिस्तद्योग्या वापि सा यतः ॥ ९ ॥

कोई वादी बौद्ध प्रत्यक्षका लक्षण कल्पनाओंसे रहित और भ्रमभिन्न होना ऐसा मान रहे हैं। " कल्पनापोढमभ्रांतं प्रत्यक्षं "। आचार्य कहते हैं कि उन बौद्धोंके यहां कल्पनाका स्वरूप क्या है ? बताओ। क्या अस्पष्टस्वरूप प्रतीति करना कल्पना है ? अथवा ज्ञान द्वारा अपना और अर्थका निश्चय करना कल्पना है ? या शब्दयोजनासे सहित होकर ज्ञप्ति होना कल्पना है ? वा शब्दसंसर्गयोग्य प्रतिभास होना भी वह कल्पना मानी गई है ?। विचार करनेसे अन्य कोई गति नहीं दीखती है, जिससे कि वह भी कल्पना हो जायगी।

अस्पष्टा प्रतीतिः कल्पना, निश्चयात्मिका वा कल्पना इति परिस्फुटं कल्पना लक्षणमनुक्त्वा अभिलापवती प्रतीतिः कल्पनेत्यादितल्लक्षणमाचक्षाणो न प्रेक्षावान् ग्रंथगौरवापरिहारात् । न हि कांचित्कल्पना स्पष्टास्ति " न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासता " इति वचनात् । स्वप्नवती प्रतीतिरस्तीति चेन्न, तस्याः सौगतैरिंद्रियजत्वेनाभ्युपगमात् स्वप्नांतिकेंद्रियव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधानात् । मानसत्वे तस्या तदनुपपत्तेः ।

अविशद प्रतीति होना कल्पना है । अथवा निश्चयस्वरूप विकल्प होना कल्पना है । इस प्रकार अधिक स्फुट रूपसे कल्पनाके लक्षणको नहीं कहकर शुद्ध योजनावाली प्रतीति कल्पना है । वस्तुको नहीं छूनेवाली परिच्छित्ति कल्पना है, इत्यादि उस कल्पनाके लक्षणोंको बखान रहा बौद्ध तो विचारशालिनी बुद्धिको धारनेवाला नहीं है । क्योंकि इस ढंगसे ग्रन्थके गौरवका परिहार नहीं हो पाता है । व्यर्थ ग्रन्थका बोझ बढानेसे लाभ क्या है ? कोई भी कल्पना स्पष्ट नहीं है । बौद्धोंने स्वयं अपने ग्रन्थमें कहा है कि कल्पनासे ओत पोत घेरे गये अर्थका स्पष्ट प्रतिभास नहीं हो पाता है । यदि कोई बौद्धका एकदेशी कल्पनाका लक्षण अस्पष्ट न मानता हुआ यों दोष देवे कि स्वप्नमें हो रही प्रतीति स्पष्ट होती हुई भी कल्पना है । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि उस स्वप्नवाली वृत्तिको बौद्धोंने इन्द्रियजन्यज्ञानपनेसे स्वीकार किया है । स्वप्नके निकट पूर्वकालमें हो रहे इन्द्रियोंके व्यापारका अन्वयव्यतिरेक रूपसे उसने अनुकरण किया है । यदि उस स्वप्नकी वृत्तिको मन इन्द्रियजन्य माना जायगा तो बहिरङ्ग इन्द्रियोंके साथ अन्वयव्यतिरेक लेना नहीं बनेगा । बौद्ध मतानुसार स्वप्नबुद्धि स्पष्ट हो रही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है । अतः कल्पनाका लक्षण अस्पष्ट करना चाहिये । ऐसी अस्पष्टकल्पनासे रहित प्रत्यक्ष यदि माना गया है तो बौद्धोंने स्वप्नको लाभ पहुंचा दिया कहना चाहिये ।

मरीचिकासु तोयप्रतीतिः स्पष्टेति चेन्न, तस्याः स्वयमस्पष्टत्वेपि मरीचिकादर्शनस्पष्टत्वाध्यारोपात्तथावभासनात् । ततो नाव्यापीदं लक्षणं । नाप्यतिव्यापि क्वचिदकल्पनायाः अस्पष्टत्वाभावात् ।

कल्पनाके लक्षणमें अव्याप्ति दोषको उठाते हुये बौद्ध शंका करते हैं कि बालूरेत या फूले हुये कांसोंमें हुयी जलकी प्रतीति स्पष्ट हो रही है । किन्तु वह कल्पना ज्ञान है । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि वह जलज्ञान यद्यपि स्वयं अस्पष्ट है । फिर भी मरीचिकाके चाक्षुष प्रत्यक्षमें विद्यमान हो रहे स्पष्टत्वका जलज्ञानमें पूरा आरोपकर देनेसे तिस प्रकार स्पष्ट प्रतिभास जाता है । तिस कारण यह कल्पनाका अस्पष्ट लक्षण अव्याप्ति दोषयुक्त नहीं है । और इस लक्षणकी कहीं अतिव्याप्ति भी नहीं है । क्योंकि कल्पनारहित ज्ञानोंके अस्पष्टपना नहीं देखा जाता है । अथवा अकल्पनाज्ञानोंमें स्पष्टता न होनेसे जो अतिव्याप्ति दोषकी सम्भावना थी वह भी नहीं रही । कल्पना-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ओंका स्वरूप अस्पष्ट है। सर्वाङ्ग स्पष्ट हो रहे अविचारक प्रत्यक्षज्ञानमें लेश मात्र भी विचार कल्पना नहीं है।

दूरात्पादपादिदर्शने कल्पनारहितेप्यस्पष्टत्वप्रतीतेरतिव्यापीदं लक्षणमिति चेन्न, तस्य विकल्पास्पष्टत्वेनैकत्वारोपादस्पष्टतोपलब्धेः। स्वयमस्पष्टत्वे निर्विकल्पत्वविरोधात्। ततो निरवद्यमिदं कल्पनालक्षणं।

कोई शंका करे कि दूर देशसे वृक्ष, गृह, मनुष्य, आदिके दर्शन करनेपर कल्पनारहित समीचीन ज्ञानमें भी अस्पष्टपना दीख रहा है। इस कारण कल्पनाका यह लक्षण अतिव्याप्त है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं विचारना। क्योंकि उस दूरसे हुये प्रत्यक्षको झूठे विकल्पज्ञानकी धरू अस्पष्टताके साथ एकपनेका आरोप हो जानेसे अविशदपना प्रतीत हो रहा है। जैसे कि जपा पुष्पके साथ एकत्व आरोप होनेसे स्वच्छ स्फटिक भी लाल दीख जाता है। यदि वह दूरसे देखे हुये वृक्षका ज्ञान स्वयं अस्पष्ट होता तो निर्विकल्पकपनेका विरोध हो जाता। बौद्धोंके यहां अविशदज्ञान निर्विकल्पक नहीं माना गया है। तिस कारण यह अस्पष्टपना कल्पनाका लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, और असंभव दोषोंसे रहित है।

एतेन निश्चयः कल्पनेत्यपि निरवद्यं विचारितं, लक्षणान्तरेणाप्येवंविधायाः प्रतीतेः कल्पनात्वविधानाद्वत्यंतराभावात्।

इस उक्त कथन करके कल्पनाका स्वार्थनिश्चय करना यह लक्षण भी निर्दोष है, यह विचार कर दिया गया है। अन्य लक्षणोंके कहनेसे भी इस प्रकारकी प्रतीतिको कल्पनापनेका विधान हो जाता है। बौद्धोंके पास इनके अतिरिक्त कल्पनाके लक्षण करनेका अन्य कोई उपाय शेष नहीं है। अर्थात् ज्ञानका स्मरणके पीछे होनापन, शब्दके आकारसे अनुविद्धपना, जाति आदिका उल्लेख करना, असत् अर्थको विषय करना, अन्यकी अपेक्षासे अर्थका निर्णय करना, लौकिक कोरा व्यवहार करना, ये सब कल्पनाके लक्षण निर्दोष नहीं है। अद्वैतवादियोंकी गढी हुई कल्पनाके समान बौद्धोंकी कल्पना भी ठीक नहीं बैठती है। और जो ठीक है, उस कल्पनासे युक्त प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। " किमाश्चर्यमतः परम् "।

तत्राद्यकल्पनापोढे प्रत्यक्षे सिद्धसाधनम्।
स्पष्टे तस्मिन्नवैशद्यव्यवच्छेदस्य साधनात् ॥ १० ॥
अस्पष्टप्रतिभासायाः प्रतीतेरनपोहने।
प्रत्यक्षस्यानुमानादेर्भेदः केनावबुध्यते ॥ ११ ॥

तिन कल्पनाके लक्षणोंमेंसे आदिमें कही गयी कल्पनासे रहित यदि प्रत्यक्ष प्रमाण माना जायगा, तब तो बौद्धोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष लगता है। क्योंकि अस्पष्टरूप कल्पनासे रहित विशद प्रत्यक्षको वे सिद्ध कर रहे हैं। उस प्रत्यक्ष प्रमाणके स्पष्ट होनेपर ही अवैशद्यके व्यवच्छेदकी सिद्धि होती है। अर्थात् स्पष्टपनेसे अवैशद्यकी व्यावृत्ति करनेपर परोक्षमें अतिव्याप्ति नहीं हो पाती है। अविशद प्रतिभासवाली परोक्ष प्रतीतिकी यदि व्यावृत्ति न की जायगी तो प्रत्यक्षप्रमाणका अनुमान, आगम, आदिसे भेद किसके द्वारा समझा जायगा ? अतः अविशदप्रतीति स्वरूप कल्पनासे रहित प्रत्यक्ष निर्विकल्पकको तो हम जैन भी प्रथमसे मान रहे हैं। उस सिद्धको ही साधनेसे क्या लाभ हुआ ?

स्वार्थव्यवसितिस्तु स्यात्कल्पना यदि संमता।
तदा लक्षणमेतत्स्यादसंभाव्येत सर्वथा ॥ १२ ॥

दूसरी कल्पनाके अनुसार यदि स्व और अर्थके निर्णयको यदि कल्पना अच्छी मानोगे तब तो यह कल्पनाका लक्षण सभी प्रकारसे असंभव दोषवाला ही है। भावार्थ—किसी भी असत्य कल्पनामें यह लक्षण नहीं जा सकता है। प्रमाणज्ञान ही स्व और अर्थका निर्णय करते हैं। यदि ऐसी कल्पनासे रहित प्रत्यक्षको माना जावेगा तो प्रत्यक्षका लक्षण निर्विकल्प करना असम्भव व दोषयुक्त ही है।

दविष्ठपादपादिदर्शनस्यास्पष्टस्यापि प्रत्यक्षतोपगमात्कथं अस्पष्टप्रतीतिलक्षणाया कल्पनयापोढं प्रत्यक्षमिति वचने सिद्धसाधनमिति कश्चित्। श्रुतमेतन्न प्रत्यक्षं श्रुतमस्पष्टं तर्कणं इति वचनात् ततो न दोष इत्यपरः। पादपादिसंस्थानमात्रे दवीयस्यापि स्पष्टत्वावस्थितेः। श्रुतत्वाभावादक्षव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधानाच्च प्रत्यक्षमेव तत् तथाविधकल्पनापोढं चेति सिद्धसाधनमेव।

जब कि अतिदूरवर्ती वृक्ष, झोंपडी आदिके अस्पष्ट हुये दर्शनोंको भी प्रत्यक्षपना स्वीकार किया गया है, तो अस्पष्ट प्रतीति स्वरूप कल्पनासे रहित प्रत्यक्ष है, ऐसा कथन करनेपर बौद्धोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष कैसे हुआ ? प्रत्युत जैनोंके यहां ही दूरवर्ती पदार्थके प्रत्यक्षमें वैशद्य न होनेसे अव्याप्ति दोष आता है। इस प्रकार कोई एकदेशी बौद्ध कह रहा है। इसका उत्तर कोई दूसरा एकदेशी जैन यों देता है कि यह दूरवर्ती वृक्ष आदिका ज्ञान श्रुतज्ञान है। प्रत्यक्ष नहीं है। क्योंकि मतिज्ञानसे जाने गये अर्थके साथ संसर्ग रखनेवाले अन्य पदार्थोंकी अविशद तर्कणा करनेको श्रुतज्ञान ऐसा शास्त्रोंमें कहा है। तिस कारण कोई दोष नहीं है। यानी श्रुतज्ञात भले ही अस्पष्ट हो रहा सविकल्पक होय, हां, सभी प्रत्यक्षज्ञान तो अस्पष्ट कल्पनासे रहित होनेके कारण निर्विकल्पक हैं। यह हम जैनोंको पहलेसे ही अभीष्ट है। उसी साधे गये प्रत्यक्षका निर्विकल्पक

प्रत्यक्षपनसे साधन किया जा रहा है। किन्तु यह उत्तर सिद्धान्तियोंको अभीष्ट नहीं है। दूरवर्ती वृक्षके ज्ञानको प्रत्यक्ष माना गया है। अधिक दूर भी पडे हुये वृक्ष ग्राम आदिकी केवल ऊंची, नीची, चौडी, रचना सामान्यके जाननेमें स्पष्टपना अवस्थित हो रहा है। यों सूक्ष्मतासे विचारा जाय तो निकट होनेपर भी वृक्ष आदिके अनेक विशेष अंशोंका स्पष्टज्ञान नहीं हो पाता है। सूक्ष्मदर्शक यंत्र भी हार जाते हैं। अतः उसमें श्रुतज्ञानपनेका अभाव है। तथा इन्द्रियोंके होनेपर दूरवर्ती वृक्षका ज्ञान होना रूप अन्वय और इन्द्रियोंके न होनेपर वृक्षका दर्शन नहीं होना रूप व्यतिरेकका अनुविधान करनेसे वह ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। और सामान्य वृक्षकी रचनाको स्पष्ट जाननेमें तिस प्रकार अस्पष्ट कल्पनासे रहित भी है। इस कारण बौद्धोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष तदवस्थ ही रहा।

न हि सर्वमस्पष्टतर्कणं श्रुतमिति युक्तं स्मृत्यादेः श्रुतत्वप्रसंगात् व्यंजनावग्रहस्य वा। न हि तस्य स्पष्टत्वमस्ति परोक्षत्ववचनविरोधात्। अव्यक्तशब्दादिजातग्रहणं व्यंजनावग्रह इति वचनाच्च। मतिपूर्वमस्पष्टतर्कणं श्रुतमित्युपगमे तु सिद्धं स्मृत्यादिमतिज्ञानं व्यंजनावग्रहादि वाऽश्रुतं। दविष्ठपादपादिदर्शनं च प्रादेशिकं प्रत्यक्षमिति न किंचिद्विरुध्यते।

दूसरी बात यह है कि अस्पष्टरूपसे विचारनेवाले सभी ज्ञानोंको श्रुतज्ञान कहना यह युक्त नहीं है। यों तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान, आदिको श्रुतज्ञानपनेका प्रसंग होगा। तथा शब्द आदिको अव्यक्त जाननेवाला व्यंजनावग्रह भी श्रुतज्ञान हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। उस व्यंजनावग्रहको स्पष्टपना नहीं है। क्योंकि यों कहनेसे जैनसिद्धान्तअनुसार व्यंजनावग्रहके परोक्षपन कहनेका विरोध आता है। तथा अव्यक्त शब्द, रस, गंध, अथवा स्पर्शको या उनके समुदायस्वरूप अर्थको ग्रहण करना व्यंजनावग्रह है, ऐसा राजवार्तिकमें कहा है। हां, मतिज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न हुये अस्पष्ट विचारनेवाले ज्ञानको श्रुतज्ञान ऐसा स्वीकार करोगे तब तो स्मृति आदिक मतिज्ञान सिद्ध हो जाते हैं। और व्यंजनावग्रह आदिक भी मतिज्ञान हैं। श्रुतज्ञान नहीं हैं। तथा अधिक दूरके वृक्ष, ग्राम, आदिका देखना तो एक देशसे विशद हो रहे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं। व्यंजनावग्रह तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कथमपि नहीं हैं। इस प्रकार माननेपर हम जैनोंके यहां थोडा भी कोई विरोध नहीं आता है।

यदि पुनर्नास्पष्टा प्रतीतिः कल्पना यतस्तदपोहने प्रत्यक्षस्य सिद्धसाधनं। किं तर्हि? स्वार्थव्यवसितिः सर्वकल्पनेति मतं तदा प्रत्यक्षलक्षणमसंभाव्यं च तादृशकल्पनापोढस्य कदाचिदसंभवात् व्यवसायात्मकमानसप्रत्यक्षोपगमविरोधश्च।

यदि फिर बौद्धोंका यह मंतव्य होय कि अस्पष्टप्रतीतिको हम कल्पना नहीं कहते हैं, जिससे कि प्रत्यक्षकी उस कल्पनासे व्यावृत्ति करनेपर सिद्धसाधन दोष हो सके, तो हम क्या कहते हैं? सो सुनो। सभी कल्पनायें स्व और अर्थका निर्णय करना स्वरूप हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा मत

प्रगट करनेपर तो प्रत्यक्षका लक्षण असम्भवी हो जावेगा। क्योंकि तैसी स्वार्थ निश्चयरूप कल्पनासे रहित प्रत्यक्ष प्रमाणका कभी भी संभव नहीं है। यानी प्रत्यक्षके लक्षणमें असंभव दोष आता है। वस्तुतः विचारा जाय तो सर्व ही प्रत्यक्ष स्वार्थ व्यवसायरूप हैं। दूसरी बात यह है कि बौद्धोंने मानस प्रत्यक्षको निश्चयस्वरूप स्वीकार किया है। उसका विरोध हो जायगा। जिसने स्वार्थ-निश्चयरूप कल्पनासे रहित प्रत्यक्षको माना है, वह मानसप्रत्यक्षको निश्चयात्मक भला कैसे स्वीकार कर सकता है? अर्थात् नहीं।

केषांचित्संहृतसकलविकल्पावस्थायां सर्वथा व्यवसायशून्यं प्रत्यक्षं प्रत्यात्मवेद्यं संभवतीति नासंभविलक्षणमिति चेत् न, असिद्धत्वात्। यस्मात्—

किन्हीं जीवोंके सम्पूर्ण विकल्पोंके नष्ट (दूर) होजानेकी अवस्थामें सभी प्रकार व्यवसायोंसे रहित प्रत्यक्ष हुआ अच्छा दीखरहा है। यह प्रत्येक आत्माको स्वसंवेद्य होकर सम्भव रहा है। अर्थात् जब कभी हम झगडे, टंटोसे रहित होकर संकल्प विकल्पोंसे रिक्त अवस्थामें पदार्थको देखते हैं, तब किसीका निर्णय न होकर शुद्ध प्रतिभासका ही स्वसंवेदन होता रहता है। इस कारण बौद्धोंसे माना गया प्रत्यक्षका लक्षण असंभव दोषवाला नहीं है। प्रत्यक्ष स्वरूप अनेक लक्ष्योंमें घटित हो रहा है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि आप बौद्धोंका उक्त कथन सिद्ध नहीं हो पाता है, जिस कारणसे कि—

संहृत्य सर्वताश्चित्तं स्तिमितेनांतरात्मना।
स्थितोपि चक्षुषा रूपं स्वं च स्पष्टं व्यवस्यति ॥ १३ ॥

सब ओरसे चित्तका संकोच करके स्तम्भित या प्रशान्त होरही अंतरंग आत्मासे स्थित हो रहा भी पुरुष चक्षु द्वारा अपने ज्ञानको भीतर और रूपको बाहर स्पष्ट निर्णीत कर रहा है। अर्थात् बौद्धोंने जो निर्विकल्पकज्ञान होनेकी सामग्रीका अवसर बताया है, उस समय भी स्पष्टरूपसे स्वार्थका निर्णय हो रहा है। प्रत्युत संकल्पविकल्पोंसे रहित अवस्थामें तो और भी अधिक स्पष्ट निर्णय होता है। कोई खटका नहीं है।

ततो न प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षत एव सिद्ध्यति, नाप्यनुमानात्। तथा हि—

तिस कारण प्रत्यक्षप्रमाण कल्पनाओंसे रहित है, यह प्रत्यक्षसे ही सिद्ध नहीं हो पाता है। जब कि सदा ही प्रत्यक्षज्ञान निर्णय आत्मक हो रहा है। कल्पनाओंसे रहितपना भी तो एक कल्पना है। तथा अनुमानसे भी प्रत्यक्षका बौद्धोंसे अभीष्ट हो रहा विकल्पोंसे रहितपना सिद्ध नहीं हो पाता है। उक्त अर्थको विशद कर कहते हैं, सो सुनो।

पुनर्विकल्पयन्किंचिदासीन्मे स्वार्थनिश्चयः ।
ईदृगित्येव बुध्येत प्रागिंद्रियगतावपि ॥ १४ ॥
ततोन्यथा स्मृतिर्न स्यात्क्षणिकत्वादिवत् पुनः ।
अभ्यासादिविशेषस्तु नान्यः स्वार्थविनिश्चयात् ॥ १५ ॥

पीछे समयोंमें वार वार विकल्पना करता हुआ जीव इस प्रकारका अनुमान कर लेता है कि पहिले इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके होनेपर भी इस प्रकारका मुझको कुछ स्वार्थनिर्णय हो चुका ही था, तिस निश्चयसे ही स्मरण होना बन सकता है । अन्यथा यानी इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा स्वार्थका निश्चय होना न माननेपर तो उससे स्मृति न हो सकेगी । जैसे कि आप बौद्धोंके यहाँ स्वलक्षणका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होनेपर उससे अभिन्न क्षणिकपनका भी अनिश्चय आत्मक ज्ञान मान लिया है । किन्तु क्षणिकपन स्वर्गप्रापणशक्ति आदिका निर्णय न हो चुकनेके कारण पीछेसे स्मरण नहीं हो पाता है । बात यह है कि वस्तुतः देखा जाय तो निश्चय आत्मक ज्ञानोंका ही स्मरण होता है । ज्ञानमें अर्थ विषय हो रहा है । अतः उपचारसे अर्थका स्मरण कह दिया जाता है । धारणारूप निश्चय ज्ञान हो जानेपर संस्कारके अनुसार पीछे स्मरण होता रहता है । अनिश्चय ज्ञानका स्मरण नहीं होता है । अभ्यास, बुद्धि, चातुर्य, प्रकरण, संबंध, अभिलाषा आदि विशेषोंसे फिर स्मरण होना मानोगे तो वे अभ्यास आदिक विशेषतायें तो स्वार्थका विशेष निश्चय हो जानेके अतिरिक्त और कोई न्यारे पदार्थ नहीं हैं । विना निर्णयके अभ्यास आदिक कर भी क्या सकते हैं ? ।

अश्वं विकल्पयतः प्राग्न चेंद्रियगतावपीदृशः स्वार्थनिश्चयो ममासीदिति पश्चात् स्मरणात्तस्याः स्वार्थव्यवसायात्मकत्वस्य मानान्न निर्विकल्पकत्वानुमानं नाम । नहींद्रियगतेरव्यवसायात्मकत्वे स्मरणं युक्तं क्षणिकत्वादिदर्शनवत् अभ्यासादेर्गोदर्शनस्मृतिरिति चेन्न, तस्य व्यवसायादन्यस्य विचारासहत्वात् ।

घोडेका विकल्पज्ञान करते हुये मुझको पहिले ऐसा स्वार्थका निर्णय नहीं था । हां, इन्द्रिय जन्य ज्ञान होनेपर मुझको इस प्रकारका स्वार्थनिर्णय हो गया था, जिस कारण कि पीछे भी उस इन्द्रिय ज्ञानका स्मरण हो जाता है । इस ढंगसे उस इन्द्रियज्ञप्ति यानी प्रत्यक्षके स्वार्थका निश्चय करा देना रूप धर्मका अनुमान हो जाता है । किन्तु प्रत्यक्षके निर्विकल्पकपनका कथमपि अनुमान नहीं होता है । इन्द्रियजन्यज्ञानको निर्णयस्वरूप नहीं माननेपर स्मरण होना नहीं युक्त है । जैसे कि क्षणिकपन आदिका अनध्यवसायरूप दर्शन हो चुकनेपर स्मरण नहीं होता है । कोई बौद्ध कहता है कि गौका निर्विकल्पक दर्शन हो जानेपर भी अभ्यास आदि द्वारा निर्विकल्पक ज्ञानकी स्मृति हो सकती है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि वे अभ्यास आदिका निश्च-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यसे भिन्न कोई न्यारे पदार्थ नहीं हैं। फिर भी कोई रूक्ष सामर्थ्य द्वारा उनको निश्चयसे न्यारा सिद्ध करेगा तो उठाये हुये विचारोंको नहीं सह सकनेके कारण वह अभ्यास आदिको निर्णयरूप ही कहने लग जायगा। भावार्थ—विलक्षण प्रकारका धारण ज्ञान ही संस्कार, अभ्यास, बुद्धिचातुर्य, निश्चय, स्मृतिहेतु, आदि नामोंको धारणा करता है।

तदकल्पकमर्थस्य सामर्थ्येन समुद्भवात्।
अर्थक्षणवदित्येके (न) विरुद्धस्यैव साधनम् ॥ १६ ॥
जात्याद्यात्मकभावस्य सामर्थ्येन समुद्भवात्।
सविकल्पकमेव स्यात् प्रत्यक्षं स्फुटमंजसा ॥ १७ ॥

बौद्ध कहते हैं कि वह प्रत्यक्षज्ञान कल्पनासे रहित है। क्योंकि जब विषयभूत अर्थका स्वरूप कल्पनाओंसे रहित निर्विकल्पक है, और उस अर्थकी सामर्थ्यसे प्रत्यक्षज्ञान भले प्रकार उत्पन्न हो रहा है, तो अर्थजन्य हुई उसी अर्थकी उत्तर क्षणकी पर्यायके समान अर्थजन्य प्रत्यक्षज्ञान भी निर्विकल्पक है। कारणोंके सदृश कार्य होता है। इस प्रकार कोई अन्य बौद्ध कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि उनका कहना युक्त नहीं है। यों तो विरुद्धका ही साधन होता है। अर्थात्—निर्विकल्पक अर्थके निमित्तसे उत्पन्न होना हेतुविरुद्ध है। आत्मामें जड पदार्थोंके निमित्तसे सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छायें, चैतन्यरूप उपज जाती हैं। दूसरी बात यह है कि घट, पट, आदिक पदार्थ निर्विकल्प नहीं हैं। जैसे कि तुम बौद्धोंने मान रखे हैं। किन्तु जाति, विशेष, संसर्ग, दीर्घ, लघु, आदि वास्तविक कल्पनाओंसे तदात्मक हो रहे हैं। उस सविकल्पक अर्थकी सामर्थ्यसे समुत्पन्न होनेके कारण प्रत्यक्षज्ञान सविकल्पक ही होगा, जो कि निर्दोष होकर स्पष्ट है। अतः प्रत्यक्षमें निर्विकल्पकपना साधनेके लिये दिया गया बौद्धोंका निर्विकल्पक अर्थकी सामर्थ्यसे उपजना यह हेतु विरुद्ध है। उससे तो तुम्हारे साध्यके विरुद्ध सविकल्पकपनेकी प्रत्यक्षमें सिद्धि हो जाती है।

परमार्थेन विशदं सविकल्पकं प्रत्यक्षं न पुनरविकल्पकं वैशद्यारोपात्।

परमार्थरूपसे देखा जाय तो प्रत्यक्षज्ञान विशद होता हुआ सविकल्पक है। फिर निर्विकल्पक नहीं है। क्योंकि विशदपनेका वस्तुभूत आरोप हो रहा है, अर्थात् जो विशद होगा वह विशेषोंसे सहितपनरूपसे प्रतिभास करता हुआ सविकल्पक होगा। अथवा निर्विकल्पकके वैशद्यका आरोप हो जानेसे सविकल्पक विशद नहीं होगया है।

ननु कथं तज्जात्याद्यात्मकादर्थादुपजायेताविकल्पान्न हि वस्तु सत्सु जातिद्रव्यगुणकर्मसु शब्दाः संति तदात्मानो वा येन तेषु प्रतिभासमानेषु प्रतिभासेरन्। न च तत्र शब्दाऽप्रतीतौ कल्पना युक्ता तस्याः शब्दात्मतीतिलक्षणत्वादशब्दकल्पनानामसंभवात्। ततो न विरुद्धो हेतुरिति चेत्। अत्रोच्यते।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

बौद्धोंका स्वमतके स्थापनके लिये अवधारण है कि वह प्रत्यक्ष भला जाति, द्रव्य, संबंध आदि स्वरूप अर्थसे कैसे उत्पन्न होगा ? क्योंकि अर्थ तो जाति, शब्दयोजना आदि कल्पनाओंसे रहित है। गौ, अश्व, मनुष्य, आदि जातियोंके वाचक गौ आदिक शब्द जातिशब्द हैं। घट, पट, आत्मा आदिक द्रव्यशब्द हैं। काला, नीला, रस, शीत आदि गुणशब्द हैं। चलना, दौडना उठाना, आदि क्रियाशब्द हैं। यहां विचार है कि तत्त्वका स्वरूप निर्विकल्प है। वस्तुभूत हो रहे अवाच्य जाति, द्रव्य, गुण और कर्म इन अर्थोंमें शब्द नहीं प्रवर्त होते हैं तथा वे शब्द उन जाति आदि आत्मक भी नहीं है। जिससे कि उन जाति आदिकोंके प्रतिभासित होते संते उनके वाचक शब्द भी प्रतिभास जाते और जबतक उन अर्थोंमें शब्दकी प्रतीति न होगी तबतक अर्थोंमें जाति आदिकी कल्पना करना उचित नहीं है। क्योंकि उस कल्पनाका लक्षण शब्दसे प्रतीति होना माना गया है। शब्दोंकी योजनासे रहित हो रही कल्पनाओंका असम्भव है। तिस कारण हमारा हेतु विरुद्ध नहीं है। भावार्थ—कल्पनाओंसे रहित अर्थ है, उससे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान भी निर्विकल्पक है। कारणके अनुरूप कार्य होता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर यहां श्रीविद्यानंद आचार्य समाधान कहते हैं।

यथावभासतो कल्पात् प्रत्यक्षात्प्रभवन्नपि।
तत्पृष्ठतो विकल्पः स्यात् तथार्थाक्षाच्च स स्फुटः ॥ १८ ॥

जिस प्रकार उन बौद्धोंके यहां निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे उत्पन्न होता हुआ भी उसके पीछे सविकल्पकज्ञान हो जाता है, तिस ही प्रकार निर्विकल्पक अर्थ और इन्द्रियोंसे वह स्पष्ट सविकल्पक प्रत्यक्ष हो सकता है। भावार्थ—निर्विकल्पक अर्थसे निर्विकल्पक प्रत्यक्षका ही होसकना बौद्धोंने इष्ट किया है। किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे उसके पीछे सविकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न हुआ मान लिया है। अतः निर्विकल्पक अर्थसे एकदम सीधा सविकल्पकज्ञान उत्पन्न हो जानेमें निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे सविकल्पकज्ञानकी उत्पत्ति होना हम जैनोंको बौद्धोंका दृष्टान्त मिल गया।

दर्शनादविकल्पाद्विकल्पः प्रजायते न पुनरर्थादिति कुतो विशेषः। न चाभिलापवत्येव प्रतीतिः कल्पना जात्यादिमत्प्रतीतेरपि तथात्वाविरोधात्। संति चार्थेषु जात्यादयोपि तेषु प्रतिभासमानेषु प्रतिभासेरन्। ततो जात्यात्मकार्थदर्शनं सविकल्पं प्रत्यक्षसिद्धमिति विरुद्धमेव साधनम्।

बौद्धोंके यहां निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे विकल्पज्ञान भले ढंगसे उत्पन्न हो जाता मान लिया गया है। किन्तु फिर निर्विकल्पक अर्थसे सविकल्पकज्ञान उत्पन्न न होवे, इस प्रकारके पक्षपातग्रस्त नियम करनेमें किस हेतुसे विशेषता समझी जाय ? शब्दयोजनावाली प्रतीति ही कल्पना नहीं है। किन्तु जाति, गुण, आदिसे युक्त हो रही प्रतीतिको भी तिस प्रकार सद्भूत कल्पनापनेका कोई विरोध न

नहीं है। बौद्धोंने जो यह कहा था कि अर्थोंमें कल्पनायें नहीं हैं। उसपर हमारा यह कहना है कि वस्तुभूत अर्थोंमें जाति, गुण आदिक कल्पनायें भी विद्यमान हैं। तुमने स्वयं अभी जाति गुण आदिको वस्तु, सद् स्वीकार किया है। उन अर्थोंके प्रकाशमान होनेपर वे सामान्य विशेष गुण आदिक भी प्रतिभास जाते हैं। तिस कारण जाति, द्रव्य, आदि स्वरूप कल्पनाके साथ तदात्मक हो रहे अर्थसे उत्पन्न हुआ अर्थका दर्शन सविकल्पक है, यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही सिद्ध है। सूंघने, स्वाद लेने, देखने, आदिके समय वाच्य और बहुभाग अवाच्य आकारों (कल्पनाओं) का स्वसंवेदन हो रहा है। इस कारण बौद्धोंका हेतु विरुद्ध ही है। " साध्यविपरीतव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः "।

न च जात्यादिरूपत्वमर्थस्यासिद्धमंजसा ।
निर्बाधबोधविध्वस्तसमस्तारेकि तत्वतः ॥ १९ ॥

घट, पट, आदि पदार्थोंका स्वरूप, जाति, विशेष, पर्याय, आदिके साथ तदात्मक हो रहा है, यह असिद्ध नहीं है निर्दोष है। क्योंकि बाधकरहित ज्ञानोंके द्वारा इस विषयकी संपूर्ण शंकाओंको विध्वस्त करादिया गया है। अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ सामान्य विशेष आदि अनेक धर्म आत्मक हैं। इसमें कोई बाधक नहीं है। इस कारिकामें अनुमानके प्रतिज्ञा हेतु ये दो अवयव कण्ठोक्त हैं।

जात्यादिरूपत्वे हि भावानां निर्बाधो बोधः समस्तमारेकितं हंतीति किं नश्चिंतया। निर्बाधत्वं पुनर्जात्यादिबोधस्यान्यत्र समर्थितं प्रतिपत्तव्यं ततो जात्याद्यात्मकस्वार्थव्यवसितिः कल्पना स्पष्टा प्रत्यक्षे व्यवतिष्ठते।

सभी पदार्थोंके जाति आदि, स्वरूप होनेमें समस्त देश, काल, और व्यक्तियोंकी अपेक्षासे हो सकनेवाली बाधाओंको टालता हुआ चमक रहा सम्यग्ज्ञान ही जब सम्पूर्ण शंकाओंको नष्ट कर देता है, तो ऐसी दशामें हमको चिन्ता करनेसे क्या ? अर्थात् हम निश्चिन्त हैं। जाति आदिसे तदात्मक हुये अर्थको जाननेवाला ज्ञान फिर बाधकोंसे रहित है। इसका हम अन्य प्रकरणोंमें समर्थन कर चुके हैं। वहांसे समझ लेना चाहिये। तिस कारण सिद्ध हुआ कि जाति आदिसे तदात्मक हो रहे स्व और अर्थका निर्णय करनारूप स्पष्ट कल्पना भला प्रत्यक्षज्ञानमें व्यवस्थित हो रही है।

संकेतस्मरणोपाया दृष्टसंकल्पनात्मिका ।
नैषा व्यवसितिः स्पष्टा ततो युक्ताक्षजन्मनि ॥ २० ॥

जो कल्पना संकेतग्रहण और उसका स्मरण करना आदि उपायोंसे उत्पन्न होती है, अथवा देखे हुये पदार्थमें अन्य सम्बन्धियोंका या इष्ट अनिष्टपनेका संकल्प करना रूप है, वह कल्पना श्रुतज्ञानमें सम्भवती है। प्रत्यक्षमें ऐसी कल्पना नहीं है। हां, स्वार्थनिर्णय करना रूप स्पष्ट कल्पना तो प्रत्यक्षमें है। तिस कारण इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमें यह कल्पना करना समुचित है।

यदेव हि संकेतस्मरणोपायं दृष्टसंकल्पनात्मकं कल्पनं तदेव पूर्वापरपरामर्शशून्ये चाक्षुषे स्पर्शनादिके वा दर्शने विरुध्यते। न चेयं विशदावभासार्थ व्यवसितिस्तथा, ततो युक्ता सा प्रत्यक्षे।

जो ही देखे हुये पदार्थमें संकेतस्मरणको उपाय मान कर इष्ट, अनिष्ट, मेरा, तेरा, आदि संकल्प करना रूप कल्पना है, वही कल्पना पहिले पीछेके प्रत्यभिज्ञान तर्क, आगम, आदि विचारक ज्ञानोंसे रहित हो रहे चाक्षुषप्रत्यक्ष अथवा स्पार्शन आदि प्रत्यक्षोंमे विरुद्ध पडती है। अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान विचार करनेवाला नहीं है। रूप, रस, स्पर्श, आदिकी प्रत्यक्ष करके शीघ्र ही साकार ज्ञप्ति हो जाती है। यह उससे बढिया है, वह इससे दूर है, यह अधिक पीला है, वह इससे न्यून मीठा था, यह बम्बईका बना है। यह वैसा नहीं है, इत्यादि परामर्श करनेवाले श्रुतज्ञान पीछेसे होते रहते हैं। प्रत्यक्षोंमें इन विचारोंका अंश मात्र भी नहीं है। यह बात अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानमें भी लागू होती है। वे भी ज्ञान विचारक नहीं हैं। किन्तु विशद प्रकाश रूपसे अर्थका निर्णय करनारूप यह कल्पना तो तिस प्रकार परामर्श करनेवाली नहीं है। तिस कारण वह स्वार्थनिर्णयरूप कल्पना प्रत्यक्षज्ञानमें हो रही समुचित है। समर्थज्ञानोंमें, कल्पनायें ठहरती हैं।

कुतः पुनरियं न संकेतस्मरणोपायेत्युच्यते।

यह प्रत्यक्षमें हो रही कल्पना फिर शद्बसंबंधी संकेतस्मरणके निमित्तसे उत्पन्न हुई कैसे नहीं है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्यों द्वारा ही उत्तर कहा जाता है।

स्वतो हि व्यवसायात्मप्रत्यक्षं सकलं मतम्।
अभिधानाद्यपेक्षायामन्योन्याश्रयणात्तयोः॥ २१॥

शद्बयोजना, संकेतस्मरण करना आदिकी नहीं अपेक्षा कर उत्पन्न हुये सम्पूर्ण प्रत्यक्ष स्वयं अपने आपसे निर्णयस्वरूप माने गये हैं। यदि उन प्रत्यक्ष और निर्णय दोनोंको भी अभिधान आदिक की अपेक्षा मानी जायगी, ऐसा होनेपर तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। अर्थात् निश्चय हो चुकनेपर शद्ब लगाया जाय और शद्ब योजना हो चुकनेपर निर्णय किया जाय, ऐसे अन्योन्याश्रय दोषवाले कार्य जगत्में घटित नहीं होते हैं।

सति ह्यभिधानस्मरणादौ क्वचिद्व्यवसायः सति च व्यवसाये ह्यभिधानस्मरणादीति कथमन्योन्याश्रयणं न स्यात्। स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्थनिश्चयैर्व्यवसीयंते इति ब्रुवन्नार्थमध्यवस्यंस्तदभिधानविशेषस्य स्मरति अननुस्मरन्न योजयति अयोजयन्न व्यवस्यतीत्यविकल्पं जगदर्थयेत्। स्ववचनविरुद्धं चेदं। किंच—

वाचक शद्बका स्मरण करना आदिके होनेपर कहीं घट, पट, आदिमें निर्णय होना बने और निश्चय हो चुकनेपर वाचक शद्बका स्मरण आदिक होय, यानी घट अर्थको देखकर ही पहिले कालमें

संकेत ग्रहण किये जा चुके, उसके वाचक शद्वोंका स्मरण करेगा और चित्तमें संकल्पकर घकार टकार वर्णोंको अर्थमें जोडेगा, तब कहीं निर्णय होगा और ये सम्पूर्ण क्रियायें निश्चय कर चुकनेपर हो सकती हैं। इस ढंगसे अन्योन्याश्रय क्यों नहीं होगा ? तथा जो बौद्ध ऐसा कह रहे हैं कि अपने वाचक शद्व विशेषोंकी अपेक्षा रखते हुये भी पदार्थ अपना निश्चय करके निश्चित किये जाते हैं। यह बौद्ध अर्थका निर्णय करता हुआ ही उसके वाचक हो रहे विशेष शद्वोंका स्मरण करता है। स्मरण नहीं करता हुआ तो शद्वोंको अर्थके साथ जोड सकता है। और नहीं जोडता हुआ अर्थका निश्चय नहीं कर पाता है। इस प्रकार यह जगत्को निर्वकल्पक हो रहे की अभिलाषा करता है। अर्थात् जब शद्वका स्मरण, शद्वकी योजना, आदि नहीं हो सकते हैं तो जगत्में से विकल्प करना उठ जायगा। दूसरी बात यह है कि बौद्धोंके यहां यह कथन अपने वचनोंसे ही विरुद्ध पडेगा। भावार्थ—पहिले तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा शद्वयोजना, संकेत स्मरण, जाति आदिसे रहित अर्थका ज्ञान होना मानलिया है। और अब उस अर्थके वाचक शद्वोंके द्वारा ही अर्थका व्यवसाय होना माना जाता है। अथवा पहिले निर्विकल्पकको प्रत्यक्ष मानकर पीछे स्वार्थव्यवसायरूप स्पष्ट कल्पनाको प्रत्यक्षमें व्यवस्थित होना मान लिया गया है। और भी तीसरी बात यह है कि—

स्वाभिधानविशेषस्य निश्चयो यद्यपेक्षते।
स्वाभिलापांतरं नूनमनवस्था तदा न किम् ॥ २२ ॥
गत्वा सुदूरमप्येवमभिधानस्य निश्चये।
स्वाभिलापानपेक्षस्य किमु नार्थस्य निश्चयः ॥ २३ ॥

बौद्धोंके विचार अनुसार जब सभी अर्थ अपना निश्चय करानेमें अपने वाचक हो रहे विशिष्ट शद्वोंकी अपेक्षा करते हैं तो वह वाचक शद्व भी तो एक विशेष अर्थ है। उस शद्वरूप अर्थका निश्चय करनेके लिये भी अपने वाचक अन्य शद्वोंकी अपेक्षा की जायगी। इसी ढंगसे उस शद्वके भी वाचक शद्वस्वरूप पदार्थोंका निश्चय करना यदि अपने वाचक अन्य शद्वोंकी अपेक्षा करता होगा तब तो नियमसे अनवस्था दोष क्यों नहीं होगा ? भावार्थ—देवदत्त नामके पुरुषका निर्णय करनेके लिये यदि दे और व तथा द एवं त्त शद्वोंकी अपेक्षा होगी और दे आदि शद्वरूप अर्थोंके वाचक अन्य शद्वोंकी अपेक्षा होगी और उन अन्य शद्वोंके निर्णयार्थ भी वाचकान्तरोंकी आकांक्षा बढती जावेगी, इस ढंगसे रुपयासे रुपयेका क्रय करनेके समान अवश्य अनवस्था दोष हो जाता है। इस प्रकार बहुत दूर भी चलकर अपने वाचक शद्वोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले शद्वोंका निर्णय माना जायगा, यानी कुछ दूर जाकर वाचक शद्वोंका निर्णय उनके अभिधायक शद्वोंके विना भी हो जायगा मानोगे, तो हम कहते हैं कि यों पहिलेसे ही अर्थका निश्चय करना वाचक शद्वोंके

विना भी क्यों न हो जाय ! भावार्थ—संकेतस्मरण, शद्धयोजना, आदिके विना ही स्वार्थ व्यवसायरूप दर्शन हो जाता है।

अभिधानविशेषश्चेत् स्वस्मिनर्थे च निश्चयम्।
कुर्वन्दृष्टः स्वशक्त्यैव लिंगाद्यर्थोंपि तादृशः ॥ २४ ॥
शाद्धस्य निश्चयोर्थस्य शद्धापेक्षोस्त्वबाधितः।
लिंगजन्माक्षजन्मा न तदपेक्षोभिधीयते ॥ २५ ॥

कुछ दूर जाकर जैसे कोई वाचक विशेष शद्ध अपनी शक्ति करके ही अपनेमें और अर्थमें निश्चय करता यदि देखा गया है यानी पहिले अर्थ निश्चयके लिये शब्दकी आवश्यकता है। और पिछला शद्ध अपना और अर्थका दोनोंका निर्णय करा देता है, जैसे कि दीपक स्वार्थोंका प्रकाशक है। आचार्य कहते हैं कि तब तो उस शब्दके समान ही अपनी गांठकी सामर्थ्यसे ही वैसे हेतु आदिक अर्थ भी वाचक शद्धोंके विना तिस प्रकारका निर्णय करा देवेंगे। प्रत्येक निश्चयको करनेमें विशेष शद्धोंका पुंछला व्यर्थ क्यों लगाया जाय। हां, शद्धको सुनकर उत्पन्न हुआ अर्थोंका निर्णय तो भले ही बाधारहित होता हुआ शद्धकी अपेक्षा रखनेवाला मान लिया जाय। किन्तु ज्ञापक हेतुसे उत्पन्न हुये निर्णय (अनुमान) और इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये निर्णय (प्रत्यक्ष) को तो उस शद्धकी अपेक्षा रखनेवाला नहीं कहा जा सकता है।

ततः प्रत्यक्षमास्थेयं मुख्यं वा देशतोपि वा।
स्यान्निर्विकल्पकं सिद्धं युक्त्या स्यात्सविकल्पकं ॥ २६ ॥
सर्वथा निर्विकल्पत्वे स्वार्थव्यवसितिः कुतः।
सर्वथा सविकल्पत्वे तस्य स्याच्छद्धकल्पना ॥ २७ ॥

तिस कारण यह विश्वासपूर्वक निश्चय कर लो कि मुख्यप्रत्यक्ष अथवा एक देशसे भी विशद हो रहा सम्व्यवहार प्रत्यक्ष ये दोनों ही कथंचित् निर्विकल्पक सिद्ध हैं और युक्तिसे कथंचित् सविकल्पक भी सिद्ध हैं। यानी संकेतस्मरण, वाचक शद्ध जोडना आदिक कल्पनाओंसे रहित प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है और स्पष्टरूपसे स्वार्थव्यवसाय करनारूप सद्भूत कल्पना करके प्रत्यक्ष सविकल्पक भी है। सभी प्रकारोंसे यदि प्रत्यक्षको निर्विकल्पक माना जावेगा तो स्वार्थका निर्णय करना भला कैसे होगा ? स्वार्थनिर्णय करना भी तो एक कल्पना है, और यदि उस प्रत्यक्षको सर्वथा सविकल्पक स्वीकार किया जायगा तो शाद्धबोधके समान प्रत्यक्ष ज्ञानमें भी शब्दोंकी कल्पना लग बैठेगी, ऐसा होनेपर वह प्रत्यक्षज्ञान परोक्ष हो जावेगा।

न केवलं जैनस्य कथंचित्सविकल्पकं प्रत्यक्षं । किं तर्हि सौगतस्यापीत्याहः—

केवल जैनोंके यहां ही प्रत्यक्षज्ञान कथंचित् सविकल्पक नहीं माना है । किन्तु बौद्धोंके यहां भी प्रत्यक्षको सविकल्पक इष्ट किया है । इस बातको स्पष्टकर आचार्य कहते हैं ।

सवितर्कविचारा हि पंचविज्ञानधातवः ।
निरूपणानुस्मरणविकल्पेनाविकल्पकाः ॥ २८ ॥
इत्येवं स्वयमिष्टत्वान्नैकांतेनाविकल्पकं ।
प्रत्यक्षं युक्तमास्थातुं परस्यापि विरोधतः ॥ २९ ॥

बौद्धोंके मतमें नाम, जाति, आदि भेदव्यवहाररूप कल्पनासे प्रत्यक्षको रहित माना है । किन्तु स्वकीय विकल्पोंसे भी रहित उस निर्विकल्पकको नहीं माना है । उनके यहां कहा है कि रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार, ये पांच विज्ञान धातुयें तो वितर्क करना और विचार करनेसे सहित हैं । हां, निरूपण आदि विकल्पोंसे रहित हैं । भावार्थ—प्रत्यक्षज्ञानमें वितर्क और विचाररूप कल्पनायें विद्यमान हैं । ज्ञान द्वारा आलंबन कारणको विषय करना वितर्क है । और उसी विषयमें दृढज्ञप्ति करना विचार है । ये दो कल्पनायें प्रत्यक्षमें हैं । किन्तु नाम आदिकी कल्पनारूप निरूपण और पहिले अनुभूत किये गये पदार्थके अनुसार विकल्प करनारूप अनुस्मरण आदि विकल्पों करके वह प्रत्यक्ष सविकल्पक नहीं हैं । अविकल्पक है । इस प्रकार बौद्धोंने यह वितर्क विचारसहितपनारूप विकल्प स्वयं प्रत्यक्षमें इष्ट किया है । अतः एकान्त आग्रह करके प्रत्यक्षको निर्विकल्पकपनेकी श्रद्धा करना उचित नहीं है । अतः स्वयं बौद्धके या अन्य वादियोंके यहां भी प्रत्यक्षको सर्वथा निर्विकल्पक माननेमें विरोध है ।

विधूतकल्पनाजालं योगिप्रत्यक्षमेव चेत् ।
सर्वथा लक्षणाव्याप्तिदोषः केनास्य वार्यते ॥ ३० ॥

यदि सर्वज्ञयोगियोंका प्रत्यक्ष ही कल्पनाओंके जालसे रहित है, ऐसा बौद्ध कहेंगे, तब तो सभी प्रकारसे इस प्रत्यक्षके बौद्धोक्तलक्षणका अव्याप्ति दोष भला किससे निवारण किया जा सकता है ? अर्थात् प्रत्यक्षका निर्विकल्पक लक्षण योगियोंके प्रत्यक्षमें तो घट गया और इन्द्रिय प्रत्यक्षों या मानस प्रत्यक्षोंमें नहीं गया, अतः अव्याप्त है ।

लौकिकी कल्पनापोढा यतोध्यक्षं तदेव चेत् ।
शास्त्रीया सास्ति तत्रेति नैकान्तेनाविकल्पकम् ॥ ३१ ॥

कारण कि लोकव्यवहारमें की गयीं मूल्यवान्, छोटा, बडा, इष्ट, अनिष्ट, मेरा तेरा, दूर, निकट आदि अनेक कल्पनाओंसे रहित जो प्रत्यक्ष होगा वही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। भले ही उस प्रत्यक्षमें स्वार्थनिर्णय या आकाररूप अर्थविकल्पना आदि ये शास्त्रसंबंधी कल्पनायें रह जावें, कोई क्षति नहीं है। यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तब तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस प्रत्यक्षमें वे शास्त्र संबंधी कल्पनायें विद्यमान हैं, ऐसी दशामें एकान्तरूपसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हुआ विकल्प-सहित हो गया। शास्त्रीय सिद्धान्त ही त्रिलोक, त्रिकालमें अबाधित होते हैं। लौकिक युक्तियां तो अनेक स्थलोंपर व्यभिचरित हो जाती हैं, जैसे कि छतमेंसे पानी चुचाना उसके शीघ्र पतनका चिन्ह है, किन्तु रुडकीकी नहरका पुल चुचाता रहनेपर ही दृढ रहेगा। चुचाना बन्द हो जानेपर अल्पकालमें गिर पडेगा, ऐसा उसके निर्माताका आत्मनिवेदन सुना जाता है।

तदपाये च बुद्धस्य न स्याद्धर्मोपदेशना।
कुट्यादेर्या न सा तस्येत्येतत्पूर्वं विनिश्चितं॥ ३२॥

और उस शास्त्रीय कल्पनाके नहीं माननेपर बुद्धके धर्मका उपदेश देना नहीं बन सकता है। जैसे कि झोंपडी, खम्भा, चौकी आदिके द्वारा धर्मोपदेश नहीं होता है। उसी प्रकार बुद्धके द्वारा जो धर्मोपदेश होना आपने माना है। वह सर्वथा निर्विकल्पक बुद्धज्ञानसे नहीं सम्भवता है। वह उपदेश बुद्धभगवानका नहीं कहा जा सकता है। इन सब बातोंका हम पहिले प्रकरणोंमें विशेषरूपसे निश्चय कर चुके हैं।

ततः स्यात्कल्पना स्वभावशून्यमभ्रांतं प्रत्यक्षमिति व्याहतं।

तिस कारण कल्पना स्वभावोंसे शून्य होता हुआ भ्रान्ति ज्ञानोंसे रहित प्रत्यक्ष है, इस प्रकार बौद्धोंका लक्षण करना व्याघातयुक्त हुआ। क्योंकि बुद्ध प्रत्यक्षके अतिरिक्त इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंमें कल्पना होना मान लिया गया है। दूसरी बात यह है कि कल्पनाओंसे रहितपना भी तो एक कल्पना है। तथा अभ्रान्तपना भी तो प्रत्यक्षमें दूसरी कल्पना है। इस प्रकार कहनेपर व्याघात दोष आता है। जैसे कोई जोरसे चिल्लाकर कहे कि मैं चुपका बैठा हूं। यहां व्याघात लग बैठता है। दो दो तीन तीन कल्पनायें गढते हुए भी पुनः उसीको निर्विकल्पक कहनेवालेपर वदतो व्याघात दोष पडता है।

येत्वाहुर्नेंद्रियानिंद्रियानपेक्षं प्रत्यक्षं तस्य तदपेक्षामंतरेण संभवादिति तान् प्रत्याहः—

अब दूसरे जो वादी विद्वान् यों कह रहे हैं कि इन्द्रिय और मनकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ कोई भी प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता है। प्रायः सभी प्रत्यक्षोंमें इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा है। उनकी अपेक्षाके विना उस प्रत्यक्षकी उत्पत्ति नहीं होती है। असम्भव है। इस प्रकार कहनेवाले उन वैशेषिकोंके प्रति आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

येपि चात्ममनोक्षार्थसन्निकर्षोद्भवं विदुः ।
प्रत्यक्षं नेश्वराध्यक्षसंग्रहस्तैः कृतो भवेत ॥ ३३ ॥
नेश्वरस्याक्षजं ज्ञानं सर्वार्थविषयत्वतः ।
नाक्षैः सर्वार्थसंबंधः सहैकस्यास्ति सर्वथा ॥ ३४ ॥
योगजाज्ज्ञायते यत्तु ज्ञानं धर्मविशेषतः ।
न सन्निकर्षजं तस्मादिति न व्यापिलक्षणं ॥ ३५ ॥

जो भी कोई विद्वान् प्रत्यक्षको आत्मा, मन, इन्द्रिय, और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न हुआ जान रहे हैं, उन करके ईश्वरके प्रत्यक्षका संग्रह करना नहीं हो सकेगा। क्योंकि ईश्वरका ज्ञान (पक्ष) इन्द्रियोंसे जन्य नहीं है (साध्य)। क्योंकि वह सम्पूर्ण अर्थोंको विषय करनेवाला है, (हेतु)। एक जीवके एक ही बारमें सम्पूर्ण अर्थोंका इन्द्रियोंके साथ संबंध होना सर्वथा नहीं सम्भवता है। यदि जो योगसे उत्पन्न हुये विशेष अतिशयरूप धर्मसे उत्पन्न हुआ ज्ञान सम्पूर्ण अर्थोंको जान लेता है, ऐसा मानोगे, तब तो प्रत्यक्ष सन्निकर्षजन्य न रहा। तिस कारण वह प्रत्यक्षका इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्यत्व लक्षण सम्पूर्ण लक्ष्योंमें व्यापक न हुआ, अतः अव्याप्ति दोष हो गया।

ननु च योगजाद्धर्म विशेषात् सर्वार्थैरक्षसन्निकर्षस्ततः सर्वार्थज्ञानमित्यक्षार्थसन्निकर्षजमेव तत् । नैतत्सारं । तत्राक्षार्थसन्निकर्षस्य वैयर्थ्यात् । योगजो हि धर्मविशेषः सर्वार्थाक्षसन्निकर्षमुपजनयति न पुनः साक्षात्सर्वार्थज्ञानमिति स्वरुचिप्रदर्शनमात्रं, विशेषहेत्वभावादित्युक्तप्रायम् ।

वैशेषिकोंका अनुनय है कि विशिष्ट समाधिसे उत्पन्न हुये धर्मविशेषसे इन्द्रियोंका सम्पूर्ण अर्थोंके साथ सन्निकर्ष हो जाता है। उससे सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान हो जायगा। इस प्रकार वह ईश्वरका ज्ञान भी इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न हुआ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह वैशेषिकों कथन निःसार है। क्योंकि उस सर्वज्ञके प्रत्यक्षमें इन्द्रिय और अर्थका सन्निकर्ष व्यर्थ पडता है। योगसे उत्पन्न हुआ विशेषधर्म नियमसे सम्पूर्ण अर्थोंके साथ इन्द्रियके सन्निकर्षको तो उत्पन्न करा देता है। किन्तु फिर विशदरूपसे संपूर्ण अर्थोंके ज्ञानको साक्षात् नहीं करा पाता है। यह वैशेषिकोंका अपनी रुचिका केवल बढिया ढोंग दिखलाना है। इसमें कोई विशेष कारण नहीं है। इस बातको हम पहले कई बार कह चुके हैं। जैनसिद्धान्तके अनुसार समाधिसे ही एक विशिष्ट अतिशय (केवलज्ञान) उत्पन्न होता है, जिससे युगपत् सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। बीचमें सन्निकर्षका रोडा अटकानेकी आवश्यकता नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

श्रोत्रादिवृत्तिरध्यक्षमित्यप्येतेन चिंतितं ।
तस्याविचार्यमाणाया विरोधश्च प्रमाणतः ॥ ३६ ॥

इस उक्त कथनसे इसका भी विचार कर दिया गया समझलेना चाहिये कि जो सांख्य पण्डित कान, आंख, आदि इन्द्रियोंकी उघाडना, खोलना, आदि वृत्तिको प्रत्यक्ष प्रमाण मान रहे हैं। क्योंकि यदि उस इन्द्रियवृत्तिका प्रमाणोंसे विचार किया जायगा तो विरोध दोष लगेगा। अथवा इन्द्रियवृत्तिकर विचार करनेपर सांख्योंको प्रमाणोंसे विरोध पडेगा।

इन्द्रियाण्यर्थमालोचयंति तदालोचितं मनः संकल्पयति तत्संकल्पितमहंकारोभिमन्यते तदभिमतं बुद्धिरध्यवस्यति तदध्यवसितं पुरुषश्चेतयत इति श्रोत्रादिवृत्तिर्हि न सकृत्सर्वार्थविषया यतस्तत्प्रत्यक्षत्वे योगिप्रत्यक्षसंग्रहः स्यात् ।

सांख्य कहते हैं कि पहिले इन्द्रियें अर्थका सामान्यरूपसे आलोचन करती हैं कि रूप है, रस है, गन्ध है, आदि। उस आलोचना किये गये अर्थका पुनः मन संकल्प करता है कि वह पदार्थ ऐसा होगा, तैसा होगा, वहां मनोहर व्यञ्जन खानेको मिलेंगे आदि। पश्चात संकल्प किये गये उस अर्थका अहंकार तत्त्व अभिमान करता है कि मैं अर्थका गर्व करता हूं। मैं, मैं, हूं, हूं, आदि पीछे अभिमान किये गये अर्थका बुद्धि निर्णय कर लेती है। इतना सब प्रकृतिका कार्य है। अनन्तर उस बुद्धिसे निर्णीत किये गये अर्थको आत्मा चैतन्य कर लेता है, इस प्रकार इन्द्रिय, मन, संकल्प, आदिकी वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रकार कापिलोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि वह वृत्ति एक ही बार सम्पूर्ण अर्थोंको विषय नहीं कर सकेगी, जिससे कि उन सब पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान होते संते योगियोंके प्रत्यक्षका संग्रह हो जाता। भावार्थ—इन्द्रियवृत्तिरूप प्रत्यक्षमें सर्वज्ञप्रत्यक्षका संग्रह नहीं हो सकता है।

न च प्रमाणतो विचार्यमाणा श्रोत्रादिवृत्तिः सांख्यानां युज्यते। सा हि न तावत्पुरुष परिणामोऽनभ्युपगमात्, नापि प्रधानस्यानंशस्यामूर्तस्य नित्यस्य सा कादाचित्कत्वात्। न ह्यकादाचित्कस्यानपेक्षस्य कादाचित्कः परिणामो युक्तः सापेक्षस्य तु कुतः कौटस्थ्यं नापेक्ष्यमाणार्थकृतातिशयस्यावश्यं भावान्निरतिशयत्वविरोधात् कौटस्थ्यानुपपत्तेः।

दूसरी बात यह है कि प्रमाणोंसे विचार की गयी कान, आदि इन्द्रियोंकी वृत्ति तो सांख्योंके यहां नहीं युक्तिसहित घटित हो पाती है। देखिये, वह इन्द्रियवृत्ति सबसे पहिले पुरुषका परिणाम तो नहीं है। क्योंकि आप सांख्योंने यह स्वीकार नहीं किया है। आत्माके धर्म दृष्टापन, उदासीनपन, चैतन्य, भोक्तृत्व, साक्षित्व माने गये हैं। आत्माके परिणाम होना भी तो नहीं माना है। कापिलोंके यहां आत्माको कूटस्थ अपरिणामी स्वीकार किया है। तथा अंशरहित, अमूर्त, नित्य, ऐसी प्रकृतिका

भी परिणाम वह इन्द्रियवृत्ति नहीं है। क्योंकि इन्द्रियवृत्ति तो कभी कभी कालमें होनेवाली है, और नित्य प्रकृति कभी कभी होनेवाली नहीं है। अथवा किसी सहकारीकी अपेक्षा नहीं रखती है। ऐसी उस प्रकृतिका कभी कभी होनेवाला प्रत्यक्षरूप परिणाम होना उचित नहीं है। यदि प्रकृति या आत्माको अन्य सहकारियोंकी अपेक्षा रखनेवाला माना जायगा तो उनमें कूटस्थपना भला कैसे बन-सकेगा ? क्योंकि अपेक्षा किये जारहे पदार्थसे बनाये गये अतिशयका होना आवश्यक है। उपादान कारणमें या कार्यमें कुछ अतिशय धर देनेवालेको ही सहकारी कारण माना गया है। ऐसा होनेपर आत्माके अतिशयरहितपनेका विरोध होगा, कूटस्थपना तो रक्षित नहीं रह सकता है। अतः इन्द्रियवृत्ति प्रत्यक्षका लक्षण ठीक नहीं है।

पुंसः सत्संप्रयोगे यदिंद्रियाणां प्रजायते ।
तदेव वेदनं युक्तं प्रत्यक्षमिति केचन ॥ ३७ ॥
तेऽसमर्था निराकर्तुं न प्रत्यक्षमतीन्द्रियं ।
प्रत्यक्षतोनुमानादेः सर्वज्ञत्वप्रसंगतः ॥ ३८ ॥

इन्द्रियोंका विद्यमान पदार्थके साथ समीचीन संसर्ग होनेपर जो आत्माके बढिया बुद्धिका जन्म होता है, वह ज्ञान ही प्रत्यक्षप्रमाण मानना युक्त है। इस प्रकार कोई मीमांसक विद्वान् कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि वे मीमांसक अतीन्द्रिय प्रत्यक्षको निराकरण करनेके लिये समर्थ नहीं हैं। क्योंकि प्रत्यक्षसे और अनुमान आदिक प्रमाणोंसे सर्वज्ञपनका प्रसंग प्रतीत है। भावार्थ— मीमांसक पण्डित प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा युगपत् सर्वका साक्षात् करनेवाले सर्वज्ञको नहीं मानते हैं। हां, आगम, अनुमान, और व्याप्तिज्ञानसे सर्वका जानना (परोक्ष) अभीष्ट करते हैं। किन्तु सर्वज्ञका प्रत्यक्ष प्रमाण पहिले अनुमान द्वारा साधा जा चुका है। सूक्ष्म, अंतरित और दूरार्थ (पक्ष) किसी न किसीके प्रत्यक्ष विषय हैं (साध्य) क्योंकि हमको श्रुतज्ञानसे गम्य हैं (हेतु) जैसे नदी, देश, पर्वत, आदि (दृष्टान्त)। अतः उनके माने गये प्रत्यक्षलक्षणमें अव्याप्ति दोष हुआ।

न ह्यसर्वज्ञः सर्वार्थसाक्षात्कारिज्ञानं नास्तीति कुतश्चित्प्रमाणान्निश्चेतुं समर्थ इति प्रतिपादितप्रायं। न च तदभावानिश्चये करणजमेव प्रत्यक्षमिति नियमः सिद्ध्येत्।

सबको नहीं जाननेवाला अल्पज्ञानी प्राणी तो " सम्पूर्ण अर्थोंका साक्षात् करनेवाला ज्ञान कोई नहीं है " इस बातको किसी भी प्रमाणसे निश्चय करनेके लिये समर्थ नहीं है। इसको हम कितने ही बार समझा चुके हैं। अतः परिशेषसे सर्वज्ञ ज्ञानकी सिद्धि हो जाती है। जब कि उस सर्वज्ञ प्रत्यक्षके अभावका निश्चय नहीं है, तो इन्द्रियजन्यज्ञान ही प्रत्यक्ष है, ऐसा मीमांसकोंका नियम करना नहीं सिद्ध हो पावेगा।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तत्स्वार्थव्यवसायात्म–त्रिधा प्रत्यक्षमंजसा ।
ज्ञानं विशदमन्यत्तु परोक्षमिति संग्रहः ॥ ३९ ॥

तिस कारण सिद्ध हुआ कि स्व और अर्थका विशदनिश्चय करना स्वरूप प्रत्यक्ष है । वह अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके भेदोंसे तीन प्रकारका है । साक्षात्‌रूपसे स्वार्थको विशद जाननेवाला ज्ञान तो प्रत्यक्ष है । और अन्य अविशद ज्ञान परोक्ष हैं । इस प्रकार सभी सम्यग्ज्ञानोंका प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाणोंमें संग्रह हो जाता है । इस प्रकार दो सूत्रोंका उपसंहार हुआ । क्रमका परिवर्तन तो कारणवश हुआ सह्य है ।

इस सूत्रका सारांश ।

इस सूत्रमें प्रकरणोंका क्रम इस प्रकार है कि प्रथम ही एक वचन ज्ञानशब्दकी अनुवृत्तिकी अपेक्षासे सूत्रमें एकवचन करना साधा है । ज्ञानका संबंध हो जानेसे महासत्ताका सामान्यरूपसे आलोचन करनेवाले दर्शनोंमें अतिव्याप्ति नहीं हुई । प्रमाणका संबंध हो जानेसे इन पांचों ज्ञानोंमें अप्रमाणपना नहीं समझा जाता है । सम्यक्‌शब्दका फल विभंगज्ञानकी व्यावृत्ति करना है । केवल आत्माकी अपेक्षासे जो उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है । अन्य आचार्योंका भी यही सिद्धान्त है । श्री अकलंकदेव महाराज द्रव्य और पर्यायरूप अर्थ तथा स्वको व्यवसाय करनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं । यों संपूर्ण पदार्थोंको युगपत् जाननेवाला अतीन्द्रियप्रत्यक्ष भी संग्रहीत हो जाता है । बाधकप्रमाणोंके असम्भव हो जानेसे किसी भी पदार्थकी सत्ता सिद्ध हो जाती है । ज्ञानावरणके क्षय हो जानेपर सर्वज्ञका प्रत्यक्ष बन जाता है । सांव्यवहारिक भी प्रत्यक्ष है । केवलज्ञान निर्दोष है । बौद्धोंका माना गया प्रत्यक्षका लक्षण ठीक नहीं है । कल्पनाकी ठीक ठीक परिभाषा उनसे नहीं हो सकी है । सद्‌भूत कल्पना कोई बुरी वस्तु नहीं है, तो फिर उससे क्यों भयभीत होते हो ? स्वार्थका व्यवसाय करना सबसे बढिया कल्पनाका लक्षण है, जो कि प्रत्यक्ष और परोक्षमें घटित हो जाता है । मतिज्ञान द्वारा जाने हुये अर्थसे अर्थान्तरको जानना श्रुतज्ञान है । अतः बौद्धोंका लक्षण असम्भवी है । संकल्प, विकल्पोंकी अवस्थाका संकोच कर देनेपर भी अर्थाकार रूप विकल्प होना ज्ञानमें देखा जाता है, तभी तो पीछे स्मरण होना बनता है । बाहिरके अभ्यास, प्रकरण, आदिक उपाय अंतरंग स्मरण करानेमें उपयोगी नहीं हो सकते हैं । निश्चयनयसे विचारा जाय तो अभ्यास आदिक सर्व ज्ञानरूप ही हैं । निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे जैसे सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही निर्विकल्प अर्थसे सीधा सविकल्पक ज्ञान हो जावेगा । सभी ज्ञानोंमें शब्दयोजना, जाति, आदिका उल्लेख करना, रूप कल्पना नहीं है । हां, शब्दजन्य आगम ज्ञानमें ऐसी कल्पना संभवती है । शब्दकी अपेक्षा विना ही अव्यक्त अनन्त अर्थोंके अनेक प्रकारोंसे निश्चय हो जाते हैं । इन बौद्धोंने भी पांच विज्ञानोंको वितर्क, विचारसहित माना

है। सर्वथा निर्विकल्पक माननेपर स्वार्थनिर्णय नहीं हो पाता है। छोटापन, बडापन, इष्ट अनिष्टपन, आदि लौकिक कल्पनायें ज्ञानमें भले ही नहीं होवें किन्तु शास्त्रोक्त कल्पनायें तो प्रत्येक ज्ञानमें पायी जाती हैं। कल्पनाके विना धर्मोपदेश होना नहीं हो सकता है। खम्भेके समान बुद्धके मुखसे कोई भी शब्द नहीं निकल सकता है। श्रुतज्ञान भी द्रव्यरूपसे शब्द योजनात्मक है। वैशेषिकोंका लक्षण ईश्वरप्रत्यक्षमें न जानेसे अव्याप्त है। सांख्य और मीमांसकों द्वारा माना गया भी प्रत्यक्षका लक्षण दोषग्रस्त है। सर्वज्ञके प्रत्यक्षका संकलन करना आवश्यक है। अव्यवहित रूपसे स्वार्थोंका विशद व्यवसाय करना प्रत्यक्षज्ञान है। और स्व तथा अन्य अर्थोंको अविशद जानना परोक्षप्रमाण है। इस प्रकार उक्त दो सूत्रोंसे यावत् सम्यग्ज्ञानोंका संग्रह हो जाता है।

अक्षात्मापेक्षमक्षेन्द्रियहृदयदयोपेक्षमक्ष्णोति साक्षात्।
कालक्षेत्रस्थभावावधिनियतपदार्थांश्च विश्वानभीक्ष्णं॥
प्रत्यक्षं द्वादशांगाध्ययनपटुसमाकांक्षणीयं स्वतुल्यं।
वैकल्याखिल्यधर्मोपहितविषयविच्याप्तये स्तान्मुमुक्षोः॥

—०—

अब मतिज्ञानके प्रकारोंको प्रगट करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र कहते हैं—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम्॥ १३॥

मतिज्ञान, स्मरणज्ञान, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान, और अनुमान, इत्यादि प्रकारके ज्ञान अर्थांतर नहीं हैं। ये सर्व मतिज्ञान ही हैं। मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमका निमित्त पाकर अर्थकी उपलब्धि करना सबमें एकसा है। यों थोडासा अवांतर भेद पड जाना न्यारी जातिका संपादन नहीं करा सकता है।

किमर्थमिदमुच्यते। मतिभेदानां मतिग्रहणेन ग्रहणादन्यथातिप्रसंगात्।

यह सूत्र किस प्रयोजनको साधनेके लिये कहा जाता है? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि मतिज्ञानके भेदप्रभेदोंका मतिके ग्रहण करनेसे ग्रहण हो जाता है। अन्यथा यानी मतिशब्द करके यदि इन्द्रिय, अनिन्द्रियजन्य विशद प्रत्यक्षोंको ही पकडा जायगा, तो अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् पचासों प्रमाण मानने पडेंगे। थोडे थोडेसे भेदोंको डाल कर पचासों प्रमाण बन जावेंगे, तब भी पूरा नहीं पडेगा। प्रतिपादक गुरुके द्वारा प्रतिपाद्य शिष्यको सुलभतासे समझानेके लिये प्रमाणोंकी संख्याव्यवस्था नहीं हो सकेगी।

मत्यादिष्ववबोधेषु स्मृत्यादीनामसंग्रहः।
इत्याशंक्याह मत्यादिसूत्रं मत्यात्मनां विदे॥ १॥

मतिरेव स्मृतिः संज्ञा चिंता वाभिनिबोधकम् ।
नार्थांतरं मतिज्ञानावृतिच्छेदप्रसूतितः ॥ २ ॥

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान, इन उक्त पांच ज्ञानोंमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, आदिकोंका संग्रह नहीं हो सकता है, ऐसी आशंका कर श्री उमास्वामि महाराज स्मृति आदिकोंको मतिज्ञानरूप समझानेके लिये इस " मतिः स्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् " सूत्रको कह रहे हैं। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, अथवा अनुमान, ज्ञान ये सब मतिज्ञान ही तो हैं। मतिज्ञानसे सर्वथा भिन्न नहीं हैं। क्योंकि अंतरंगकारण मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे स्मृति आदिककी उत्पत्ति होती है।

यथैव वीर्यान्तरायमतिज्ञानावरणक्षयोपशमान्मतिरवग्रहादिरूपा सूते तथा स्मृत्यादिरपि ततो मत्यात्मकत्वमस्य वेदितव्यम् ।

जिस ही प्रकार वीर्यांतराय और मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणास्वरूप मतिज्ञान उत्पन्न होता है, तिस ही प्रकार स्मृति आदिक भी तिस क्षयोपशमसे उत्पन्न होती हैं। तिस कारण इन स्मृति आदिकको मतिज्ञान आत्मकपना समझ लेना चाहिये।

इति शब्दात् किं गृह्यते इत्याहः—

इस सूत्रमें कहे गये इति शब्दसे क्या ग्रहण किया गया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं—

इति शब्दात्प्रकारार्थाद्बुद्धिर्मेधा च गृह्यते ।
प्रज्ञा च प्रतिभाऽभावः संभवोपमिती तथा ॥ ३ ॥

भेदगणनारूप प्रकार अर्थवाले इति शब्दसे बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, अभाव, सम्भव और उपमानका तिस ही प्रकार ग्रहण हो जाता है। सूक्ष्मतत्त्वोंका तत्काल विचार करनेवाली मति या इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुई मतिको बुद्धि कहते हैं। बहुत दिनोंतक धारण रखनेवाली मति मेधा कही जाती है। आगामी पदार्थोंका विचार करनेवाली बुद्धि प्रज्ञा है। नवीन नवीन उन्मेष जिसमें उठते रहें उस बुद्धिको प्रतिभा कहते हैं। कहींपर पदार्थोंके अभावको बतानेवाले ज्ञानको अभाव प्रमाण कहते हैं। तथा किसीकी संभावनावश अर्थान्तरको जाननेवाला ज्ञान संभव है। आप्तवाक्यार्थका स्मरण कर सादृश्यको या सादृश्यावच्छिन्नको जानना उपमान है। ये सब ज्ञान मतिज्ञानके ही भेदप्रभेद हैं।

ननु च कथं मत्यादीनामनर्थांतरत्वं व्यपदेशलक्षणविषयमतिभासभेदादिति चेत्—

किसीकी शंका है, जब कि मति, स्मृति, आदिकोंका नामनिर्देश न्यारा है। लक्षण भिन्न है, विषय भी भिन्न है, और मति आदि ज्ञानों द्वारा प्रतिभास होना पृथक् है, तो फिर मति आदिकोंको अनर्थान्तरपना कैसे है ? बताओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसी शंका करोगे तोः—

कथंचिद्व्यपदेशादिभेदेप्येतदभिन्नता ।
न विरोधमधिष्ठातुर्मीष्टे प्रातीतिकत्वतः ॥ ४ ॥

मति, आदिकोंका व्यवहार होना, लक्षण, आदि यद्यपि भिन्न भिन्न हैं, तो भी इनका अभेद है। विरोधको स्थापन करानेके लिये कोई समर्थ नहीं होता है। क्योंकि मति, स्मृति, आदिकोंमें एकसा मनन होना प्रतीतियों द्वारा निर्णीत हो रहा है। ऐसी दशामें छोटे छोटे अंश उपांशोंके भेद दिखाके मूलपदार्थका भेद नहीं किया जा सकते हैं।

न हि व्यपदेशादिभेदेपि प्रत्यक्षव्यक्तीनां प्रमाणांतरत्वं परेषां, नाप्यनुमानादिव्यक्तीनामनुमानादिता स्वेष्टप्रमाणसंख्यानियमव्याघातात् ।

रसना इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, चक्षु इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष, योगिका प्रत्यक्ष, आदि प्रत्यक्ष व्यक्तियोंके नामसंकीर्त्तन, लक्षण आदिका भेद होते हुए भी प्रत्येक प्रत्यक्षोंको न्यारा न्यारा भिन्न प्रमाणपना दूसरे नैयायिक आदि वादियोंने नहीं स्वीकार किया है। तथा अन्वयी हेतुसे, व्यतिरेकी हेतुसे, एवं पूर्ववत् आदि हेतुओंसे उत्पन्न हुये अनुमान अथवा स्वार्थ अनुमान, परार्थ अनुमानरूपसे अनुमानका इसी प्रकार न्यारे न्यारे शाब्दबोध आदि व्यक्तियों (व्यक्तिपिंडों) का अवांतर भेद होते हुये भी न्यारा न्यारा अनुमान आगम आदिपना नहीं है। क्योंकि थोडे थोडेसे भेदका लक्ष्य कर यदि भिन्न भिन्न प्रमाण गिनाये जायेंगे तब तो अपने अभीष्ट प्रमाणोंकी संख्याके नियमका व्याघात हो जायगा।

प्रत्यक्षतानुमानादित्वेन वा व्यपदेशादिभेदाभावान्न दोष इति चेत् मतिज्ञानत्वेन सामान्यतस्तदभावादविरोधोस्तु । प्रातीतिकी ह्येतेषामभिन्नता कथंचिदिति न प्रतिक्षेपमर्हति ।

सम्पूर्ण प्रत्यक्ष व्यक्तियोंको प्रत्यक्षपना एकसा है। और सभी स्वार्थानुमान, परार्थानुमान व्यक्तियोंको अनुमानपना वैसा ही है। व्याकरण, कोश, आप्तवाक्य आदि द्वारा शक्तिग्रह कर उत्पन्न हुये शाब्दबोधोंको एकसा आगमपना है। इस कारण सामान्यरूपसे व्यपदेश, लक्षण आदिका भेद नहीं है। अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकी अवांतर व्यक्तियोंको भिन्न भिन्न प्रमाण बन जानेका दोष नहीं आता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी मानते हैं कि सामान्यरूपसे मतिज्ञानपने करके उन व्यपदेश, लक्षण, आदिकोंका मति, स्मृति आदिमें अभाव है। इस कारण प्रकृतमें कोई विरोध न होओ। इन मति, स्मृति, आदिकोंका कथंचित् अभिन्नपना प्रतीतियोंमें आरूढ हो रहा है। अतः इनके अभेदको खण्डन करनेके लिये कोई समर्थ नहीं है।

कः कस्य प्रकारः स्यादित्युच्यते;—

सूत्रकार द्वारा कंठोक्त कहे गये मति, स्मृति, आदिकोंमेंसे किसके कौनसे मेधा आदिक प्रकार होंगे ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर ग्रन्थकार द्वारा समाधान कहा जाता है ।

बुद्धिर्मतेः प्रकारः स्यादर्थग्रहणशक्तिका ।
मेधा स्मृतेः तथा शब्दस्मृतिशक्तिर्मनस्विनाम् ॥ ५ ॥
ऊहापोहात्मिका प्रज्ञा चिंतायाः प्रतिभोपमा ।
सादृश्योपाधिके भावे सादृश्ये तद्विशेषणे ॥ ६ ॥
प्रवर्त्तमाना केषांचिद् दृष्टा सादृश्यसंविदः ।
संज्ञायाः संभवाद्यस्तु लैंगिकस्य तथा गतेः ॥ ७ ॥

अर्थको भले ढंगसे पकडनेकी शक्तिको रखनेवाली बुद्धि तो मतिका प्रकार है । और स्मृतिका प्रकार उत्तम धारण रखनेवाली मेधा है । यह मेधा किन्हीं किन्हीं मनस्वीजीवोंके शब्दोंकी स्मरण-शक्तिरूप उत्पन्न होती है । तथा तर्क, वितर्क, स्वरूप प्रज्ञा तो चिंताज्ञानका प्रकार है । एवं प्रतिभाज्ञान भी तर्कज्ञानका प्रकार है । सादृश्य विशेषणसे युक्त पदार्थमें अथवा उस पदार्थके विशेषण हो रहे सादृश्यमें किन्हीं जीवोंके प्रवर्त्त रहा उपमानज्ञान देखा जाता है । सो यह सादृश्यको जाननेवाले संज्ञाज्ञानका प्रकार है । तथा सम्भव, अर्थापत्ति, अभाव आदिक तो लिङ्गजन्य अनुमा-नज्ञानके भेदप्रभेद हैं । क्योंकि प्रामाणिकोंके यहां तिस प्रकार समीचीन प्रतीति हो रही है ।

मतिसामान्यात्मिकापि बुद्धिरिंद्रियानिन्द्रियनिमित्ता सन्निकृष्टार्थग्रहणशक्तिकाव-ग्रहादिमतिविशेषस्य प्रकारः । यथोक्त शब्दस्मरणशक्तिका तु मेधा स्मृतेः । सा हि केषांचि-देव मनस्विनां जायमाना विशिष्टा च स्मरणसामान्यात् ।

मतिज्ञान सामान्यस्वरूप भी बुद्धि जो कि इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे उत्पन्न हुई है । तथा समवधानको प्राप्त हुये अर्थोंके ग्रहण करनेकी शक्तिसे विशिष्ट है, वह बुद्धि तो अवग्रह, ईहा, आदि विशेष मतिज्ञानोंका प्रकार है । जैसे खंड, मुंड, कपिल, आदिक भेद गौके प्रकार हैं, तथा वैसेके वैसे ही कहे हुये शब्दोंका और उनके वाच्य अर्थोंका ठीक ठीक स्मरणशक्ति रखनेकी शक्तिसे युक्त मेधा तो स्मरणज्ञानका प्रकार है, जैसे कि बढिया चावलोंका प्रकार वासुमती है । वह (मेधा) किन्हीं किन्हीं महामना जीवोंके उत्पन्न हो रही अन्य, सामान्य स्मरणोंसे विशिष्ट होती हुई मेधा कही जाती है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ऊहापोहात्मिका प्रज्ञा चिंताया प्रकारः प्रतिभोपमा च सादृश्योपाधिके वस्तुनि केषां चिद्वस्तूपाधिके वा सादृश्ये प्रवर्त्तमाना संज्ञायाः सादृश्यप्रत्यभिज्ञानरूपायाः प्रकारः, संभवार्थापत्त्यभावोपमास्तु लैंगिकस्य प्रकारस्तथाप्रतीतेः ।

भूत, भविष्यत्, देशांतरवर्ती, स्वभावविप्रकृष्ट, आदि पदार्थोंका समीचीनरूपसे तर्क, वितर्क संकल्प करनास्वरूप प्रज्ञा तो व्याप्तिज्ञानरूप चिंताका प्रकार है । और प्रसाद गुणसे युक्त हुई नवीन नवीन अर्थोंके ज्ञानको उघाडनेवाली प्रतिभा भी चिंताका प्रकार है, जैसे कि अहिंसाके भेद समिति, गुप्ति, आदिक हैं । तथा सादृश्य विशेषणवाली वस्तुमें अथवा गौके विशेषण हो रहे सादृश्यमें किन्हीं किन्हीं जीवोंके प्रवर्त्त रहा उपमान तो सादृश्यका प्रत्यभिज्ञान करनेवाली संज्ञाका प्रकार है । अर्थात् गौके सदृश गवय होता है । इस वृद्धवाक्यका स्मरण कर अरण्यमें रोझको देखता हुआ पुरुष अनेन सदृशो गौः इसके सदृश गौ है, अथवा इसका सादृश्य गौमें है, गवय-निरूपितं गोनिष्ठं सादृश्यं ऐसा उपमान ज्ञान कर लेता है । ये दोनों प्रकारकी उपमायें संज्ञाका प्रभेद हैं । जैसे कि मिष्टान्नके मोदक, पेडा, बर्फी, मगद, आदिक प्रभेद हैं । सम्भवज्ञान, अर्थापत्ति, अभाव प्रमाण, और कोई कोई उपमानप्रमाण तो लिङ्गजन्य अनुमानके भेद प्रभेद हैं । जैसे कि आमोंका प्रकार लंगडा, मालदा, तोताफरी, हाथी झूल, कलमी, आदि हैं । क्योंकि तिस प्रकार प्रतीतिमें आ रहे हैं ।

प्रत्येकमिति शब्दस्य ततः संगतिरिष्यते ।
समाप्तौ चेति शब्दोयं सूत्रेस्मिन्न विरुध्यते ॥ ८ ॥

तिस कारण प्रकार अर्थवाले इति शब्दकी मति, स्मृति आदि प्रत्येकमें संगति कर लेना इष्ट की गई है । तभी तो मति आदिके उक्त प्रकार संभवते हैं । तथा समाप्ति अर्थमें प्रवर्त्त रहा यह इति शब्द भी इस सूत्रमें कोई विरोधको प्राप्त नहीं हो रहा है । इस प्रकार मतिज्ञान समाप्त हो गया यह अर्थ भी ठीक है । थोडे शब्दोंमें बहुत अर्थोंको प्रतिपादन करनेवाले सूत्रकारको यह भी अर्थ अभीष्ट है ।

मतिरिति स्मृतिरिति संज्ञेति चिंतेत्यभिनिबोध इति प्रकारो न तदर्थान्तरमेव मतिज्ञानमेकमिति ज्ञेयं । मत्यादिभेदं मतिज्ञानं मतिपरिसमाप्तं तद्भेदानामन्येषामत्रैवांतर्भावादिति व्याख्येयं गत्यंतरासंभवात् तथा विरोधाभावाच्च ।

कौओंसे दहीकी रक्षा करना यहां कौआ पदसे दहीको बिगाडनेवाले चील, बिल्ली, कुत्ता आदिका उपलक्षण है । इसी ढंगसे मति इस प्रकारके ज्ञान, स्मृति, इस प्रकारके और भी ज्ञान, संज्ञा इस प्रकारके अन्यज्ञान, चिंताकी जातिके ज्ञान, और अनुमानके भेदप्रभेदरूपज्ञान, ये सब

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रकारके ज्ञान उस मतिज्ञानसे भिन्न नहीं हैं, एक मतिज्ञानरूप ही हैं, यह समझलेना चाहिये। अथवा इति शब्दका समाप्ति अर्थ कर मति, स्मृति, आदि भेदवाला मतिज्ञान चारों ओरसे मतिद्वारा समाप्त हो चुका है। उस मतिके अन्य भेद प्रभेदोंका मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध इन पांचोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसा भी व्याख्यान करलेना चाहिये। अन्य उपायोंका असम्भव है तथा सिद्धान्तसे कोई विरोध नहीं है।

स्मृतिरप्रमाणमेव सा कथं प्रमाणेंतर्भवतीति चेन्न, तदप्रमाणत्वे सर्वशून्यतापत्तेः। तथाहि—

कोई शंका उठाता है कि गृहीतपदार्थको ही ग्रहण करनेवाला स्मरणज्ञान तो अप्रमाण ही है। भला वह प्रमाणोंमें कैसे गर्भित हो सकता है? आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारका पूर्वपक्ष नहीं करना। क्योंकि उस स्मरणको अप्रमाणपना माननेपर सभी प्रमाण और प्रमेयोंके शून्यपनका प्रसंग होता है। इसी अर्थको विशदकर कहते हैं।

स्मृतेः प्रमाणतापाये संज्ञाया न प्रमाणता।
तदप्रमाणतायां तु चिंता न व्यवतिष्ठते ॥ ९ ॥
तदप्रतिष्ठितौ कानुमानं नाम प्रवर्तते।
तदप्रवर्तनेध्यक्षप्रामाण्यं नावतिष्ठते ॥ १० ॥
ततः प्रमाणशून्यत्वात्प्रमेयस्यापि शून्यता।
सापि मानाद्विना नेति किमप्यस्तीति साकुलम् ॥ ११ ॥

स्मरणज्ञानको प्रमाणपना नहीं माननेपर प्रत्यभिज्ञानको प्रमाणपना नहीं आता है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञान करनेमें स्मरणज्ञान कारण है। अप्रमाण ज्ञानसे तो प्रमाणज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। तथा उस प्रत्यभिज्ञानको अप्रमाणपना होनेपर तो चिंताज्ञान व्यवस्थित नहीं हो पाता है। कारण कि चिंताज्ञानमें प्रत्यभिज्ञान कारण पडता है। इसी प्रकार व्याप्तिज्ञानरूप चिंताकी प्रतिष्ठा नहीं होनेपर भला अनुमान ज्ञान कहां प्रवर्त्तसकता है? अनुमानके आत्मलाभ करनेमें व्याप्तिज्ञान कारण पडता है तथा उस अनुमानकी कहीं भी प्रवृत्ति न होनेपर प्रत्यक्षोंको प्रमाणपना नहीं ठहर पाता है। तिस कारण सभी ज्ञापकप्रमाणोंकी शून्यता हो जानेसे प्रमेयपदार्थोंकी भी शून्यता हो हो जायगी और वह शून्यवादियोंकी शून्यता भी प्रमाणके विना नहीं सिद्ध हो पाती है। इस प्रकार "कुछ भी तत्त्व है" इस व्यवस्थाको करनेके लिये बडी भारी आकुलता मच जायगी। किया कराया सर्व नष्ट हुआ जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तस्मात्प्रवर्त्तकत्वेन प्रमाणत्वेत्र कस्यचित् ।
स्मृत्यादीनां प्रमाणत्वं युक्तमुक्तं च कैश्चन ॥ १२ ॥
अक्षज्ञानैरनुस्मृत्य प्रत्यभिज्ञाय चिंतयेत् ।
आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्त्तते ॥ १३ ॥

तिस कारण यहां प्रकरणमें अर्थमें प्रवृत्तिको करानेवाला होनेसे किसी ज्ञानको यदि प्रमाणपना माना जायगा तब तो स्मृति, संज्ञा, आदिकोंको भी प्रमाणपना बन जायगा, यह किन्हीं प्रविष्ट विद्वानोंके द्वारा कहा गया मन्तव्य युक्तिपूर्ण है। इन्द्रियजन्य ज्ञानों करके मोदक आदि अर्थोंमें प्रवृत्ति होती है। उतरते समय नसेनीके डन्डोंका स्मरण कर मनुष्य पग धरनेमें प्रवृत्ति करता है। रोगी पुरुष पूर्वमें आरोग्य करा चुकी औषधिका प्रत्यभिज्ञान कर अवयवी पिण्डमेंसे थोडीसी निकाली हुई उसी औषधिका अथवा उसके सदृश बनायी हुई दूसरी औषधिका सेवन करता है। तर्कज्ञानोंसे धूम, अग्नि, आदिका साहचर्य ग्रहणकर चिंता करेगा और उसके योग्य कार्यको करेगा तथा अर्थकी अभिमुखता करके उसके भेदोंका विशेष निश्चयकर अग्नि आदि साध्यमें अनुमान द्वारा प्रवृत्ति करता है। तथा आप्तवाक्यद्वारा वाच्य अर्थका निर्णयकर देशांतरको गमन करने या रसायन बनानेमें प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार साक्षात् या परंपरासे प्रवृत्ति करादेनापन स्मृति आदिकोंकी प्रमाणताका भी प्रयोजक हो जावेगा, कोई निषेधक नहीं है।

अक्षज्ञानैर्विनिश्चित्य प्रवर्तत इति यथाप्रत्यक्षस्य प्रवर्तकत्वमुक्तं तथा स्मृत्वा प्रवर्तत इति स्मृतेरपि प्रत्यभिज्ञाय प्रवर्तत इति संज्ञाया अपि चिन्तयन् तत् प्रवर्तत इति तर्कस्यापि आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तत इत्यभिनिबोधस्यापि ततस्ततः प्रतिपत्तुः प्रवृत्तेर्यथाभासमाकांक्षानिवृत्तिघटनात् ।

इन्द्रियजन्य ज्ञानों द्वारा विशेष निश्चय करके दृष्टा जीव भोजन आदिमें प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार जैसे प्रत्यक्षको प्रवर्त्तकपना कहा है, तिस ही प्रकार स्मृतिज्ञानसे भी पदार्थका स्मरणकर जीव प्रवर्त्तता है। अतः स्मृतिको भी प्रवर्त्तकपना हो जाओ। प्रत्यभिज्ञान कर भी प्रवृत्ति करता है, अतः संज्ञाको भी प्रवर्त्तकपना हो जाओ। उस प्रत्यभिज्ञानसे जाने हुये की चिंतना करता हुआ प्रवृत्ति करता है। इस ढंगसे तर्कको भी प्रवर्त्तकपना होजाओ। तथा व्याप्तिज्ञानसे संबंधका ग्रहणकर अभिमुखपने करके उसके भेदोंका विशेष निश्चय कर अनुमाता प्रवर्त्त रहा है। इस कारण अभिनिबोध यानी स्वार्थानुमानको भी प्रवर्त्तकपना है। तिस तिस ज्ञानसे प्रतीति करनेवाले प्रतिपत्ताकी प्रवृत्ति हो रही है। प्रतिभासका अतिक्रमण नहीं कर यानी स्मृति आदिकोंसे हुये प्रतिभासोंके अनुसार आकांक्षाओंकी निवृत्ति होना घटित हो रहा है। जिज्ञासित पदार्थकी आकांक्षाको निवृत्ति

करना स्मृति आदिक ज्ञानों द्वारा साध्य कार्य है। अतः प्रवर्तकपना स्मृति आदिकोंमें है। हां, प्रत्यक्षके प्रवर्तकत्वमें जैसे आकांक्षा, योग्यता, पुरुषार्थजन्यप्रवृत्ति, प्राप्ति ये मध्यमें होते हुये आवश्यक हैं, वैसे ही स्मृति आदिकोंके प्रवर्तकपनेमें भी आकांक्षा आदिको मध्यवर्त्ती मानना चाहिये। नहीं तो प्रवृत्ति होने योग्य विषयका उपदर्शन करा देना ही ज्ञानका प्रवर्त्तकपना है। यह ज्ञानके गांठकी तो इतनी टेव कहीं नहीं जायगी। प्रवृत्ति विषयार्थोपदर्शकत्वेन प्रमाणस्यार्थप्रापकत्वं।

तत्र प्रत्यक्षमेव प्रवर्तकं प्रमाणं न पुनः स्मृतिरिति मतमुपालभते।

तिन ज्ञानोंमेंसे एक प्रत्यक्षप्रमाण ही प्रवर्त्तक है। फिर स्मृति आदिक तो अर्थमें प्रवृत्ति करानेवाले नहीं हैं। इस मन्तव्यके ऊपर आचार्य उलाहना देते हैं कि—

अक्षज्ञानैर्विनिश्चित्य सर्व एव प्रवर्त्तते।
इति ब्रुवन् स्वचित्तादौ प्रवर्त्तत इति स्मृतेः॥ १४॥

सम्पूर्ण ही जीव इन्द्रियजन्य ज्ञानों करके पदार्थोंका विशद निश्चयकर प्रवृत्ति करते हैं, इस प्रकार कहरहा बौद्ध अपने आत्मा, शरीर, आदिमें स्मृतिसे भी प्रवृत्ति कररहा है। इस कारण स्मृति भी प्रवर्त्तिका हुई। अर्थात् देवदत्त दर्पणमें देखी हुई अपनी सूरत मूरतका स्मरणकर चित्रमें अपने प्रतिविम्बको देखता हुआ अपना स्मरण करलेता है। पहिली बाल्य कुमार अवस्थाओंका या शरीरके अनेक भागोंका स्मरणकर प्रवृत्ति करता है। पूर्वके ज्ञानोंका या विचारोंका स्मरणकर बही, खातेके अनुसार देना लेना करता है। ध्यान, भावना, शोक, अभीष्टप्राप्ति, आदि प्रवृत्तियोंमें स्मृति ही कारण है।

कथम्—

तो फिर बौद्धोंने स्मृतिको प्रवर्त्तक कैसे नहीं माना? बताओ। उन्हें तो एक एक पद चलनेमें स्मृतिको प्रवर्त्तक कहना पडेगा। अन्यथा स्वकीयचित्त आदिमें स्मृतिसे भला प्रवृत्ति किस प्रकार हो सकेगी?।

गृहीतग्रहणात्तत्र न स्मृतेश्चेत्प्रमाणता।
धारावाह्यक्षविज्ञानस्यैवं लभ्येत केन सा॥ १५॥
विशिष्टस्योपयोगस्याभावे सापि न चेन्मता।
तद्भावे स्मरणोप्यक्षज्ञानवन्मानतास्तु नः॥ १६॥

तिन प्रमाणोंके प्रकरणमें स्मृतिको गृहीतका ग्रहण करनेवाली होनेसे यदि प्रमाणपना नहीं मानोगे तो इस प्रकार धारावाहि इन्द्रियज्ञानको वह प्रमाणपना किस करके प्राप्त हो सकेगा ? बताओ। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि विशिष्ट उपयोगके न होनेपर धारावाहिकज्ञानको वह प्रमाणपना भी नहीं माना गया है, ऐसा कहनेपर तो हम कहते हैं कि हम स्याद्वादियोंके यहां भी स्वार्थकी विशिष्ट नवीन ज्ञप्ति हो जानेपर स्मरणमें भी आद्य इन्द्रियजन्य ज्ञानके समान प्रमाणपना ठहर जाओ।

स्मृत्या स्वार्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ न च बाध्यते।
येन प्रेक्षावतां तस्याः प्रवृत्तिर्विनिवार्यते ॥ १७ ॥

स्मरण ज्ञानके द्वारा स्व और अर्थकी ज्ञप्तिकर प्रवृत्ति होनेमें कोई भी जीव बाधाको प्राप्त नहीं होता है, जिससे कि उस स्मृतिसे निश्चयशाली जीवोंकी घट, पट, आदिमें प्रवृत्ति चलाकर निवारण करदी जाय।

स्मृतिमूलाभिलाषादेर्व्यवहारः प्रवर्त्तकः।
न प्रमाणं यथा तद्वदक्षधीमूलिका स्मृतिः ॥ १८ ॥
इत्याचक्षणिकोनुमानं मामंस्त पृथक्प्रमा।
प्रत्यक्षं तद्धि तन्मूलमिति चार्वाकतागतिः ॥ १९ ॥

स्मरणज्ञानको प्रमाण नहीं माननेवाले बौद्ध या वैशेषिक कहते हैं कि स्मृतिको कारण मान कर हुयी अभिलाषा, पुरुषार्थ, क्रिया, आदिकसे उत्पन्न हुआ व्यवहार यद्यपि प्रवर्त्तक है तो भी प्रमाण नहीं हैं। क्योंकि ये जड हैं यह जैन भी मानते हैं। अथवा स्मृतिको मूल कारण रखते हुये भी प्रमाण नहीं हैं। उन्हींके समान इन्द्रियजन्य ज्ञानको मूलकारण स्वीकारकर उत्पन्न हुई स्मृति भी प्रमाण नहीं है। भले ही वह अर्थमें प्रवृत्ति करानेवाली हो, क्योंकि जिस ज्ञान या जड व्यवहारोंका मूलकारण ज्ञान पड चुका है, उस गृहीतग्राही ज्ञानको या ज्ञानजन्य व्यवहारोंको हम प्रमाण नहीं मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बडे आटोपके साथ बखान रहा वैशेषिक या बौद्धवादी अनुमानको भी पृथक्प्रमाण नहीं माने। क्योंकि उस अनुमानका भी मूल कारण वह प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। हेतुको जाननेमें या पक्षको ग्रहण करनेमें प्रत्यक्षकी आवश्यकता है। दृष्टान्तमें व्याप्तिग्रहण किये गये हेतुके सारिखा ही यह दृश्यमान हेतु है। इस प्रत्यभिज्ञानकी भी अनुमानमें आवश्यकता है। व्याप्तिका स्मरण भी कारण है। प्रत्यक्ष तो प्रसिद्धरूपसे कारण हो ही रहा है। इस प्रकार इस नैयायिक या मीमांसक अथवा बौद्धको चार्वाकपना प्राप्त हो जाता है। क्योंकि चार्वाक ही उन ज्ञानोंको प्रमाण नहीं मानता है, जिनमें कि प्रत्यक्षज्ञान कारण हो जाता है। ऐसी दशामें स्मृति, संज्ञा, चिंता आदिक भला प्रमाण कहां ठहर सकते हैं ? किसी भी ज्ञान

द्वारा जिसका विषय गृहीत नहीं हुआ (अज्ञात) होय, उसीको प्रमाता माननेका यह आग्रह तो चार्वाक बनजानेपर ही शोभता है।

योपि प्रत्यक्षमनुमानं च प्रवर्तकं प्रमाणमिति मन्यमानः स्मृतिमूलस्याभिलाषादेरिव व्यवहारप्रवृत्तेर्हेतोः प्रत्यक्षमूलस्मरणस्यापि प्रमाणतां प्रत्याचक्षीत सोनुमानमपि प्रत्यक्षात्पृथक्प्रमाणं मामंस्त तस्य प्रत्यक्षमूलत्वात् । न ह्यप्रत्यक्षपूर्वकमनुमानमस्ति । अनुमानांतरपूर्वकमस्तीति चेन्न, तस्यापि प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् । सुदूरमपि गत्वा तस्याप्रत्यक्ष पूर्वकत्वेऽनवस्थाप्रसंगात् । तत्पूर्वकत्वे सिद्धे प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानमिति न प्रमाणं स्यात् । ततश्च बाधकत्वप्राप्तिरस्य ।

जो भी वादी प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रवृत्ति करा देनेवाले प्रमाण हैं, इस प्रकार मान रहा है, और मूलभूत स्मृतिके निमित्त कारणसे हुयीं अभिलाषा आदिकसे व्यवहारकी प्रवृत्ति होती है। उसके हेतु अभिलाषा आदिको जैसे प्रमाणपना नहीं माना गया है, वैसे ही प्रत्यक्षको मूल कारण स्थापकर हुये स्मरणकी भी प्रमाणताका प्रत्याख्यान करेगा। वह बौद्ध तो अनुमानको भी प्रत्यक्षसे न्यारा प्रमाण नहीं मान सकेगा। क्योंकि उस अनुमानका मूलकारण प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्षको कारण नहीं मानता हुआ कोई भी अनुमान संसारमें नहीं है। यदि कोई यहां यों कहे कि अनुमानके पीछे होनेवाला दूसरा अनुमान तो प्रत्यक्षपूर्वक नहीं है। धूमका प्रत्यक्ष कर उत्पन्न हुये अग्निके अनुमानसे पुनः उस स्थानकी उष्णताका अनुमान होता है। प्रकृत देशसे देशांतरमें गमन करनेसे सूर्यमें गतिका अनुमान कर पुनः उस अनुमानसे सूर्यमें अतीन्द्रिय गमनशक्तिका अनुमान किया जाता है। लोकव्यवहारमें भी कहीं कहीं चार, पांचतक अनुमानों करके वस्तुका निर्णय करते हैं। अतः सभी अनुमान तो प्रत्यक्षपूर्वक नहीं हुये, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि दूसरे, तीसरे आदि अनुमानका भी परम्परासे कारण हो रहा प्रत्यक्ष ही है। बहुत दूर भी जाकर उस अनुमानको यदि प्रत्यक्षपूर्वक नहीं माना जायगा तो अनवस्था दोषका प्रसंग होगा। क्योंकि व्याप्ति या हेतुको अनुमान द्वारा जानते जानते आकांक्षाकी निवृत्ति नहीं होवेगी। हां, यदि दूर भी जाकर किसी अनुमानके पूर्वमें हुये प्रत्यक्षको कारणपना सिद्ध मानलोगे तो प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान बन गया। इस प्रकार वह अनुमान अब आपके विलक्षण विचार अनुसार प्रमाण नहीं हो सकेगा। और तैसा होनेसे इस बौद्धवादीको अपने ही मतका स्वयं बाधकपना प्राप्त होता है। अनुमानप्रमाण हाथसे निकला जाता है।

स्वार्थप्रकाशकत्वेन प्रमाणमनुमा यदि ।
स्मृतिरस्तु तथानाभिलाषादिस्तदभावतः ॥ २० ॥

स्व और अर्थका प्रकाशकपना होनेसे यदि अनुमानको प्रमाण कहोगे तब तो तिसी प्रकार स्वपरप्रकाशक होनेसे स्मृति भी प्रमाण हो जाओ। हां, ज्ञानभिन्न अभिलाषा, पुरुषार्थ, आदिक तो उस स्वार्थके प्रकाशकपनका अभाव हो जानेसे प्रमाण नहीं हो सकते हैं, अचेतन पदार्थ प्रमाण नहीं हैं।

स्वार्थप्रकाशकत्वं प्रवर्त्तकत्वं न तु प्रत्यक्षार्थप्रदर्शकत्वं नाप्यर्थाभिमुखगतिहेतुत्वं तच्चानुमानस्यास्तीति प्रमाणत्वे स्मरणस्य तदस्तु त एव नाभिलाषादेस्तदभावात्। न हि यथा स्मरणं स्वार्थस्मर्तव्यस्यैव प्रकाशकं तथाभिलाषादिस्तस्य मोहोदयफलत्वात्।

स्व और अर्थका प्रकाशकपना ही ज्ञानमें प्रवर्त्तकपना है। प्रत्यक्ष किये गये अर्थकी प्राप्तिमें उपयोगी झांकी करा देनापन ज्ञानकी प्रवर्त्तकता नहीं है। तथा अर्थकी ओर सन्मुख गति करानेका कारणपना भी ज्ञानकी प्रवर्त्तकता नहीं है। सर्वज्ञ प्रत्यक्षसे या अष्टमहानिमित्त, ज्योतिष, मंत्र, स्वप्न आदि ज्ञानोंसे भूत, भविष्यत् वा देशांतरोंके पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। उनकी प्रदर्शिनी या उनको पकडनेके लिये गति तो नहीं होती है। अतः स्वार्थका प्रकाश कर देना ही ज्ञान द्वारा साध्य कार्य है। वस्तुतः ज्ञान करा देना ही गुरुतर कार्य था। धनार्थीको धन दीख जाना ही अत्यन्त कठिन कार्य है। उसका प्राप्त करलेना तो अतीव सुलभ है। सो वह स्वार्थका प्रकाशकपन अनुमानके भी है। इस कारण यदि अनुमानको प्रमाण माना जायगा तो तिस ही कारण स्मरणको भी वह प्रमाणपना व्यवस्थित हो जाओ। हां, अभिलाषा चलना, हाथ पसारना, आदिक तो प्रमाण नहीं है। क्योंकि उनमें स्व और अर्थका प्रतिभास करादेनापन नहीं है। देखिये, जैसे स्मृति स्मरण करने योग्य स्वार्थोंकी ही प्रकाशिका है, तिस प्रकार अभिलाषा, रति, लोभवृत्ति आदिक परिणतियां स्वार्थोंकी झप्ति नहीं करा पाती हैं। क्योंकि वे अभिलाषा आदिक तो मोहनीयकर्मके उदय होनेपर आत्माके विभावभावरूप फल हैं। ज्ञानस्वरूप या चेतनस्वरूप पदार्थ नहीं है। किन्तु स्वार्थोंका प्रकाश करना तो ज्ञानावरणके क्षयोपशम या क्षय हो जानेपर आत्मका स्वभाविक परिणाम है।

समारोपव्यवच्छेदस्समः स्मृत्यनुमानतः।
स्वार्थे प्रमाणता तेन नैकत्रापि निवार्यते ॥ २१ ॥

स्मृतिज्ञान, और अनुमानज्ञानसे समारोपका व्यवच्छेद होना भी समान है। तिस कारण स्वार्थोंके जाननेमें प्रमाणपना दोनोंमेंसे किसी एकमें भी नहीं रोका जा सकता है। अर्थात् संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, अज्ञान, स्वरूप समारोपका व्यवच्छेद करनेवाले होनेसे स्मृति, और अनुमान दोनों भी प्रमाण हैं।

यथा चानुमायाः क्वचित्प्रवृत्तस्य समारोपस्य व्यवच्छेदस्तथा स्मृतेरपीति युक्तमुभयोः प्रमाणत्वमन्यथाऽप्रमाणत्वापत्तेः ।

एक बात यह भी है कि किसी विषयमें प्रवर्त्त रहे समारोपका निवारण करना जिस प्रकार अनुमान प्रमाणसे हो जाता है, उसी प्रकार स्मृतिसे भी समारोपका व्यवच्छेद हो जाता है, इस कारण दोनोंको प्रमाणपना युक्त है। अन्यथा एक साथ दोनोंको भी अप्रमाणपनेका प्रसंग होगा, अर्थात् जैसे स्मृति अप्रमाण है, वैसे अनुमान भी अप्रमाण हो जायगा।

स्मृतिरनुमानत्वेन प्रमाणमिष्टमेव नान्यथेति चेत् ।

कोई पूर्वपक्ष करता है कि स्मृतिको हम न्यारा तीसरा प्रमाण नहीं मानते हैं। किन्तु आवश्यक माने जा चुके अनुमान प्रमाणपनेसे स्मृतिज्ञानको हम प्रमाण ही इष्ट करते हैं। दूसरे प्रकारोंसे नहीं, इस प्रकार पक्ष करनेपर तो आचार्य उत्तर कहते हैं।

स्मृतिर्न लैंगिकं लिंगज्ञानाभावेपि भावतः ।
संबंधस्मृतिवन्न स्यादनवस्थानमन्यथा ॥ २२ ॥
परापरानुमानानां कल्पनस्य प्रसंगतः ।
विवक्षितानुमानस्याप्यनुमानांतराज्जनौ ॥ २३ ॥

स्मृतिज्ञान (पक्ष) अनुमानप्रमाण नहीं है (साध्य)। क्योंकि व्याप्तिग्रस्त हेतुका ज्ञान न होने पर भी स्मरणज्ञानका सद्भाव देखा जाता है (हेतु)। जैसे कि साध्य और साधनके सम्बन्धरूप व्याप्तिका स्मरण करना अनुमान ज्ञान नहीं है (दृष्टान्त)। यदि ऐसा नहीं होगा तो दूसरे प्रकारोंसे माननेपर अनवस्था होगी। अर्थात् अन्यथा यानी व्याप्ति स्मरणको भी यदि अनुमानरूप माना जायगा तो उस अनुमानमें भी व्याप्ति स्मरणकी आवश्यकता होगी और वह व्याप्तिस्मरण भी तीसरा अनुमान पडेगा। उस तीसरे अनुमानके उठानेके लिये चौथे व्याप्तिस्मरणरूप अनुमान आदिकी आवश्यकता बढती ही जावेगी। इस ढंगसे अनवस्था दोष होगा। क्योंकि विवक्षा प्राप्त हुये अनुमानकी भी अन्य अनुमानोंसे उत्पत्ति माननेपर उत्तरोत्तर अनेक अनुमानोंकी कल्पनाका प्रसंग होता ही चला जायगा।

संबंधस्मृतेर्ह्यनुमानत्वे स्मर्तव्यार्थेन लिंगेन भाव्यं तस्य तेन संबंधस्त्वभ्युपगन्तव्यस्तस्य च स्मरणं परं तस्याप्यनुमानत्वे तथेति परापरानुमानानां कल्पनादनवस्था । न ह्यनुमानांतरादनुमानस्य जनने क्वचिदवस्था नाम ।

जब कि अविनाभाव संबंधकी स्मृतिको अनुमानप्रमाण मानोगे तो स्मरण करने योग्य अर्थके

साथ व्याप्ति रखनेवाला दूसरा हेतु होना चाहिये तभी तो अनुमान उत्पन्न होगा। उसका भी अपने साध्यके साथ संबंध तो स्वीकार करना ही चाहिये। संबंधके बिना कोरा हेतु तो साध्यका ज्ञापक नहीं होता है। फिर उस संबंधका स्मरण भी न्यारा मानना होगा। उस संबंधस्मरणको भी अनुमान प्रमाण कहोगे तो फिर तिस प्रकार अनुमानके लिये भी अन्य व्याप्ति स्मरणरूप अनुमानोंकी उत्थान आकांक्षाकी [illegible] चली जायगी। इस प्रकार आगे आगे होनेवाले अनुमानोंकी कल्पना करनेसे अनवस्था होगी। देखो भाई, दूसरे अनुमानसे अनुमानकी उत्पत्ति होना माननेमें कहीं भी ठहरना नहीं हो पाता है।

सा संबंधस्मृतिरप्रमाणमेवेति चेत्।

कोई कहरहा है कि वह साधन और साध्यके संबंधकी स्मृति तो अप्रमाण ही है। अप्रमाण ज्ञानसे भी अनुमानप्रमाणकी उत्पत्ति हो सकती है। जैसे कि जड इन्द्रियोंसे चेतनप्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाता है। पहिले सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति तो मिथ्याज्ञानसे हुई माननी ही पडेगी। दरिद्रोंकी संतान सेठ और मूर्खोंकी सन्तान पण्डित हो जाती है। अकटक सुवर्णसे कटक सुवर्ण उत्पन्न हो जाता है। कीचसे कमल और खानकी मट्टीसे सोना उपजाता है। ऐसे ही अप्रमाणसे प्रमाण उत्पन्न हो जायगा। हमने व्याप्ति ज्ञानको अप्रमाण माना है। व्याप्तिके स्मरणको भी हम प्रमाण नहीं मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार वैशेषिक कहेंगे तो इसका उत्तर सुनिये।

नाप्रमाणात्मनो स्मृत्या संबंधः सिद्धिमृच्छति।
प्रमाणानर्थकत्वस्य प्रसंगात्सर्ववस्तुनि ॥ २४ ॥

अप्रमाणस्वरूप स्मृति करके साध्य और साधनका अविनाभाव संबंध तो सिद्धिको प्राप्त नहीं होसकता है। क्योंकि यदि अप्रमाणज्ञानोंसे ही अर्थका निर्णय होने लगे तो सम्पूर्ण वस्तुमें यानी वस्तुओंका निर्णय करनेके लिये प्रमाणज्ञानके व्यर्थ हो जानेका प्रसंग होगा। भावार्थ—अप्रमाणसे प्रमाणकी उत्पत्ति मान भी ली जाय एतावता अप्रमाणका विषय तो वस्तुभूत नहीं जाना जा सकता है। अनुमानके लिये व्याप्तिका जानना आवश्यक है। उस संबंधरूप व्याप्तिका सत्यज्ञान तो अनुमानसे नहीं हो सकता है। मिथ्याज्ञानसे बालूको मिट्टी या जल समझकर उससे घडा या पिपासा दूर करना कार्य तो नहीं बन पाता है। यहां तो कार्य करनेवाले वस्तुभूत पदार्थ चाहिये।

न ह्यप्रमाणात् प्रमेयस्य सिद्धौ प्रमाणमर्थवन्नाम। न चाप्रमाणात् किंचित्सिद्ध्यति किंचिन्नेत्यर्धजरतीन्यायः श्रेयान् सर्वत्र तद्विशेषाभावात्।

अप्रमाणसे ही प्रमेयकी सिद्धि होना माननेपर प्रमाणज्ञान तो भला नाममात्रको भी सफल नहीं हो पाता है। यहां यदि कोई यों कहें कि कुछ पदार्थोंकी सिद्धि तो अप्रमाण ज्ञानसे हो

जाती है, और किन्हीं पदार्थोंकी सिद्धि अप्रमाण ज्ञानोंसे नहीं हो पाती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार अर्धजरतीयन्याय तो श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि सभी स्थलोंपर उस अर्थकी स्वपरपरिच्छित्ति स्वरूप सिद्धि करानेवाले पदार्थमें कोई विशेषता नहीं है। भावार्थ—आधे अर्थोंकी प्रमाणसे सिद्धि होना मानना और शेष आधे अर्थोंकी अप्रमाणसे सिद्धि मानना उचित नहीं है, जैसे कि आधी बुड्ढी स्त्रीका अपनेको युवती समझना अनीतिं है। सूर्यके प्रकाश या मेघ वर्षणके सामान्य न्याय सर्वत्र एकसा होता है। अर्थकी समीचीनसिद्धि प्रमाणोंसे ही होती है। इसमें अकाण्डताण्डव कर मठा बढाना व्यर्थ है।

स्मृतिस्तदिति विज्ञानमर्थातीते भवत्कथम् ।
स्यादर्थवदिति स्वेष्टं याति बौद्धस्य लक्ष्यते ॥ २५ ॥
प्रत्यक्षमर्थजन्म स्यादतीतेर्थे सदुद्भवत् ।
तस्य स्मृतिवदेवं हि तद्वदेव च लैंगिकम् ॥ २६ ॥

सौगत कहता है कि "सो वह था" इस प्रकार विज्ञान करना स्मरण है। वह स्मरण अर्थके अतिक्रान्त हो जानेपर उत्पन्न होता हुआ भला अर्थवान् कैसे होगा ? अर्थात् विषयभूत अर्थके भूतकालके पेटमें व्यतीत हो जानेपर स्मरण होता है। उसका ज्ञेय अर्थ वर्त्तमानमें नहीं रहा। फिर स्मरणज्ञानको जैन अर्थवान् कैसे मान सकते हैं। आचार्य बोलते हैं कि इस प्रकार कहनेपर तो बौद्धका अपना गांठका अभीष्ट सिद्धान्त भी चला जाता है, ऐसा ध्वनित होता है। देखिये, बौद्धोंने प्रत्यक्षज्ञानका कारण स्वलक्षण अर्थको माना है। कार्यसे एक क्षण पूर्वमें समर्थ कारण रहा करता है। क्षणिकवादी बौद्धोंके यहां कार्य और कारणका एक ही क्षणमें ठहरना तो नहीं बनता है। प्रत्यक्षज्ञानके उत्पन्न होनेपर उसका कारण स्वलक्षण अर्थ नष्ट हो चुका है। अतः अर्थके अतीत हो जानेपर उस बौद्धके यहां इस प्रकार भले ढंगसे उत्पन्न हो रहा प्रत्यक्षप्रमाण भी स्मृतिके समान अर्थवान् न हो सकेगा। अनेक वर्ष पहिले मरे हुये पुरुषके समान एक क्षण प्रथम मरा हुआ मनुष्य भी धन उपार्जन नहीं कर सकता है। तथा उस प्रत्यक्षके ही समान अनुमानज्ञान भी अतीत अर्थके होनेपर उत्पन्न हुआ सन्ता अर्थवान् नहीं हो सकेगा। निर्विषयज्ञान तो प्रमाण नहीं है।

नार्थाज्जन्मोपपद्येत प्रत्यक्षस्य स्मृतेरिव ।
तद्वत्स एव तद्भावादन्यथा न क्षणक्षयः ॥ २७ ॥

स्मृतिका जैसे अर्थसे जन्म होना युक्तिपूर्ण नहीं है, उसीके समान प्रत्यक्षकी उत्पत्ति भी अर्थसे मानना अनुचित है। स्मृति जैसे विना भी अर्थके हो जाती है, वैसे ही वह प्रत्यक्ष भी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थके विना हो जाता है। देखो, रजतके नहीं होते हुये भी सीपमें रजतका ज्ञान हो जाता है। सर्वज्ञको भूत, भविष्य, पर्यायोंका प्रमाण आत्मक प्रत्यक्ष हो रहा है। यह व्यतिरेक व्यभिचार हुआ। अर्थके विना भी ज्ञान हो गया। आप बौद्ध विचारें तो सही कि पूर्वक्षणवर्त्ती अर्थको कारण मानकर उसके सद्भावसे यदि प्रत्यक्ष उत्पन्न होगा, तब तो सम्पूर्ण प्रत्यक्ष अर्थके नहीं विद्यमान होनेपर ही हुये, अन्यथा यानी कार्यकालमें कारणकी सत्ता मानी जायगी, तब व्यतिरेक व्यभिचार तो टल जायगा, किन्तु आपका माना हुआ क्षणिकपनेका सिद्धान्त गिर गया। क्योंकि दो, तीन, आदि क्षणोंतक स्वलक्षणतत्त्व ठहर गया।

अर्थाकारत्वतोध्यक्षं यदर्थस्य प्रबोधकं।
तत एव स्मृतिः किं न स्वार्थस्य प्रतिबोधिका ॥ २८ ॥

ज्ञानमें अर्थका आकार (प्रतिबिंब) पडजानेसे प्रत्यक्षको जिस कारण अर्थका बोध करानेवाला माना गया है, उस ही कारण स्मृति भी स्व और अर्थकी व्युत्पत्ति करानेवाली क्यों न हो जावे ? अर्थका विकल्प करनारूप आकार दोनों प्रत्यक्ष और स्मृतिमें एकसा है। घूंस खानेवाले अधिकारीके समान आत्माका विभाव चारित्र भले ही अन्याय कर बैठे, किन्तु आत्माका ज्ञानपरिणाम छोटे बालकके समान अन्यायमार्गको नहीं पकडता है। हां, मिष्टान्न देनेवाले ठगके समान चारित्ररूप मोहके विभावसे बरगलाये गये बालकके समान ज्ञान कभी कभी न्यून अधिक बकने लग जाता है। वस्तुतः सभी समीचीनज्ञान सविकल्पक हैं।

अस्पष्टत्वेन चेन्नानुमानेप्येवं प्रसंगतः।
प्राप्यार्थेनार्थवत्ता चेदनुमायाः स्मृतेर्न किम् ॥ २९ ॥

यदि अस्पष्ट प्रतिभास होनेके कारण स्मृतिको अर्थरहित मानोगे तो ठीक नहीं। क्योंकि इस प्रकार अनुमानमें भी अर्थवान् न हो सकनेका प्रसंग आवेगा। यदि अपरमार्थभूत सामान्यरूप ज्ञेय विषयकी अपेक्षासे नहीं किन्तु प्राप्त करने योग्य वस्तुभूत स्वलक्षण अर्थकी अपेक्षासे अनुमानको अर्थवान् कहा जायगा, तब तो प्राप्त करने योग्य अर्थकी अपेक्षासे स्मृतिको भी अर्थवाली क्यों नहीं माना जाता है ? स्मरणकर मुखमें कौर देदिया जाता है। अन्धकार दशामें गृहके अभ्यस्त पदार्थोंका स्मरणकर ठीक वे के वे ही ग्रहण कर लिये जाते हैं।

ततो न सौगतोऽनुपायस्य प्रमाणातामुपयंस्तामपाकर्तुमीशः सर्वथा विशेषाभावात्।

तिस कारण बौद्धवादी अनुमानके प्रमाणपनको स्वीकार करता हुआ उस स्मृतिका खण्डन करनेके लिए समर्थ नहीं हो सकता है। सभी प्रकारोंसे अनुमान और स्मृतिमें कोई प्रामाण्य और

अप्रामाण्यकी प्रयोजक हो रही विशेषतायें नहीं पायी जाती हैं। जिससे कि अनुमानमें प्रमाणपना और स्मृतिमें अप्रमाणपना ठहरा दिया जाय।

मनसा जन्यमानत्वात्संस्कारसहकारिणा।
सर्वत्रार्थानपेक्षेण स्मृतिर्नार्थवती यदि ॥ ३० ॥
तदा संस्कार एव स्यात्प्रवृत्तिस्तन्निबंधना।
तत्रासंभवतोर्थे चेद्व्यक्तमीश्वरचेष्टितम् ॥ ३१ ॥

बौद्ध कह रहे हैं कि अर्थकी नहीं अपेक्षा करनेवाले और केवल भूतमें जाने हुये पदार्थके संस्कारको सहकारी कारण रखनेवाले मनके द्वारा सर्वत्र स्मृति उत्पन्न हो रही है, अतः स्मृति अर्थ वाली नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तब तो संस्कारके होनेपर ही उस संस्कारको कारण मानकर उस अर्थमें प्रवृत्ति होगी। किन्तु अर्थके न होनेपर केवल संस्कारद्वारा प्रवृत्ति होना असंभव है। अतः बौद्धोंका यह मनमानी नियम गढना स्पष्टरूपसे सबके सन्मुख (सरे बाजार) स्वतन्त्र सम्राटपनेकी चेष्टा करना है। अथवा वैशेषिकों द्वारा माने गये स्वतंत्र ईश्वरके सदृश कुछ भी युक्त अयुक्त मनमानी क्रिया करना है।

अनर्थविषयत्वेपि स्मृतेः प्रवर्तमानोर्थे प्रवर्तते संस्कारे प्रवृत्तेरसंभवादिति स्फुटं राजचेष्टितं यथेष्टं प्रवर्तमानात्।

जैसे कोई स्वतन्त्र राजा अपनी सामर्थ्यके घमंडमें आकर चाहे जैसे कर लगा देता है, स्ववर्गका पक्ष करता है, परवर्गको अनुचित दण्ड देता है, उसीके समान यह बौद्ध भी स्पष्ट रीतिसे राजाकी चेष्टा कर रहा है। क्योंकि अपनी इच्छाके अनुसार चाहे जहां प्रवृत्ति कर रहा है। स्मृतिको वस्तुभूत अर्थका विषय करनेवाली नहीं मानता हुआ भी प्रवृत्ति करनेवाला बौद्ध उस स्मृतिके द्वारा अर्थमें प्रवर्त रहा है। संस्कार होनेपर तो प्रवृत्ति होना असम्भव है। अतिवृद्ध अवस्थामें पडे हुए संस्कार बिचारे युवा अवस्थाके समान त्रिवर्गसेवनमें प्रवृत्ति नहीं करा सकते हैं। अर्थात् बौद्धोंने स्मृतिके द्वारा अर्थोंमें प्रवृत्ति होना तो मान लिया, किन्तु स्मृतिको अर्थवती न माना, ऐसा मनचाहा अन्टसन्ट व्यवहार अविचारी मनुष्य ही करते हैं। देखिये, बालक भी स्मरण कर अर्थोंमें प्रवृत्ति करते हुए देखे जाते हैं। अतः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुमानके समान स्मृति भी अर्थवाली है। पतिके परदेश जानेपर जैसे स्त्री पतिवाली बनी रहती है, ऐसे ही अर्थके भूतकालमें जानेपर भी या किसीकी ओटमें हो जानेपर भी स्मृति अर्थवाली है। राजा या सेठकी जेबमें यदि किसी समय रुपया नहीं भी होय तो भी वे अर्थवान हैं।

प्रत्यक्षं मानसं ज्ञानं स्मृतेर्यस्याः प्रजायते ।
सा हि प्रमाणसामग्रीवर्तिनी स्यात् प्रवर्तिका ॥ ३२ ॥
प्रमाणत्वाद्यथा लिंगिलिंगसंबंधसंस्मृतिः ।
लिंगिज्ञानफलेत्याहुः सामग्रीमानवादिनः ॥ ३३ ॥
तदप्यसंगतं लिंगिज्ञानस्यैव प्रसंगतः ।
प्रत्यक्षत्वक्षतेर्लिंगतत्फलायाः स्मृतेरिव ॥ ३४ ॥

जिस स्मृतिसे प्रत्यक्षरूप मानसज्ञान अच्छा उत्पन्न हो जाता है, वही स्मृति प्रत्यक्ष प्रमाणकी कारणसामग्रीमें वर्तती हुई प्रवर्त्तक मानी गयी है । अतः प्रमाणकी कारणसामग्रीमें पतित होनेसे स्मृति मुख्य प्रमाण नहीं है । किन्तु गौणप्रमाण है । जिस ज्ञानकी सामग्रीमें जो स्मृति पडी हुयी है, उपचारसे वह उसी प्रमाणरूप है । जैसे कि अनुमान द्वारा साध्यज्ञानरूप फलको उत्पन्न करनेवाली साध्य और हेतुके संबंधकी अच्छी स्मृति मुख्यप्रमाण नहीं हो रही सन्ती उपचारित प्रमाण है । प्रमाणकी सामग्रीमें पडे हुये ज्ञानोंको मुख्यप्रमाण मानना आवश्यक नहीं है । इस प्रकार कोई सामग्रीको गौणप्रमाण माननेवाले वादी कह रहे हैं । आचार्य कहते हैं कि इनका वह कहना भी असंगत है । क्योंकि यों तो अकेले अनुमानज्ञानको ही प्रमाणपनेका प्रसंग होगा । प्रत्यक्षको प्रमाणपना नष्ट हो जायगा । क्योंकि प्रत्यक्ष तो अनुमानकी सामग्रीमें पडा हुआ है । जैसे कि हेतु और उसका फल साध्यके संबंधको विषय करनेवाली स्मृतिको प्रमाणपना नहीं माना जाता है । अथवा स्मृतिको सामग्रीमें डालकर प्रमाणपनका उसपर अनुग्रह किया है । सामग्रीमें पडजानेसे उस स्मृतिके गांठका स्वतंत्र कार्य अन्यत्र थोडा ही चला जाता है । घटका कारण बननेके पहिले भी तो दण्ड अपनी अर्थक्रियाओंको करता है ।

यस्याः स्मृतेः प्रत्यक्षं मानसं जायते सा तदेव प्रमाणं तत्सामग्र्यंतर्भूतत्वतः प्रवर्तिका स्वार्थे यथानुमानफला संबंधस्मृतिरनुमानमेवेति । वचनसंबंधं प्रमाणमनुमानसामग्र्यंतर्भूतमपीति चेत्—

प्रतिवादी कह रहा है कि जिस स्मृतिसे जो मानस प्रत्यक्ष उत्पन्न होगा वह स्मृति वही प्रमाणकी सामग्रीमें अंतर्भूत होनेके कारण स्वार्थमें प्रवृत्ति करानेवाली मानी जायगी, जैसे कि अनुमान ज्ञान है फल जिसका, ऐसी साध्य साधनोंके संबंधकी स्मृति अनुमानप्रमाणरूप ही है । इस प्रकार अनुमानकी सामग्रीमें अंतर्भूत हो रहा भी संबंधका वचन प्रमाण है, भले ही उपचारसे होय । इस प्रकार कहनेपर तो आचार्य उत्तर करते हैं कि—

प्रत्यक्षवत्स्मृतेः साक्षात्फले स्वार्थविनिश्चये ।
किं साधकतमत्वेन प्रामाण्यं नोपगम्यते ॥ ३५ ॥
पारंपर्येण हानादिज्ञानं च फलमीक्ष्यते ।
तस्यास्तदनुस्मृत्यंतर्याथार्थ्यवृत्तितोर्थिनः ॥ ३६ ॥

प्रत्यक्षके समान स्मृतिका भी अव्यवहित फल जब अपना और अर्थका विशेष निश्चय करना नियत हो रहा है, तो फिर स्वार्थकी प्रमिति करनेमें प्रकृष्ट उपकारक होनेके कारण प्रत्यक्षको जैसे प्रमाण कहा जाता है, उसीके समान स्वार्थके निश्चय करानेमें करण होनेसे स्मरणको प्रमाणपना क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है ? और परम्परासे उस स्मरणज्ञानके फल भी प्रत्यक्षके फल समान हेयका परित्याग करना, उपादेयका ग्रहण करना, उपेक्षा करना, आदि या तद्विषयकज्ञान होते हुये देखे जा रहे हैं। क्योंकि अर्थकी अभिलाषा रखनेवाले जीवकी उस स्मृतिके अनुसार स्मरणके भीतर आये हुये अर्थमें यथार्थरूपसे प्रवृत्ति हो रही है। आंखोंको मचिकर या अंधेरेमें भी जीव स्मरण द्वारा अभीष्ट पदार्थकी प्राप्ति और अनिष्टपदार्थका परित्याग कर देते हैं।

ततो न योगोपि स्मृतेरप्रमाणत्वं समर्थयितुमीशः प्रत्यक्षादिप्रमाणरूपत्वं वा, यथोक्तदोषानुषंगात् ।

तिस कारण नैयायिक और पातञ्जलमती भी स्मृतिके अप्रमाणपनका समर्थन करनेके लिये प्रभु नहीं हैं। अथवा स्मृतिको प्रत्यक्ष, अनुमान आदि स्वरूप भी नहीं सिद्ध कर सकता है अर्थात् आवश्यक माने गये प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें स्मृतिका अंतर्भाव नहीं हो सकता है। क्योंकि पूर्वमें कहे अनुसार दोषोंका प्रसंग होगा। यहांतक स्मृतिज्ञानको न्यारा प्रमाण साध कर मतिज्ञानरूप सिद्ध कर दिया गया है। अब प्रत्यभिज्ञानका विचार चलाते हैं।

प्रत्यभिज्ञाय च स्वार्थं वर्तमानो यतोर्थभाक् ।
मतं तत्प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणं परमन्यथा ॥ ३७ ॥

जिस कारणसे कि स्व और अर्थका प्रत्यभिज्ञान करके प्रवृत्ति कर रहा पुरुष अर्थोको प्राप्त करनेवाला हो रहा है, उस कारण वह दर्शन और स्मरणको कारण मानकर उत्पन्न हुआ प्रत्यभिज्ञान तो प्रमाण माना गया है। किन्तु जो दूसरा प्रत्यभिज्ञान यथार्थकी ज्ञप्ति करानेवाला नहीं है। वह अन्यथा यानी अन्य प्रकार प्रमाणभास होकर प्रत्यभिज्ञानाभास है।

तदुद्विधैकत्वसादृश्यगोचरत्वेन निश्चितं ।
संकीर्णव्यतिकीर्णत्वव्यतिरेकेण तत्त्वतः ॥ ३८ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तेन लूनपुनर्जातमदनांकुरगोचरं ।
सादृश्यप्रत्यभिज्ञानं प्रमाणं नैकतात्मनि ॥ ३९ ॥
एकत्वगोचरं च स्यादेकत्वे मानमंजसा ।
न सादृश्ये यथा तस्मिंस्तादृशोयमिति ग्रहः ॥ ४० ॥

वह प्रत्यभिज्ञान दो प्रकारका है । पहिला तो भूत और वर्त्तमानकालकी पर्यायोंमें रहनेवाले एकपनको विषय करनेवाला रूपसे निश्चित हो रहा एकत्व प्रत्यभिज्ञान है । और दूसरा दृष्ट और दृश्यमान पदार्थोंमें सादृश्यको विषय करनेवालापनसे निर्णीत हो रहा सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है । यह प्रत्यभिज्ञान अनेक धर्मोंकी युगपत् प्राप्ति होजानारूप संकर दोष और परस्परविषयोंमें गमन करनारूप व्यतिकर दोषसे दूर रहनेके कारण यथार्थरूपसे ठीक उसी वस्तुकी ज्ञप्तिको करा देता है । तिस कारण काट दिये गये किन्तु पुनः उत्पन्न हो गये ऐसे केश, नख, औषधी, आदिको विषय करनेवाला सादृश्य प्रत्यभिज्ञान उनके एकपनस्वरूपको जाननेमें प्रमाण नहीं है । अर्थात् काटे जाचुके पीछे नये दूसरे उत्पन्न हुये केशोंको कतरनेके लिये कैंचीकी समर्थताका प्रश्न होनेपर ये वे ही केश हैं, जो एक मास पहिले कतरे थे यों परमार्श हो जाता है । किन्तु विचार किया जाय तो वे पहिले केश तो कूडेमें पडकर धूरे पर पहुंच चुके हैं । ये सन्मुख स्थित होरहे तो न्यारे नये उत्पन्न हुये केश हैं । अतः इनमें सदृशपनेका प्रत्यभिज्ञान तो " ये उनके सरीखे हैं " ठीक है । किंतु " वे के वे ही ये केश हैं " यह प्रत्यभिज्ञानाभास है, ऐसे ही नखोंमें समझना । तथा सहारनपुरकी स्टेशनपर कोई यों कहे कि बम्बई ऐक्सप्रेस यह वही रेलगाडी है, जो कि पेशावरसे चलकर कल बम्बईको गई थी । यहां भी उस रेलगाडीके सदृश दूसरी गाडीमें एकपनको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान आभास है । इसी प्रकार कल और आजके देवदत्तमें एकपनको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान एकपनेमें तो निर्दोष प्रमाण है । किन्तु सदृशपनेमें प्रमाण नहीं है । जैसे कि तीसरे दिनके उसी सूर्यमें यह उसके सदृश है, ऐसा ग्रहण करना प्रत्यभिज्ञानाभास है । भावार्थ—युगल पैदा हुये दो समान लडकोंमें उसीको उसके सदृश और दूसरे सदृशको वही कहना सादृश्य प्रत्यभिज्ञानाभास और एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास है । झूंठे ज्ञानोंको समीचीन ज्ञानोंसे भिन्न समझना चाहिये ।

न ह्येवं सादृश्यैकत्वप्रत्यभिज्ञानयोः संकरव्यतिकरव्यतिरेको लौकिकपरीक्षकयोरसिद्धोऽन्यत्र विभ्रमात् । ततो युक्तं स्वविषये नियमेन प्रवर्तकयोः प्रमाणत्वं प्रत्यक्षादिवत् ।

इस प्रकार सादृश्य और एकत्वको जाननेवाले प्रत्यभिज्ञानोंमें एकम एक हो जाना या कुछ धर्मोंका परस्पर बदल जानारूप इन दो दोषोंका रहितपना लौकिक और परीक्षक जनोंको असिद्ध नहीं है । भ्रमज्ञानसे रहित हो रहे अन्य अतिरिक्त सम्यग्ज्ञान स्थलोंपर सर्वत्र ठीक प्रतीति हो

जाती है अर्थात् कोई मूर्ख बुद्धू भले ही उसीके सदृशको वही और उसीको उसके सदृश जान ले, किन्तु विचारशील पुरुष ऐसी मोटी भूल नहीं कर बैठते हैं। तभी पतिव्रतापन, अचौर्य धर्म, सत्यव्रतोंकी स्वरक्षा हो पाती है। एक व्यभिचारिणी स्त्रीने ब्रह्माद्वैतका पक्ष लेकर अपनी इष्टसिद्धिके लिये सखीसे कहा था कि " ब्रह्मैव सत्यमखिलं न हि किंचिदस्ति। तस्मान्न मे सखि परापरभेदबुद्धिः। जारे तथा निजपतौ सदृशोऽनुरागो लोकाः किमर्थमसतीति कदर्थयन्ति "। किंतु ऐसा संकरपना जैनसिद्धान्तमें इष्ट नहीं किया है। तथा एक स्वार्थीने दूसरेका धन अपहरण करनेके लिये " परद्रव्येषु लोष्ठवत् आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः " कहकर अपना प्रयोजन गांठा था। परन्तु ऐसा व्यतिकरपना भी आर्हतोंको अभिमत नहीं है। श्री अकलंकदेवने " स्वपरादानापोहन-व्यवस्थापार्थं हि वस्तुनो वस्तुत्वं " अपने स्वरूपका ग्रहण करना और परके स्वरूपका त्याग करना ही वस्तुका वस्तुपन कहा है। तिस कारण अपने अपने विषयमें नियमसे प्रवृत्ति करानेवाले दोनों प्रत्यभिज्ञानोंको प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिके समान प्रमाणपना युक्त है। प्रवर्तकपनका अर्थ तो प्रवृत्ति करने योग्य विषयको प्रदर्शित करदेना मात्र है। प्रमेयमें प्रवृत्ति होना तो इच्छा, पुरुषार्थ, योग्यता आदिके अनुसार पीछे होती रहेगी या नहीं भी हो, ज्ञान इसका उत्तरदायी नहीं है।

तदित्यतीतविज्ञानं दृश्यमानेन नैकतां।
वेत्ति नेदमिति ज्ञानमतीतेनेति केचन ॥ ४१ ॥
तत्सिद्धसाधनं ज्ञानद्वितयं ह्येतदिष्यते।
मानदृष्टेर्थपर्याये दृश्यमाने च भेदतः ॥ ४२ ॥
द्रव्येण तद्बलोद्भूतज्ञानमेकत्वसाधनम्।
दृष्टेक्ष्यमाणपर्यायव्यापिन्यन्यत्ततो मतम् ॥ ४३ ॥

कोई कहते हैं " वह था " ऐसा भूतपदार्थको जाननेवाला विज्ञान (स्मरण) भूत अर्थके प्रत्यक्ष द्वारा देखे गये वर्त्तमान अर्थके साथ हो रहे एकपनेको नहीं जान पाता है। तथा " यह है " ऐसा वर्त्तमानको जाननेवाला प्रत्यक्षज्ञान अतीत पदार्थके साथ हो रहे वर्तमान अर्थके एकपनको नहीं जान सकता है। प्रत्यक्षज्ञान अविचारक है, इस प्रकार कोई साधु विद्वान् कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि वह किसीका कहना हमको सिद्धसाधन है। कारण कि भूत और वर्त्तमान अर्थको जाननेवाले ये दो स्मरण और प्रत्यक्षज्ञान हैं। क्योंकि पूर्वमें धारणा ज्ञानसे देखे हुये अर्थपर्याय और वर्त्तमानमें देखे जा रहे अर्थपर्यायमें विषयभेद रूपसे दो ज्ञान वर्त्तरहे हैं। वे एक दूसरेके विषयको नहीं छू सकते हैं। हां, उन दोनों ज्ञानोंकी सामर्थ्यसे पश्चात् उत्पन्न हुआ तीसरा प्रत्यभिज्ञान तो देखी जा चुकी और देखी जा रही पर्यायोंमें द्रव्यरूपसे व्याप रहे एकत्वको

साध रहा है। जो कि ज्ञान उन स्मरण और प्रत्यक्ष दोनों ज्ञानोंसे न्यारा माना गया है। तथा उसका विषय एकत्व भी उन दोनों पर्यायोंसे निराला है। अतः अपूर्व अर्थका ग्राहक होनेसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है।

न हि सांप्रतिकातीतपर्याययोर्दर्शनस्मरणे एव तत्प्रत्यभिज्ञानं यतो दोषावकाशः स्यात्। किं तर्हि? तद्व्यापिन्येकत्र द्रव्ये संकलनज्ञानं।

वर्त्तमानकी पर्यायको जाननेवाला दर्शन और भूत पर्यायको जाननेवाला स्मरण ही वह प्रत्यभिज्ञान नहीं है, जिससे कि प्रत्यभिज्ञानके अप्रमाणपन, व्यर्थपन, गृहीतग्राहीपन, आदि दोषोंको स्थान मिल सके। तो प्रत्यभिज्ञान क्या है? इसका उत्तर यही है कि उन भूत और भविष्यकी दोनों पर्यायोंमें व्यापनेवाले एकद्रव्यमें यानी द्रव्यको विषय करनेके लिये एक जोडरूप ज्ञान करना प्रत्यभिज्ञान है।

नन्वेवं तदनादिपर्यायव्यापि द्रव्यविषयं प्रसज्येत नियामकाभावादिति चेन्न, नियामकस्य सद्भावात्।

प्रत्यभिज्ञानके विषयमें कोई वादी शंका करता है कि जब अतीत और वर्तमान पर्यायोंमें व्यापक हो रहे एक द्रव्यको प्रत्यभिज्ञान जानता है, तब तो अनादिकालकी भूत पर्यायोंमें व्यापनेवाले द्रव्यको विषय कर लेनेका प्रसंग होगा। क्योंकि आप जैनोंके पास कोई नियम करने वाला कारण नहीं है कि दश पांच वर्ष पूर्व हीकी पर्यायों और वर्तमान पर्यायमें रहनेवाले एकपनसे आक्रान्त द्रव्यको तो प्रत्यभिज्ञान जाने, किन्तु असंख्य वर्ष या अनन्त वर्ष पहिले व्यतीत हो चुकी पर्यायोंमें वर्त रहे द्रव्यको नहीं जान पावे। हेतुके विना कोई विशेष नियम नहीं होता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि नियम करानेवाले हेतुका हम जैनोंके यहां सद्भाव है। सो सुनिये।

क्षयोपशमतस्तच्च नियतं स्यात्कुतश्चन।
अनादिपर्ययव्यापि द्रव्यसंवित्तितोस्ति नः॥ ४४॥

वह नियत हो रहे पूर्वपर्यायोंमें वर्त्त रहे द्रव्यको विषय करनेका नियम तो क्षयोपशमसे हो जाता है। और वह क्षयोपशम किसी भी कषायोंकी विलक्षण मन्दता या कालाणुओंके निमित्तसे तारतम्यको लिये हुये उत्पन्न हुई क्षयोपशमकी जाति आदि नियामकोंसे नियमित हो रहा है। हमारे यहां प्रत्यभिज्ञान द्वारा अनादिकालकी पर्यायोंमें व्याप रहे द्रव्यकी संम्वित्ति होना भी माना है। इस कारण पूर्वोक्त दोषका प्रसंग नहीं है। श्रुतज्ञानका विषय बडा लम्बा चौडा है। अथवा "नानादि" पाठको शुद्ध माननेपर हम कहते हैं कि वह प्रत्यभिज्ञान भूतकालकी अनादि पर्यायोंमें व्याप रहे द्रव्यकी संवित्ति नहीं करा पाता है।

तया यावत्स्वतीतेषु पर्यायेष्वस्ति संस्मृतिः ।
केन तद्व्यापिनि द्रव्ये प्रत्यभिज्ञास्य वार्यते ॥ ४५ ॥

उस पूर्वपर्यायोंकी तत्कालीन विशेष धारणारूप संवित्तिसे अब जितनी यथायोग्य अतीत पर्यायोंमें अच्छी स्मृति हो रही है, उनमें व्यापनेवाले द्रव्यमें इस अन्वेता जीवको प्रत्यभिज्ञा होना किसके द्वारा निवारण किया जासकता है, अर्थात् उन पर्यायोंमें वर्त्तरहे द्रव्य विषयके प्रत्यभिज्ञानको कोई नहीं रोक सकता है ।

बालकोहं य एवासं स एव च कुमारकः ।
युवको मध्यमो वृद्धोऽधुनास्मीति प्रतीतितः ॥ ४६ ॥

जो ही मैं पहिले बालक था, और जो ही मैं कुमार अवस्थामें था, तथा जो ही मैं युवा था, अथवा मध्यम (अधेड) उम्रका था, वही मैं इस समय बूढा हो गया हूं, ऐसी प्रतीतियां हो रही हैं । कोई कोई तो जातिस्मरण अथवा अवधिज्ञान या महानिमित्त ज्ञानसे सैकडों जन्म पहलेकी अवस्थाओंका जोडरूप ज्ञान कर लेते हैं। विशिष्ट क्षयोपशम होना चाहिये। पुराण ग्रन्थोंमें तिर्यंचोंतकके जातिस्मरण होना बताया है । वर्त्तमानमें भी अनेक लडके, लडकियां, और युवा अपने पूर्व जन्मकी बातोंको स्मरण कर वहां जाकर ठीक ठीक बता देनेवाले देखे जा रहे हैं । क्या किया जाय ! गर्भ, जन्मकी अवस्थायें अतीव दुःखसहन की हैं । क्षयोपशमको बिगाडनेके अनेक कारण वहां उपस्थित हैं । अतः अनेक जीवोंके पूर्वजन्मकी चेष्टाओंका स्मरण नहीं होने पाता है । जब कि युवा छात्र भी प्रकाण्ड गुरुकी बताई हुई गंभीर चर्चाको दूसरे दिन भूल जाता है । तीव्र रोग हो जानेपर पढे हुये ग्रन्थोंको भूल जाता है, तो ऐसी संक्लेशकारिणी परिस्थितिमें उत्पन्न हुये मुल्लड जीवको पहिले जन्मोंकी दशाका स्मरण करना कष्टसाध्य है । हां, अनेक विषयोंका विलक्षण क्षयोपशम द्वारा स्मरण भी हो जाता है । नारकियोंके दुख सहनेमें विभंगज्ञानका स्फुरण हो जाता है । अनेक जीवोंको दुःख पडनेपर भगवान्का नाम लेना याद आता है । एक विद्वान्का स्तोत्र वाक्य है कि न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन् पादद्वयं ते प्रजाः । हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः । अत्यंतस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमंडलो । ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः " अर्थात् हे भगवन् ! स्नेहसे कोई तुम्हारी शरण नहीं पकडता है । जब संसारका घोर दुःख इस जीवको सताता है तो अवश्य प्राप्त हो जानेवाले सुख, शान्तिकी अभिलाषासे आपका आश्रय पकडता है। जैसे कि जेठमासके सूर्यसे संतप्त हुआ पुरुष शीतलछाया, जल, चांदनी, आदिमें अनुराग करने लग जाता है । बात यह है कि अनेक जीव पहले दुःखको दूर करनेके लिये धर्मका आश्रय लेते हैं । पश्चात् स्वाभाविक आत्मीयसुखमें निमग्न होकर धर्मका पालन करते हैं । कालान्तरमें धर्ममय बन

जाते हैं। भगवान्के दर्शन पूजनसे या सत्यव्रत या ब्रह्मचर्य धारनेसे अथवा सामायिक करनेसे आत्मीक सुख मिलेगा, यह कार्यकारणभाव बताना व्यवहारमात्र है। वस्तुतः विचारा जाय तो परमात्माका दर्शन, पूजन करना, सत्य बोलना, ब्रम्हचर्य पालन करना, सामायिक करना ही सुख, शान्ति, और परमात्माका स्वरूप है। प्रकरणमें यह कहना है कि क्षयोपशमके अनुसार स्मरण की गई पूर्वपर्यायोंमें रहनेवाले अन्वेता द्रव्यका प्रत्यभिज्ञान हो जाता है।

स्मृतिः किन्नानुभूतेषु स्वयं भेदेष्वशेषतः।
प्रत्यभिज्ञानहेतुः स्यादिति चोद्यं न युक्तिमत ॥ ४७ ॥
तादृक्षयोग्यताहानेः तद्भावेत्वस्ति सांगिनां।
व्यभिचारी हि तत्रान्यो हेतुः सर्वः समीक्ष्यते ॥ ४८ ॥

स्वयं अनुभव किये गये भेदप्रभेदोंमें पूर्णरूपसे स्मृति क्यों नहीं होती है ? जो कि स्मरण किये गये सभी भेद, प्रभेद, अंश, उपांशोंमें होनेवाले प्रत्यभिज्ञानका हेतु हो जाय, यह आक्षेप-पूर्ण प्रश्न उठाना युक्त नहीं है। क्योंकि तैसे अंश उपांशोंके स्मरण करनेकी योग्यता नहीं है। हां, जिन जीवोंमें भेद प्रभेदोंको स्मरण करनेकी क्षयोपशमरूप योग्यता विद्यमान है, उनको तो सब अंशोंका स्मरण हो ही जाता है। देखिये, कोई स्थूलबुद्धि विद्वान् प्रतिवादी द्वारा कहे गये वाक्योंका स्मरण नहीं होनेके कारण अनुवाद नहीं कर सकते हैं। तथा अन्य कोई अच्छे विद्वान् ठीक ठीक पंक्तियोंका अनुवाद करदेते हैं। कोई कोई विशिष्ट अवधान करनेवाले वादी तो प्रतिवादीके कहे हुये वर्ण वर्णका, श्वास, उच्छ्वासोंकी संख्याका और मध्यमें खांसने, डकार लेने, तकका स्मरण रखकर पुनः वैसाका वैसा ही अनुवाद करदेते हैं। सर्वत्र संस्कारके अनुसार स्मरण होना देखा जाता है। कोई मनुष्य एक छटांक भी दूध नहीं पीसकता है। दूसरा सेठ चार छटाक दूध पीता है। तीसरा विद्वान् एक सेर दूध पीजाता है। कोई कोई मल्ल दस सेर या पन्द्रह सेर दूधको चढा जाते हैं। इसमें जठराशय, अग्नि, शरीरबलके अतिरिक्त और क्या कारण कहा जाय ? वे जठराग्नि आदि कभी ऐसी क्यों हुईं। इसमें भी भोगान्तरायका क्षयोपशम, व्यायाम करना, पुरुषार्थ संपादन करना, निश्चितता आदिक ही निमित्त कारण कहे जासकते हैं। उन क्षयोपशम आदि कारणोंके भी कषायोंकी मंदता, दयाभाव, अभयदान, कालाणुओंके द्वारा हुई वर्तना, पुण्य, पाप आचरण ही नियामक हेतु हैं। जैनसिद्धान्तमें कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति होना इष्ट किया है। ऋद्धि, मंत्र, चमत्कार, इन्द्रजाल, विक्रिया, अतिशय, आदिमें भी कोई पोल नहीं चलती है। इनमें भी कार्यकारणभाव है। चिंतामणि रत्न, चित्रावेल, अक्षीण महानस ऋद्धि भी कारणोंको जुटा देती हैं, तब कार्य होता है। एक ऋद्धिधारी मुनिके भोजन कर जानेसे उस कसैंडीमें करोडों

जीवोंके भोजनार्थ व्यंजन तैयार हो जाता है। इसमें कौन बडे आश्चर्यकी बात है ? जब कि एक प्रदेशपर सम्पूर्ण लोकमें भरी हुई अनन्तानंत परमाणुऐं समा जासकती हैं और कैई स्थूल पदार्थ भी एक स्थानपर धरे हुये हैं तो इधर, उधरके अनन्त स्कन्धोंका क्षीरान्न (खीर) रूप परिणाम होता हुआ करोडों क्या असंख्यजीवोंको भी तृप्त कर सकता है। अभी क्या हुआ ? तथा कल्पवृक्ष अनेक भोजन, प्रकाश, आदिके साधनोंको दे देते हैं। इसमें कौन बडा भारी चमत्कारका हौआ बैठा है ? हम दिन रात देखते हैं, अडहर एक वर्षसे कुछ कममें फलती है। गेहूँ छह महीनेमें फलते हैं। बाजरा तीन महीनेमें फलता है। गाजर डेढ महीनेमें तैयार हो जाती है। पोदीना पन्द्रह दिनमें उग जाता है। घास या मेथी और भी कमती दिनोंमें उपज आते हैं। इसी प्रकार घटते घटते कल्पवृक्षसे अंतर्मुहूर्त्तमें पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। यहां हमें कारण कुछ अधिक मिलाने पडते हैं। किन्तु भोगभूमिमें थोडेसे कारण मिलानेपर ही उनके पुण्य अनुसार झट पदार्थ मिल जाता है। जैसे कि मारवाडी कुयेंमेंसे पानी निकालनेके लिये लम्बी रस्सी, कलशा, गर्री, आदि कारण जुटाने पडते हैं। किन्तु स्वल्प गहरे कुए या नदी अथवा नलमेंसे झट पानी निकाल लिया जाता है। पुरानी चालके अनुसार दीपक जलानेके लिये तेल, बत्ती, पात्र, चकमकपत्थर, सूत आदिकी आवश्यकता पडती है। किन्तु बिजलीका दीपक बटन दबानेसे ही प्रद्योतित हो जाता है। खांड, वर्त्तन, कपडे, गृह, गहने, आदिक भी मशीनसे अति शीघ्र बनाये जा सकते हैं। हां, अनेक कार्योंको करनेके लिये उन कारणोंकी भी आवश्यकता है, जो कि हमारी बहिरंग इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं, अथवा यहां विद्यमान नहीं हैं। तभी वे कार्य यहां नहीं हो सकते हैं। केसर सर्वत्र नहीं उपज पाती है। वस्तुओंके स्वात्मभूत हो रहे अनेक स्वभाव भी नाना कार्योंको कर रहे हैं। निमित्त नैमित्तिक संबंध अचिन्त्य है। प्रकरणमें नियत स्मृति होनेका कारण स्मृतिज्ञानावरणका क्षयोपशम विशेष है। उसमें अन्य अध्ययन, अभ्यास, आदिक सभी हेतु व्यभिचारी हो रहे भली भांति देखे जा रहे हैं। स्मरणका अंतरंग अव्यभिचारी कारण योग्यतारूप क्षयोपशम ही है। तभी तो एक विद्यालयमें एक ही गुरुसे पढे हुये एक श्रेणीके छात्रोंकी व्युत्पत्ति अपने अपने क्षयोपशम अनुसार न्यून, अधिक है।

स्मरणस्य हि नानुभवनमात्रं कारणं सर्वस्य सर्वत्र स्वानुभूतेर्थे स्मरणप्रसंगात्। नापि दृष्टसजातीयदर्शनं तस्मिन् सत्यपि कस्यचित्तदनुपपत्तेर्वासनाप्रबोधः कारणमिति चेत्, कुतः स्यात्। दृष्टसजातीयदर्शनादिति चेन्न, तद्भावेपि तदभावात्। एतेनार्थित्वादिस्तद्धेतुः प्रत्याख्यातः, सर्वस्य दृष्टस्य हेतोर्व्यभिचारात्।

पदार्थोंका पहिली अवस्थामें प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, आदिरूप केवल अनुभव कर लेना ही स्मरणका कारण नहीं है। यों तो सब जीवोंको सभी अपने अनुभूत विषयोंमें स्मरण होनेका

प्रसंग होगा। किन्तु सभी देखी जानी हुई वस्तुओंका तो स्मरण नहीं होता है। लाखों करोडों, अनुभूत पदार्थोमेंसे एकका किसीको स्मरण होता है। अन्यथा श्री अकलंकदेवके समान सभी शिष्योंको गुरुके एक वार कह देनेपर सूक्ष्मसिद्धान्तोंका भी कालान्तरतक स्मरण बना रहना चाहिये। पेंठ, (बाजार) मेला उपवन आदिमें देखी हुई सम्पूर्ण वस्तुओंका बहुत दिनोंतक स्मरण होता रहना चाहिये। किन्तु शतावधानी सहस्रावधानीको भी सबका स्मरण नहीं रहता है। तथा देखे हुये पदार्थके समानजातिवाले अन्य किसी पदार्थका दीखजाना भी स्मरणका कारण नहीं है। क्योंकि उस सजातीय पदार्थका दर्शन होनेपर भी किसी किसीके स्मरणज्ञान नहीं बनता है। यह अन्वय व्यभिचार है, जो कि उनके कार्यकारण भावको बिगाड देता है। यदि स्मरणका कारण पहिली लगी हुई वासनाओंका जागृत होना है, यह तुम कहोगे, तो हम पूछेंगे कि वह वासनाओंका प्रबोध भला किस निमित्तसे हुआ ? बताओ। देखे हुये पदार्थके सजातीय पदार्थके देखनेसे वासनाका उद्बोध होना मानो यह तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस सजातीयके देखनेपर भी वे वासनायें प्रबुद्ध नहीं हो पाती हैं। प्रतिदिन रुपये, घोडे, गृह,मनुष्य, आदि हजारों उन उनके सदृश पदार्थोंको देखते हैं, किन्तु किस किसकी वासना उद्बुद्ध होती है ? किसीकी भी नहीं। इस कथनसे किसी देखी हुई वस्तुकी अभिलाषा रखना, प्रकरण प्राप्त होजाना, पटुता, शोक, वियोग, आदि बहिरंग उपाय भी उस स्मरणके अव्यभिचारी हेतु हैं, इसका भी खण्डन करदिया गया है। सभी देखे हुये हेतुओंका अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकिव्यभिचार हो रहा है। वस्तुभूत ठोस कार्योंके साधक कारणोंका विचार करनेवाले न्यायशास्त्रमें काव्योंकी या ग्रामीणोंके उपाख्यानोंकीसी पोली कार्यकारणता इष्ट नहीं की जाती है। हम क्या करें। उससे कार्य नहीं हो पाता है।

तदविद्यावासनाप्रहाणं तत्कारणमिति चेत्, सैव योग्यता स्मरणावरणक्षयोपशमलक्षणा तस्यां च सत्यां सदुपयोगविशेषा वासना प्रबोध इति नाममात्रं भिद्यते। ततो यत्रार्थेनुभवः प्रवृत्तस्तत्र स्मरणावरणक्षयोपशमे सत्यंतरंगे हेतौ बहिरंगे च दृष्टसजातीयदर्शनादौ स्मरणस्योत्पत्तिर्न पुनस्तदभावेतिप्रसंगादिति नानादिद्रव्यपर्यायेषु स्वयमनुभूतेष्वपि कस्यचित्स्मरणं, नापि प्रत्यभिज्ञानं तन्निबंधनं तस्य यथास्मरणं, यथाप्रत्यभिज्ञानावरणक्षयोपशमं, च प्रादुर्भावादुपपन्नं तद्वैचित्र्यं योग्यतायास्तदावरणक्षयोपशमलक्षणाया वैचित्र्यात्।

यदि उस स्मरणीय पदार्थकी लगी हुई अविद्यावासनाका प्रकृष्ट नाश हो जाना उस स्मरणका कारण माना जायगा ऐसा होनेपर तो वही योग्यता हमारे यहां स्मरणावरण कर्मका क्षयोपशम स्वरूप इष्ट की गई है। और उस योग्यताके होते संते श्रेष्ठ उपयोग विशेषरूप वासना (लब्धि) का प्रबोध हो जाता है। इस ढंगसे तो हमारे यहां और तुम्हारे यहां केवल नामका भेद है। अर्थसे कोई भेद नहीं है, अभिप्राय एक ही पड गया। तिस कारण यह सिद्ध

हुआ कि जिस अर्थमें अनुभव प्रवर्त्तता है, वहां स्मरणावरणका क्षयोपशमस्वरूप अंतरंग कारण होनेपर और दृष्टपदार्थके सजातीय अर्थका दर्शन, अभिलाषा, प्रकरण, शोक, आदिक बहिरंग कारणोंके होनेपर स्मरणकी उत्पत्ति हो जाती है। हां, फिर उनके अभाव होनेपर कभी नहीं स्मरण होता है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा अर्थात् देखे हुये सबका या अदृष्टपदार्थोंका भी स्मरण हो जावेगा। अतः कहना पडता है कि स्वयं अनुभूत कियीं जा चुकीं भी अनादिकालके द्रव्यकी पर्यायोंमें किसीको भी सभी स्मरण नहीं हो जाते हैं तथा उस स्मरणको कारण मानकर होनेवाला प्रत्यभिज्ञान भी सभी पर्यायोंमें नहीं हो पाता है। क्योंकि स्मरणके अनुसार (अतिक्रम नहीं कर) और प्रत्यभिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप अंतरंग कारणके अनुकूल होनेपर (अनतिक्रम्य) उस प्रत्यभिज्ञानका जन्म होता है। अतः उस प्रत्यभिज्ञानकी विचित्रता युक्तिओंसे बन जाती है। जब कि उस प्रत्यभिज्ञानका आवरण करनेवाले कर्मके क्षयोपशमस्वरूप योग्यतायें विलक्षण प्रकारकी हो रही हैं, तो कार्योंके विचित्र होनेमें क्या चित्र (आश्चर्य) है ? कार्योंसे ही तो कारणोंका अनुमान कर लिया जाता है।

कुतः पुनर्विचित्रा योग्यता स्यादित्युच्यते;—

फिर यह विचित्र प्रकारकी योग्यता किस निमित्तसे हो जावेगी ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्यों द्वारा समाधान कहा जाता है।

मलावृतमणेर्व्यक्तिर्यथानेकविधेक्ष्यते।
कर्मावृतात्मनस्तद्वद्योग्यता विविधा न किम् ॥ ४९ ॥

मलसे ढकी हुई मणिकी मलके कैई तारतम्यसे दूर हो जानेपर जैसे अनेक प्रकारकी अभिव्यक्ति (स्वच्छता) देखी जाती है, उसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्मसे ढके हुये आत्माकी क्षयोपशमरूप योग्यता भी नाना प्रकारकी क्यों न होगी ? अवश्य होगी। सुवर्णको कैई बार शुद्धा किया जाता है, तब कहीं उसकी शनैः शनैः योग्यता प्राप्त होती है। मणिको भी शाणपर या मसालोंसे धीरे धीरे स्वच्छ अवस्थामें लाना पडता है।

स्वावरणविगमस्य वैचित्र्यान्मणेरिवात्मनः स्वरूपाभिव्यक्तिवैचित्र्यं न हि तद्विरुद्धं। तद्विगमस्तु स्वकारणविशेषवैचित्र्यादुपपद्यते। तद्विगमकारणं पुनर्द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणं यदन्वयव्यतिरेकस्तत्संभावनेति पर्याप्तं प्रपंचेन। सादृश्यैकत्वप्रत्यभिज्ञानयोः सर्वथा निरवद्यत्वात्।

अपने आवरणोंके दूर होनेकी विचित्रतासे मणिका स्वच्छभाव जैसे विचित्र ढंगोंका हो जाता है। उसीके समान कर्मोंका अनेक कारणोंसे पृथक्भाव हो जानेकी विचित्रतासे ज्ञानमय

आत्माके स्वरूपका प्रगट होना भी अनेक प्रकारका है। वह आत्माके स्वरूपकी विचित्रता विरुद्ध नहीं है। रोगके उत्पादक दोषोंका जितना जितना निःसरण होता जाता है, आत्मामें उतनी उतनी प्रसन्नताका अनुभव हो जाता है। आत्मासे लगे हुये उन कर्मोंका वियोग होना तो अपने कारणविशेषोंकी विचित्रतासे बन जाता है। उन आवरणोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशमरूप वियोगका कारण फिर वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भावस्वरूप पदार्थ माने गये हैं, जिनके कि साथ अन्वय, व्यतिरेक होते संते उस योग्यताकी सम्भावना है। यानी समीचीन उत्पत्ति सम्भव रही है, इस कार्यकारणभावका सुलभतासे निर्णय हो जाता है। अतः इसके विस्तारको समाप्त करो यानी अधिक प्रकरण बढाना अनुचित है। यहांतक सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और एकत्वप्रत्यभिज्ञानकी सभी प्रकार निर्दोष हो जानेसे सिद्धि हो चुकी है।

नन्वस्त्वेकत्वसादृश्यप्रतीतिर्नार्थगोचरा ।
संवादाभावतो व्योमकेशपाशप्रतीतिवत् ॥ ५० ॥

कोई शंका करता है कि द्रव्यकी भूत, वर्त्तमान, पर्यायोंमें रहनेवाले एकत्व और समान पर्यायोंमें रहनेवाले सादृश्यको जाननेवाली प्रत्यभिज्ञानरूप प्रतीति तो (पक्ष) वास्तविक अर्थको विषय करनेवाली नहीं है (साध्य)। क्योंकि उन प्रतीतियोंमें सम्वादका अभाव है (हेतु)। जैसे कि आकाशके केशोंकी गुथी हुई चोटीको जाननेवाली प्रतीति अर्थको विषय नहीं करती है (दृष्टान्त)।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञैकत्वप्रत्यभिज्ञा च नास्माभिरपह्नूयते तथा प्रतीतेः, केवलं सानर्थविषया संवादाभावादाकाशकेशपाशप्रतिभासनवदिति चेत्–।

बौद्ध शंका करते हैं कि सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और एकत्व प्रत्यभिज्ञानको हम छिपाते नहीं हैं, क्योंकि भ्रान्त और अभ्रान्तजीवोंके अनेक प्रकार ज्ञान होना प्रतीत हो रहा है। हां, वह प्रत्यभिज्ञा विचारी सफलप्राप्ति-जनकपनारूप सम्वाद नहीं होनेके कारण वास्तविक अर्थको विषय करनेवाली नहीं है। जैसे कि आकाशके चुट्टको जाननेवाला ज्ञान वस्तुभूत अर्थको विषय नहीं करता है, ऐसा हमारा अभिप्राय है। बौद्धोंके इस प्रकार कहनेपर तो अब ग्रन्थकार समाधान करते हैं।

तत्र यो नाम संवादः प्रमाणांतरसंगमः ।
सोध्यक्षेपि न संभाव्य इति ते क्व प्रमाणता ॥ ५१ ॥
प्रत्यक्षविषये तावन्नानुमानस्य संगतिः ।
तस्य स्वलक्षणो वृत्त्यभावादालंबनात्मनि ॥ ५२ ॥

तहां जो अन्य प्रमाणोंकी समीचीन प्रवृत्ति होनारूप सम्वाद माना जायगा, सो तो सम्वाद प्रत्यक्षमें नहीं सम्भव रहा है। इस प्रकार तुम्हारे प्रत्यक्षको भी प्रमाणता कहां रही ? भावार्थ—एक ज्ञानद्वारा जाने हुये विषयमें दूसरे प्रमाणोंका गिरना यदि संवाद है, तो प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं बन सकेगा। कारण कि प्रत्यक्षके द्वारा जाने गये विषयमें अनुमान प्रमाणकी तो संगति नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षके आलम्बन कारणस्वरूप वस्तुभूत स्वलक्षणमें उस अनुमान प्रमाणकी वृत्ति नहीं है। बौद्धोंके मत अनुसार अनुमानज्ञान अवस्तुभूत सामान्यमें प्रवर्त्तता है। स्वलक्षणको अनुमान नहीं छूता है। " प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणद्वैविध्यं " ऐसा बौद्धोंने माना है।

तत्राध्यक्षांतरस्यापि न वृत्तिः क्षणभंगिनि ।
तथैव सिद्धसंवादस्यानवस्था तथा न किम् ॥ ५३ ॥

उस प्रकृत प्रत्यक्षके क्षणिक विषयमें स्वलक्षणको जाननेवाले दूसरे प्रत्यक्षप्रमाणकी भी वृत्ति नहीं होती है। बौद्धोंने प्रत्यक्षका कारण स्वलक्षण माना है। पहिले एक ही प्रत्यक्षको उत्पन्न कराके जब स्वलक्षण नष्ट हो गया तो वह मरा हुआ स्वलक्षण भला दूसरे प्रत्यक्षको कैसे उत्पन्न करेगा ? दूसरी बात यह भी है कि पहिले प्रत्यक्षका सम्वादीपना दूसरे प्रत्यक्षकी प्रवृत्तिसे माना जाय, और दूसरे प्रत्यक्षका सम्वाद तिस ही प्रकार तीसरे प्रत्यक्षकी संगतिसे इष्ट किया जाय तभी प्रमाणता आसकेगी एवं तीसरेका चौथे आदिसे सिद्ध किया जाय, ऐसी आकांक्षायें बढतीं जानेसे तिस प्रकार संवादका अनवस्था दोष क्यों नहीं होगा ? अर्थात् बौद्धोंके ऊपर अनवस्था दोष मूलको क्षय करनेवाला लग गया।

प्राप्य स्वलक्षणे वृत्तिर्यथाध्यक्षानुमानयोः ।
प्रत्यक्षस्य तथा किं न संज्ञया संप्रतीयते ॥ ५४ ॥

बौद्धोंके मतमें ज्ञान जिस विषयको जानता है, उसको आलम्बन कारण कहते हैं। और ज्ञानसे जानकर जिसको हस्तगत किया जाता है, वह प्राप्त करने योग्य स्वलक्षण प्राप्य कारण है। पुस्तकको ठीक पुस्तक जाननेवाले सम्यग्ज्ञानकी दशामें प्राप्य और आलम्बनकारण दोनों एक ही है। किन्तु सामान्यको जाननेवाले अनुमान और अतत्को तत् जाननेवाले मिथ्याज्ञानोंकी अवस्थामें प्राप्य और आलम्बन न्यारे न्यारे हो जाते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंमेंसे प्रत्यक्षज्ञानके द्वारा जैसे प्राप्त करने योग्य स्वलक्षण वस्तुमें ज्ञाताकी प्रवृत्ति होना देखा जाता है। तिस ही प्रकार प्रत्यभिज्ञाके द्वारा वास्तविक स्वलक्षणमें प्रवृत्ति होना क्या भले प्रकार नहीं देखा जाता है ? अर्थात् प्रत्यभिज्ञानसे भी उस ही या उसके सदृश पुस्तक, औषधि, आदि ठीक ठीक वस्तुओंमें प्रमाताओंकी प्रवृत्तियां हो रही प्रतीत होती हैं।

तयालंबितमन्यच्चेत्प्राप्तमन्यत्स्वलक्षणं ।
प्रत्यक्षेणानुमानेन किं तदेव भवन्मते ॥ ५५ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि उस प्रत्यभिज्ञान करके आलम्बन किया गया पदार्थ [सामान्य] अन्य है और प्रत्यभिज्ञानसे जानकर पुनः प्राप्त किया गया स्वलक्षण पदार्थ भिन्न है। अतः प्रत्यक्ष का दृष्टान्त सम नहीं है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो आचार्य महाराज कटाक्ष करते हैं कि आप बौद्धोंके मतमें प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण करके क्या वहका वही पदार्थ प्राप्त किया जाता है ? बताओ। अर्थात् जब कि बौद्धोंने क्षणिक स्वलक्षणको ज्ञानका कारण माना है, तो पदार्थको जानकर कितनी भी शीघ्रतासे पकडनेवाला क्यों न हो उसके हाथमें वह पदार्थ नहीं आ सकता है, जो कि ज्ञानका कारण बना था। जैसे कि कोई बुड्ढा अपने युवा अवस्थाके शरीरको नहीं प्राप्त कर सकता है। तथा सामान्यको जाननेवाले अनुमानद्वारा सामान्यमें ही प्रवृत्ति नहीं होती है। किन्तु विशेष स्वलक्षणमें प्रवृत्ति होना माना है। ऐसी दशामें प्रत्यभिज्ञानद्वारा यदि वही आलम्बनीय पदार्थ न भी प्राप्त किया जाय तो भी प्रत्यक्षके समान प्रत्यभिज्ञामें सम्वादीपना घटित हो जाता है।

गृहीतप्राप्तयोरेकाध्यारोपाच्चेत्तदेव तत् ।
समानं प्रत्यभिज्ञायां सर्वे पश्यंतु सद्धियः ॥ ५६ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि ज्ञानके द्वारा ग्रहण किये गये आलम्बन पदार्थ और हस्त प्राप्त किये गये स्वलक्षण वस्तुके एकपनका अध्यारोप कर देनेसे वह आलम्बन करने योग्य ही पदार्थ प्राप्त किया गया हो जाता है, यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञानमें भी वह वही की बात समान है। सभी श्रेष्ठ बुद्धिवाले उसको देखलो अर्थात् प्रत्यभिज्ञानसे वही जानी हुई वस्तु प्रवृत्ति कर लेनेपर प्राप्त कर ली जाती है। यहां भी ज्ञात और प्राप्तव्य अर्थका एकत्वारोप सुलभ है।

प्रत्यभिज्ञानुमानत्वे प्रमाणं नान्यथेत्यपि ।
तन्न युक्तानुमानस्योत्थानाभावप्रसंगतः ॥ ५७ ॥
तत्र लिंगे तदेवेदमिति ज्ञानं निबन्धनम् ।
लैंगिकस्यानुमानं चेदनवस्था प्रसज्यते ॥ ५८ ॥
लिंगप्रत्यवमर्शेण विना नास्त्येव लैंगिकम् ।
विभिन्नः सोनुमानाच्चेत्प्रमाणांतरमागतम् ॥ ५९ ॥

प्रत्यभिज्ञानको अनुमानस्वरूप माननेपर हम प्रमाण कहते हैं। अन्य दूसरे प्रकारोंसे नहीं यानी प्रत्यभिज्ञान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है, किन्तु अनुमानमें गर्भित है। आचार्य कहते हैं कि सो यह कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि ऐसा होनेपर अनुमानप्रमाणकी उत्पत्तिके अभावका प्रसंग होता है। क्योंकि उस अनुमानमें " यह वही हेतु है " या उसके सदृश हेतु है " जिसको कि हम दृष्टान्तमें साध्यके साथ व्याप्ति रखनेवाला जान चुके हैं। इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान कारण है। अतः इस प्रत्यभिज्ञानको पुनः अनुमान मानोगे तो उस अनुमानमें भी यह वही हेतु है, ऐसे प्रत्यभिज्ञानकी आकांक्षा होगी और उस प्रत्यभिज्ञानको भी अनुमान माननेपर ऐसी धारा चलते चलते अनवस्था दोष हो जानेका प्रसंग होता है। हेतुका प्रत्यभिज्ञान किये विना लिङ्गजन्य अनुमान ज्ञानका उत्थान नहीं हो पाता है। अतः अनवस्था दोषके निवारणार्थ वह लिंगका परामर्श करनारूप प्रत्यभिज्ञान यदि अनुमानसे सर्वथा अछूता भिन्न प्रमाण माना जावेगा, तब तो बौद्धोंको तीसरा या चौथा न्यारा प्रमाण मानना प्राप्त हो जाता है। किन्तु बौद्धोंने प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मान रक्खे हैं।

न हि लिंगप्रत्यवगमोऽप्रमाणं ततो व्याप्तिव्यवहारकालभाविलिंगसादृश्याव्यवस्थितिप्रसंगात्। तथा चानुपानोदयासंभवस्तत्संभवेतिप्रसंगात्। अप्रमाणात्तद्व्यवस्थितौ प्रमाणानर्थक्यप्रसंग इत्युक्तं। ततो नानुमानं प्रत्यभिज्ञानं। किं तर्हि प्रमाणांतरं संवादकत्वात् प्रत्यक्षादिवत्। न हि दृश्यप्राप्ययोरेकत्वाध्यारोपेण प्रमाणांतरसंगमलक्षणः संवादः संज्ञायामसिद्धः, प्रत्यक्षादावपि तदसिद्धिप्रसंगात्।

अनुमान करनेके पूर्वमें " यह वैसा ही हेतु है " ऐसा लिङ्गका प्रत्यभिज्ञान करना अप्रमाण तो नहीं है। अन्यथा उस प्रत्यभिज्ञानसे व्याप्तिग्रहण काल और पुनः संकेतस्मरण करते हुये पीछे व्यवहारकालमें हो रहे लिङ्गके सादृश्यकी व्यवस्था नहीं हो सकनेका प्रसंग होगा और तैसा होनेपर अनुमानकी उत्पत्ति होना असम्भव पड जायगा। फिर भी अप्रमाण प्रत्यभिज्ञानसे उस अनुमानकी उत्पत्ति मानोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा, यानी जलवाष्प (भाफ) में हुये धुयेंके प्रत्यभिज्ञानसे जलहदमें अग्निका समीचीन अनुमान हो जायगा। अप्रमाण ज्ञानसे जान लिये गये हेतुसे उस सदृशपनकी व्यवस्था होना मान लिया जायगा तो प्रमाण ज्ञानोंके व्यर्थपनेका प्रसंग होता है। यदि कुत्ता ही घास खोदले तो घसखोदा मनुष्यकी क्या आवश्यकता है ? इसको हम पहिले भी कह चुके हैं। तिस कारण प्रत्यभिज्ञान अनुमान प्रमाणस्वरूप नहीं है। किन्तु अनुमानसे न्यारा स्वतंत्र प्रमाण है। क्योंकि वह अपने द्वारा ज्ञात कर लिये गये विषयमें सफलप्रवृत्ति करा देनेवाला है। जैसे कि प्रत्यक्ष आदिक स्वतंत्र प्रमाण हैं। बौद्धोंने दर्शन करने योग्य आलम्बन और पीछे प्राप्त करने (पकडने) योग्य स्वलक्षणमें एकपनका अध्यारोप करके अन्य प्रमाणोंकी संगति होना स्वरूप सम्वाद जैसा प्रत्यक्ष प्रमाणमें माना है, वैसा सम्वाद इस प्रत्यभिज्ञानमें भी असिद्ध नहीं

है। अन्यथा प्रत्यक्ष और अनुमानमें भी उस सम्वादकी असिद्धिका प्रसंग होगा। भावार्थ—प्रत्यक्षमें आलम्बन और प्राप्य तथा पुनः दूसरे प्रत्यक्षका आलम्बन और प्राप्य एवं उसी विषयमें तीसरे प्रत्यक्षके प्रवृत्त होनेपर पुनः उन्हीं आलम्बन और प्राप्योंका मिल जाना, ये सम्पूर्ण व्यवस्थायें एकत्वके आरोपण करनेसे ही बन सकती हैं। पूर्वक्षणवर्त्ती विषयको ज्ञानका कारण माननेवाले क्षणिकवादियोंके पास अध्यारोपके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञानके अवसरपर भी एकत्वका आरोप कर उसी विषयमें अन्य प्रमाणोंका संगम होनारूप संवाद बन जाता है। कोई अनुपपत्ति नहीं है।

एतेनार्थक्रियास्थितिरविसंवादस्तदभावान्न प्रत्यभिज्ञाप्रमाणमित्यपि प्रत्युक्तं। तत एव प्रत्यक्षादेरप्रमाणत्वप्रसंगात्।

इस उक्त कथन करके अर्थक्रियामें स्थिति करा देना रूप अविसम्वाद है, उसके न होनेसे प्रत्यभिज्ञा प्रमाण नहीं है, यह कथन भी खण्डित कर दिया गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि यों तो तिस ही कारण प्रत्यक्ष आदिकोंके अप्रमाणपनका प्रसंग होगा अर्थात् देर तक अर्थक्रिया करनेमें ठहराये रखना तो प्रत्यक्ष आदिसे भी नहीं हो पाता है। अतः वे भी प्रमाण नहीं बन सकेंगे।

प्रतिपत्तुः परितोषात्संवादस्तत्र प्रमाणतां व्यवस्थापयतीति चेत्, प्रत्यभिज्ञानेपि। न हि ततः प्रवृत्तस्यार्थक्रियास्थितौ परितोषो नास्तीति। यदि पुनः बाधकाभावः संवादस्तदभावान्न प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमिति मतं तदा न सिद्धो हेतुः अयम् संवादाभावादिति। तथाहि—

अर्थको समझनेवाले प्रतिपत्ताका संतोष हो जानेसे उन प्रत्यक्ष आदिकोंमें सम्वाद हो जाता है, जो कि प्रत्यक्ष आदिकोंकी व्यवस्था करा देता है। इस प्रकार कहनेपर तो प्रत्यभिज्ञानमें भी वही लगालो। उस प्रत्यभिज्ञानसे अर्थको जानकर परिचित पुत्र, प्रासाद, आभूषण, आदि पदार्थोंमें प्रवर्त्त रहे पुरुषको अर्थोंकी क्रियाके स्थित रहनेमें परितोष नहीं होता है, यह नहीं समझना। किन्तु किन्हीं किन्हीं लौकिक जनोंको तो प्रत्यक्षसे जाने हुये पदार्थोंकी अर्थक्रियाकी अपेक्षा प्रत्यभिज्ञानसे जाने हुये अर्थकी अर्थक्रियास्थितिमें अधिक परितोष मिलता है। यदि फिर बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि उस प्रमाणके विषयमें बाधक प्रमाणोंका उत्पन्न नहीं होना ही सम्वाद है। उस सम्वादके न होनेसे (हेतु), प्रत्यभिज्ञा (पक्ष) प्रमाण नहीं है (साध्य)। ऐसा माननेपर तो हम जैन कहेंगे कि यह बौद्धोंका सम्वादाभावरूप हेतु सिद्ध नहीं है। स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञानके विषयका कोई बाधक नहीं है। अतः बाधकाभावरूप सम्वादका अभाव हेतु प्रत्यभिज्ञारूपपक्षमें नहीं ठहर पाया। इस बातका और भी स्पष्टकर आचार्य व्याख्यान कर देते हैं।

संवादो बाधवैधुर्यनिश्चयश्चेत्स विद्यते ।
सर्वत्र प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षादाविवांजसा ॥ ६० ॥
प्रत्यक्षं बाधकं तावन्न संज्ञानस्य जातुचित्
तद्भिन्नगोचरत्वेन परलोकमतेरिव ॥ ६१ ॥
यत्र प्रवर्त्तते ज्ञानं स्वयं तत्रैव साधकम् ।
बाधकं वा परस्य स्यान्नान्यत्रातिप्रसंगतः ॥ ६२ ॥

अन्य बाधक प्रमाणोंके रहितपनेका निश्चय हो जाना यदि सम्वाद कहा जायगा, वह तो प्रत्यक्ष आदिके समान सभी प्रत्यभिज्ञानोंमे निर्विघ्न विद्यमान है। देखिये। सबसे पहला प्रत्यक्ष प्रमाण तो प्रत्यभिज्ञानका कभी बाधक नहीं होता है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा द्वारा जाने गये विषयसे भिन्न हो रहे पदार्थको प्रत्यक्षज्ञान विषय करता है। जैसे कि अनुमान द्वारा हुई परलोककी ज्ञप्तिका बाधक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता है। जो कोई ज्ञान जिस विषयमें स्वयं प्रवर्त्त सकता है। वह ज्ञान उस ही विषयमें साधक अथवा बाधक हो सकेगा। दूसरे अपने अविषयमें साधक या परपक्षका बाधक न हो सकेगा। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। यानी समुद्र हंसके समान आगमज्ञानी विद्वान्के श्रुतज्ञानमें कूपमण्डूकके समान दृष्ट या प्रयुक्त विषयपर ही अभिमान करनेवाले विज्ञानवेत्ताओंका प्रत्यक्ष भी बाधक हो जायगा। लोकमें भी यह बात प्रसिद्ध है कि व्याकरणको जाननेवाला शद्बके साधु असाधुपनका साधक या बाधक हो जाता है। किन्तु वैद्यक या ज्योतिषके विषयको साधने अथवा बाधनेके लिये अपनी टांग नहीं अडा सकता है।

अदृश्यानुपलब्धिश्च बाधिका तस्य न प्रमा।
दृश्या दृष्टिस्तु सर्वत्रासिद्धा तद्गोचरे सदा ॥ ६३ ॥

प्रत्यभिज्ञान द्वारा जाने गये विषयका निषेध करनेके लिये यदि बौद्ध लोग अनुपलब्धिको बाधक खडा करेंगे उसमें हमारे दो विकल्प उठते हैं। प्रथम नहीं देखने योग्य पदार्थोंकी अनुपलब्धि तो उस प्रत्यभिज्ञानकी बाधक होती हुई प्रमाण नहीं है। जैसे कि परमाणु, पिशाच, आकाश, आदि अदृश्य पदार्थोंकी अनुपलब्धि होना इनके अस्तित्वका बाधक नहीं है। अभावको जाननेमें अदृश्यानुपलब्धि प्रमाण नहीं मानी गई है। अतः अदृश्यानुपलब्धि तो प्रत्यभिज्ञानका बाधक नहीं है। हां, दूसरी दृश्यकी अनुपलब्धि अभावको सिद्ध करती हुई प्रत्यभिज्ञानकी बाधक हो सकती है। किन्तु उस प्रत्यभिज्ञानके विषयमें दृश्यकी अनुपलब्धि तो सर्वत्र सर्वदा असिद्ध है। भावार्थ—

प्रत्यभिज्ञानके विषय दृष्टव्य (प्रत्यभिज्ञेय) अर्थका सर्वत्र सर्वदा उपलम्भ हो रहा है, अनुपलम्भ नहीं है ।

तदेवं न प्रत्यक्षस्वभावानुपलब्धिर्वा बाधिका ।

तिस कारण इस प्रकार प्रत्यक्ष योग्य स्वभाववाले अर्थकी अनुपलब्धि तो प्रत्यभिज्ञानको बाधा करनेवाली नहीं ठहरी ।

यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं सर्वथैव विलक्षणं ।
ततोऽन्यत्र प्रतीघातात्सत्त्वस्यार्थक्रियाक्षतेः ॥ ६४ ॥
अर्थक्रियाक्षतिस्तत्र क्रमवृत्तिविरोधतः ।
तद्विरोधस्ततोनंशस्यान्यापेक्षाविघाततः ॥ ६५ ॥
इतीयं व्यापका दृष्टिर्नित्यत्वं हंति वस्तुनः ।
सादृश्यं च ततः संज्ञा बाधिकेत्यपि दुर्घटम् ॥ ६६ ॥

बौद्ध कह रहे हैं कि इस ढंगकी कई व्याप्तियां बनी हुई हैं कि जे जे सत् हैं वे सभी क्षणिक हैं अर्थात् नित्य नहीं हैं अथवा जो जो सत् है वह सभी प्रकारों करके एक दूसरेसे विलक्षण है अर्थात् कोई भी किसीके सदृश नहीं है । उससे अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें सत्पनेका व्याघात हो जानेसे अर्थक्रियाकी क्षति है । क्योंकि व्यापक हो रही अर्थक्रियासे सत्त्व व्याप्त हो रहा है । नित्य या सदृश पदार्थमें अर्थक्रिया न होनेसे परमार्थ सत्पनेका व्याघात हो जाता है । तथा उस सर्वथा नित्य या सदृशपदार्थमें क्रम और युगपत्पनेसे प्रवृत्ति होनेका विरोध होनेसे अर्थक्रियाकी हानि हो जाती है । क्योंकि अर्थमें क्रम या यौगपद्यद्वारा प्रवृत्ति होनेसे अर्थक्रिया व्याप्त हो रही है नित्यपदार्थमें क्रम और युगपत्पनसे जब प्रवृत्ति नहीं हो रही है तो अर्थक्रिया भी नहीं हो सकती है । व्यापकके न होनेपर व्याप्य भी नहीं रहता है । तिस कारण उस नित्यपनेके साथ क्रमवृत्तिपनका विरोध है । अंशोंसे रहित क्षणिक, विलक्षण, स्वलक्षण पदार्थको अन्य कारणोंकी अपेक्षाका विघात हो रहा है । इस प्रकार यह व्यापककी अनुपलब्धि हो रही है, जो कि वस्तुके नित्यपन और सदृशपनको नष्ट कर देती है । तिस कारण व्यापकानुपलब्धि इन एकत्व प्रत्यभिज्ञान और सादृश्य प्रत्यभिज्ञानकी बाधक खडी हुई है । आचार्य कहते हैं कि यह भी बौद्धोंका कहना घटित नहीं हो सकता है ।

सत्त्वमिदमर्थक्रियया व्याप्तं सा च क्रमाक्रमाभ्यां तौ चाऽक्षणिकात्सदृशाच्च निवर्तमानौ स्वव्याप्यामर्थक्रियां निवर्तयतः । सा निवर्तमाना स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयतीति

व्यापकानुपलब्धिर्नित्यस्यासत्त्वं सर्वथाऽसादृश्यं च साधयंती नित्यत्वसादृश्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानस्य बाधिकास्तीति केचित् । तदेतदपि दुर्घटम् । कुतः—

पूर्वपक्ष है कि यह वस्तुभूत पदार्थोंका सत्त्व तो अर्थक्रियासे व्याप्त है । तथा अर्थक्रिया क्रमसे और अक्रमसे होकरके व्याप्त हो रही है । ऐसी दशामें जब कि वे क्रम और अक्रम विचारे सर्वथा नित्य पदार्थ और सदृशपदार्थोंसे निवृत्त हो रहे हैं तो अपनेसे व्याप्य अर्थक्रियाको भी साथ लेकर ही निवृत्त करा देवेंगे और वह अर्थक्रिया जब नित्यपदार्थमें नहीं वर्त रही है तो अपने व्याप्य सत्वको भी उस कूटस्थसे निवृत्त करा लेवेगी, जैसे कि घोडेमे मनुषपना निवृत्त होता हुआ अपने व्याप्य ब्राह्मणपन और उस ब्राह्मणपनके भी व्याप्य गौडपन या सनाढ्यपनको भी निवृत्त करा देता है । इस प्रकार व्यापककी अनुपलब्धि हो रही कूटस्थ नित्यके असत्त्वका और सभी प्रकार असादृश्यका साधन कराती हुई नित्यत्व और सादृश्यको विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानकी बाधक बन बैठती है । अर्थात् कूटस्थ नित्यमें जब क्रम और अक्रम नहीं हैं तो अर्थक्रिया भी न रही और व्यापक अर्थक्रियाके नहीं रहनेसे उसका व्याप्य सत्त्व नहीं रहा । अतः वह्निकी अनुपलब्धिसे जैसे धूमका अभाव सिद्ध हो जाता है । उसी प्रकार क्रमयौगपद्य या अर्थक्रियाकी अनुपलब्धिसे नित्य या सदृश अर्थमें सत्ताका अभाव सिद्ध हो जाता है । जब प्रत्यभिज्ञानके विषय एकपना (नित्यत्व) और सादृश्य ही नहीं सिद्ध हो सकेंगे तो अनुपलब्धि प्रमाणसे प्रत्यभिज्ञा बाधित हो गई, इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहे हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह भी उनका कहना युक्तियोंसे घटित नहीं होता है। उनके यहां दुर्घटना मच जायगी । कैसे दुर्घट है ? सो सुनिये ।

क्षणप्रध्वंसिनः संतः सर्वथैव विलक्षणाः ।
इति व्याप्तेरसिद्धत्वाद्विप्रकृष्टार्थशंकिनाम् ॥ ६७ ॥

सम्पूर्ण सत्पदार्थ क्षणमें समूलचूल नाश हो जाना स्वभाववाले हैं । यानी एक क्षणमें ही उत्पन्न होकर आत्मलाभ करते हुये द्वितीय क्षणमें विनाकारण ही ध्वंसको प्राप्त हो जाते हैं । तथा प्रतिक्षण नवीन नवीन उत्पन्न हो रहे पदार्थ सर्व ही प्रकारोंसे परस्परमें विलक्षण हैं । कोई किसीके सदृश नहीं है । सूर्य, चन्द्रमा, आत्मा, सर्वज्ञप्रत्यक्ष, परमात्मा, आदि पदार्थोंके भी उत्तर उत्तर होनेवाले असंख्य परिणाम सदृश नहीं हैं, विभिन्न हैं, इस प्रकार बौद्धोंने अपने घरका सिद्धान्त मान रक्खा है । अब आचार्य कहते हैं कि जो बौद्ध देशसे व्यवधानको प्राप्त हो रहे और काल या स्वभावोंसे विप्रकृष्ट हो रहे पदार्थोंके सद्भावमें आशंका करते रहते हैं, उनकी सत्ताका दृढ निश्चय नहीं करते हैं, उनके यहां " जो जो सत् हैं, वे क्षणिक हैं " अथवा " जो जो सत् पदार्थ हैं वे सर्वथा ही विसदृश हैं " ऐसी व्याप्ति सिद्ध नहीं हो पाती है । क्योंकि व्याप्तिका ग्रहण सम्पूर्ण देशकालवर्त्ती साध्य साधनोंके उपसंहार करके किया जाता है । अतः बौद्ध अनुमान द्वारा क्षणिक-

त्वको और विलक्षणताको सिद्ध नहीं कर सकते हैं। जिससे कि हमारे एकत्वग्राही या सादृश्यग्राही प्रत्यभिज्ञानमें बाधा उपस्थित हो सके।

नित्यानां विप्रकृष्टानामभावे भावनिश्चयात्।
कुतश्चिद्व्याप्तिसंसिद्धिराश्रयेत यदा तदा ॥ ६८ ॥
नेदं नैरात्मकं जीवच्छरीरमिति साधयेत्।
प्राणादिमत्त्वतोस्यैवं व्यतिरेकप्रसिद्धितः ॥ ६९ ॥

जगत्में कालत्रयवर्ती नित्यपदार्थोंका और स्वभाव, देश, कालसे व्यवधानको प्राप्त हो रहे पदार्थोंका अभाव माननेपर ही सत्पनेका निश्चय हो रहा है। इस प्रकार किसी विपक्षव्यावृत्ति रूप व्यतिरेकके बलसे व्याप्तिकी भले प्रकार सिद्धि होना आश्रित करोगे तब तो व्यतिरेकी हेतुसे साध्यकी सिद्धि हो जाना बौद्धोंने स्वीकृत कर लिया। ऐसी दशामें यह प्रसिद्ध व्यतिरेकी अनुमान भी सिद्ध हो जायगा कि यह रोग शय्यापर पडा हुआ जीवित शरीर (पक्ष) आत्मरहित नहीं है (साध्य)। क्योंकि श्वास, निश्वास, नाडी चलना, उष्णता, स्वर, आदिसे सहित है (हेतु)। जो सात्मक नहीं है, वह प्राण आदिसे युक्त नहीं है। जैसे कि ढेला, घडा, पट्टा आदि (व्यतिरेक दृष्टान्त) इस प्रकार व्यतिरेककी प्रसिद्धि हो जानेसे यहां आत्मसहितपना सिद्ध करा दिया जा सकेगा। किन्तु बौद्धोंने व्यतिरेकी हेतुओंसे अनुमान होता हुआ माना नहीं है। बौद्धोंको अपसिद्धान्त दोषसे भयभीत होना चाहिये।

यथा विप्रकृष्टानां नित्याद्यर्थानामभावे सत्त्वस्य हेतोः सद्भावनिश्चयस्तद्व्याप्तिसिद्धिनिबंधनं तथा विप्रकृष्टस्य आत्मनः पाषाणादिष्वभावे प्राणादिमत्त्वस्य हेतोरभाव निश्चयोपि तद्व्याप्तिसिद्धेर्निबंधनं किं न भवेत् ? यतो व्यतिरेक्यपि हेतुर्न स्यात्। न च सत्त्वादस्य विशेषं पश्यामः सर्वथागमकत्वाममकत्वयोरिति प्राणादिमत्त्वादे व्याप्त्यसिद्धिमुपयतां सत्त्वादेरपि तदसिद्धिर्बलादापतत्येव। ततो न क्षणिकत्वं सर्वथा विलक्षणत्वं चार्थानां सिद्ध्यति विरुद्धत्वाच्च हेतोः। तथाहि—

जिस प्रकार व्यवहित हो रहे नित्य, सदृश, स्थूल, आदि पदार्थोंके अभाव होनेपर सत्त्व हेतुके सद्भावका निश्चय होना उन क्षणिकत्व और विलक्षणत्वरूप साध्यके साथ सत्त्वहेतुकी व्याप्ति सिद्ध हो जानेका कारण है, अथवा नित्य, स्थूल, साधारण, सदृश, अर्थोंमें क्षणिकपन या सदृशपनके न होनेपर सत्त्वके रहनेकी बाधाका निश्चय होना उनकी व्याप्ति बन जानेका कारण है, उसी प्रकार पत्थर, ईंट, किवाड, आदि पदार्थोंमें विवादापन्न होकर व्यवहित हो रहे आत्माके अभाव होनेपर पाषाण आदिमें प्राण आदिसे सहितपन हेतुके अभावका निश्चय करना भी उन

आत्मसहितपन और प्राण आदि सहितपनरूप साध्य हेतुओंकी व्याप्तिको सिद्ध करानेका कारण क्यों नहीं हो जावेगा ? जिससे कि बौद्धोंके यहां अन्वयीके समान व्यतिरेकी भी हेतु न हो सके, यानी व्यतिरेकी भी हेतु बन जायगा। सत्त्व हेतुको व्यतिरेककी सामर्थ्यसे क्षणिकपन साध्यका बोधक मान लिया जाय और प्राणादिमत्त्वको सात्मकपनको साधनेके लिये गमक न माना जाय, इस पक्षपात पूर्ण उक्तिमें कोई नियामक नहीं है। हम सत्त्व हेतुसे इस प्राणादिमत्त्वका सभी प्रकारोंसे गमकपन और सर्वथा अज्ञापकपनमें कोई विरोध चमत्कार नहीं देख रहे हैं। फिर सत्त्वको गमकपना और प्राण आदि सहितपनेको अगमकपना क्यों कहा जा रहा है ? इस ढंगसे प्राणादिमत्त्व और पुद्गलका इतर द्रव्योंसे भेदको साधनेके लिए दिया गया रूपवत्त्व इत्यादिक व्यतिरेकी हेतुओंकी व्याप्तिकी सिद्धिको नहीं स्वीकार करनेवाले बौद्धोंके यहां सत्त्व, कृतकत्व, आदि हेतुओंकी भी अपने साध्य क्षणिकपन आदिके साथ उस व्याप्तिका नहीं सिद्ध होना बलात्कारसे आगिरता ही है। तिस कारण पदार्थोंका क्षणिकपना और सर्वथा विलक्षणपना नहीं सिद्ध होता है। सत्त्व हेतुकी प्रकृतसाध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकी है। दूसरी बात यह भी है कि बौद्धोंका अपना क्षणिकपनेका सिद्धान्त पुष्ट करनेके लिये दिया गया सत्त्व हेतु विरुद्धहेत्वाभास भी है, सो प्रसिद्ध ही है, इसको दिखलाते हैं। " साध्यविपरीतव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः "।

क्षणिकेपि विरुध्येते भावेनंशे क्रमाक्रमौ।
स्वार्थक्रिया च सत्वं च ततोनेकान्तवृत्ति तत् ॥ ७० ॥

एक ही क्षणतक ठहरनेवाले और अंशोंसे रहित निरात्मक भावमें भी क्रम और यौगपद्य नहीं ठहरते हैं। तथा अपने योग्य अर्थक्रिया भी नहीं होती है। अर्थात् कूटस्थके समान निःस्वभाव क्षणिक पदार्थमें भी क्रम और यौगपद्य तथा अर्थक्रियाका होना विरुद्ध हो रहे हैं। क्योंकि ये अनेक धर्म आत्मक पदार्थमें पाये जाते हैं तिस कारण वह बौद्धोंका सत्त्व हेतु विपक्षमें वृत्ति होनेसे अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है। अथवा एकान्त साध्यवान्से विपरीतमें वृत्ति कर रहा वह हेतु विरुद्ध है।

सर्वथा क्षणिके न क्रमाक्रमौ परमार्थतः संभवतस्तदसंभवे ज्ञानमात्रमपि स्वकीयार्थक्रिया कुतो व्यवतिष्ठते ? यतः सत्त्वं ततो विनिवर्तमानं कथंचित्क्षणिकेनेकांतात्मनि स्थितिमासाद्य तद्विरुद्धं न भवेदित्युक्तोत्तरप्रायं।

सभी प्रकार मूलसे ही दूसरे क्षणमें नाश होनेवाले पदार्थमें वास्तविकरूपसे क्रम और अक्रम नहीं बनते हैं। क्रम तो कालान्तरस्थायी पदार्थमें बनता है और अक्रम यानी एक साथ कई कार्योंको करना भी कुछ देरतक ठहरनेवाले पदार्थमें संभवता है। तिस कारण उन क्रम अक्रमके

असम्भव होनेपर ज्ञानमात्र हो जाना इस अपनी निजकी अर्थक्रियाकी भी भला कैसे व्यवस्था हो सकेगी ? जिससे कि उस सर्वथा क्षणिकसे निवृत्तिको प्राप्त हो रहा सन्ता सत्त्व हेतु अनेकान्तस्वरूप कथंचित् क्षणिकपदार्थमें स्थितिको प्राप्त करके उस क्षणिकपनसे विरुद्ध नहीं होता। भावार्थ—सम्पूर्ण पदार्थोंकी सबसे पहिली सुलभ अर्थक्रिया संसारी जीवों या सर्वज्ञके ज्ञान द्वारा अपनी ज्ञप्ति करा देना है, जब कि सर्वथा क्षणिक पदार्थ क्रम और अक्रम धर्मोंसे युक्त नहीं हैं, तो अपना ज्ञान करानारूप अर्थक्रियाको वह असत् भला कहांसे करायगा ? व्यापकके न रहनेपर व्याप्य भी नहीं रहता है। अतः कथंचित् क्षणिकपनके साथ व्याप्ति रखनेवाला सत्त्व हेतु सर्वथा क्षणिकत्वको साधनेमें विरुद्ध पड़ गया। इस प्रकार बौद्धोंके यहां माना गया क्षणिकपन सिद्ध नहीं हुआ और भी इस प्रकारकी शंकाओंके उत्तर हम पहिले प्रकरणोंमें बाहुल्यसे कह चुके हैं। यहां प्रकरण बढाना अभीष्ट नहीं है।

तथा च किं कुर्यादित्याह;—

और तिस प्रकार जैनोंके अनुसार सिद्ध हुआ वह हेतु प्रकरणमें क्या करेगा ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज स्पष्ट व्याख्यान करते हैं।

निहंति सर्वथैकांतं साधयेत्परिणामिनं।
भवेत्तत्र न भावे तत्प्रत्यभिज्ञा कथंचन॥ ७१॥

तिस कारण सत्त्व हेतुसे कथंचित् क्षणिकपन और न्यारे न्यारे पदार्थोंमें कथंचित् सदृशपना सिद्ध हो जानेसे निर्बाध हो गई सदृशपन और एकपनको विषय करनेवाली प्रत्यभिज्ञा नामकी प्रतीति (कर्त्री) पदार्थोंके सर्वथा नित्यपन अथवा क्षणिकपनके एकान्तको नष्ट कर देती है। और पदार्थोंके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूपपरिणामका साधन करा देती है। ऐसे अनेकान्तरूप और परिणामी उस पदार्थमें भला वह प्रत्यभिज्ञान कैसे नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा। परिणाम नहीं होनेवाले कूटस्थ और निरंश एकान्त क्षणिक पदार्थोंकी सिद्धि नहीं हो सकी है। कथंचित् नित्य, परिणामी, अनेक धर्मात्मक, वस्तुभूत अर्थमें प्रत्यभिज्ञान प्रमाणका विषयपना है।

द्रव्यपर्यायात्मनि नित्यात्मके वस्तुनि जात्यंतरपरिणामिन्येव द्रव्यतः प्रत्यभिज्ञा सदृश परिणामतो वा संभवति सर्वथा विरोधाभावान्न पुनर्नित्याद्येकांते विरोधसिद्धेः। तथाहि—

द्रव्य और पर्यायोंमें तदात्मक हो रहे कथंचित् नित्य अनित्यस्वरूप तथा पूर्वस्वभावका त्याग, उत्तरस्वभावका ग्रहण, स्थूल पर्यायोंकी ध्रुवतास्वरूप, ऐसी विलक्षण जातिकी वस्तुमें ही द्रव्य करके अथवा सदृश परिणाम होनेसे प्रत्यभिज्ञान सम्भवता है। सभी प्रकारोंसे विरोध नहीं है। हां, फिर नित्यपन, क्षणिकपन, अकेले द्रव्यपन, अकेले पर्यायपन, आदिका एकान्त स्वीकार करनेपर तो प्रत्यभिज्ञान नहीं होता है। क्योंकि विरोध होना सिद्ध है। आचार्य महाराज इसी अर्थको विशद कर कहते हैं।

नित्यैकांते न सा तावत्पौर्वापर्यवियोगतः ।
नाशैकांतेपि चैकत्वसादृश्याघटनात्तथा ॥ ७२ ॥

पदार्थको कूटस्थ नित्यपनका एकान्त माननेपर तो पहिले पीछेपनका वियोग हो जानेसे वह प्रत्यभिज्ञा नहीं बन पाती है । तथा सर्वथा क्षणमें नाश हो जानेका एकान्त माननेपर भी तिस प्रकार एकपन और सदृशपन नहीं घटित होता है । अतः क्षणिक पक्षमें भी एकत्व विषयिणी और सादृश्यविषयिणी प्रत्यभिज्ञा नहीं बनी । किन्तु लोकमें समीचीन प्रत्यभिज्ञान हो रहे देखे जाते हैं ।

नित्यानित्यात्मके त्वर्थे कथंचिदुपलक्ष्यते ।
जात्यंतरे विरुध्येत प्रत्यभिज्ञा न सर्वथा ॥ ७३ ॥

हां, स्याद्वादसिद्धान्त अनुसार नित्य, अनित्य, एकान्तोंसे न्यारी जातिवाले कथंचित् नित्य अनित्य आत्मक अर्थमें तो वह प्रत्यभिज्ञान हो रहा दीखता है । अतः दही और गुडकी मिली हुई अवस्थाके तीसरे स्वादसमान नित्य अनित्यसे न्यारी तीसरी जातिवाले अर्थमें प्रत्यभिज्ञान होनेका सभी प्रकारोंसे विरोध नहीं है । नित्य द्रव्योंको द्रव्यार्थिकनय विषय करता है । और अंशरूप पर्यायोंको पर्यायार्थिकनय जानता है । किन्तु द्रव्य और पर्यायोंसे तदात्मक हो रही जात्यंतरवस्तुको प्रमाणज्ञान जानता है ।

ततो न प्रत्यभिज्ञायाः किंचिद्बाधकमस्तीति बाधाविरहलक्षणस्य संवादस्य सिद्धेरप्रमाणत्वसाधनमयुक्तं ।

तिस कारण अबतक सिद्ध हुआ कि सादृश्य प्रत्यभिज्ञा या एकत्व प्रत्यभिज्ञाका बाधक कोई नहीं है । इस कारण बाधाओंका विरहस्वरूप सम्वादकी सिद्धि हो जानेसे फिर प्रत्यभिज्ञानमें अप्रमाणपनका साधन करना युक्त नहीं है । " नन्वस्त्वेकत्व " आदि पचासवीं कारिकामें किये गये कटाक्षको आप बौद्ध लौटा लीजिये, इसीमें कल्याण है ।

ननु चैकत्वे प्रत्यभिज्ञा तत्सिद्धौ प्रमाणं संवादात्तत्प्रमाणत्वसिद्धौ ततस्तद्विषयस्यैकत्वस्य सिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः । प्रत्यभिज्ञांतरात्प्रथमप्रत्यभिज्ञाविषयस्य साधने तद्विषयस्यापि प्रत्यभिज्ञांतरात्साधनमित्यनवस्थानमिति चेन्न, प्रत्यक्षस्यापि नीलादौ प्रमाणत्वसाधने समानत्वात् । इतरथाहि—

बौद्ध शंका करते हैं कि जैनोंके कथनमें अन्योन्याश्रय दोष है कि वास्तविक एकत्वमें प्रत्यभिज्ञाकी प्रवृत्ति आप जैनोंने मानी है । उस वस्तुभूत एकत्वकी सिद्धि हो जानेपर बाधविधुररूप सम्वादसे प्रत्यभिज्ञानमें प्रमाणपना सिद्ध होय और उस प्रत्यभिज्ञानमें प्रमाणपना सिद्ध हो चुकनेपर

उस प्रमाणके विषय वास्तविक एकत्वकी सिद्धि होय यह परस्पराश्रय हुआ। यदि दूसरे प्रत्यभिज्ञानसे पहिले प्रत्यभिज्ञानके विषय एकत्वको साधा जायगा तब तो दूसरे प्रत्यभिज्ञानके विषयकी भी अन्य तीसरे, चौथे, आदि प्रत्यभिज्ञानोंसे सिद्धि होगी इस प्रकार अनवस्था दोष आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि यों तो प्रत्यक्षको भी नील आदि विषयोंको जाननेमें प्रमाणपना साधनेपर समानरूपसे अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष प्राप्त हो जायंगे दूसरे प्रकारसे इन ही दोषोंको अपने ऊपर लागू होता सुनियेगा।

नीलसंवेदनस्यार्थे नीले सिद्धे प्रमाणता ।
तत्र तस्यां च सिद्धायां नीलोर्थस्तेन सिध्यति ॥ ७४ ॥

वास्तविक नील पदार्थके सिद्ध होजानेपर नील प्रत्यक्षको प्रमाणपना आता है। और उस नीलस्वलक्षणमें हुये नील ज्ञानकी उस प्रमाणताके सिद्ध हो चुकनेपर उस प्रमाणज्ञानसे नील स्वलक्षणरूपी अर्थ सिद्ध होता है, यह अन्योन्याश्रय दोष हुआ। दूसरे आदि प्रत्यक्षोंसे विषयसिद्धि माननेपर अनवस्था दोष लग जायगा।

इत्यन्योन्याश्रितं नास्ति यथाभ्यासबलात्कचित् ।
स्वतः प्रामाण्यसंसिद्धेरध्यक्षस्वार्थसंविदः ॥ ७५ ॥
तदेकत्वस्य संसिद्धौ प्रत्यभिज्ञा तदाश्रया ।
प्रमाणं तत्प्रमाणत्वे तया वस्त्वेकता गतिः ॥ ७६ ॥
इत्यन्योन्याश्रितिर्नस्यात्स्वतः प्रामाण्यसिद्धितः ।
स्वभ्यासात्प्रत्यभिज्ञायास्ततोन्यत्रानुमानतः ॥ ७७ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि किसी ज्ञानमें प्रमाणपनेकी सिद्धि यथायोग्य अभ्यासके बलसे स्वयं हो जाती है और किसी अर्थमें वस्तुभूतपना भी अभ्यासकी सामर्थ्यसे स्वयं हो जाता है। दूसरी तीसरी कोटिपर अभ्यास दशाके परमार्थ स्वलक्षण या प्रमाणज्ञान सुलभतासे मिलजाते हैं। अतः प्रत्यक्षरूप स्वार्थसम्वित्तिका प्रमाणपना स्वतः ही अभ्यासवश अच्छा सिद्ध हो रहा है। इस कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। जिस प्रकार बौद्धोंका यह कथन है उसी प्रकार हम स्याद्वादी कहते हैं कि कहीं उस वस्तुभूत एकत्वकी समीचीन सिद्धि होनेपर उसके आश्रयसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाण हो जाता है। और कचित् उस प्रत्यभिज्ञाका प्रमाणपन अच्छा सिद्ध हो चुकनेपर उस प्रमाण आत्मक प्रत्यभिज्ञा करके वस्तुभूत एकपना जानलिया जाता है। इस प्रकार हमारे यहां भी अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता है। क्योंकि अच्छा अभ्यास होनेसे प्रत्यभिज्ञानको स्वतः ही प्रमाणपना सिद्ध हो

रहा है। हां, उस अभ्यासदशाके अतिरिक्त अनभ्यस्त स्थलपर अनुमानसे प्रत्यभिज्ञाको प्रमाणपना साधलिया जाता है। वह अनुमान या उसके भी प्रमाणपनके लिये उठाया गया अन्य अनुमान अभ्यासदशाका होनेसे स्वतः प्रमाणरूप है। यही उपाय बौद्धोंका शरण्य है।

प्रत्यभिज्ञांतरादाद्यप्रत्यभिज्ञार्थसाधने।
यानवस्था समा सापि प्रत्यक्षार्थप्रसाधने॥ ७८॥
प्रत्यक्षांतरतः सिद्धात्स्वतः सा चेन्निवर्तते।
प्रत्यभिज्ञांतरादेतत्तथाभूतान्निवर्तताम्॥ ७९॥

आप बौद्धोंने आदिमें हुयी प्रत्यभिज्ञाके विषयभूत अर्थको साधनेमें दूसरी, तीसरी, आदि प्रत्यभिज्ञाओंकी आकांक्षा बढती बढती जानेसे जो अनवस्था दोष दिया था, वह दोष आपके यहां प्रत्यक्ष द्वारा अर्थका समीचीन साधन करनेमें भी समान ढंगसे लागू होता है। अर्थात् पहिले प्रत्यक्षके जाने हुये विषयकी वस्तुभूतपनेसे सिद्धि अन्य प्रत्यक्ष प्रमाणसे की जायगी और अन्य प्रत्यक्षके विषयका वास्तविकपना तीसरे, चौथे, आदि प्रत्यक्षोंसे साधा जायगा, यह अनवस्था आती है। यदि बौद्ध यों कहें कि अभ्यासदशाके स्वतः सिद्ध प्रामाण्यको रखनेवाले अन्य प्रत्यक्षसे आद्य-प्रत्यक्षके विषयका यथार्थपना साध लिया जायगा, अतः वह अनवस्था दोष निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन भी यही समाधान कर देवेंगे कि तैसे ही हो रहे। स्वतः सिद्ध प्रमाणपनको धरनेवाले अभ्यास दशाके अन्य प्रत्यभिज्ञानसे यह पहिले प्रत्यभिज्ञानका विषय भी वस्तुभूत साध लिया जाता है। अतः अनवस्था दोष निवृत्त हो जाओ।

ततो नैकत्वप्रत्यभिज्ञानं सावद्यं सर्वदोषपरिहारात्।

तिस कारण एकत्वको जाननेवाला प्रत्यभिज्ञान सदोष नहीं है। क्योंकि प्रतिवादियों द्वारा उठाये गये सम्पूर्ण दोषोंका समीचीन युक्तियोंसे निवारण कर दिया गया है।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमेतेनैव विचारितम्।
प्रमाणं स्वार्थसंवादादप्रमाणं ततोन्यथा॥ ८०॥

इस उक्त कथन करके ही सादृश्यको विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानका भी विचार कर दिया गया, समझलो। अपने और अर्थके जाननेमें बाधा नहीं पडनारूप सम्वादसे वह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। और उससे अन्यथा होनेपर यानी सादृश्य प्रत्यभिज्ञानके स्व और सादृश्य विषयमें व्यभिचार या बाधा उपस्थित होनेपर सादृश्यज्ञान अप्रमाण है, अर्थात् उसी एकमें या विसदृशपदार्थमें हुआ सदृशपनेका प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण है। सदृश अर्थमें हो रहा सादृश्य ज्ञान प्रमाण है। यह व्यवस्था सभी ज्ञानोंमें है।

नन्विदं सादृश्यं पदार्थेभ्यो यदि भिन्नं तदा कुतस्तेषामिति प्रदृश्यते । संबंधवत्त्वाच्चेत् कः पुनः सादृश्यतद्वतामर्थांतरभूतानामकार्यकारणात्मनां संबंधः ? समवाय इति चेत्, कः पुनरसौ ? न तावत्पदार्थांतरमनभ्युपगमात् ।

वैशेषिक और नैयायिक सादृश्यको न्यारा पदार्थ नहीं मानते हैं । नियत माने जा रहे द्रव्य आदि पदार्थोंमें गर्भित कर लेते हैं । सादृश्यको मीमांसक स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं । जैन विद्वान् प्रकृत वस्तुमें हो रहे अन्य कतिपय पदार्थोंके सदृश परिणमनको सादृश्य कहते हैं । बौद्ध विद्वान् सादृश्यको सर्वथा स्वीकार नहीं करते हैं । इस प्रकरणमें सादृश्य प्रत्यभिज्ञानके विषयको असिद्ध करनेके लिये बौद्धोंका लम्बा चौडा पूर्वपक्ष है । बौद्ध प्रथम ही प्रश्न उठाते हैं कि यह सदृशपना यदि पदार्थोंसे भिन्न है, तब तो उन पदार्थोंका यह सादृश्य है ऐसा कैसे भला दिखलाया जाता है ? बताओ । जो जिससे सर्वथा भिन्न होता है, उन पदार्थोंमें स्वस्वामी आदि संबंधको कहनेवाली षष्ठी विभक्ति नहीं उतरती है । जैसे कि सुदर्शनमेरुका स्वयम्भूरमण समुद्र है, यह षष्ठी विभक्ति शोभा नहीं देती है । क्योंकि सुदर्शनमेरुसे स्वयंभूरमण समुद्र सर्वथा भिन्न है । मिलता जुलता नहीं है । यदि जैन लोग भेद रहनेपर भी सदृश पदार्थ और सादृश्यका संबंध हो जानेसे " उनका यह सादृश्य है " यह व्यवहार करेंगे तब तो हम पूछते हैं कि सर्वथा भिन्न भिन्न पडे हुये और कार्यकारणस्वरूप नहीं हो रहे उन सादृश्य और सादृश्यवान् अर्थोंका फिर कौन संबंध माना गया है ? बताओ । यदि सदृश और सादृश्यका समवाय संबंध है यों कहोगे तब तो फिर हम बौद्ध पूछते हैं कि वह समवाय फिर क्या पदार्थ ? बताओ । वैशेषिकोंके समान छठवां स्वतंत्र न्यारा पदार्थ तो समवाय है नहीं । क्योंकि जैनोंने वैशेषिकोंके समवायको स्वीकार नहीं किया है ।

अविष्वग्भाव इति चेत् सर्वात्मनैकदेशेन वा, प्रतिव्यक्ति । सर्वात्मना चेत्सादृश्य-बहुत्वप्रसंगः । न चैकत्र सादृश्यं तस्यानेकस्वभावत्वात् । यदि पुनरेकदेशेन सादृश्यं व्यक्तिषु समवेतं तदा सावयवत्यं स्यात् । तथा च तस्य स्वावयवैः संबंधचिंतायां स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था ।

बौद्ध ही कह रहे हैं कि वह समवाय यदि अविष्वग्भावरूप है यानी पृथग्भाव न होने देना स्वरूप है, तब तो हम बौद्ध आप जैनोंको पूछते हैं कि वह सादृश्य सम्पूर्ण अंशोंसे रहेगा ? या एकदेशसे ठहरेगा ? यदि घट, गौ, आदि प्रत्येक व्यक्तियोंमें पूर्णरूपसे सादृश्य ठहर जायगा, तब तो बहुतसे सादृश्य होनेका प्रसंग होता है । जो अनेक व्यक्तियोंमें प्रत्येकमें पूरे भागोंसे ठहरता है, वह एक नहीं अनेक हैं । दूसरी बात यह है कि एक ही व्यक्तिमें पूरे अंशोंसे जब सादृश्य ठहर गया तो उस एक ही में ठहरनेवालेको सदृशपना प्राप्त नहीं होता है । क्योंकि वह सादृश्य तो अनेकोंका स्वभाव हो रहा है । अर्थात् सादृश्य दो आदि व्यक्तियोंमें रहता है । एकमें नहीं, यदि

फिर एक ही सादृश्यका अनेक व्यक्तियोंमें एक एक देशसे समवाय संबंध द्वारा ठहरना मानोगे तब तो वह सादृश्य अपने एक एकदेशरूप अवयवोंसे सहित हो जावेगा। और तैसा होनेपर उस सादृश्यका अपने अवयवोंके साथ पुनः संबंधका विचार होनेपर वही प्रश्न खडा होता रहेगा अर्थात् अपने एक एक अवयवमें वह सादृश्य अपने एकदेशसे ठहरेगा, ऐसी दशामें फिर उसके अवयव मानने पडेंगे और उन अवयवोंमें भी पहिलेसे अपने अनेक अवयवोंको धारता हुआ सादृश्य एक एक अंशसे ठहरेगा। इस प्रकार अनवस्था होती है। अतः सदृश पदार्थोंसे भिन्न पडे हुये सादृश्यकी सिद्धि जैनोंद्वारा न हो सकी।

यदि पुनरभिन्नं सादृश्यमर्थेभ्योऽभ्युपगम्यते तदापि तस्यैकत्वे तदभिन्ना नामर्थानामेकत्वापत्तिरेकस्मादभिन्नानां सर्वथा नानात्वविरोधात्। पदार्थनानात्ववद्वा तस्य नानात्वेभ्योऽनर्थान्तरस्य सर्वथैकत्वविरोधात्। तथा चोभयोरपि पक्षयोः सादृश्यासंभवः। सादृश्यवतां सर्वथैकत्वे तत्र सादृश्यानवस्थानात्। सादृश्यं सर्वथा नाना चेत् सादृश्यरूपतानुपपत्तेः।

यदि फिर सदृश अर्थोंसे सादृश्यको अभिन्न स्वीकार करोगे तो भी उस सादृश्यको यदि एक माना जायगा तो उस सादृश्यसे अभिन्न हो रहे अर्थोंके भी एकपनका प्रसंग होता है। क्योंकि जो एक पदार्थसे अभिन्न हो रहे हैं। उनके सर्वथा अनेकपनका विरोध है अथवा अभेदपक्षमें पदार्थोंके अनेकपनके समान उस सादृश्यको भी अनेकपना प्राप्त होगा। अनेकोंसे अभिन्न हो रहे पदार्थको सभी प्रकार एकपन हो जानेका विरोध है। किन्तु मीमांसकोंने अनेकोंमें रहनेवाले भी सादृश्यको एक ही इष्ट किया है। अतः उक्त प्रकारसे भिन्न अभिन्न दोनों भी पक्षोंमें सादृश्यका बनना असम्भव है। सादृश्यवाले गौ, घट, मुद्रा, आदि पदार्थोंको सर्वथा एक हो जाना माननेपर तो उस एकमें सदृशपना व्यवस्थित नहीं होगा। छोटीसे छोटी भी नदीके दो किनारे होने चाहिये। दूसरे पदार्थके आघातसे ही ताली बजसकती है। इसी प्रकार एक हीमें रहनेवाला सादृश्य नहीं होता है। तभी तो साहित्यवालोंने " गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः " यहां उपमालंकार नहीं मानकर अनन्वय माना है। यदि सादृश्यको व्यक्तियोंके समान सर्वथा अनेक मानोगे तो उसको सादृश्यरूपपना नहीं बन पाता है। अनेकोंमें पडे हुये एकसे रूपको सादृश्य कहते हैं। जो स्वयं अनेक होकर सर्वथा न्यारा न्यारा हो रहा है, वह सादृश्य नहीं है, किन्तु भिन्नता है।

सादृश्यमर्थेभ्यो भिन्नाभिन्नमिति चायुक्तं विरोधादुभयदोषानुषंगाच्च। तदर्थेभ्यो येनात्मना भिन्नं तेनैवाभिन्नं विरुध्यते। परेण भिन्नं तदन्येनाभिन्नमित्यवधारणात्तदुभयदोषप्रसक्तिः। संशयवैयधिकरण्यादयोपि दोषास्तत्र दुर्निवारा एवेति सादृश्यस्य विचारासहत्वात् कल्पनारोपितत्वमेव तद्विषयं च प्रत्यभिज्ञानं स्वार्थे संवादशून्यं न प्रमाणं नामाति-

प्रसंगात् । कल्पनारोपितादेव स्वार्थसंवादात्प्रमाणत्वे मनोराज्यादिविकल्पकलापस्य प्रमाणत्वानुषंगात् तादृक्संवादस्य सद्भावादिति कश्चित् तं प्रत्याहः—

बौद्ध ही कहे जा रहे हैं कि सादृश्यको अर्थोंसे भिन्न और अभिन्न यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि एक ही धर्मको भिन्न और अभिन्न कहनेमें विरोध दोष आता है। तथा दूसरे उभय नामके दोषका भी प्रसंग होता है। देखिये। वह सादृश्य सदृश अर्थोंसे जिस स्वरूप करके भिन्न है, उस ही स्वरूप करके अभिन्न कहा जा रहा है। यह कहना विरुद्ध आ पडता है। यदि वह सादृश्य दूसरे स्वभावोंसे भिन्न है, और उनसे न्यारे अन्य तीसरे स्वभावोंसे अभिन्न है, ऐसा नियम करनेसे विरुद्ध दोष तो हट गया, किन्तु उस उभय नामके दोषका प्रसंग आया। जैनोंके उस भेद अभेद पक्षमें लग रहे संशय, वैयधिकरण्य, संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति, अभाव इन दोषोंका भी कठिनतासे ही निवारण हो सकता है। जिस स्वभावसे भेद या अभेद हैं उनमें परिवर्तन कर संशय उठाना संशय दोष है। भेद और अभेदका नियम करनेवाले स्वभावोंका न्यारा न्यारा अधिकरण होना यह वैयधिकरण्य है। भेद अभेद दोनोंका एक ही समय वहीं प्राप्त हो जाना संकर है। परस्परमें विषयगमन करना व्यतिकर है। अकेले भेदवाले और अभेदवालेमें पुनः भेद अभेद माननेकी जिज्ञासा बढ जानेसे अनवस्था होती है। ठीक समझनेका कोई उपाय शेष न रहनेसे धर्म और धर्मीकी अप्रतिपत्ति हुई। तब तो अन्तमें जाकर उन धर्म धर्मियोंका अभाव हो जाता है। इस कारण उक्त प्रक्रियासे तुम्हारा माना हुआ सादृश्य पदार्थ हम बौद्धोंके विचारोंको नहीं सह सकता है। अतः कल्पनासे गढ लिया गया ही सादृश्य है, वस्तुभूत नहीं है। ऐसे सादृश्यको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान तो अपने विषयमें बाधवैधुर्यरूप सम्वादसे रहित होता हुआ प्रमाण कैसे भी नहीं है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा, यानी सम्वादरहित हो रहे संशय, विपर्ययज्ञान भी प्रमाण बन बैठेंगे। तथा कल्पनासे आरोपे गये ही स्वार्थके सम्वादसे यदि प्रमाणपना व्यवस्थित किया जायगा तो खेलनेवाले बालक, या मद्यपायी अथवा स्वप्नदर्शी पुरुषके मनमें गढ लिये गये राजापन, पण्डितपन, जगत्सेठपन, आदि विकल्पज्ञानोंके समुदायको भी प्रमाण बननेका प्रसंग हो जायगा। क्योंकि तैसा कल्पित सम्वाद तो कल्पना ज्ञानोंमें विद्यमान है। इस प्रकार बडी देरसे कोई कह रहा है। उस बौद्धके प्रति आचार्य महाराज अब स्पष्ट उत्तरपक्ष कहते हैं।

भेदाभेदविकल्पाभ्यां सादृश्यं येन दूष्यते।
वैसादृश्यं कुतस्तस्य पदार्थानां प्रसिध्यतु ॥ ८१ ॥

जिस बौद्धवादी करके भेद और अभेदका विकल्प उठाकर सादृश्यको दूषित किया जारहा है, उस बौद्धके यहां पदार्थोंका विसदृशपना भला कैसे प्रसिद्ध होवेगा ? बताओ। सादृश्यके ऊपर जो विकल्प उठाये गये हैं वैसे ही विकल्प वैसादृश्यके ऊपर उठाकर दूषण देदिये जायेंगे।

विसदृशानां भावो हि वैसादृश्यं तच्च पदार्थेभ्यो भिन्नमभिन्नं भिन्नाभिन्नं वा स्यादतोऽन्यगत्यभावात्। सर्वथा सादृश्यपक्षभावी दोषो दुर्निवार इति कुतस्तत्सिद्धिः।

विलक्षण पदार्थोंका भाव वैसादृश्य माना गया है और वह विसमानता विलक्षण पदार्थोंसे भिन्न है ? या अभिन्न है ? अथवा भिन्न अभिन्न है ? बताओ। इससे अन्य कोई गति नहीं, यानी कोई उपाय नहीं है। इन तीनों पक्षोंमें वे ही सादृश्यके पक्षमें लागू होनेवाले दोष सभी प्रकार कठिनतासे भी नहीं हटाये जा सकते हैं। इस प्रकार बताओ, उस वैसादृश्यकी सिद्धि कैसे होगी ? अर्थात विभिन्न पदार्थोंमें पडी हुई विसमानता यदि उनसे सर्वथा भिन्न है तो "यह उनकी है" यह व्यवहार सर्वथा भेदपक्षमें नहीं हो सकता है। संबंध मानोगे तो सर्वथा भिन्न पडे हुये विसमान पदार्थ और वैसादृश्यका समवाय संबंध तो नहीं सम्भावता है। बौद्धोंने समवायको माना भी नहीं है। तादात्म्य संबंध माननेपर पूर्णदेश और एकदेशका विकल्प उठानेसे पूर्वोक्त प्रकार वैसादृश्य बहुत्व और अनवस्था नामके दोष आते हैं। वैसादृश्य और विशदृश अर्थोंके सर्वथा अभेद माननेपर पदार्थोंके एक हो जानेका प्रसंग है। भिन्न अभिन्न पक्षमें विरोध आदिक दोष लगेंगे। इस प्रकार बौद्धोंके यहां विशदृशपनेकी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी।

सादृश्यवद्वैसादृश्यमपि न परमार्थमर्थक्रियाशून्यत्वात् स्वलक्षणस्यैव सत्त्वस्य परमार्थत्वात् तस्यार्थक्रियासमर्थत्वादिति चेत्—

बौद्ध कहते हैं कि चलो अच्छा हुआ, हम तो सादृश्यके समान वैसादृश्यको भी वास्तविक नहीं मानते हैं। क्योंकि विसदृशपना किसी भी अर्थक्रियाको नहीं करता है। सदृशविशदृशपनेसे रहित स्वलक्षणका तत्त्व ही अनेक अर्थक्रियाओंके करनेमें समर्थ है। इस प्रकार कहनेपर तो आचार्य महाराज उत्तर देते हैं।

न वैसादृश्यसादृश्यत्यक्तं किंचित्स्वलक्षणं।
प्रमाणसिद्धमस्तीह यथा व्योमकुशेशयं॥ ८२॥

वैसादृश्य (विशेष) और सादृश्य (सामान्य) से रहित हुआ कोई भी बौद्धोंका माना हुआ स्वलक्षण यहां प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं है। जैसे कि आकाशका कमल सामान्यविशेषोंसे रहित होता हुआ प्रमाणसिद्ध नहीं है, यानी असत् है।

प्रत्यक्षसंविदि प्रतिभासमानं स्पष्टं स्वलक्षणमिति चेत्—

बौद्ध कहते हैं कि स्वलक्षण तो प्रत्यक्षज्ञानमें स्पष्टरूपसे प्रतिभास रहा है। ऐसा कहनेपर तो आचार्य उत्तर देते हैं कि—

सामानाकारता स्पष्टा प्रत्यक्षं प्रतिभासते ।
वर्तमानेषु भावेषु यथा भिन्नस्वभावता ॥ ८३ ॥

उसी प्रकार वर्त्तमान कालमें विद्यमान हो रहे पदार्थोंमें समान आकारधारीपना स्पष्ट होकर प्रत्यक्षका विषय होता हुआ प्रतिभास रहा है, जिस प्रकार कि पदार्थोंमें भिन्न भिन्न स्वभाव सहितपना दीखरहा है। अर्थात् यह इससे न्यारा है इसका स्वभाव इससे भिन्न है, इत्यादि व्यावृत्ति बुद्धियोंसे जैसे पदार्थोंमें विशेष प्रतिभासित होता है, उसीके समान यह भी द्रव्य है, यह उसके समान है, ब्राह्मण शूद्र दोनों भी मनुष्य हैं, इत्यादि अन्वय बुद्धिके द्वारा सामान्य भी स्पष्ट दीख रहा है।

इदानींतनतया प्रतिभासमाना हि भावास्तेषु यथा परस्परं भिन्नरूपं प्रत्यक्षे स्पष्टमवभासते तथा समानमपीति सदृशेतरात्मकं स्वलक्षणं सिद्धमन्यथा व्योमारविंदवत्तस्यानवभासनात् । स्पष्टावभासित्वं समानस्य रूपस्य भ्रांतमिति चेत्, भिन्नस्य कथमभ्रांतं । बाधकाभावादिति चेत्, सामान्यस्य स्पष्टावभासित्वे किं बाधकमस्ति ? न तावत्प्रत्यक्षं स्वलक्षणानि पश्यामीति प्रयतमानस्यापि स्थूलस्थिराकारस्य साधनस्य स्फुटं दर्शनात् । तदुक्तं । " यस्य स्वलक्षणान्येकं स्थूलमक्षणिकं स्फुटम् । यद्वा पश्यति वैशद्यं तद्विद्धि सदृशस्मृतेः ॥ " इति ।

इस समय वर्तमानकालमें वर्त्तरहे स्वभावसे प्रतिभास रहे जो पदार्थ हैं उनमें परस्परमें एक दूसरेसे भिन्न हो रहे स्वरूपका जैसे स्पष्ट प्रतिभास होता है। तिस ही प्रकारसे पदार्थ परस्परमें समान हैं। इस ढंगसे समानरूपका भी प्रत्यक्षमें स्पष्ट प्रकाश हो रहा है। इस प्रकार सदृश और विसदृश धर्मस्वरूप स्वलक्षण पदार्थ सिद्ध हुआ। अन्यथा यानी निःस्वरूप उस सामान्य विशेष रहित स्वलक्षणका आकाश कमलके समान किसीको कभी प्रकाशन नहीं होता है। बौद्ध कहते हैं कि पदार्थोंके सामान्यस्वरूपका स्पष्ट प्रतिभास होना तो भ्रान्त है। वस्तुभूत विशेषात्मक स्वलक्षणका ही स्पष्ट प्रकाश होता है। अवस्तुभूत सामान्यका नहीं। इस प्रकार कहनेपर तो हम बौद्धोंसे पूछते हैं कि वैसादृश्य यानी एक दूसरेसे सर्वथा भिन्नरूपका प्रतिभास होना भ्रान्तिरहित भला कैसे कहा जायगा ? अर्थात् पदार्थोंमें वैसादृश्यका जानना भी भ्रमरूप हो जायगा। तिसपर बौद्ध यदि यों कहें कि वैसादृश्यका जानना बाधक प्रमाण न होनेके कारण अभ्रांत है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि सामान्यका स्पष्ट प्रकाश होनेमें क्या कोई बाधक प्रमाण खडा हुआ है। बताओ ? सबसे प्रथम प्रत्यक्षज्ञान तो सादृश्यका बाधक नहीं है। प्रत्युत साधक है, स्वलक्षणोंको मैं देख रहा हूं। इस प्रकार प्रयत्न कर रहे भी पुरुषके अर्थक्रियाको साधनेवाले स्थूल, स्थिर, साधारण,

(सादृश्य) आकारवाले अर्थका स्पष्ट प्रदर्शन हो रहा है। अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा सर्वथा सूक्ष्म, क्षणिक, विसदृश, ऐसे कोई पदार्थ नहीं दीख रहे हैं। किंतु स्थूल, कालान्तरतक ठहरनेवाले, सदृश, अर्थोंका विशद प्रत्यक्ष हो रहा है। वही हमारे यहां ग्रन्थोंमें कहा है कि जिसके यहां स्वलक्षणोंको जाननेवाला प्रत्यक्ष ही एक, स्थूल, अक्षणिक, ऐसे पदार्थको स्पष्ट देख रहा है, अथवा जिस प्रकार वैशद्यरूप होय उस प्रकार देख रहा है, उसीके समान सादृश्यको भी प्रत्यक्ष-ज्ञान स्पष्ट देख रहा है। क्योंकि पीछेसे सदृश पदार्थकी स्मृति हो जाती है। भावार्थ—सादृश्यको यदि प्रत्यक्षने न देखा होता तो पीछे स्मरण कैसे हो जाता ? भला तुम ही बताओ ? अतः पीछेसे सादृश्यकी स्मृति होनेसे समझलो कि सादृश्यका प्रत्यक्ष हो जाता था।

नाप्यनुमानं लिंगाभावात्। स्वस्वभावस्थितलिंगादुत्पन्नं भिन्नस्वलक्षणानुमानं सादृश्यज्ञानवैशद्यस्य बाधकज्ञानमिति चेन्न, तस्याविरुद्धत्वात्। तथाहि—

सामान्यको स्पष्टरूपसे देखनेमें अनुमान भी बाधक नहीं है। क्योंकि ऐसे अनुमानका उत्थापन करनेवाला कोई हेतु नहीं है। बौद्ध यदि यों कहें कि प्रत्येक पदार्थ या पर्याय अपने अपने स्वभावमें स्थित हो रहे हैं। इस कारण सम्पूर्ण स्वलक्षण सर्वथा भिन्न हैं। कोई किसीके सदृश नहीं है। अतः स्वस्वभाव व्यवस्थितरूप लिङ्गसे सर्वथा विसदृश स्वलक्षणोंको जाननेवाला अनुमानज्ञान जैनों द्वारा माने हुये सादृश्यके विशदज्ञानका बाधक है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वह अनुमान सादृश्यसिद्धिके विरुद्ध नहीं है। इसी बातको हम स्पष्ट कर दिखलाते हैं।

सदृशेतरपरिणामात्मकाः सर्वे भावाः स्वभावव्यवस्थितेरन्यथानुपपत्तेः। स्वस्वभावो हि भावानामबाधितप्रतीतिविषयः समानेतरपरिणामात्मकत्वं तस्य व्यवस्थिति-रुपलब्धिस्तस्यैव साधिका न पुनरन्यत्र भिन्नस्य स्वलक्षणस्य जातुचिदनुपलभ्यमानस्य हेत्वसिद्धिप्रसंगात्। तेन हेतवस्तत्र प्रत्युक्ताः ते हि यथोपलभ्यंते तथा तैररीक्रियंते अन्यथा वा ? प्रथमपक्षे विरुद्धाः साध्यविपरीतस्य साधनात्तस्यैव सत्त्वादिस्वभावे-नोपलभ्यंते। यदि पुनः पराभिमतस्वलक्षणस्वभावाः सत्त्वादयो मतास्तदा तेषामसिद्धिरेव। न च स्वयमसिद्धास्ते साध्यसाधनायालं।

सम्पूर्ण पदार्थ (पक्ष) सदृश और विसदृश परिणाम स्वरूप हैं (साध्य)। क्योंकि वे अपने अपने स्वभावोंमें व्यवस्थित हो रहे हैं। यह व्यवस्था अन्यथा यानी सदृश विसदृश स्वरूप माने विना नहीं बन सकती है। सम्पूर्ण पदार्थोंका अपना अपना स्वभाव बाधारहित प्रतीतियोंका विषय होता हुआ सामान्य विशेष परिणामस्वरूप है। उसकी व्यवस्था यानी

यथार्थ उपलब्धि उस हीकी साधक होगी। किन्तु फिर वह हेतु उपलब्धि अन्यमें साध्यको नहीं सिद्ध करा देगी। एकान्तरूपसे भिन्न हो रहा स्वलक्षण जो कि कभी नहीं दीख रहा है, उसकी सिद्धि नहीं होती है। हेतुकी असिद्धिका प्रसंग है अर्थात् सर्वथा विलक्षण स्वलक्षणमें स्वभावव्यवस्थितिरूप हेतु नहीं ठहरता है। तिस कारण उन बौद्धोंको हम पूछते हैं कि सर्वथा विसदृश अर्थोंको साधनेके लिये जो हेतु वहां प्रयुक्त किये हैं, वे जिस प्रकार ठीक ठीक दीख रहे हैं, तिस प्रकार उन्होंने स्वीकार किये हैं? अथवा दूसरे प्रकारसे बौद्ध हेतुओंको मानते हैं? पहिले पक्षमें तो वे सर्वथा भेदको साधनेवाले बौद्धोंके प्रयुक्त किये गये हेतु विरुद्ध हो जायेंगे। क्योंकि सर्वथा भिन्नस्वभावरूप साध्यसे विपरीत कथंचित् सदृश, विशदृश, परिणामका साधन हो जाता है। तुम्हारे साध्यसे विपरीत उस उभयात्मक पदार्थके ही सत्त्व आदि स्वभाव करके वे देखे जा रहे हैं। यदि फिर द्वितीय पक्षके अनुसार दूसरे बौद्धोंके माने गये स्वलक्षणके स्वभाव होते हुये सत्त्व आदिक हेतु अभीष्ट हैं, तब तो उन हेतुओंकी असिद्धि ही है। भावार्थ— प्रतीतिके विना अपने घरमें अन्ट सन्ट मान लिये गये स्वलक्षणके स्वभावरूप सत्त्व आदिक हेतु तो सम्पूर्ण पदार्थरूप पक्षमें नहीं ठहरते हैं। जो हेतु स्वयं असिद्ध हैं, साध्यको साधनेके लिये समर्थ नहीं हैं।

नन्वयं दोषः सर्वहेतुषु स्यात्। तथाहि—धूमोऽनग्निजन्यरूपो वा हेतुरग्निजन्यत्वे साध्येऽन्यथारूपो वा? प्रथमपक्षे विरुद्धस्तस्यानग्निजन्यत्वसाधनात्। सोग्निजन्यरूपस्तु न सिद्ध इति कुतः साध्यसाधनः। यदि पुनर्विवादापन्नविशेषणापेक्षो धूमः कंठादि (क्षि) विकारकारित्वादिप्रसिद्धस्वभावो हेतुरिति मतं तदा सत्त्वादयोपि तथा हेतवो न विरुद्धानाप्यसिद्धा इति चेन्नैतत्सारं, सत्त्वादिहेतूनां विवादापन्नविशेषणापेक्षस्य प्रसिद्धस्वभावस्यासंभवात्।

बौद्ध कटाक्ष करते हैं कि यह दोष तो सम्पूर्णहेतुओंमें लगजावेगा, सुनिये, उसको हम बौद्ध स्पष्ट कर दिखलाते हैं। जगत्में प्रसिद्ध हो रहा धूमहेतु अग्निसे जन्यपना साध्य करनेमें अनग्निजन्य स्वरूप है, अथवा अन्यथा है यानी अग्निजन्यरूप है। पहिला पक्ष ग्रहण करनेपर तो धूमहेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि अग्निजन्य न होता हुआ हेतु अग्निका साधन नहीं कर सकता है। वह तो अग्निरूप साध्यसे विरुद्ध अनग्निके साथ व्याप्ति रखता है। यदि दूसरे पक्षके अनुसार अग्निसे जन्यस्वरूप धूमहेतु मानोगे, तब तो वह अभीतक पक्षमें सिद्ध नहीं हुआ है। इस ढंगसे साध्यका साधन करनेवाला कैसे हो सकेगा? यानी नहीं। यदि फिर इन दोषोंको दूर करनेके लिये जैनोंका यह मन्तव्य होय कि अग्निजन्य या अनग्निजन्य इन विवादमें पडे हुये विशेषणोंकी तो अपेक्षा रखता हुआ और कंठ, नेत्र, आदिमें विकार करादेनापन, कपोतवर्णा, चारों ओर फैलना, आदि स्वभावोंसे प्रसिद्ध हो रहा धूम यहां हेतु है। अर्थात् अग्निजन्यपना या अग्निसे नहीं उत्पन्न होनापन विशेषण

तो विवादमें पडे हुये हैं, अभीतक सिद्ध नहीं हुये हैं। हां, कंठमें खांसी, आंखमें आंसू लादेना, आदि स्वभाववाला धूम हेतु माना है, तब तो हम बौद्ध भी कहदेंगे कि हमारे सत्त्व, कृतकत्व, आदि हेतु भी तिस प्रकार विरुद्ध नहीं हैं। और विलक्षणपना साधनेके लिये असिद्ध भी नहीं हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार यह बौद्धोंका कटाक्ष तो सारशून्य है। क्योंकि सत्त्व आदि हेतुओंके विवादमें पडे हुये सदृशपन या विसदृशपन, विशेषणकी अपेक्षा रखते हुये किसी प्रसिद्ध हो रहे अन्य स्वभावका असम्भव है, यानी बौद्धोंके माने गये सत्त्व आदि हेतुओंका कोई गांठका स्वभाव प्रसिद्ध नहीं है। अतः सर्वथा स्वभावभेदकी सिद्धि नहीं हो पाती है।

अर्थक्रियाकारित्वं प्रसिद्धः स्वभावस्तेषामिति चेत् न, तस्यापि हेतुत्वात् तत्प्रत्यक्षतातिक्रमात्तद्दोषानुषंगस्य भावात् तदवस्थत्वात्। सत्त्वादिसामान्यस्य साध्येतरस्वभावस्य सत्त्वादिति चेन्न, अनेकांतत्वप्रसंगात् साध्येतरयोस्तस्य भावात्। न च परेषां सत्त्वादिसामान्यं प्रसिद्धं स्वलक्षणैकान्तोपगमविरोधात्। कल्पितं सिद्धमिति चेत् व्याहतमिदं सिद्धं परमार्थसदभिधीयते तत्कथं कल्पितमपरमार्थसदिति न व्याहन्यते। न च कल्पितस्य हेतुत्वं अर्थो ह्यर्थं गमयतीति वचनात्।

उन सत्त्व आदि हेतुओंका प्रसिद्ध स्वभाव अर्थक्रियाको करादेनापन है, यह तो न कहना। क्योंकि उस अर्थक्रियाकारीपनको भी तो बौद्धोंने हेतु माना है। उसकी भी प्रत्यक्षताका अतिक्रमण हो जानेसे उस दोषका प्रसंग विद्यमान है। अतः असिद्धता, विरुद्धता, दोष अर्थक्रियाकारीपन हेतुमें भी वैसेके वैसे ही अवस्थित रहे। यदि बौद्ध यों कहें कि साध्य और साध्यसे भिन्नोंका स्वभाव हो रहा, सत्त्व, कृतकत्व आदिका सामान्य तो विद्यमान है। वह वैसादृश्यको साधनेमें हेतु हो जायगा। सिद्धान्ती कहते हैं कि सो तो न कहना। क्योंकि साध्य और साध्याभाववालेमें विद्यमान रहनेके कारण सामान्यरूपसे उस सत्त्व या कृतकत्व हेतुके व्यभिचारी हो जानेका प्रसंग आता है। दूसरी बात यह है कि दूसरे यानी बौद्धोंके यहां सत्त्व आदिका कोई सामान्य भी तो प्रसिद्ध नहीं है यदि सामान्यको बौद्ध मानलें, तब तो सुलभतासे सादृश्य सिद्ध हो जायगा। सामान्यको माननेपर बौद्धोंको एकान्तरूपसे विशेष स्वलक्षणोंके ही स्वीकारका विरोध पडेगा। यदि बौद्ध यों कहें कि मैं सामान्यको कल्पना किया गया, सत्य मानता हूं। इसपर तो हम जैन कहेंगे कि यह कहना व्याघातदोषसे दूषित है। जो सिद्ध हो चुका, वह तो वस्तुभूत सत् कहा जाता है। वह भला कल्पित हो कर अपरमार्थभूत होय, इसमें व्याघात दोष क्यों नहीं होगा? भावार्थ—जो परमार्थ है वह कल्पित नहीं है और जो कल्पित है, वह परमार्थ प्रमाणसिद्ध नहीं। और एक यह भी बात है कि कल्पितपदार्थ हेतु नहीं हो सकता है। वास्तविक अर्थ ही नियमसे वस्तुभूत अर्थको समझाता है, ऐसा अभियुक्तोंका वचन है।

न च प्रतीयते स्वलक्षणात्मकोर्थो यस्य हेतुत्वं धर्मः कल्पते यस्तु प्रतीयते नासावर्थोऽमिमत इति । किंच तल्लिंगमाश्रित्य क्षणिकपरमाणुस्वलक्षणानुमानं प्रवर्तेत यत्सादृश्यज्ञानवैशद्यप्रतिभासस्य बाधकं स्यात् । ततो विध्वस्तबाधं वैसादृश्यज्ञानवत्सादृश्यवैशद्यमिति । परमार्थसत्सादृश्यं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयभावमनुभवत्येकत्ववत् ।

तथा स्वलक्षणरूप अर्थ बौद्धोंके कथन अनुसार प्रतीत भी नहीं हो रहा है। जिसका कि धर्म हेतुपना कल्पित कर लिया जाय और जो सामान्य विशेषआत्मक अर्थ प्रतीत हो रहा है, वह तो बौद्धोंने वस्तुभूत अर्थ नहीं माना है। यह विषमता छाई हुई है। दूसरे हम यह पूछते हैं कि उस लिङ्गका आश्रय कर क्षणिक और परमाणुरूप स्वलक्षणका साधक भला कौनसा अनुमान प्रवर्त्तेगा ? जो कि हमारे माने हुये सादृश्यज्ञानके विशद हो रहे प्रतिभासका बाधक हो जाय। अनुमानज्ञान तो व्याप्तिग्रहणके अनुसार सामान्यरूपसे ही साध्यको जान सकेगा। पहिले कालमें व्याप्तिग्रहण किये गये दृष्टान्तनिष्ठ हेतुके सादृश्यका ज्ञान होनेपर ही पक्षनिष्ठ सदृश हेतुसे साध्यकी सिद्धि हो सकेगी। इस ढंगसे तो सादृश्य ही सिद्ध हो जाता है। तिस कारण अपनी ओर आई हुई बाधाओंका विध्वंस करता हुआ सादृश्यका विशदज्ञान होना सिद्ध हो जाता है, जैसे कि विसदृशपनेका ज्ञान विशद सिद्ध हो रहा है। इस कारण परमार्थस्वरूपसे विद्यमान हो रहा सादृश्यपदार्थ तो प्रत्यभिज्ञानके विषयपनका अनुभवन कर रहा है, जैसे कि पूर्वोत्तर पर्यायोंमें वर्त रहा एकपना प्रत्यभिज्ञानका विषय साध दिया गया है। अन्य भी प्रत्यभिज्ञानके विषय हो जाते हैं जैसे कि किसी विशिष्ट स्थानको जानेवाले दो मार्गोंका अनुभव कर यह इससे दूर है, ऐसा दूरत्वग्राही प्रत्यभिज्ञान होता है। मुखके ऊपर मध्यमें एक सींगवाला पशु गेंडा कहलाता है। ऐसा सुनकर विचित्र वस्तु संग्रहालय (अजायब घर) में वैसा पशु दीख जानेसे यही गेंडा है, यह ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञान है। सात पत्तोंके बने हुये अनेक गुच्छोंसे युक्त सप्तपर्णवृक्ष होता है। उत्तम शटासहित केसरी सिंह होता है, इत्यादि वाक्योंके संस्कार युक्त पुरुष द्वारा वैसे पदार्थका प्रत्यक्ष कर चुकनेपर सप्तपर्ण, सिंह आदिका ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है। यहां मुख्यतासे एकत्व और सादृश्यको जाननेवाले प्रत्यभिज्ञानको साधकर अन्य प्रत्यभिज्ञानोंका उपलक्षण कर दिया है।

तदविद्यावलादिष्टा कल्पनैकत्वभासिनी ।
सादृश्यभासिनी चेति वागविद्योदयाद्ध्रुवम् ॥ ८४ ॥

एकत्वका प्रकाश करनेवाली और सादृश्यका प्रतिभास करनेवाली वह प्रतीति अविद्याकी सामर्थ्यसे हो रही है, यह हम बौद्धोंको अभीष्ट है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका वचन ही स्वयं अविद्याके उदयसे प्रवर्त रहा है, यह पक्की बात समझो। अर्थात् यथार्थ वस्तुमें हो रहे प्रमाणज्ञानको अविद्यासे जन्य कहनेवाला बौद्ध स्वयं अविद्यासे पीडित हो रहा है।

तदेवं निर्बाधबोधाधिरूढे प्रसिद्धेप्येकत्वे सादृश्ये च भावानां कल्पनैवेयमेकत्व सादृश्यावभासिनी दुरंतानाद्यविद्योपजनिता लोकस्येति ब्रुवाणः परमदर्शनमोहोदय-मेवात्मनो ध्रुवमवबोधयति ।

तिस उपर्युक्त क्रमसे इस प्रकार पदार्थोंके एकत्व और सादृश्यका बाधारहित ज्ञानमें प्राप्त हो जाना प्रसिद्ध हो चुकनेपर भी बौद्ध विनाकारण यह कहे जा रहा है कि यह सादृश्य और एकत्वका प्रतिभास करनेवाली प्रतीति तो कल्पना ही है, जो कि कठिनतासे अन्त आनेवाली अनादिकालीन लगी हुई अविद्यासे लौकिक जीवोंके उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार कह रहा बौद्ध स्वयं अपने ही अत्यधिक दर्शनमोहनीय कर्मके उदयको निश्चयसे समझा रहा है । अच्छी दोनों आंखोंसे युक्त मनुष्योंको एकाक्ष कहनेवाला स्वयं अपने अन्धेपनको प्रगट कर रहा है ।

सह क्रमादिपर्यायव्यापिनो द्रव्यस्यैकत्वे न सुप्रतीतत्वात् । सादृश्यस्य च पर्याय-सामान्यस्य प्रतिद्रव्यव्यक्तिव्यवस्थितस्य समाना इति प्रत्ययविषयस्योपचारादेकत्वव्यव-हारभाजः सकलदोषासंस्पृष्टस्य सुस्पष्टत्वात् । ततस्तद्विषयप्रत्यभिज्ञानसिद्धिरनवद्यैव ।

गुणस्वरूप सहभावीपर्याय और अर्थ, व्यंजनपर्यायरूप क्रमभावी परिणाम तथा सप्तभंगीके विषय वास्तविक काल्पित धर्म एवं पर्यायशक्तिरूप अधिक कालस्थायी गुणोंमें व्यापरहे द्रव्यकी एकत्वपनसे भले प्रकार प्रतीति हो रही है । और प्रत्येक द्रव्यव्यक्तियोंमें समानपनेसे व्यवस्थित हो रहीं पर्यायें सादृश्य हैं । यह भी अच्छा प्रतीत हो रहा है । घट, रुपया, एकेन्द्रिय जीव, आदि पदार्थोंमें कुछ ऐसे परिणाम होते हैं, जिनसे ये उनके समान हैं, ऐसा प्रत्यय हो जाता है । पृथ्वीकायिक जीव, जलकायिकजीवके समान है । एकेन्द्रियपनका परिणाम दोनोंमें एकसा है । वस्तुभूत परिणाम हुये विना सम्यक्ज्ञान भला किसको जानें ? जगत्में जितने कार्य हो रहे हैं, वे सब वस्तुभूत कारणोंपर अवलम्बित हैं । मिट्टीकी बनी हुई गाय दूध नहीं देती है । हां, छाया कर देना बोझ धर देना आदि अपने योग्य अर्थक्रियाओंको अवश्य करती है । इसी प्रकार यह इसके समान है, यह ज्ञान भी वास्तविक परिणामकी भित्तिपर डटा हुआ है । अनेक समान घटोंमें न्यारा न्यारा सदृश परिणाम बन रहा है । जैसे कि उनका व्यक्तित्व (विशेष) परिणाम बनता रहता है । उन अनेक सादृश्योंको एकपनका व्यवहार करके यह सदृश है, ऐसी प्रतीति हो जाती है । वस्तुतः ये सदृश धर्मोंको धारनेवाले हैं । यों अच्छा प्रतीति होता है । यह इसके समान है, ऐसे ज्ञानके विषय हो रहे, और उपचारसे एकपनके व्यवहारको धर रहे तथा सम्पूर्ण दोषोंसे कथमपि नहीं छुये गये सादृश्यका अच्छा स्पष्टज्ञान हो रहा है । अवान्तर सत्ताओंके समुदायरूप महासत्ताको भी एकपना उपचरित है । तिस कारण उस सादृश्यको विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानकी सिद्धि निर्दोष ही हो चुकी। यहांतक संज्ञा नामक मतिज्ञानका निर्णय करा दिया है। अब चिंता मतिज्ञानको साधते हैं।

संबंधं व्याप्तितोर्थानां विनिश्चित्य प्रवर्तते ।
येन तर्कः स संवादात् प्रमाणं तत्र गम्यते ॥ ८५ ॥

जिस ज्ञान करके अर्थोंके संबंधको सम्पूर्ण देश, कालका उपसंहार करनेवाली व्याप्तिके स्वरूपसे विशेष निश्चय कर अनुमानकर्त्ता जीव प्रवृत्ति करता है, वह तर्कज्ञान उस संबंधग्रहणमें सम्वाद हो जानेके कारण प्रमाण समझा जाता है ।

येन हि प्रत्ययेन प्रतिपत्ता साध्यसाधनार्थानां व्याप्त्या संबंधं निश्चित्यानुमानाय प्रवर्तते स तर्कः संबंधे संवादात्प्रमाणमिति मन्यामहे ।

जिस तर्कज्ञान करके साध्य, साधनरूप अर्थोंके व्यापनेवाले रूपसे संबंधका निश्चय कर प्रतिपत्ता जीव अनुमानके लिये प्रवृत्ति करता है, वह तर्कज्ञान साध्यसाधनके संबंधको जाननेमें बाधारहित सम्वाद होनेके कारण प्रमाण है । इस प्रकार हम स्याद्वादी मानते हैं । सम्वादयुक्त ज्ञान तो प्रमाण होना ही चाहिये ।

कुतः पुनरयं संबंधो वस्तु सन् सिद्धो यतस्तर्कस्य तत्र संवादात् प्रमाणत्वं कल्पितो हि संबंधस्तस्य विचारासहत्वादित्यत्रोच्यते ।

संबंधको नहीं माननेवाले बौद्ध पूछते हैं कि यह संबंध फिर वस्तुभूत हो रहा कैसे सिद्ध माना जाय ? जिससे कि उस संबंधके जाननेमें सम्वाद हो जानेसे तर्कज्ञानको प्रमाणता मान ली जाय । हम बौद्ध तो कहते हैं कि वह संबंध पदार्थ कल्पित ही है । हमारे उठाये हुये विचारोंको वह नहीं झेल सकता है । इस प्रकार यहां बौद्धोंके कहनेपर अब आचार्य अपना सिद्धान्त कहते हैं।

संबंधो वस्तु सन्नर्थक्रियाकारित्वयोगतः ।
स्वेष्टार्थतत्त्ववत्तत्र चिंता स्यादर्थभासिनी ॥ ८६ ॥

संबंध (पक्ष) वस्तुभूत होकर विद्यमान है (साध्य) । अर्थक्रियाको करनेवालेपनका योग होनेसे (हेतु)। जैसे कि अपने २ अभीष्टतत्त्व अर्थ वास्तविक हैं (दृष्टान्त) । उस संबंधमें यथार्थपनका प्रकाश करानेवाली चिंता बुद्धि उपयोगिनी हो रही है । गौ न्यारा पदार्थ है । सांकल न्यारी है । किन्तु आंकडेमें डालकर गौके गलेमें बांधनेसे उस संबंधके ही द्वारा गौ स्वतंत्र विचरण नहीं कर पाती है । सिद्धालयमें भी कार्मण वर्गणाऐं विद्यमान हैं । किन्तु संयोग मात्रसे कुछ फल नहीं होता है । योग, कषाययुक्त संसारी जीवोंके साथ कार्मणद्रव्यका समीचीन बंध हो जानेपर ही राग द्वेष, अज्ञान, आदि भाव उत्पन्न होते हैं । अकेला अकेला तन्तु शीतबाधाको दूर करना, गजको बांधना, कुयेंसे पानी खेंचना, इन क्रियाओंको नहीं कर सकता है । हां, उन अनेकोंका संबंध उक्त क्रियाओंको सुलभतासे कर देता है । प्रकरणमें अनुमाताके लिये संबंधका ज्ञान अनुमिति करनेमें उपयोगी है ।

का पुनः संबंधस्यार्थक्रिया नाम ।

बौद्ध फिर पूछते हैं कि संबंधकी वह अर्थक्रिया भला कौनसी है ? जिसका कि योग संबंधमें मानकर तुम जैनोंका हेतु असिद्धदोषसे बच सके । इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं ।

येयं संबंधितार्थानां संबंधवशवर्तिनी ।
सैवेष्टार्थक्रिया तज्ज्ञैः संबंधस्य स्वधीरपि ॥ ८७ ॥

संबंधके अधीन होकर वर्त रही जो यह अर्थोंकी संबंधिता है, वही संबंधकी अर्थक्रिया उस संबंधके वेत्ता विद्वानोंने अभीष्ट की है । तथा संबंधका ज्ञान करा देना भी संबंधकी गांठकी अर्थक्रिया है । जगत्में असंख्य पदार्थ ऐसे पडे हुये हैं, जो कि हमारे लिये या अन्य जीवोंके लिये कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं करा रहे हैं । एतावता नैयायिकोंकी नीतिके अनुसार उनका अभाव कह देना हम जैनोंको अभीष्ट नहीं है । वे पदार्थ भी अपने योग्य अर्थक्रियाओंको कर रहे हैं । अपने विषयमें सर्वज्ञका ज्ञान करा देना इस सर्व सुलभ अर्थक्रिया कर देनेको भला उनसे कौन छीन सकता है ? । कतिपय औषधियोंको मिलाकर विशिष्ट रोगको दूर किया जाता है । मद्यका शरीरमें बंध हो जानेसे मनुष्य उन्मत्त हो जाता है । ये सब सम्बन्धसे होनेवाली अर्थक्रियायें हैं ।

सति संबंधेर्थानां संबंधिता भवति नासतीति तदन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी या प्रतीता सैवार्थक्रिया तस्य तद्विद्भिरभिमता यथा नीलान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी काचिन्नीलता नीलस्यार्थक्रिया तस्यास्तत्साध्यत्वात् । संबंधज्ञानं च संबंधस्यार्थक्रिया नीलस्य नीलज्ञानवत् । तदुक्तं । मत्या तावदियमर्थक्रिया यदुत स्वविषयविज्ञानोत्पादनं नामेति ।

वस्तुभूत संबंधके होनेपर ही घृत जल या दही गुड अथवा आत्मा कर्म एवं विष शरीर, आदि अर्थोंका संबंधीपना होता है । संबंधके न होनेपर या कल्पित संबंधके होनेपर संबंधीपना नहीं है । इस प्रकार उस संबंधके अन्वयव्यतिरेकका अनुसरण करनेवाले संबंधीपनकी प्रतीति हो रही है । उस संबंधका अन्तस्तल स्पर्श करनेवाले विद्वानोंने उस संबंधकी अर्थक्रिया वही संबंधीपन अभीष्ट किया है । जैसे कि किसी नील रंगसे रंगे हुये वस्त्रमें नीलके साथ अन्वयव्यतिरेकका अनुविधान करनेवाली नीलता ही नीलरंगकी अर्थक्रिया है । क्योंकि वह कपडेमें नीलापन नीलरंगसे ही साधने योग्य कार्य है । तथा नीलका ज्ञान करादेना भी जैसे नीलकी अर्थक्रिया है, वैसे ही संबंधका ज्ञान करादेना भी संबंधकी अर्थक्रिया है । वही अन्य ग्रन्थोंमें कहा है कि सबसे पहिले पदार्थोंकी अर्थक्रिया यह है, जो कि अपने स्वरूप विषयमें अन्यकी बुद्धियों द्वारा विज्ञान उत्पन्न करादेना है । भला इस सुलभ अर्थक्रियाको करनेमें कौन किसको रोक सकता है ? कोई क्रोधी राजा अपराधरहित जीवको कारागृह (जेलखाने) में ठूंस सकता है । किन्तु सज्जनके

मानसिक विचारोंको नहीं बदल सकता है। दुर्दैव किसी स्त्रीके धन, पुत्र, सौन्दर्य, को भले ही न होनेदे, किन्तु उसके हाथ, पैर, अंग उपांगोंको नहीं छिडालेता है। किसी एवम्भूत नयने तो अग्निके ज्ञानको ही अग्नि माना है।

विशिष्टार्थान्परित्यज्य नान्या संबंधितास्ति चेत्।
तदभावे कुतोर्थानां प्रतितिष्ठेद्विशिष्टता ॥ ८८ ॥
स्वकारणवशादेषा तेषां चेत् सैव संमता।
संबंधितेति भिद्येत नाम नार्थः कथंचन ॥ ८९ ॥

बौद्ध कहते हैं कि अतिनिकटमें रखे हुये, एक दूसरेसे नहीं चिपटे हुये, विशेष अवस्थावाले पदार्थोंको छोडकर अन्य कोई उन अर्थोंका संबंधीपना नहीं है। ऐसा माननेपर तो हम जैन कहते हैं कि उस संबंधके न माननेपर अर्थोंका विशिष्टपना भला कैसे प्रतिष्ठित रह सकेगा? यदि आप बौद्ध यों कहें कि अपने अपने कारणोंके वशसे ही उन अर्थोंकी विशिष्टता होना हमको अभीष्ट है, तब तो हम कहेंगे कि वही तो हमारे यहां संबंधिता सम्मत की गई है। इस ढंगसे तो नाममात्रका ही भेद हो रहा है। अर्थका कैसे भी भेद नहीं है। बौद्ध जिसको विशिष्टता कहते हैं, हम जैन उसको संबंधिता मानते हैं। शब्दोंमें व्यर्थ झगडा करना हमें इष्ट नहीं है। तत्त्वार्थ सिद्ध होनेसे प्रयोजन है। किन्तु यह विशिष्टता या संबंधिता पदार्थोंकी विशेष परिणतिपर ही अवलम्बित है। अतः सम्बन्ध वस्तुभूत सिद्ध हो जाता है। "यावन्ति कार्याणि तावन्तो वस्तुतः स्वभावभेदाः" वस्तुसे जितने कार्य हो रहे हैं, उतने उसमें वास्तविक परिणाम हैं।

न हि संबंधाभावेर्थाः परस्परं संबद्धा इति विशिष्टता तेषां प्रतितिष्ठत्यतिप्रसंगात्। स्वकारणवशात् केषांचिदेव संबंधप्रत्ययहेतुता समानप्रत्ययहेतुतावदिति चेत् सैव संबंधिता तद्वदिति नाममात्रं भिद्यते न पुनरर्थः प्रसाधितश्च संबंधः पारमार्थिकोऽर्थानां प्रपंचतः प्राक्।

पदार्थ परस्परमें संबंधको प्राप्त हो रहे हैं। इस प्रकारका उनका विशिष्टपना संबंधके अभाव माननेपर नहीं प्रतिष्ठित हो पाता है। क्योंकि कोई नियामक न होनेसे संबंधितपनेका अतिक्रमण हो जायगा। अनेक संबंधरहित पदार्थ भी संबंधी बन बैठेंगे। अर्थात् परस्परमें कालाणुओंका या जीवका दूसरे जीवके साथ संबंधित हो जानेका प्रसंग होगा। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि अपने अपने कारणोंकी अधीनतासे किन्हीं ही अत्यासन्न, अव्यवहित हो रहे पदार्थोंका संबंधीपन माना जायगा, जो कि "इनके साथ इनका संबंध है" इस ज्ञानका कारण बन जायगा। जैसे कि जैनोंके यहां सभी साधारण या असाधारण पदार्थोंमें समानपनेका ज्ञान करानेकी कारणता नहीं मानी है। किन्तु अपने

नियत कारणोंसे अर्वाग उत्पन्न हुई किन्हीं सदृश पदार्थोंको सामान्य नामके सदृश परिणामसे " यह इसके समान है " ऐसे ज्ञान करानारूप कार्यके प्रतिकारणता मानी है। तब तो हम जैन कहेंगे कि वही अपने नियत कारणोंसे किन्हीं विवक्षित अर्थोंके संबंधितपनेका ज्ञान करानेवाला संबंध परिणाम ही तो संबंधिता है। जैसे कि तिर्यक्सामान्य या ऊर्ध्वतासामान्य नामक वस्तुभूत परिणतियां सामान्य पदार्थ हैं। संबंधिताका अपने कारणोंसे उत्पन्न होना बौद्धोंने मान लिया। अतः बौद्धोंके और हमारे यहां केवल नाम रखनेमें ही भेद हुआ, अर्थका फिर कोई भेद नहीं है। दूध बूरा, दाल लवण, आत्माज्ञान, जीव–पुद्गल, पुद्गल–पुद्गल आदि पदार्थोंके वास्तविक संबंधको हम पहिले प्रकरणोंमें बडे विस्तारसे भले प्रकार सिद्ध कराचुके हैं। यहां प्रकरण बढानेसे कोई लाभ नहीं है।

संबंधितास्य मानव्यवस्थितिहेतुरित्यलं विवादेन। निर्बाधं संबंधितायाः स्वबुद्धेः स्वार्थक्रियायाः संबंधस्य व्यवस्थानात्। पावकस्य दाहाद्यर्थक्रियावत् संवेदनस्य स्वरूपप्रतिभासनवद्वा तस्या वासनामात्रनिमित्तत्वे तु सर्वार्थक्रिया सर्वस्य वासनामात्रहेतुका स्यादिति न किंचित्परमार्थतोर्थक्रियाकारीति कुतो वस्तुत्वव्यवस्था।

मिले हुये पदार्थोंका संबंधीपना ही इस संबंधकी प्रमाणविषयताको व्यवस्थित करानेमें अव्यभिचारी कारण है। अतः इस विषयमें अधिक विवाद करनेसे कुछ भी साध्य नहीं है। संबंधकी भले प्रकार सिद्धि हो जाती है। संबंधकी निज अर्थक्रिया यही है कि बाधारहित होकर संबंधीपनारूप स्वकीय बुद्धिकी व्यवस्था हो रही है, जैसे कि अग्निकी दाह करना, शोषण करना, पाककरना, आदि अर्थक्रिया है। अथवा बौद्धोंके माने हुये संवेदनकी अपनी गांठकी अर्थक्रिया स्वरूपका प्रतिभास करना है। इसी प्रकार बाधारहित संबंधबुद्धि करा देना संबंधकी अवश्यंभाविनी अर्थक्रिया है। भावार्थ—संबंधके कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नज्ञानको तो बौद्ध मान लेते हैं। किन्तु संबंधज्ञानके कारणतावच्छेदकावछिन्नसंबंधको नहीं स्वीकार करते हैं। भ्राताओ! देखो, वस्तुभूत कारणसे ही वस्तुभूत कार्य उत्पन्न हो सकता है। यदि उस संबंधज्ञानकी केवल झूठी वासनाओंके निमित्तसे उत्पत्ति होना मानोगे तब तो सम्पूर्ण पदार्थोंकी सभी अर्थक्रियायें केवल वासनाओंको हेतु मानकर ही उत्पन्न हो जायंगी या ज्ञात हो जायंगी। इस कारण कोई भी वस्तु परमार्थरूपसे अर्थक्रियाको करनेवाली नहीं बन सकेगी। इस प्रकार भला यथार्थ वस्तुपनकी व्यवस्था कैसे होगी? तुम्हीं जानों। भावार्थ—ज्ञान ही तो वस्तुओंके व्यवस्थापक हैं। और ज्ञानोंको यों ही कोरे मिथ्या संस्कारोंसे उत्पन्न हुये मानलेनेपर कोई वस्तु यथार्थ नहीं ठहरती है। बौद्धोंके मत अनुसार यों उपपत्ति करली जायगी कि देवदत्तको अग्निका ज्ञान हुआ। वह स्वप्नज्ञानके समान यों ही मस्तिष्कविकारसे हो गया है। अग्निके उष्णस्पर्शका ज्ञान भी झूठे संस्कारके वश हो गया। देवदत्तका शरीर भुरस गया है। यह भी वासनाओंसे ही ज्ञात हो रहा है। भुरसनेकी पीडा भी वासनाओंसे ही प्रतीत हो रही है।

ऐसी पोलम्पोलकी दशामें बौद्धोंके यहां किसी भी ज्ञान या ज्ञेय पदार्थकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। यहांतक बात पहुंच जायगी कि देवदत्तको कुटुम्ब, धन, गृह, आदिक भी वासनासे दीख रहे हैं। वस्तुतः कुछ नहीं है। देश, देशान्तर, पर्वत, नदी, बम्बई,कलकत्ता,आदि नगर, सूर्य, चन्द्रमा, रेलगाडी, मेघवृष्टि, न्यायालय, बाजार, क्रय, विक्रय, आदि सम्पूर्ण पदार्थ मायाजाल हैं। देवदत्तकी आत्मामें बैठी हुई अनादिकालीन वासनायें इन खेलोंको दिखा रही हैं। अधिक क्या कहा जाय ? प्रत्येक रोगी, दरिद्र, या कीट जीव भी जगत्की प्रक्रियाको इन्द्रजालके समान कल्पित मानकर स्वयम् खेल देखनेवाला कहा जासकता है। रेलगाडीमें बैठकर कलकत्तेको जारहा देवदत्त मनमें विचार सकता है कि यह रेलगाडीका चलना कानपुर, प्रयाग, पटना, या अन्य पथिकोंका चढना उतरना कोई वस्तुभूत नहीं है। मेरी वासनायें ही मुझे यह खेल दिखा रहीं हैं। रोगी होना, भूँख-लगना, भोजन करना, पूजन, सामायिक, वाणिज्य, भोग, परिभोग, चहल, पहल, ये सब वासना-ओंसे दीख रहे हैं, वस्तुभूत नहीं हैं। इस प्रकार किसी भी अंतरंग बहिरंग तत्त्वकी व्यवस्था बौद्धोंके यहां नहीं हो सकती है। महान् अन्धेर छा जायगा।

परितोषहेतोः पारमार्थिकत्वेप्युक्तं स्वप्नोपलब्धस्य तत्त्वप्रसंगात् इति न हि तत्र परितोषः कस्यचिन्नास्तीति सर्वस्य सर्वदा सर्वत्र नास्त्येवेति चेत् जाग्रदर्थक्रियायास्तर्हि सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात् परमार्थसत्त्वमित्यायातं। तथा चार्थानां संबंधितार्थक्रिया संबंधस्य कथं परमार्थसतीति न सिद्ध्येत्। न हि तत्र कस्यचित्कदाचिद्बाधकप्रत्यय उत्पद्यते येन सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वं न भवेत्।

बौद्ध यदि आत्माको परितोषके कारण अर्थोंको वस्तुभूत पदार्थ मानेंगे तो भी वस्तुव्यवस्था नहीं हो सकेगी, इसको हम कह चुके हैं। स्वप्नमें देखे हुये पदार्थोंसे भी कुछ कालतक परितुष्टि हो जाती है। अतः स्वप्नमें जाने हुये स्त्री, धन, जल, घोडा, ग्राम, आदि पदार्थोंको भी पारमार्थि-कपनेका प्रसंग हो जायगा। उस स्वप्नमें देखे हुये पदार्थमें किसीको भी प्रसन्नता नहीं है, यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि स्वप्न देखे पीछे कुछ देरतक सुखदुःख अनुभवे जाते हैं। यदि बौद्ध यों कहें कि सभी स्वप्नदर्शी प्राणियोंको सर्वदा सभी स्थलोंपर परितोष होता नहीं है। अतः स्वप्न दृष्ट पदार्थोंका परितोषकारीपना व्यभिचरित हुआ। इसपर तो हमें फिर यही कहना पडता है कि जागती दशाकी अर्थक्रियाके बाधकोंका असम्भव अच्छा निश्चित हो रहा है। अतः जागृत अवस्थामें पदार्थ परमार्थरूपसे सत् सिद्ध होगये, यह सिद्धान्त बौद्धोंके कहे विना ही प्राप्त हो गया और तिस प्रकार होनेपर संबंधकी अर्थोंको संबंधी करदेनारूप अर्थक्रिया क्यों नहीं परमार्थरूपसे विद्यमान हो रही सिद्ध हो जायगी ? जागती अवस्थामें देखे गये घट आदिक पदार्थोंकी उन जलधारण, जल शीतलता आदि अर्थक्रियाको करनेमें किसीके भी किसी भी समय बाधकज्ञान नहीं उत्पन्न

होता है, जिससे कि बाधकोंके नहीं सम्भवनेका अच्छा निश्चित होनापन न होता अर्थात् संबंध हीसे उत्पन्न हो रहीं, अर्थक्रियाओंका कोई बाधक प्रमाण नहीं है, ऐसा अच्छा निर्णय हो रहा है।

सर्वथा संबंधाभाववादिनस्तत्रास्ति बाधकप्रत्यय इति चेत्, सर्वथा शून्यवादिनस्तत्त्वोपप्लववादिनो ब्रह्मवादिनो वा जाग्रदुपलब्धार्थक्रियायां किं न बाधकप्रत्ययः। स तेषामविद्याबलादिति चेत् संबंधितायामपि तत एव परेषां बाधकप्रत्ययो न प्रमाणबलादिति निर्विवादोयं ततः स्वैरं तर्कात् संबंधं प्रतीत्य वर्तमानोर्थानां संबंधितामबाधमनुभवति।

सभी प्रकारसे संबंधके अभावको कहनेवाले बौद्धके यहां उस संबंधकी अर्थक्रियामें बाधकज्ञान उत्पन्न हो रहा है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम भी कह देंगे कि सर्वथा शून्य ही जगत्को कहनेवाले या संपूर्णतत्त्वोंकी सिद्धिका च्युत होना कहनेवाले अथवा अद्वैत ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले वादियोंके यहां बौद्धोंकी मानी हुई और जगते हुये पुरुषकी जान ली गयी अर्थक्रियामें बाधकज्ञान क्यों नहीं माना जायगा ?। "जीवो जीवस्य घातकः" इस नीतिके अनुसार सुचैतन्य अवस्थाके भी बाधनेवाले उद्दण्डवादी विद्यमान हैं। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि उन शून्यवादी, तत्त्वोपप्लववादी, और ब्रह्मवादियोंके मन्तव्य अनुसार हुआ वह बाधकज्ञान तो उनकी अविद्याकी सामर्थ्यसे हो गया है, वह प्रमाणरूप नहीं है। तब तो हम जैन कहते हैं कि पदार्थोंके संबंधसहित या संबंध आत्मकपनेमें भी तिस ही अविद्याकी सामर्थ्यसे दूसरे बौद्ध विद्वानोंको भी बाधकज्ञान उत्पन्न हो गया है। प्रमाणकी सामर्थ्यसे संबंधीपनमें कोई बाधक प्रत्यय उत्थित नहीं होता है। इस प्रकार यह तर्कज्ञानका विषय हो रहा संबंध विवादरहित सिद्ध हो गया। कारण कि वही वादी तर्कज्ञानसे संबंधका निर्णय कर प्रवृत्ति कर रहा संता पदार्थोंके संबंधीपनका बाधारहित अनुभव कर रहा है। युक्ति और अनुभवसे जो बात सिद्ध हो जाती है, वह वज्रलेपके समान दृढ है। अब झगडा उठानेके लिये स्थान नहीं है।

तत्तर्कस्याविसंवादोनुमा संवादनादपि।
विसंवादे हि तर्कस्य जातु तन्नोपपद्यते ॥ ९० ॥

कारणभूतज्ञानके प्रमाण होनेपर ही कार्यभूतज्ञान प्रमाण उत्पन्न होता है। उत्तरवर्ती अनुमानका सम्वाद हो जानेसे भी उस तर्कज्ञानका अविसम्वादीपना सिद्ध हो जाता है। अन्यथा नहीं। कारण कि तर्कज्ञानका विसम्वाद होनेपर कभी भी अनुमानका वह सम्वादीपना नहीं बन पाता है। लोकमें भी यह परिभाषा प्रसिद्ध है कि " जैसे होवें नदी नाले तैसे उनके भरिका ! जैसे जाके माई बापा तैसे ताके लरिका " " कारणानुरूपं कार्यं भवति "।

न हि तर्कस्यानुमाननिबंधने संबंधे संवादाभावेनुमानस्य संवादः संभवनिश्चितः।

अनुमानप्रमाणको उत्पत्तिमें कारण हो रहे तर्कके द्वारा जाने गये संबंधमें यदि सम्वादका अभाव होगा तो अनुमान ज्ञानके भी सम्वाद होनेका निश्चय नहीं सम्भवता है। विसम्वादी ज्ञानोंसे सम्वादी ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं। चूहोंके जन्माये चूहे ही होंगे, सिंह नहीं।

संवादस्तर्कस्य नास्ति विप्रकृष्टार्थविषयत्वादिति चेत्।

तर्कज्ञानके सम्वादका होना नहीं घटित होता है। क्योंकि तर्कज्ञान सूक्ष्म,व्यवहित, विप्रकृष्ट, पदार्थोंको विषय करता है, जैसे लम्बी चौडी यहां वहांकी गप्पाष्टक बकनेवाला पुरुष सभी बातोंको सत्यके घाटपर नहीं उतार सकता है। इस प्रकार बौद्धोंकी शंका करनेपर तो आचार्य उत्तर कहते हैं कि—

तर्कसंवादसंदेहे निःशंकानुमितिः क्व ते।
तदभावे न चाध्यक्षं ततो नेष्टव्यवस्थितिः ॥ ९१ ॥
तस्मात्प्रमाणमिच्छद्भिरनुमेयं स्वसंबलात्।
चिंता चेति विवादेन पर्याप्तं बहुनात्र नः ॥ ९२ ॥

तर्कके सम्वादमें संदेह करनेपर तुम बौद्धोंके यहां शंकारहित होता हुआ अनुमान भला कहां होगा ? अर्थात् कहीं भी प्रमाणभूत अनुमान नहीं हो सकेगा और उस अनुमान प्रमाणका अभाव हो जानेपर प्रत्यक्ष प्रमाणकी भी सिद्धि नहीं होगी। प्रत्यक्ष ज्ञानोंमें भी प्रमाणपना तो अविसम्वाद, स्पष्टत्व, अगौणत्व आदि हेतुओंसे अनुमानद्वारा ही साधा जाता है। तब तो अनुमान और प्रत्यक्षके विना बौद्धोंके यहां किसी भी इष्टपदार्थकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। तिस कारण अनुमानसे जानने योग्य सम्पूर्ण प्रत्यक्षोंका अपने अपने सम्वादके बलसे प्रमाणपन चाहनेवाले बौद्धोंके द्वारा चिंतारूप तर्कज्ञान भी प्रमाण मानना चाहिये। अपने विषयको जाननेकी श्रेष्ठसामर्थ्यसे तर्क ज्ञान भी प्रमाण बन बैठता है। इस प्रकरणमें हमको बहुत विवाद करनेसे परिपूर्णता हो चुकी है। अर्थात् प्रतिवादियोंकी शंकाका हम परिपूर्ण समाधान कर चुके हैं। अब झगडा बढाना व्यर्थ है।

सर्वेण वादिना ततः स्वेष्टसिद्धिः प्रकर्तव्या अन्यथा प्रलापमात्रप्रसंगात्। सा च प्रमाणसिद्धिमन्वाकर्षति तदभावे तदनुपपत्तेः। तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणमवश्यमभ्युपगच्छतानुमानमुररीकर्तव्यमन्यथा तस्य सामस्त्येनाप्रमाणव्यवच्छेदेन प्रमाणसिध्ययोगात्। निःसन्देहमनुमानमीप्सता साध्यसाधनसंबंधग्राहिप्रमाणमसंदिग्धमेषितव्यमिति तदेव च तर्कः ततस्तस्य च संवादो निःसन्देह एव सिद्धोऽन्यथा प्रलापमात्रमहेयोपादेयमश्लीलविजृंभितमायातीति पर्याप्तमत्र बहुभिर्विवादैरूहसंवादसिद्धेरुल्लंघनानर्हत्वात्।

सभी वादियों करके तिस कारण अपने अपने अभीष्टकी सिद्धि अवश्य अच्छी करनी ही चाहिये। अन्यथा यानी अभीष्ट सिद्धिके किये विना कोरा वैतंडिक बनकर दूसरोंके मतका खण्डन करनेके लिये बकझक करनेसे तो केवल व्यर्थ वचन कहनेका प्रसंग हो जायगा और वह अपनी अभीष्टकी सिद्धि तो प्रमाणके अनुसार होती हुई प्रमाणकी सिद्धिको पीछे पीछे खेंच लेती है। उस प्रमाणको स्वीकार नहीं करनेपर वह इष्ट तत्त्वोंकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अभीष्टतत्त्व सिद्धि और प्रमाणसिद्धिका ज्ञाप्यज्ञापकभाव संबंध है। तिन प्रमाणोंमेंसे जो वादी प्रत्यक्षको प्रमाण आवश्यकरूपसे स्वीकार कर रहा है, उसको अनुमान प्रमाण भी अवश्य स्वीकार करना पडेगा। अन्यथा यानीं अनुमानको प्रमाण माने विना समस्तपने करके उस प्रत्यक्षको अप्रमाणोंका व्यवच्छेद कर प्रमाणपनकी सिद्धि न हो सकेगी अर्थात् वर्तमानकालका अपना ही प्रत्यक्ष तो अकेला प्रमाण नहीं माना जायगा। किन्तु साथमें भूत या भविष्य कालोंमें हुये अपने प्रत्यक्ष और अन्य जीवोंके भी अनेक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण कहने पडेंगे। उन समस्त प्रत्यक्षोंको प्रमाणपना, अगौणत्व स्पष्टत्व, सम्वाद हेतुओंसे ही साधा जायगा तथा अपने अकेले वर्तमान कालके प्रत्यक्षमें भी प्रमाणपना उक्त हेतुओंसे ही साधने योग्य है। तभी सम्पूर्ण प्रत्यक्षोंमेंसे अप्रमाणपना व्यावृत्त हो सकता है। अनुमानका निःसन्देह प्रमाणपना स्वीकार करने (इच्छने) वाले वादीको साध्य और साधनके अविनाभावसंबंधका ग्राहक भी कोई प्रमाण सन्देहरहित ढूंढना चाहिये और वही तो हमारे यहां तर्क माना गया है। उस तर्कसे संबंधके ज्ञानका बाधारहितरूप सम्वाद होना संदेहरहित सिद्ध हो ही जाता है। अन्यथा यानीं सम्वादकी सिद्धि हुये विना अन्टसन्ट शंका करना या अपने तत्त्वोंकी यों ही सिद्धि करना केवल व्यर्थवचन बकना है। वह बकना हेय और उपादेय तत्त्वोंकी व्यवस्था कराने वाला नहीं है। चौपाडोंपर बैठकर ग्रामीण पुरुष जैसे झूंठी किंवदन्तियां, कहानियां, झूठीं गप्पें, हांकते रहते हैं, वैसे ही यह बौद्धोंकी झक झक गमारू चेष्टा करना है। इस प्रकरणमें बहुतसे विवाद करके पूरा पडो। घृत प्राप्त होगया, व्यर्थ मठा बढानेसे कुछ लाभ नहीं है। तर्कज्ञानके सम्वाद होनेकी सिद्धि अब उल्लंघन करने योग्य नहीं है। भावार्थः—जो बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक, आदि विद्वान् प्रत्यक्षोंको प्रमाण मानेंगे, उन्हें कालान्तर, देशान्तर, और पुरुषान्तरोंके प्रत्यक्षोंको प्रमाणपना सिद्ध करनेके लिए अनुमानकी शरण लेना आवश्यक है। पूर्वोक्त विद्वान् अनुमानको प्रमाण मानते भी हैं। किंतु अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति व्याप्ति ज्ञानको प्रमाण माने विना नहीं होती है। अतः तर्कज्ञान प्रमाण है, इस निर्णयपर पहुंच जाओ।

गृहीतग्रहणात्तर्कोऽप्रमाणमिति चेन्न वै।
तस्यापूर्वार्थवेदित्वादुपयोगविशेषतः॥ ९३॥

प्रत्यक्षानुपलंभाभ्यां संबंधो देशतो गतः ।
साध्यसाधनयोस्तर्कात्सामस्त्येनेति चिंतितम् ॥ ९४ ॥
प्रमांतरागृहीतार्थप्रकाशित्वं प्रपंचतः ।
प्रामाण्यं च गृहीतार्थग्राहित्वेपि कथंचन ॥ ९५ ॥

किसीका पूर्वपक्ष यों होय कि तर्कज्ञान (पक्ष) अप्रमाण है (साध्य)। पहिले प्रमाणोंसे ग्रहण किये जा चुके विषयका ग्राहक होनेसे (हेतु)। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो अनुमान बनाकर नहीं कहना। क्योंकि उस तर्कको अपूर्व अर्थका निश्चयसे ग्राहकपना प्राप्त है। पहिले प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ प्रमाणोंसे देशान्तर कालान्तरवर्त्ती साध्य साधनोंके संबंधका ज्ञान नहीं हो चुका था। किन्तु संबंधको जाननेमें तर्कका ही विशेष उपयोग है। पहिले प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ द्वारा एक देशसे संबंध जाना गया था और तर्कसे साध्य साधनका संबंध सम्पूर्णरूपसे जान लिया जाता है। इसको हम पूर्वमें विस्तारसे विचार कर चुके हैं। अतः अन्य प्रमाणोंसे नहीं ग्रहण किये गये अर्थका प्रकाशकपना तर्कमें घट जाता है। दूसरी बात यह है कि कथंचित् गृहीत अर्थका ग्राहक होते हुये भी तर्कज्ञानका प्रामाण्य प्रतिष्ठित हो जाता है। प्रतिदिन कई बार व्यवहारमें आ रही वस्तुओंका ज्ञान हो चुकनेपर भी क्षणोंकी विशिष्टतासे कुछ विशेष अंश अधिक जाननेवाले ज्ञान प्रमाण माने गये हैं। सर्वज्ञके प्रत्यक्षको भी विषयोंमें कालके तारतम्यकी उपाधि लग जानेसे अपूर्वार्थग्राहीपना घटित हो जाता है। सभी प्रकार नवीन नवीन अर्थोंको तो सर्वज्ञज्ञान जानता नहीं है किन्तु जिसको भविष्य रूपसे जाना है, वह वर्त्तमान हो गया है। वर्तमान पदार्थ दूसरे समयमें भूत हो जाता है। और भूत पदार्थ चिरभूत होकर जाना जाता है। इस प्रकार अपूर्व अर्थग्रहणका निर्वाह करना तर्कज्ञानमें भी लगा लो।

किं च—दूसरा कारण यह भी है कि—

लिंगज्ञानाद्विना नास्ति लिंगिज्ञानमितीष्यति ।
यथा तस्य तदायत्तवृत्तिता न तदर्थता ॥ ९६ ॥
प्रत्यक्षानुपलंभादेर्विनानुद्भूतितस्तथा ।
तर्कस्य तज्ज्ञता जातु न तद्गोचरतः स्मृता ॥ ९७ ॥

जैसे हेतुज्ञानके विना साध्यका ज्ञान नहीं होता है। इस कारण उस साध्यज्ञानकी उस हेतुज्ञानके अधीन होकर प्रवृत्ति होना ऐसा जाना जाता है। किन्तु उस हेतुज्ञानका साध्यज्ञान द्वारा विषय हो जानापन नहीं है। भावार्थ—साध्यज्ञानका उत्पादक कारण हेतुज्ञान है, अवलम्ब

कारण नहीं है। ज्ञापक हेतु और कारक हेतुओंमें अन्तर है। साध्यका ज्ञान करानेमें अनुमान ज्ञान स्वतंत्र है। हां, उस अनुमानकी उत्पत्ति तो हेतुज्ञानके आधीन है, तिस ही प्रकार प्रत्यक्ष, अनुपलम्भ, एकवार या बारबार देखनारूप अभ्यास आदिक कारणोंके बिना तर्कज्ञानकी भी उत्पत्ति नहीं हो पाती है। एतावता उन प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ आदिके विषयोंको जाननेकी अपेक्षासे कभी उन कारणोंका जान लेनापन तर्कमें नहीं माना गया है। भावार्थ—पूर्व आचार्योंकी सम्प्रदाय अनुसार तर्कज्ञानके उत्पादक कारण उपलम्भ अनुपलम्भरूप ज्ञान हैं। किन्तु प्रत्यक्ष या अनुपलम्भके जाने हुये विषयको तर्कज्ञान नहीं छूता है। जैसे कि अनुमान अपने उत्पादक हेतु ज्ञानको या हेतुको विषय नहीं करता है। अतः तर्कज्ञान अपूर्व अर्थका ग्राहक है।

न हि यद्यदात्मलाभकारणं तत्तस्य विषय एव लिंगज्ञानस्य लिंगिज्ञानविषयत्वप्रसंगात्, प्रत्यक्षस्य च चक्षुरादिगोचरतापत्तेः। स्वाकारार्पणक्षमकारणं विषय इति चेत् कथमिदानीं प्रत्यक्षानुपलंभयोस्तर्कात्मलाभनिमित्तयोर्विषयं स्वाकारमनर्पयतमूहाय साक्षात्कारणभावं चानुभवन्तं तर्कविषयमाचक्षीत ? तथाचक्षाणो वा कथमनुमाननिबंधनस्य लिंगज्ञानस्य विषयमनुमानगोचरतया प्रत्यक्षं प्रत्याचक्षीत ? न चेद्विक्षिप्तः। ततो न प्रत्यक्षानुपलंभार्थग्राही तर्कः सर्वथा। कथंचित्तदर्थग्राहित्वं तु तस्य न प्रमाणतां विरुणद्धि प्रत्यक्षानुमानवदित्युक्तं॥

जो पदार्थ जिसके आत्मलाभके कारण हो रहे हैं वे उस ज्ञानके जानने योग्य विषय ही होवें यह कोई नियम नहीं है। ऐसा नियम करनेपर तो हेतुज्ञानको साध्य ज्ञानमें विषयपन हो जानेका प्रसंग होगा तथा घटका प्रत्यक्ष जैसे घटको जानता है, उसी प्रकार चक्षु, क्षयोपशम, आदिको भी विषय करने लग जायगा जो कि चाक्षुष प्रत्यक्षके उत्पादक कारण हैं, यह आपत्ति होगी। यदि बौद्ध यों कहें कि ज्ञानके प्रत्येक उत्पादक कारणको हम ज्ञानका विषय नहीं मानते हैं, किन्तु ज्ञानका जो कारण स्वजन्य ज्ञानमें अपने आकारका अर्पण करनेके लिये समर्थ है, वह ज्ञानका विषय हो जाता है। ऐसा कहनेपर तो हम स्याद्वादी बोलते हैं कि इस समय बौद्ध तर्कज्ञानकी आत्मलब्धिके निमित्तका कारण प्रत्यक्ष और अनुपलम्भको तर्कज्ञानका विषय कैसे कह सकेगा ? प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ यद्यपि तर्कज्ञानके अव्यवहित कारणपनका अनुभव कर रहे हैं किन्तु तर्कज्ञानके लिये अपने आकारका समर्पण नहीं कर रहे हैं। ऐसी दशामें प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुपलम्भ ज्ञान द्वारा जान लिया गया विषय भला तर्कज्ञानसे कैसे जाना जा सकता है ? और तिस प्रकार होनेपर भी बौद्ध तर्कज्ञानको अप्रमाण बनानेके लिये गृहीतग्राही कह रहा है। वह बौद्ध अनुमानके कारण हो रहे लिङ्गज्ञानके प्रत्यक्ष हुये विषयको अनुमानका विषय पड जानेसे अनुमेय भला क्यों न कह देवे। अथवा लिङ्गज्ञानके विषयको अनुमानका विषय पड जानेसे प्रत्यक्ष-

पनेका क्यों नहीं प्रत्याख्यान कर देवे और इस प्रकार करता हुआ वह उन्मत्त नहीं समझा जाय अर्थात् जो ज्ञानका जन्म देनेवाले कारणोंको विषय योग्य बनाता है, वह अवश्य उन्मत्त है। तिस कारण प्रत्यक्ष और अनुपलम्भके द्वारा ग्रहण किये जा चुके अर्थोंका ग्राहक तर्कज्ञान नहीं है। सभी प्रकार ग्रहण किये जा चुके अर्थोंको तर्कज्ञान नहीं जानता है। हां, उन प्रत्यक्ष अनुपलम्भोंसे कथंचित् थोडेसे गृहीत हुये उन अर्थोंका ग्रहण करना तो उस तर्कज्ञानकी प्रमाणताका विरोध नहीं करता है। जैसे कि अनेक प्रत्यक्ष और अनुमान कथंचित् पूर्व अर्थको जानते हुये भी प्रमाण मान लिये गये हैं। इस बातको हम पहिले विस्तारसहित कह चुके हैं।

समारोपव्यवच्छेदात्स्वार्थे तर्कस्य मानता।
लैंगिकज्ञानवन्नैव विरोधमनुधावति ॥ ९८ ॥

अपने विषयभूत अविनाभाव संबंधको जाननेमें प्रथम प्रवृत्त हुये संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोपोंका निराकरण करनेसे तर्कज्ञानको प्रमाणपना है। जैसे कि साध्यको जाननेमें संशय आदिको हटाता हुआ अनुमान ज्ञान प्रमाण है। यों विरोध दोषका अनुसरण नहीं है। यानीं इस प्रकार कहनेमें कोई विरोध तर्कज्ञानके पीछे नहीं दौडता है।

प्रवृत्तश्च समारोपः साध्यसाधनयोः क्वचित्।
संबंधे तर्कतो मातुर्व्यवच्छेद्येत कस्यचित् ॥ ९९ ॥

साध्य और साधनके किसी कार्यकारणभाव, व्याप्य व्यापकभाव, पूर्वचरभाव, उत्तरचरभाव, आदि संबंधोंमें यदि कोई संशय अज्ञानरूप समारोप प्रवृत्त हो जाय तो वह समारोप किसी भी प्रमाता आत्माके तर्कज्ञानद्वारा निराकृत हो जाता है।

संवादको प्रसिद्धार्थ साधनस्तद्व्यवस्थितः।
समारोपच्छिदूहोत्र मानं मतिनिबंधनः ॥ १०० ॥

यहां प्रकरणमें उक्त युक्तियोंसे वह तर्कज्ञान सम्वादक और अपूर्व अर्थका ग्राहक तथा समारोपका व्यवच्छेदक एवं उपलम्भ अनुपलम्भरूप मतिज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न हुआ व्यवस्थित हो गया है। अतः इन मतिज्ञानके प्रकारोंमें ऊहज्ञान प्रमाणसिद्ध हो जाता है। ये सब तर्कज्ञानके प्रथमांत विशेषण ज्ञापकहेतु बनकर प्रमाणपनेको साध देते हैं।

प्रमाणमूहः संवादकत्वादप्रसिद्धार्थसाधनत्वात् समारोपव्यवच्छेदित्वात्प्रमाणभूतमतिज्ञाननिबन्धनत्वादनुमानादिति सूक्तं बुद्ध्यामहे।

तर्कज्ञान (पक्ष) प्रमाण है (साध्य) सफल प्रवृत्ति या बाधाविरह अथवा प्रमाणान्तरोंकी प्रवृत्तिरूप सम्वादका जनक होनेसे (हेतु १) अप्रसिद्ध अर्थका यानी अपूर्व अर्थका ग्राहक होनेसे (हेतु २) संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोपका निवर्तक होनेसे (हेतु ३) प्रमाणभूत हो रहे उपलम्भ अनुपलम्भरूप मतिज्ञान और धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञानरूप मतिज्ञानोंको कारण मानकर उत्पन्न हुआ होनेसे (हेतु ४) जैसे कि अनुमान, आगम, आदि ज्ञान प्रमाण हैं। इस प्रकार उपर्युक्त प्रकरण बहुत अच्छा कहा गया है, ऐसा हम समझते हैं।

ननूहो मतिः स्वयं न पुनर्मतिनिबंधन इति चेन्न, मतिविशेषस्य तस्य पूर्वमतिविशेषनिबंधनत्वाविरोधात् साधनस्यासिद्धत्वायोगात्। न च तन्निबंधनत्वं प्रमाणत्वेन व्याप्तमनुमानेन स्वयं प्रतिपन्नं लिंगज्ञानमतिविशेषपूर्वकत्वस्य प्रमाणत्वव्याप्तस्य तत्र प्रतीतेर्व्यभिचाराभावात्। श्रुतेन व्यभिचार इति चेन्न, तस्य प्रमाणत्वव्यवस्थापनात्। तदव्यभिचारिणो मतिनिबंधनत्वात्संवादकत्वादेवोहः प्रमाणं व्यवतिष्ठत एव।

यहां शंका है कि ऊह यानी तर्कज्ञान तो स्वयं मतिज्ञान है, किन्तु फिर मतिज्ञानरूप कारणोंसे उत्पन्न हुआ तो नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा तो न कहना। क्योंकि स्मरणनामके मतिज्ञानमें जैसे अनुभवनामका मतिज्ञान कारण पड जाता है, उसी प्रकार उस तर्कनामक विशेष मतिज्ञानका कारण उसके पूर्वमें हुये दूसरे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, उपलम्भ, अनुपलम्भ आदि मतिज्ञानविशेष हैं। कोई विरोध नहीं पडता है। मतिज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न होनापन हेतु पक्षमें रह जाता है। अतः असिद्ध हेत्वाभासपनका योग नहीं है। अनुमानरूप दृष्टांतमें मतिज्ञानरूप कारणसे उत्पन्न होनारूप हेतु प्रमाणपनरूप साध्यके साथ व्याप्तिको रखता हुआ स्वयं नहीं जाना है, यह नहीं समझना, किंतु हेतुका ज्ञानरूप विशेष मतिज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न होनापन जो कि प्रमाणत्वरूप साध्यके साथ अविनाभाव रखता है। उस हेतुकी वहां अनुमानमें प्रतीति होनेका कोई व्यभिचार नहीं है। यदि कोई बौद्ध या आगमको प्रमाण नहीं माननेवाला चार्वाक अथवा वैशेषिक विद्वान् श्रुतज्ञान करके व्यभिचार देवें अर्थात् मतिज्ञानको कारण मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न हुआ है। किंतु वह प्रमाण नहीं माना गया है। अतः साध्यके न रहनेपर भी श्रुतज्ञानमें हेतुके रह जानेसे जैनोंका चौथा हेतु अनैकान्तिक है, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्यों कि उस श्रुतज्ञानको प्रमाणपना व्यवस्थित करा दिया है। हेतुके रहनेपर साध्यके भी ठहर जानेसे व्यभिचारका निवारण हो जाता है। उस प्रमाणपनके साथ अव्यभिचारी हो रहे मतिनिबंधनत्व हेतुसे तर्कमें प्रमाणपना व्यवस्थित होय ही जाता है। अथवा अकेले पहिले सम्वादकपन हेतुसे ही तर्कज्ञान प्रमाणरूप व्यवस्थित हो ही रहा है। हमारे अन्य हेतु सुखसहित बैठे रहें।

ननूहस्यापि संबंधे स्वार्थे नाध्यक्षतो गतिः ।
साध्यसाधनसंबंधे यथा नाप्यनुमानतः ॥ १०१ ॥
तस्योहांतरतः सिद्धौ क्वानवस्थानिवारणं ।
तत्संबंधस्य चासिद्धौ नोहः स्यादिति केचन ॥ १०२ ॥

बौद्ध शंका करते हैं कि जैसे लिंगज्ञानसे तर्कद्वारा अनुमान प्रमाण साध्यकी ज्ञप्तिको करा देता है और उपलम्भ अनुपलम्भद्वारा संबंधको तर्कज्ञान जता देता है। यहां तर्कके भी अपने विषय हो रहे अविनाभाव संबंधमें प्रत्यक्षसे तो ज्ञप्ति हो नहीं सकती है। अर्थात् तर्कज्ञान जिस संबंधके द्वारा देशान्तर कालान्तरके संबंधको जान लेता है, उस संबंधका प्रत्यक्षज्ञानसे तो पूर्वकालमें संबंध ग्रहण हुआ नहीं है। क्योंकि अविचारक प्रत्यक्ष इतने विचारोंको नहीं कर सकता है। तथा तर्कज्ञानसे जाने गये पदार्थोंका अपने साध्य साधन संबंधको जाननेमें जैसे प्रत्यक्षसे गति नहीं है उसी प्रकार अनुमानसे भी उस संबंधको नहीं जाना जासकता है। अनवस्था हो जायगी। यदि तर्कसे जाने गये पदार्थोंका अपने ज्ञापक कारणोंके साथ संबंधका जानना पुनः दूसरे तर्कोंसे सिद्ध किया जायगा तब तो अनवस्थादोषका निवारण कहां हुआ ? अर्थात् तर्कके आत्मलाभमें दूसरे तर्ककी और दूसरे तर्कमें तीसरे तर्ककी आकांक्षा बढती जानेसे अनवस्था दोष होता है। यदि ऊहसे जानने योग्य पदार्थोंका किसी ज्ञापकके साथ संबंध होनेकी सिद्धि न मानी जायगी तब तो ऊहज्ञान प्रमाण नहीं हो सकेगा। संबंधको जाने विना उत्पन्न हुआ ऊहज्ञान मिथ्याज्ञान हो जायगा अथवा अपने जानने योग्य पदार्थोंका संबंध ग्रहण किये विना यदि ऊह उनको जान लेगा तो अनुमान भी ऊह द्वारा संबंध ग्रहण किये विना ही साध्यको जान लेवेगा। फिर तर्कज्ञान प्रमाण क्यों माना जा रहा है, इस प्रकार यहांतक कोई कह रहे हैं।

ननूहस्यापि स्वार्थैरूहैः संबंधोभ्युपगंतव्यस्तस्य च साध्यसाधनस्येव नाध्यक्षाद्गतिस्तावतो व्यापारान् कर्तुमशक्तेः। सन्निहितार्थग्राहित्वाच्च सविकल्पस्यापि प्रत्यक्षस्य। नाप्यनुमानतोऽनवस्थाप्रसंगात्, तस्यापि ह्यनुमानस्य प्रवृत्तिर्लिंगलिंगिसंबंधनिश्चयात् स चोहात्तस्यापि प्रवृत्तिः स्वार्थसंबंधनिश्चयात् सोप्यनुमानांतरादिति तस्योहांतरात्सिद्धौ कैयमनवस्थानिवृत्तिः। यदि पुनरयमूहः स्वार्थसंबंधसिद्धिमनपेक्षमाणः स्वविषये प्रवर्त्तते तदानुमानस्यापि तथा प्रवृत्तिरस्त्विति व्यर्थमूहपरिकल्पनमिति कश्चित्।

ऊहको नहीं प्रमाण माननेवाला बौद्ध विलक्षण ढंगसे पुनः विचार करनेके लिये जैनोंको आमंत्रण करता है कि ऊहज्ञानका भी अपने जानने योग्य तर्क्य पदार्थोंके साथ संबंध ग्रहण करना स्वीकार करना चाहिये। उस संबंधका ज्ञान प्रत्यक्षसे तो नहीं हो सकता है, जैसे कि साध्य और

साधनके संबंधको प्रत्यक्ष नहीं जानता है। उसको जाननेके लिये ही तो तर्कज्ञान माना जा रहा है। उसी प्रकार यानी अनुमानके कारण संबंधज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं जान पाता है। वैसे ही तर्कके उत्पादक संबंधज्ञानकी ज्ञप्ति भी प्रत्यक्षसे नहीं हो पाती है। उतने व्यापारोंको प्रत्यक्षज्ञान नहीं कर सकता है। जो जो धूमवान् प्रदेश हैं, वे सब अग्निमान् हैं या इस साध्यके होनेपर ही यह हेतु ठहर सकेगा, साध्यके न होनेपर हेतु नहीं रहेगा, इसके उत्थापक ज्ञापकोंको जाननेमें विचाररहित प्रत्यक्षका व्यापार नहीं चलता है। दूसरी बात यह है कि आकाररूप विकल्पोंसे सहित हुआ भी प्रत्यक्षज्ञान सन्निकट वर्तमानकालके अर्थोंको ही जानता है। हम लोगोंका इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान देशान्तर कालान्तरके पदार्थोंको नहीं विषय करता है। जिनका कि विषय करना आपके ऊह ज्ञानको आवश्यक हो रहा है। तथा अनुमानसे भी ऊह पदार्थोंके साथ हो रहे संबंधकी ज्ञप्ति नहीं हो पाती है। अनवस्था दोषका प्रसंग है। क्योंकि उस संबंधग्राही अनुमानकी प्रवृत्ति भी हेतु और साध्यके सम्बन्धका निश्चय हो जानेसे होगी और संबंधका निश्चय तो तर्कसे ही होगा। पुनः उस तर्ककी प्रवृत्ति भी अपने जानने योग्य अर्थोंके साथ ज्ञापकोंका संबंध निश्चय हो जानेसे होगी और फिर वह तर्कके उत्पादक संबंधकी ज्ञप्ति अन्य अनुमानोंसे होगी। इसी प्रकार उस अनुमानकी अन्य तर्कज्ञानोंसे सिद्धि मानी जायगी, ऐसी दशामें अनवस्थारूपी चीर बढता चला जाता है उसकी निवृत्ति भला कहां हुई ? अनुमानको हटाकर अन्य तर्कज्ञानोंसे सम्बन्धज्ञप्ति करोगे तो भी अनवस्था दोष टला नहीं। यदि फिर स्याद्वादी यों कहें कि यह तर्कज्ञान तो अपने विषयभूत अर्थोंके साथ संबंधके ज्ञानकी सिद्धिको नहीं अपेक्षा करता हुआ ही अपने विषयमें प्रवृत्ति कर लेता है, तब तो अनुमानकी भी तिस प्रकार ऊह द्वारा संबंध ग्रहण करनेकी नहीं अपेक्षा रखनेवालेकी ही अपने विषयमें प्रवृत्ति हो जाओ। इस ढंगसे तो ऊहज्ञानकी एक न्यारी कल्पना करना व्यर्थ है। ऐसा कोई कह रहा है।

तन्न प्रत्यक्षवत्तस्य योग्यताबलतः स्थितेः।
स्वार्थप्रकाशकत्वस्य कान्यथाध्यक्षनिष्ठितिः ॥ १०३ ॥

वह बौद्धका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षके समान उस तर्कका भी स्वविषय प्रकाशकपना योग्यताकी सामर्थ्यसे प्रसिद्ध हो रहा है। अन्यथा यानी योग्यताकी सामर्थ्यको माने विना प्रत्यक्षज्ञानकी भी व्यवस्था कहां हो सकेगी ? अर्थात् स्वावरणोंका क्षयोपशमरूप योग्यता द्वारा अपने विषयोंका अवलम्ब मुद्रासे संबंध कर प्रत्यक्षज्ञान जैसे नियत पदार्थोंको जान लेता है, उसी प्रकार तर्क अपनी योग्यतासे देशान्तर, कालान्तरवर्त्ती अनेक पदार्थोंके संबंधका परोक्षज्ञान कर लेता है।

योग्यतावलादूहस्य स्वार्थप्रकाशकत्वं व्यवतिष्ठत एव प्रत्यक्षवत्। न हि प्रत्यक्षं स्वविषयसंबंधग्रहणापेक्षमनवस्थाप्रसंगात्। तथाहि—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रत्यक्षके समान ऊहज्ञानका भी स्वार्थप्रकाशकपना अपनी योग्यताकी सामर्थ्यसे व्यवस्थित हो रहा ही है। देखिये। प्रत्यक्षज्ञान अपने जानने योग्य विषयोंके साथ संबंधके ग्रहणकी अपेक्षा नहीं रखता है। यदि प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें भी संबंधका ग्रहण होना मानोगे तो अनवस्थाका प्रसंग है। प्रत्यक्षके उत्थापक संबंधोंका ज्ञान अन्य प्रत्यक्षोंसे होवेगा। जिज्ञासा बढती चली जायगी। इसको ग्रन्थकार स्पष्ट कहकर दिखलाते हैं।

ग्राह्यग्राहकभावो वा संबंधोन्योपि कश्चन।
स्वार्थेन गृह्यते केन प्रत्यक्षस्येति चिन्त्यताम् ॥ १०४ ॥

प्रत्यक्षका अपने विषयके साथ ग्राह्यग्राहकभाव संबंध या विषयाविषयीभाव संबंध अथवा और कोई तदुत्पत्ति, तदाकार संबंध तो बताओ! किसके द्वारा ग्रहण किये जायंगे! इसका आप कुछ समयतक चिंतवन करो। प्रत्यक्षके उत्पादक संबंधको प्रत्यक्ष द्वारा जाननेपर अनवस्था दोष लग जायगा।

प्रत्यक्षस्यापि स्वार्थे संबंधो ग्राह्यग्राहकभावः कार्यकारणभावो वाभ्युपगंतव्य एवान्यथा ततः स्वार्थप्रतिपत्तिनियमायोगादतिप्रसंगात्। स च यदि गृहीत एवाध्यक्षमवृत्तिनिमित्तं तदा केन गृह्यत इति चिन्त्यं स्वेन प्रत्यक्षांतरेणानुमानेन वा।

प्रत्यक्षका भी अपने ग्राह्यविषयमें संबंध कोई ग्राह्यग्राहकभाव, कार्यकारणभाव, अथवा विषयविषयीभाव, अवश्य स्वीकृत करना ही पडेगा। अन्यथा उस प्रत्यक्षसे अपने ग्राह्य अर्थोंकी प्रतीति करनेका नियम नहीं बन सकेगा। अतिप्रसंग हो जायगा। यानी संबंधको नहीं प्राप्त हुये देशान्तर, कालान्तरके पदार्थोंको भी प्रत्यक्ष जान सकेगा। कोई रोकनेवाला नहीं। अतः संबंध जानना आवश्यक हुआ और वह संबंध किसी ज्ञानसे गृहीत हुआ संता ही अध्यक्षकी प्रवृत्तिका निमित्त कारण बनेगा, तब तो वह पुनः किस ज्ञानसे ज्ञात किया जाय! इसका हृदयमें गहरा विचार करना चाहिये। क्या वह प्रत्यक्ष स्वयं अपनेसे ही अपने उत्थापक संबंधका ज्ञान कर लेगा! या दूसरे प्रत्यक्षों करके संबंध जाना जायगा! अथवा अनुमान करके प्रत्यक्षके कारण संबंधकी ज्ञप्ति की जायगी! बताओ।

स्वतश्चेत्तादृशाकारा प्रतीतिः स्वात्मनिष्ठिता।
नासौ घटोयमित्येवमाकारायाः प्रतीतितः ॥ १०५ ॥
प्रत्यक्षांतरतश्चेन्नाप्यनवस्थानुषंगतः।
तत्संबंधस्य चान्येन प्रत्यक्षेण विनिश्चयात् ॥ १०६ ॥

तिस कारण वह संबंधकी ज्ञप्ति यदि स्वयं अपने प्रत्यक्ष स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो रही तिस प्रकार उत्थापक संबंधकी विकल्पना करती हुयी प्रतीति है, तब तो वह नहीं बनती है। अर्थात् कोई भी प्रत्यक्ष स्वयं अपने आप तो संबंधको नहीं जान रहा है। क्योंकि "यह घट है" "यह पुस्तक है" इस प्रकार आकारवाली प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीतियां हो रही हैं। इनमें संबंध तो नहीं प्रतिभासता है। यदि द्वितीय विकल्पके अनुसार अन्य प्रत्यक्षोंसे प्रकृत प्रत्यक्षके उत्थापक संबंधका ग्रहण होना मानोगे सो भी ठीक नहीं पडेगा। अनवस्था दोषका प्रसंग होता है। क्योंकि उस प्रत्यक्षके उत्थापक संबंधका भी अन्य प्रत्यक्षोंकरके विशेष निश्चय किया जायगा और उन प्रत्यक्षोंके उत्थापक संबंधोंका भी निर्णय न्यारे न्यारे अन्य प्रत्यक्षों करके किया जायगा। कहीं दूर भी जाकर ठहरना नहीं हो सकता है।

नानुमानेन तस्यापि प्रत्यक्षायत्तता स्थितेः।
अनवस्थाप्रसंगस्य तदवस्थत्वतस्तराम् ॥ १०७ ॥

तथा तृतीय विकल्पके अनुसार अनुमान करके प्रत्यक्षके उत्थापक उस संबंधका ग्रहण होना तो नहीं बनता है। क्योंकि उस अनुमानकी भी स्थिति प्रत्यक्षके अधीन है। अतः उस प्रत्यक्षके लिये पुनः अनुमान द्वारा संबंध ग्रहण करना आकांक्षित होगा, अतः अनवस्था दोषका प्रसंग वैसाका वैसा ही बहुत बढिया ढंगसे तदवस्थ रहा।

स्वसंवेदनतः सिद्धेः स्वार्थसंवेदनस्य चेत्।
संबंधोक्षधियः स्वार्थे सिद्धे कश्चिदतीन्द्रियः ॥ १०८ ॥
क्षयोपशमसंज्ञेयं योग्यतात्र समानता।
सैव तर्कस्य संबंधज्ञानसंवित्तितः स्वतः ॥ १०९ ॥

अपने विषयभूत अर्थकी अच्छी ज्ञप्ति करनेवाले इन्द्रियजन्य ज्ञानका अपने अर्थमें संबंधका ग्रहण यदि स्वसंवेदनसे ही सिद्ध हुआ माना जावेगा अर्थात् स्वके द्वारा योग्य अर्थका ज्ञान करा देना ही संबंध ग्रहण है, तब तो कोई अतीन्द्रिय संबंध सिद्ध हो जाता है। जिसका कि दूसरा नाम क्षयोपशम है। अथवा स्वार्थसंवेदनकी स्वसंवेदनसे सिद्धि होनेके कारण ही इन्द्रिय जन्य ज्ञानका कोई लब्धिरूप अतीन्द्रिय संबंध सिद्ध है, ऐसा होनेपर क्षयोपशमनामकी यह योग्यता इस तर्कज्ञानमें भी समान है। तर्कज्ञानके विषयभूत संबंधके ज्ञानकी स्वतः संवित्ति होनेसे वह योग्यता नियामक मानी जाती है अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान जैसे घटको जाननेमें स्वतंत्र है, उत्पत्ति होनेमें भले ही इन्द्रिय आदिककी अपेक्षा करें तथा अपनी योग्यता अनुसार अनुमानज्ञान साध्यको जानने

में स्वतंत्र है, उसी प्रकार तर्कज्ञान ही योग्यताके वश अपने साध्य और साधनके संबंधको विषय करनेमें स्वतंत्र है। उत्पत्ति भले ही अन्य उपलम्भ अनुपलम्भसे हो जाय किन्तु संबंधके ग्रहणमें अन्य मध्यवर्ती ज्ञानोंकी आवश्यकता नहीं है। योग्यता भला किस बीमारीकी औषधि है? यदि निरपेक्ष होकर नियत विषयका ग्रहण नहीं करावेगी तो फिर उसका गांठका कार्य ही क्या हुआ? कुछ भी तो नहीं।

न प्रत्यक्षं स्वार्थे संबंधग्रहणापेक्षं प्रवर्तते क्वचिदकस्मात्तत्प्रवृत्तिदर्शनात्। किं तर्हि। तस्य स्वसंवेदनादिवत्स्वार्थग्रहणसिद्धिः। स्वतोतीन्द्रियः कश्चित्संबंधः स्वार्थानुमानः सिद्ध्येदिति चेत् सैव योग्यता स्वावरणक्षयोपशमाख्या प्रत्यक्षस्यार्थप्रकाशनहेतुरिह समायाता। तर्कस्यापि स्वयं व्याप्तिग्रहणानुभवात्तज्ज्ञानावरणक्षयोपशमरूपा योग्यतानुमीयमाना सिद्ध्यतु प्रत्यक्षवदनवस्थापरिहारस्यान्यथाकर्तुमशक्तेः।

प्रत्यक्षप्रमाण अपने विषयमें संबंधके ग्रहणकी अपेक्षा रखता हुआ नहीं प्रवर्तता है। क्योंकि किसी एक विषयमें अकस्मात् (चाहे जब) उसकी प्रवृत्ति होना देखा जाता है तो, क्या है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर यह उत्तर है कि स्वसम्वेदन, चित्रवेदन, आदिके समान उस प्रत्यक्षकी स्वार्थको ग्रहण करनेकी सिद्धि हो रही है। अर्थात् इन्द्रिय, आत्मा, विषय, आदिकी योग्यता मिलने पर स्पष्ट [भडाक सीदे] इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हो जाता है। कोई संबंधकी आवश्यकता नहीं है। इसपर यदि कोई कहे कि स्वार्थके नियतरूपसे ग्रहण किये जानेरूप कार्यको देखकर किसी न किसी अतीन्द्रिय संबंधका अनुमान हो जानेसे इन्द्रियोंद्वारा नहीं जानने योग्य संबंध सिद्ध हो जावेगा, चक्षुसे रूप ही जाना जाता है। रस आदिक नहीं, तथा एक कोस दो कोस आदि तकके दूरवर्ती रूपोंका ही ज्ञान होता है। दस बीस कोसके दूर घर आदिकोंका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। हां, दूरवर्ती सूर्य, चंद्रमा, तारे दीख जाते हैं, इन बातोंका नियम करनेवाला कुछ भी तो संबंध होना चाहिए। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं, वही विषयविषयीभावका नियामक संबंध तो योग्यता है। जिस योग्यताका दूसरा नाम स्वावरणकर्मोंका क्षयोपशम है। वही योग्यता प्रत्यक्षके द्वारा नियत अर्थोंके प्रकाश करनेका हेतु है। तब तो इस प्रकरणमें वही योग्यता भले ढंगसे प्राप्त हो गई, इसी प्रकार तर्कज्ञानकी स्वयं व्याप्तिका ग्रहणरूप अनुभवसे उस तर्कज्ञानके आवरण करनेवाले कर्मोंका क्षयोपशमरूप योग्यता भी अनुमानसे जान ली गई, सिद्ध हो जाओ। अन्यथा यानी योग्यताको माने विना अनवस्था दोषका परिहार दूसरे ढंगोंसे नहीं किया जा सकता है। जैसे कि प्रत्यक्षमें योग्यताको माने विना अनवस्थाका परिहार नहीं हो सकता है।

ननु च यथा तर्कस्य स्वविषयसंबंधग्रहणमनपेक्षमाणस्य प्रवृत्तिस्तथानुमानस्यापि सर्वत्र ज्ञाने स्वावरणक्षयोपशम एव स्वार्थप्रकाशनहेतुरविशेषात्। ततोनर्थकमेव तत्संबंध-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ग्रहणाय तर्कपरिकल्पनमिति चेत्, सत्यमनुमानस्यापि स्वयोग्यताग्रहणनिरपेक्षकमनुमेयार्थप्रकाशनं न पुनरुत्पत्तिर्लिंगलिंगिसंबंधग्रहणनिरपेक्षास्त्यगृहीततत्संबंधस्य प्रतिपत्तुः क्वचित्कदाचिदनुत्पत्तिनिश्चयात् । नैवं प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरपि करणार्थसंबंधग्रहणापेक्षा स्वयमगृहीत तत्संबंधस्यापि पुनस्तदुत्पत्तिदर्शनात् । तद्वदस्याप्यतीन्द्रियात्मार्थसंबंधग्रहणनिरपेक्षस्योत्पत्तिदर्शनान्नोत्पत्तावपि संबंधग्रहणापेक्षत्वमिति युक्तं तर्कः ।

यहां दूसरी शंका है जिस प्रकार अपने संबंधरूप विषयमें अन्य संबंधके ग्रहणकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले तर्कज्ञानकी अपने विषयमें प्रवृत्ति होना मान लिया है, तिस ही प्रकार अनुमान की भी अपने विषय साध्यको जाननेमें व्याप्तिरूप संबंधके ग्रहणकी नहीं अपेक्षा होकर ही प्रवृत्ति मान ली जाय ? सभी ज्ञानोंमें अपने अपने आवरणोंका क्षयोपशमरूप योग्यता ही स्वार्थके प्रकाश करनेमें हेतु हो रही है । प्रत्यक्ष या तर्कसे अनुमानमें कोई विशेषता नहीं है । भावार्थ—अनुमानज्ञान व्याप्तिग्रहण हुये विना भी अपनी योग्यतासे ही साध्यको जानलेगा । तिस कारण उस संबंध को ग्रहण करनेके लिये तर्कज्ञानकी बडे घटाटोपके साथ कल्पना करना व्यर्थ ही है । इस प्रकार अच्छी शंका करनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तुम्हारा कहना ठीक है । अनुमानके द्वारा भी अपनी योग्यताके बलसे संबंधके ग्रहणकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला अनुमेय अर्थका प्रतिभास होना हमको अभीष्ट है किन्तु अनुमानकी उत्पत्ति तो फिर हेतु और साध्यके संबंधरूप व्याप्तिके ग्रहणकी नहीं अपेक्षा रखनेवाली नहीं है । जिस पुरुषने उन हेतु और साध्यका संबंध ग्रहण नहीं किया है उस प्रतिपत्ताको किसी भी स्थलमें कभी भी अनुमानकी उत्पत्ति नहीं होती है, ऐसा निश्चय है । भावार्थ—अनुमानके उत्पन्न हो जानेपर स्वतंत्रतासे अनुमानद्वारा अनुमेय अर्थका प्रकाश हो जाता है । किन्तु उसकी उत्पत्ति तो स्वतंत्र नहीं है । अनुमानको उत्पन्न करानेमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, प्रत्यक्ष, इन प्रमाणोंकी आवश्यकता है । शुद्ध प्रासुक भोजन करनेवाला कोई सोधिया श्रावक गेंहूके उत्पन्न हो चुकनेपर उसके चून, रोटी, आदिमें शुद्धिका विचार रखता है । किन्तु गेंहूकी उत्पत्ति तो खात, मिट्टी, पशु, शूद्र किसान, अगालितजल, हल जोतनेमें हुई आरंभजन्य हिंसा, आदि अशुद्ध कारणोंसे होती है । इस प्रकार साध्यको जाननेवाला अनुमान स्वतंत्र है । किन्तु अपनी उत्पत्तिमें संबंध ग्रहणकी अपेक्षा रखता है । हां, इस प्रकार प्रत्यक्षकी उत्पत्ति भी इन्द्रिय और अर्थके संबंधका ग्रहण करनेकी अपेक्षा नहीं रखती है जिस पुरुषने उन इन्द्रिय और अर्थोंके संबंधका स्वयं ग्रहण नहीं भी किया है, उसके भी फिर उस प्रत्यक्षकी उत्पत्ति देखी जाती है । उसी प्रत्यक्षके समान तर्कज्ञानकी भी इन्द्रिय अगोचर आत्मा और अर्थके संबंधका ग्रहण करनेकी नहीं अपेक्षा रखते हुये की उत्पत्ति देखी जाती है । अतः तर्ककी उत्पत्तिमें भी संबंधके ग्रहणकी अपेक्षा रखनापन नहीं है । भावार्थ—प्रत्यक्ष और तर्ककी उत्पत्तिमें तो इन्द्रियार्थ संबंध और तर्क विषय

संबंधके ग्रहणकी अपेक्षा नहीं है। किन्तु अनुमानकी उत्पत्तिमें संबंधग्रहणकी अपेक्षा है। संसारके कार्य अनेक प्रकारोंके होते हैं। अतः तर्कज्ञानमें अनवस्था दोष नहीं आता है। इस प्रकार मतिज्ञानका एक भेद तर्कज्ञान मानना युक्त है।

प्रमाणविषयस्यायं सा(शो)धको न पुनः स्वयं।
प्रमाणं तर्क इत्येतत्कस्यांचेद्व्याहतं मतम् ॥ ११० ॥
प्रमाणविषये शुद्धिः कथं नामाप्रमाणतः।
प्रमेयांतरतो मिथ्याज्ञानाच्चैतत्प्रसंगतः ॥ १११ ॥

अनुमान प्रमाणके विषयका साधक या परिशोधक यह तर्कज्ञान स्वयं तो प्रमाण नहीं है। जो ज्ञान प्रमाणका साधक है वह प्रमाण ही होय यह कोई नियम नहीं है। पण्डितोंके पिता पण्डित ही होय ऐसी व्याप्ति नहीं है। घटके साधक कुम्भकार, दण्ड, चक्र, आदि कारण घटरूप नहीं हैं। सुवर्णके शोधक पदार्थ सुवर्णस्वरूप नहीं हैं। अतः अनुमान प्रमाणका साधक तर्कज्ञान एकान्तरूपसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार यह किसीका मन्तव्य व्याघातदोषसे युक्त है। क्योंकि प्रमाणके विषयमें शुद्धि करना भला अप्रमाण ज्ञानसे कैसे हो सकता है? अन्यथा यानी अप्रमाण पदार्थसे प्रमाणकी शुद्धि होना माना जायगा तब तो दूसरे घट, पट आदि प्रमेयोंसे अथवा संशय आदिक मिथ्याज्ञानोंसे भी इस प्रमाण विषयके शोधकपनका प्रसंग हो जायगा।

यथा संशयितार्थेषु प्रमाणानां प्रवर्तनं।
निर्णयाय तथा लोके तर्कितेष्विति चेन्मतम् ॥ ११२ ॥
संशयः साधकः प्राप्तः प्रमाणार्थस्य ते तथा।
नाप्रमाणत्वतस्तर्कः प्रमाणमनुमन्यताम् ॥ ११३ ॥
स चेत्संशयजातीयः संशयात्पृथगास्थितः।
कथं पदार्थसंख्यानं नान्यथास्त्विति त्वश्नुते ॥ ११४ ॥
तस्मात्प्रमाणकर्तव्यकारिणो वेदितात्मनः।
सत्तर्कस्याप्रमाणत्वमवितर्क्यं प्रचक्षते ॥ ११५ ॥

यहां शंका है कि जिनमें संशय उत्पन्न हो चुका है, उन अर्थोंमें निर्णय करनेके लिये जिस प्रकार प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होना लोकमें देखा जाता है, तिस ही प्रकार तर्कसे जाने गये

विषयोंमें भी निर्णयार्थ मनुष्योंकी प्रवृत्ति हो रही है। आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकारका शंकाकारका मन्तव्य है, तब तो हम कहेंगे कि तुम्हारे मतमें प्रमाणके विषयका साधन करनेवाला संशयज्ञान प्राप्त हुआ। अप्रमाणपनेसे संशयज्ञानकी जो व्यवस्था हो रही थी वह न रही। इसी प्रकार प्रमाणका साधक तर्कज्ञान भी प्रमाण मान लिया जाय, यदि तर्कको संशयकी जातिवाला माना जायगा। क्योंकि मिथ्याज्ञानके वैशेषिकोंने संशय, विपर्यय और तर्क, ये तीन भेद किये हैं, तब तो वह संशयसे भिन्न होकर स्थित हुआ। ऐसी दशामें पदार्थोंकी संख्या करना क्यों नहीं दूसरे प्रकारसे हो जाओ, यह दोष तुमको घेर लेता है। द्रव्य, गुण, आदिमें तो तर्क नहीं गिनाया है। तिस कारण स्वयं अपने स्वरूपको जाननेवाले और प्रमाणसे करने योग्य कार्यको बनानेवाले समीचीन तर्कज्ञानको जो अप्रमाणपना कह रहे हैं, वे वैशेषिक विना विचार करके ही अपनी ऐंठ [शेखी] विस्तारके साथ बखान रहे हैं।

प्रमाणं तर्कः प्रमाणकर्तव्यकारित्वात् प्रत्यक्षादिवत् प्रत्ययसाधनं प्रमाणकर्तव्यं तत्कारी च तर्कः प्रसिद्ध इति नासिद्धो हेतुः। नाप्यनैकांतिकोऽप्रमाणे विपक्षे वृत्त्यभावात्। न हि प्रमेयांतरं संशयादि वा प्रमाणविषयस्य साधनं विरोधात्। ततस्तर्कस्य प्रमाण-विषयसाधकत्वमिच्छता प्रमाणत्वमुपगंतव्यम्।

तर्कज्ञान (पक्ष) प्रमाण है (साध्य), प्रमाणसे करने योग्य कार्योंका करनेवाला होनेसे (हेतु) जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिक प्रमाण हैं [दृष्टान्त]। प्रमाणका कर्तव्य प्रतीतिका साधन करना है। उसका करनेवाला तर्कज्ञान प्रसिद्ध ही है। इस कारण हेतु पक्षमें रह जाता है। असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। तथा यह हेतु व्यभिचारी भी नहीं है। संशय आदिक अप्रमाणरूप विपक्षोंमें प्रमाण-कर्तव्यकारित्व हेतु नहीं वर्तता है। प्रतियोगीके सदृशको पकडनेवाले पर्युदास पक्षके अनुसार अप्रमाण संशय आदिक हैं। और नञ् द्वारा सर्वथा निषेधको ही करनेवाले प्रसज्यनिषेधके अनुसार घट, पट, आदि अप्रमाण हैं। वे सभी इतर प्रमेय अथवा संशय आदिक विचारे अप्रमाण पदार्थ प्रमाणविषयके साधक नहीं हैं। यानी प्रमाणद्वारा साधने योग्य कार्यको नहीं कर सकते हैं, क्योंकि विरोध आता है। तिस कारण तर्कको प्रमाणविषयका साधकपना चाहनेवाले वादीकरके उसका प्रमाणपना स्वीकार कर लेना चाहिये।

किञ्च— और भी एक यह बात है कि—

सम्यक् तर्कः प्रमाणं स्यात्तथानुग्राहकत्वतः।
प्रमाणस्य यथाध्यक्षमनुमानादि चाश्नुते ॥ ११६ ॥
अनुग्राहकता व्याप्ता प्रमाणत्वेन लक्ष्यते।
प्रत्यक्षादौ तथाभासे नागमानुग्रहक्षतेः ॥ ११७ ॥

समीचीन तर्कज्ञान (पक्ष) प्रमाण होना चाहिये (साध्य) । तिस प्रकार प्रमाणोंका अनुग्रह करनेवाला होनेसे (हेतु), जिस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान आदिक प्रमाणपनको व्याप्त कर लेते हैं (दृष्टान्त) । प्रमाणोंके ऊपर अनुग्रह करनेवालापन हेतु प्रमाणपनरूप साध्यसे व्याप्त हो रहा प्रत्यक्ष आदि दृष्टन्तोंमें देखा जाता है । तिस प्रकारका अनुग्रहपन प्रमाणाभासोंमें नहीं दीखता है । क्योंकि आगमके अनुग्रह करा देनेपनका प्रत्यक्ष आदिमें जो निर्णय हो रहा है, उसकी क्षति हो जावेगी । अर्थात् सत्यवक्ताके द्वारा जान ली गई, अग्निके आगमज्ञानका धूमहेतुसे उत्पन्न हुये अनुमानद्वारा और अग्निके प्रत्यक्षद्वारा अनुग्रह कर दिया जाता है । ये कृपाकारक अनुमान और प्रत्यक्ष जैसे प्रमाण हैं, उसी प्रकार अनुमानके ऊपर कृपा करनेवाला तर्कज्ञान भी प्रमाण होना चाहिये ।

यस्मिन्नर्थे प्रवृत्तं हि प्रमाणं किंचिदादितः ।
तत्र प्रवृत्तिरन्यस्य यानुग्राहकतात्र सा ॥ ११८ ॥
पूर्वनिर्णीतदार्ढ्यस्य विधानादभिधीयते ।
उत्तरेण तु तद्युक्तमप्रमाणेन जातुचित् ॥ ११९ ॥

जिस अर्थमें कोई भी प्रमाण प्रथमसे ही प्रवर्त्त रहा है, उसी विषयमें अन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्ति हो जाना जो यहां अनुग्राहकपना माना गया है, वह अनुग्राहकता भी पहलेसे निर्णीत किये गये अर्थकी अधिक दृढताका विधान करनेसे कही जाती है । उत्तरकालवर्ती प्रमाणरूप ज्ञानसे पूर्वनिर्णीत अर्थकी दृढता की जा सकती है । अप्रमाणज्ञानमें या अप्रमाण ज्ञानकरके दृढता कभी नहीं हो सकती है । तभी तो दृढताका सम्पादक तर्कज्ञान प्रमाण है ।

स्वयं प्रमाणानामनुग्राहकं तर्कमिच्छन्नाप्रमाणं प्रतिपत्तुं समर्थो विरोधात् । प्रमाणसामग्र्यंतर्भूतः कश्चित्तर्कः प्रमाणमिष्ट एवेति चेन्न, तस्य स्वयं प्रमाणत्वोपपत्तेः । तथाहि— प्रमाणं तर्कः साक्षात्परंपरया च स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमत्वात् प्रत्यक्षवत् स्वविषयभूतस्य साध्यसाधनसंबंधाज्ञाननिवृत्तिरूपे साक्षात् स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमस्तर्कः परंपरयातु स्वार्थानुमाने हानोपादानोपेक्षाज्ञाने वा प्रसिद्ध एवेत्युपसंहियते ।

प्रमाणोंके ऊपर अनुग्रह करानेवाले तर्कको स्वयं चाहता हुआ विद्वान् इस तर्कको अप्रमाण समझनेके लिये समर्थ नहीं है । अन्यथा स्ववचनसे ही विरोध हो । जावेगा यदि कोई वैशेषिक, बौद्ध, नैयायिक या मीमांसक, यों कहे कि प्रमाणकी सामग्रीके भीतर प्रविष्ट हुआ कोई तर्कज्ञान हमको प्रमाण इष्ट ही है । अर्थात् वकीलके पिताको वकील कहनेके समान हम तर्कज्ञानको प्रमाणकी सामग्रीके भीतर प्रविष्ट हुआ गिनते हैं । स्वतंत्र न्यारा प्रमाण नहीं मानते हैं । ग्रन्थकार कहते

हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस तर्कको स्वयम् प्रमाणपना युक्तिसिद्ध हो रहा है। उसको हम कहे देते हैं। तर्कज्ञान (पक्ष) प्रमाण है (साध्य)। अव्यवहित रूपसे स्वार्थका निश्चय करना रूप फलमें और परम्परासे होनेवाले फलोंमें प्रकृष्ट उपकारक होनेसे (हेतु), जैसे कि प्रत्यक्षज्ञान प्रमाण है (दृष्टान्त)। तर्कज्ञान अपने विषय हो रहे साध्य और साधनके अविनाभावरूप संबंधके अज्ञानकी निवृत्ति करनारूप स्वार्थनिश्चयस्वरूप अव्यवहित फलको उत्पन्न करनेमें प्रकृष्ट उपकारक है और परम्परासे तो स्वार्थानुमान करनेमें अथवा हेयमें हानबुद्धि और उपादेयमें उपादान बुद्धि तथा उपेक्षणीय तत्त्वोंमें उपेक्षा बुद्धि करनेरूप फलमें करण होता हुआ तर्कज्ञान प्रसिद्ध ही हो रहा है। इस प्रकार तर्कज्ञानमें बहुत विचार हो चुका है। अब तर्कके प्रकरणका उपसंहार किया जाता है कि—

ततस्तर्कः प्रमाणं नः स्यात्साधकतमत्वतः।
स्वार्थनिश्चयने साक्षादसाक्षाच्चा(नु)न्यमानवत् ॥ १२० ॥

तिस कारण हम स्याद्वादियोंके यहां तर्कज्ञान (पक्ष) प्रमाण है (साध्य), अपना और अर्थका निश्चय करनेमें साधकतमपना होनेसे (हेतु), जैसे कि अनुमानज्ञान अथवा अन्य सच्चे ज्ञान प्रमाण हैं (दृष्टान्त)। अपने विषय हो रहे स्वार्थकी अज्ञाननिवृत्ति करना प्रत्येक ज्ञानका साक्षात् फल है और पीछे परम्परासे आत्माके पुरुषार्थकी प्रवृत्ति अनुसार छोडना, ग्रहण करना, उपेक्षा करनारूप फल हैं। केवलज्ञान भी अज्ञानकी निवृत्तिको करता हुआ सकल पदार्थोंकी उपेक्षा करा देता है। तभी स्वांशोंमें स्थिर रह सकता है। यहांतक तर्कज्ञानका विचार परिपूर्ण हुआ। अब मतिज्ञानके अभिनिबोध भेदका विचार चलाते हैं।

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः।
प्रधानगुणभावेन विधानप्रतिषेधयोः ॥ १२१ ॥

विद्वान् पुरुष साधनसे साध्यके विज्ञानको अनुमान प्रमाण मानते आ रहे हैं। वह अनुमान ज्ञान प्रधानरूपसे प्रकृत साध्यके विधान करनेमें और गौणरूपसे साध्यभिन्न पदार्थोंके निषेध करनेमें चरितार्थ हो रहा है अथवा उपलब्धि और अनुपलब्धि हेतुद्वारा प्रधान और गौणरूपसे साध्यकी विधि और निषेध करनेमें प्रवर्त रहा है। उपलब्धि हेतु विधिको साधता है और निषेधको भी साधता है। इसी प्रकार अनुपलब्धि हेतु भी विधिनिषेध दोनोंको साधसकता है।

अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनं।
साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धमुदाहृतम् ॥ १२२ ॥

तिस अनुमानके प्रकरणमें साधनका एक ही लक्षण है, जो कि अन्यथानुपपत्ति यानी साध्यके विना हेतुका न रहना है और साध्यका लक्षण शक्य, अभिप्रेत, और अप्रसिद्ध कहा गया है, अर्थात् जो वादी द्वारा प्रतिवादीके प्रति साधने योग्य होय और वादीको अभीष्ट होय तथा प्रतिवादीको अभीतक प्रसिद्ध नहीं हुआ होय, वह साध्य किया जाता है।

तत्साध्याभिमुखो बोधो नियतः साधने नयः।
कृतोनिंद्रिययुक्तेनाभिनिबोधः स लक्षितः॥ १२३॥

तिस कारण "साधनात्साध्यविज्ञानम्" इसका अर्थ यों है कि अनिन्द्रिय यानी मनसे सहकृत हो रहे साधनज्ञान करके साध्यकी ओर अभिमुख होकर नियत हो रहा जो बोध किया गया है, वह अभिनिबोधका लक्षण हुआ समझो अर्थात् अभि और नि उपसर्गपूर्वक "बुध अवगमने" धातुसे घञ् प्रत्ययकर अभिनिबोध शब्द बना है। अभि यानी साध्यके अभिमुख नि यानी अविनाभावरूप नियमसे जकडा हुआ बोध यानी साधनसे साध्यका ज्ञान होना, इस प्रकार निरुक्ति करनेसे अभिनिबोधका अर्थ अनुमान हो जाता है। साधनका ज्ञान अनुमानका उत्थापक है। अन्यथा सोते हुये पुरुष या बालक अथवा व्याप्तिस्मरण नहीं करनेवालेको भी धूमके सद्भाव मात्रसे वह्निके ज्ञान हो जानेका प्रसंग आवेगा।

साध्याभावासंभवनियमलक्षणात्साधनादेव शक्याभिप्रेताप्रसिद्धत्वलक्षणस्य साध्यस्यैव यद्विज्ञानं तदनुमानमाचार्या विदुः यथोक्तहेतुविषयद्वारकविशेषणयोरन्यतरस्यानुमानत्वाप्रतीतेः। स एव वाभिनिबोध इति लक्षितः। साध्यं प्रत्यभिमुखस्य नियमितस्य च साधनेनानिन्द्रिययुक्तेनाभिबोधस्याभिनिबोधत्वात्।

साध्यके अभाव होनेपर नियमसे असम्भव होना जिसका लक्षण है, ऐसे साधनसे ही शक्य, अभिप्रेत, और अप्रसिद्धपना लक्षणवाले साध्यका ही जो विज्ञान होता है, वह अनुमान है ऐसा आचार्य महाराज श्री माणिक्यनंदी मान रहे हैं। पूर्वोक्त अनुसार अभिमुख और नियमत अर्थको कहनेवाले तथा हेतुकरके जाने गये विषयको द्वार बनाकर उपात्त किये गये अभि और नि इन दो विशेषणोंमेंसे किसी भी एकके नहीं लगानेपर अनुमानपना प्रतीत नहीं होता है। अतः वही ज्ञान अभिनिबोध है, ऐसा यहां अनुमानके प्रकरणमें लक्षण प्राप्त हो रहा है। क्योंकि साध्यके प्रति उन्मुख हो रहे और अन्यथानुपपत्तिरूप नियमसे वेष्टित हुये अर्थका मन इन्द्रियसे नियोजित साधन करके बोध होनेको अभिनिबोधपना व्यवस्थित है।

ननु मतिज्ञान सामान्यमभिनिबोधः प्रोक्तो न पुनः स्वार्थानुमानं तद्विशेष इति चेन्न, प्रकरणविशेषाच्छब्दान्तरसन्निधानादेर्वा सामान्यशब्दस्य विशेषे प्रवृत्तिदर्शनात् गोशब्द-

वत् । तेन यदा कृतषट्त्रिंशत्त्रिशतभेदमाभिनिबोधिकमुच्यते तदाभिनिबोधसामान्यं विज्ञायते, यदात्ववग्रहादिमतिविशेषानभिधाय ततः पृथगभिनिबोध इत्युच्यते तदा स्वार्थानुमानमिति इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां नियमितस्यासर्वपर्यायद्रव्यं प्रत्यभिमुखस्य बोधस्यास्याभिनिबोधिकव्यपदेशादभिनिबोध एवाभिनिबोधिकमिति स्वार्थिकस्य ठणो विधानात् । न च तदनिन्द्रियेण लिंगापेक्षेण नियमितं साध्यार्थाभिमुखं बोधनमाभिनिबोधिकमिति विरुध्यते, तल्लक्षणवाक्ये वाक्यांतरोपप्लवात् ।

यहां शंका है कि पूर्व आचार्योंने सामान्यरूपसे सभी मतिज्ञानोंको अभिनिबोध अच्छा कहा है । श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने भी " अभिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहणमणिंदियेंदियजयम् " इस गाथासे इन्द्रिय, अनिन्द्रियों करके उत्पन्न होनेवाले सभी मतिज्ञानोंको अभिनिबोध कहा है । किन्तु उस मतिज्ञानका विशेषभेद स्वार्थानुमान ही तो फिर अभिनिबोध नहीं है, जो कि यहां कहा जा रहा है । आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो ठीक नहीं है । क्योंकि विशेष प्रकरण होनेसे अथवा अन्य शब्दोंके सन्निकट होनेसे या तात्पर्य आदिसे सामान्य शब्दकी विशेष अर्थोंमें प्रवृत्ति होना देखा जा रहा है । जैसे कि वाणी, दिशा, पृथ्वी, वज्र, किरण, पशु, नेत्र, स्वर्ग, जल, बाण, रोम, इन ग्यारह अर्थोंमें सामान्यरूपसे प्रवर्त रहा गो शब्द प्रकरणविशेष होनेपर गौ या वाणीको विशेष रूपसे कहने लग जाता है । क्वचित् विशेष शब्द भी सामान्यका वाचक हो जाता है । वायुके घुस जानेपर शब्द करनेवाले छेदोंसे सहित हो रहे विशेष जातिके बांसोंको कीचक कहते हैं । किन्तु मारुतपूर्ण रन्ध्र ऐसा विशेषण लगा हुआ होनेपर कीचक शब्दका अर्थ सामान्य बांस हो जाता है । तिस कारण जब किये गये तीन सौ छत्तीस भेदवाला अभिनिबोध कहा जाता है, तब तो सामान्य मतिज्ञान ही अभिनिबोध समझा जाता है । किन्तु जब मतिज्ञानके विशेष भेद अवग्रह, ईहा, आदिको कह चुकनेपर उन अवग्रह आदिकोंसे न्यारा अभिनिबोध ऐसा कहा जाता है, तब तो अभिनिबोधका अर्थ स्वार्थानुमान किया जाता है । इस प्रकार इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे नियमित हो रहे तथा थोडीसी पर्याय और सम्पूर्ण द्रव्योंके प्रति अभिमुख हो रहा बोध है, इसको आभिनिबोधिक ऐसा नामनिर्देश किया गया है । अभिमुख नियमित बोध ही तो आभिनिबोधिक है । इस प्रकार स्वार्थमें ही किये गये ठण प्रत्ययका विधान है । ठणको इक आदेश हो जाता है । जो ही प्रकृतिका अर्थ है, वही स्वार्थमें किये गये प्रत्ययोंसे युक्त हुये पदका अर्थ है । वह अनुमानरूप अभिनिबोध ज्ञापक लिंगकी अपेक्षा रखनेवाले मनकरके विचारद्वारा नियमित हो रहे साध्यरूप अर्थके अभिमुख होकर बोध करना आभिनिबोधिक है । यह विरुद्ध नहीं पडता है । क्योंकि उस अभिनिबोधका लक्षण करनेवाले वाक्यमें दूसरे वाक्यका प्रवाह बहा दिया जाता है । भावार्थ—"इन्द्रियानिंद्रियजन्यं" इस लक्षणका अर्थ इन्द्रिय अनिन्द्रिय दोनोंसे उत्पन्न होना यह तो सामान्य मतिज्ञानमें

घट जाता है। और योगविभाग कर केवल अनिन्द्रियका आकर्षण करनेसे अनिन्द्रियजन्य अभिमुख नियत अर्थका बोध करना यह लक्षण स्वार्थानुमानरूप अभिनिबोधमें घट जाता है। अथवा अभिनिबोध नामके लक्ष्य वाक्यका ही योगविभागकर अभि, नि, बोध, एव अभिनिबोधः अभिमुख होकर नियमित अर्थको जान लेना ही स्वार्थानुमानरूप अभिनिबोध है। "प्रतिलक्ष्यं लक्षणोपप्लवः" अर्थात् प्रत्येक लक्ष्यमें लक्षणका उपप्लव यानी व्यक्तिरूपसे न्यारे न्यारे लक्ष्यमें व्यक्तिरूपसे न्यारे न्यारे लक्षणका रहना अभीष्ट है।

ननु नैकलक्षणाल्लिंगाल्लिंगिनि ज्ञानमनुमानं यदभिनिबोध शब्देनोच्यते। किं तर्हि। त्रिरूपाल्लिंगादनुमेये ज्ञानमनुमानमिति परमतमुपदर्शयन्नाह;—

बौद्धोंका पूर्वपक्ष है कि अन्यथानुपपत्तिरूप एक लक्षणवाले हेतुसे लिङ्गीमें (विषये सप्तमी) ज्ञान होना अनुमान नहीं है, जो कि अभिनिबोध शब्दसे कहा जाता है। तो क्या है ? ऐसी दशामें हम बौद्ध कहते हैं कि पक्षमें रहना १ सपक्षमें ठहरना २ और विपक्षसे व्यावृत्त रहना ३ इन तीन रूपवाले लिङ्गसे अनुमान करने योग्य साध्यमें ज्ञान होना अनुमान कहा गया है। इस प्रकार दूसरे बौद्धोंके मतको दिखलाते हुये आचार्य महाराज उत्तरपक्षका स्पष्ट कथन करते हैं।

निश्चितं पक्षधर्मत्वं विपक्षेऽसत्त्वमेव च।
सपक्ष एव जन्मत्वं तत्त्रयं हेतुलक्षणम् ॥ १२४ ॥
केचिदाहुर्न तद्युक्तं हेत्वाभासेपि संभवात्।
असाधारणतापायाल्लक्षणत्वविरोधतः ॥ १२५ ॥

संदिग्ध साध्यवाले पक्षमें निश्चितरूपसे वृत्ति होना और निश्चित साध्याभाववाले विपक्षमें हेतुका असत्व ही होना तथा निश्चित साध्यवाले सपक्षमें आधार आधेयभावरूपसे जन्म लेकर ठहरना वे तीनों ही हेतुके लक्षण हैं, इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहे हैं। किन्तु यह उनका कहना युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि हेत्वाभासमें भी वह लक्षण सम्भव रहा है। लक्ष्यके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंमें नहीं विद्यमान रहनेवाले ऐसे असाधारणधर्मको लक्षण कहते हैं। असाधारणपना न होनेसे त्रैरूप्यको हेतुके लक्षणपनका विरोध है। न्यायदीपिकामें नैयायिकके माने गये लक्ष्यके असाधारण धर्मवचनरूप लक्षणका खण्डन किया है। उसका भाव यही है कि "असाधारण धर्मवचनं लक्षणं" इसमें वचन यानी बोलनेकी कैद क्यों लगाते हो ? यों तो लक्ष्यधर्मीक वचनके साथ लक्षणधर्मके वचनका समानाधिकरणपना नहीं बन सकेगा। आत्माका लक्षण ज्ञान किया जाय, यहां नैयायिकोंके कथन अनुसार आत्माके असाधारण धर्मस्वरूप ज्ञानका बोलना आवश्यक पडेगा। तब तो "ज्ञानम्" इस प्रथमांतके साथ आत्मनि या आत्मनः कहना पडेगा। आत्मामें ज्ञान है। या आत्माका ज्ञान है।

यों तो समभ्यन्त या षष्ठ्यन्त आत्माशब्दके साथ प्रथमांत ज्ञानका समानाधिकरणपना नहीं है। हां, आत्मा और ज्ञानवान् यों कहनेपर समानाधिकरणपना तो है, किन्तु आत्माका असाधारणधर्म ज्ञानवान् तो नहीं है। अतः श्री धर्मभूषणयतिका नैयायिकोंके प्रति पहिला असंभव दोष दिखलाना अपनी विद्वत्ताका प्रदर्शक है। तभी तो अस्वरस आनेपर दण्डमें अव्याप्ति दोष और अव्याप्तनामके लक्षणः-भासमें अतिव्याप्ति दोष उठाया गया है। अतः न्यूनानतिरिक्त रूपसे लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्नमें पूर्णरूपसे व्यापरहा असाधारणधर्म लक्षण हो जाता है। यहां बौद्धोंके हेतुका त्रैरूप्यलक्षण असाधारण नहीं है। अतिव्याप्ति दोष आता है।

असाधारणो हि स्वभावो भावलक्षणमव्यभिचारादग्नेरौष्ण्यवत्। न च त्रैरूप्यस्या साधरणता तद्धेतौ तदाभासेपि तस्य समुद्भवात्। ततो न तद्धेतुलक्षणं युक्तं पंचरूपत्वादिवत्।

भावोंका असाधारणस्वभाव ही तो उनका लक्षण माना गया है। क्योंकि पदार्थोंका अपने असाधारण स्वभावके साथ व्यभिचार रहित होना हो रहा है। जैसे कि अग्निका असाधारण धर्म होता हुआ उष्णपना लक्षण है। बौद्धों द्वारा माने गये हेतुके त्रैरूप्यको असाधारणपना नहीं है। क्योंकि इस हेतुमें और उसके आभासरूप हो रहे हेत्वाभासमें भी उस त्रैरूप्यकी भले प्रकार उपपत्ति होना देखा जाता है। तिस कारण वह त्रैरूप्य तो हेतुका लक्षण मानना युक्त नहीं है, जैसे कि पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, असत्प्रतिपक्षपना और अबाधितपना इन पांच रूपोंका धर्म पाञ्चरूप्य या उक्त चाररूपोंका धर्म चातुरूप्य आदिक हेतुके लक्षण नहीं हैं।

कुत एव तदित्युच्यते;—

वह त्रैरूप्य हेतुका नहीं है, यह तुमने कैसे जाना ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य उत्तर कहते हैं।

वक्तृत्वादावसार्वज्ञसाधने त्रयमीक्ष्यते।
न हेतुत्वं विना साध्याभावासंभूष्णुतां यतः ॥ १२६ ॥

देखिये, बुद्धको असर्वज्ञपना साधनेपर वक्तापन पुरुषपन आदि हेतुओंमें वे तीनों रूप देखे जा रहे हैं। किन्तु साध्यके न रहनेपर हेतुका नहीं होनापनरूप अन्यथानुपपत्तिके विना वक्तृत्व आदिमें हेतुपना नहीं है। जिस कारण कि हेतुके त्रैरूप्यलक्षणका वक्तृत्व आदिमें व्यभिचार है। अतः त्रैरूप्य हेतुका असाधारणधर्म न होता हुआ लक्षण नहीं बन सकता है।

इदमिह संप्रधार्यं त्रैरूप्यमात्रं वा हेतोर्लक्षणं विशिष्टं वा त्रैरूप्यमिति ? प्रथमपक्षे न तदसाधारणं हेत्वाभासेपि संभवादलक्षणमेव। बुद्धो सर्वज्ञो वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवदित्यत्र हेतोः पक्षधर्मत्वं, सपक्षे सत्त्वं, विपक्षे वाऽसत्त्वं। सर्वज्ञो वक्ता पुरुषो वा न दृष्ट इति। न च गमकत्वमन्यथानुपपन्नत्वविरहात्।

यहां यह भले प्रकार विचारकर निश्चय करना है कि बौद्ध लोग सामान्यरूपसे यानी विशेषपनसे रहित त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण मानते हैं ? या किसी विशेषणसे सहित हो रहे इस त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण कहते हैं ? बताओ। पहिला पक्ष लेनेपर तो वह त्रैरूप्य हेतुका असाधारण धर्म नहीं बनता है। क्योंकि हेत्वाभासमें भी विद्यमान हो रहा है। अतः त्रैरूप्य अच्छा लक्षण नहीं है। देखिये, बुद्ध (पक्ष) असर्वज्ञ है (साध्य) वक्ता होनेसे, पुरुष होनेसे, आदि (हेतु) जैसे कि गलीमें चलनेवाला मनुष्य असर्वज्ञ है (दृष्टांत)। इस प्रकारके यहां अनुमानमें हेतुका पक्षवृत्तित्व रूप है, १ यानी वक्तापन हेतु बुद्धमें वर्त रहा है। मुमुक्षु जनोंके लिये मोक्षका उपदेश देना बुद्धका कर्तव्य बौद्धोंने माना है। बुद्धमें पुरुषपना भी है और सपक्षमें भी हेतु विद्यमान है। २ निश्चित रूपसे असर्वज्ञ हो रहे वर्तमानकालके उपदेशकोंमें वक्तापन, पुरुषपन, विद्यमान हैं। तथा निश्चित साध्याभाववाले सर्वज्ञमें वक्तापन पुरुषपन नहीं विद्यमान है। ३ सर्वज्ञ जीव परमात्मा तो वक्ता अथवा पुरुष होते हुये नहीं देखें गये हैं। इस प्रकार वक्तापन और पुरुषपन हेतुमें त्रैरूप्य वर्तरहा है। तब तो मीमांसकों करके उक्त अनुमान द्वारा कहा गया बुद्धका असर्वज्ञपना ठीक हो जावेगा। किन्तु जैनों द्वारा माने गये हेतुके लक्षण अन्यथानुपपन्नत्वके विना वे दोनों हेतु असर्वज्ञपन साध्यके गमक नहीं बन पाते हैं।

विशिष्टं त्रैरूप्यं हेतुलक्षणमिति चेत् कुतो न (नु) तद(द्)विशिष्टं ?।

यदि द्वितीय पक्षके अनुसार विशेषोंसे युक्त हो रहे त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण कहोगे तो बताओ, वह त्रैरूप्य किस विशेषणसे अविशिष्ट नहीं है ? अर्थात् त्रैरूप्यमें कौनसा विशेषण लगाया जाता है ? बताओ।

सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वं विरुद्धं न विनिश्चितं ।
ततो न तस्य हेतुत्वमित्याचक्षणकः स्वयम् ॥ १२७ ॥
तदेकलक्षणं हेतोर्लक्षयत्येव तत्त्वतः ।
साध्याभावविरोधो हि हेतोर्नान्यस्ततो मतः ॥ १२८ ॥
तदिष्टौ तु त्रयेणापि पक्षधर्मादिनात्र किं ।
तदभावेपि हेतुत्वसिद्धेः क्वचिदसंशयम् ॥ १२९ ॥

यदि विपक्षके विरुद्ध होनेपनको त्रैरूप्यका विशेषण लगाकर यों कहोगे कि बुद्धको असर्वज्ञपना साधते समय विपक्ष बनगये सर्वज्ञपनके साथ वक्तापन हेतु विरुद्ध होता हुआ विशेषरूपसे निश्चित नहीं किया गया है। अर्थात् सर्वज्ञ भी वक्ता हो सकते हैं, कोई विरोध नहीं है। तिस कारण उस वक्तापनको समीचीन हेतुपना नहीं है। इस प्रकार साभिमान बखान रहा

बौद्ध तो स्वयं ही उस एक ही विपक्ष विरुद्धपनेको हेतुका परमार्थरूपसे लक्षण करा रहा है। कारण कि हेतुका साध्याभावके साथ विरोध होना उस अन्यथानुपपत्तिसे कोई न्यारा स्वरूप नहीं माना गया है। और उस साध्याभाव विरोध यानी अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका लक्षण इष्ट करनेपर तो इस हेतुमें पक्षवृत्तिपन आदि तीन धर्मोंसे क्या लाभ हुआ ? अर्थात् हेतुमें तीन धर्मोंका बोझ बढाना व्यर्थ है। क्योंकि कहीं उन तीन धर्मोंके अभाव होनेपर भी संशयरहित होकर दृढता पूर्वक सद्धेतुपना सिद्ध हो रहा है। माता पिताके ब्राह्मण होनेसे पुत्रका ब्राह्मणपना साधा जाता है। यह हेतु तो पक्षमें नहीं वर्तता है। यहां पुत्र पक्ष माना गया है। और हेतु मातापिताका ब्राह्मणपना है। माता पिताका ब्राह्मणपना माता पिताओंमें रहता है। तथा दूसरा अनुमान सुनिये। जीवितशरीर (पक्ष) सात्मक है (साध्य) श्वासोच्छास, उष्णस्पर्श, आदि होनेसे (हेतु)। यहां सभी जीवितशरीरोंको पक्षमें प्रविष्ट कर देनेसे सपक्ष नहीं मिलनेके कारण हेतुका सपक्षमें वर्त्तना नहीं घटता है। इसी प्रकार सभी पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं, या अर्थक्रियाकारी हैं, तथा सम्पूर्ण पदार्थ (पक्ष) अनेक धर्मस्वरूप हैं (साध्य)। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सत् होनेसे (हेतु), जैसे कि अग्नि, चित्रज्ञान, आदिकभाव अनेकांतस्वरूप हैं (दृष्टान्त)। यहां सबका पक्षमें अन्तर्भाव हो जानेसे विपक्षव्यावृत्ति नहीं बनती है। अतः त्रैरूप्यके न होनेपर भी हेतुपना निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है। और गर्भस्थ पुत्र श्याम है, काली मित्राका लडका होनेसे, अन्य खेलते हुये उसके पुत्रोंके समान, यहां त्रैरूप्य होते हुये भी मित्रातनयपना सद्धेतु नहीं है। क्योंकि उदरका लडका वस्तुतः गोरा है। अतः अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, दोष आते हैं।

साध्याभावविरोधित्वाभावाद्धेतुस्त्रैरूप्यमविशिष्टं वक्तृत्वादिरिति वदन्नन्यथानुपपन्नत्वमेव विशिष्टत्वमभ्युपगच्छति साध्याभावविरोधित्वस्यैवान्यथानुपपन्नत्वनियमव्यपदेशात्। तथा पक्षधर्मत्वमेकमन्यथानुपपन्नत्वेन विशिष्टं सपक्षे सत्त्वं वा विपक्षासत्त्वमेव वा निश्चितं साध्यसाधनायालमिति किं तत्त्रयेण समुदितेन कर्तव्यं यतस्तद्धेतुलक्षणमाचक्षीत।

बौद्ध कहते हैं कि त्रैरूप्यका विशेषण साध्याभावविरोधित्व लगाना चाहिये, वक्तापन हेतुमें विशेषणसे रहित केवल त्रैरूप्य है। साध्याभावके साथ विरोधीपनरूप विशेषण न रहनेसे वक्तापन, पुरुषपन, ये सत् हेतु नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार कह रहा बौद्ध अन्यथानुपपत्ति नामक विशेषणसे ही सहित हेतुको स्वीकार कर रहा है। क्योंकि साध्याभावके साथ विरोध रखनेवालापनको ही साध्यके न रहनेपर हेतुका नियमसे नहीं ठहरनापनसे कथन करनेका व्यवहार कर दिया जाता है। तिस प्रकार होनेपर तो अकेले पक्षधर्मत्वरूपको ही अन्यथानुपपत्ति विशेषणसे विशिष्ट बनाकर हेतुको साध्य साधनेके लिये बोल सकते हो अथवा दूसरे सपक्षमें विद्यमानपना इस रूपको ही अन्यथानुपपत्तिसे सहितकर साध्यसिद्धि करासकते हो अथवा विपक्षमें नहीं रहनापन इस तीसरे रूपको ही अन्यथानुपपत्ति सहितपनेसे निश्चित कर उस रूपसे युक्त हुआ हेतु ही साध्यको साधनेके

लिये पर्याप्त कहा जासकता है। ऐसी दशामें उस तीन अवयववाले समुदित हो रहे त्रैरूप्यसे क्या करने योग्य शेष रहगया ? जिससे कि उस त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण आटोपसहित बखान सकोगे अर्थात् हेतुका लक्षण त्रैरूप्य नहीं है।

न हि पक्षधर्मत्वशून्यो हेतुर्न संभवति तथाहि।

ग्रन्थकार स्वयं हेतुके त्रैरूप्यलक्षणकी अव्याप्ति दिखलाते हैं। पक्षमें वृत्तिपनरूपसे रहित होता हुआ हेतु नहीं संभवता है, यह नहीं समझना। अर्थात् पक्षमें नहीं वर्तते हुये भी हेतु समीचीन हेतु माने गये हैं। इसी बातको दृष्टान्त देकर स्पष्ट कहते हैं।

उदेष्यति मुहूर्त्तांते शकटं कृत्तिकोदयात्।
पक्षधर्मत्वशून्योयं हेतुः स्यादेकलक्षणः॥ १३०॥

मुहूर्त्तभर कालके अन्तमें (पक्ष) रोहिणीका उदय होवेगा (साध्य) इस समय कृत्तिकाका उदय होनेसे (हेतु)। यह हेतु पक्षवृत्तिपनरूपसे शून्य होता हुआ भी एक अन्यथानुपपत्ति नामका लक्षण घटजानेसे सद्धेतु माना गया है। भावार्थ—कृत्तिकाका उदय हेतु तो कृत्तिका नक्षत्रमें रहता है और अनेक ताराओंके गाडी समान आकारवाले रोहिणीनक्षत्रका उदयरूप साध्य तो रोहिणीमें रहेगा। किन्तु पक्षमें वृत्ति न होनेपर भी अविनाभावकी सामर्थ्यसे कृत्तिकोदय सद्धेतु है।

उदेष्यच्छकटं व्योम कृत्तिकोदयवत्त्वतः।
इति प्रयोगतः पक्षधर्मतामेष्यते यदि॥ १३१॥
तदा धूमोग्निमानेष धूमत्वादिति गद्यताम्।
ततः स्वभावहेतुः स्यात्सर्वो लिंगस्त्रिवान्न ते॥ १३२॥

पक्षवृत्तित्वकी रक्षा करनेके लिए बौद्ध उक्त अनुमानका रूपक यों बनाते हैं कि आकाश (पक्ष) भविष्यमें उदय होनेवाले रोहिणीके उदयसे सहित होनेवाला है [साध्य], वर्तमान कालमें कृत्तिकाके उदयसे सहितपना होनेसे [हेतु]। ऐसा अनुमानका प्रयोग करनेसे आकाशरूप पक्षमें कृत्तिकोदयसहितपना हेतुका ठहरना यदि बौद्ध समन्तात् इष्ट करेंगे, तब तो यह धूम [पक्ष] अग्निवाला है [साध्य], धूमपना होनेसे [हेतु]। इस प्रकार अनुमान बनाकर कह देना चाहिये। क्योंकि धूमत्व हेतु धूमपक्षमें वर्त रहा है। किंतु व्यभिचारी होनेके कारण धूमहेतु अग्निको साधनेमें सद्धेतु नहीं है। धूमत्व तो धूममें रहता है। उस धूममें संयोग संबंधकरके अग्नि नहीं है। धूमकी लंबी पंक्तिके नीचे, रसोईखाना, बैलखाना, पर्वत, अधिहाना, आदिमें अग्नि भले ही होय। दूसरी बात यह है कि यों तो तुम बौद्धोंके यहां सभी हेतु स्वभावहेतु ही बन जावेंगे, कार्यहेतु

और अनुपलम्भ हेतु भी उक्त ढंगसे पक्षकी कल्पना करते हुए पक्षके या साध्यके स्वभाव हो जायंगे, ऐसी दशामें तीन भेदवाले हेतु जो बौद्धोंने माने हैं, वह सिद्धान्त बिगड जायगा, रक्षित नहीं रह सकेगा।

यदि लोकानुरोधेन भिन्नाः संबंधभेदतः ।
विषयस्य च भेदेन कार्याद्यनुपलब्धयः ॥ १३३ ॥
किं न तादात्म्यतज्जन्मसंबंधाभ्यां विलक्षणात् ।
अन्यथानुपपन्नत्वाद्धेतुः स्यात्कृत्तिकोदयः ॥ १३४ ॥

यदि जनसमुदायके अनुकूल प्रवृत्ति करनेसे संबंधका भेद और विषयभूत साध्यका भेद हो जानेसे कार्यहेतु, स्वभावहेतु, और अनुपलम्भ, ये तीन हेतु मानलोगे अथवा कारणके अभावको जाननेके लिये कार्यानुपलब्धि और व्यापकका अभाव साधनेके लिये व्याप्यकी अनुपलब्धि आदिको हेतु मानते हो तो स्वभावहेतुके प्रयोजक तादात्म्य संबंध और कार्यहेतुके प्रयोजक तदुत्पत्ति संबंधसे विलक्षण हो रहे अन्यथानुपपत्ति नामक संबंध हो जानेसे कृत्तिकोदय भी हेतु क्यों नहीं हो जावे । वस्तुतः देखा जाय तो तदुत्पत्ति आदिक अनियत संबंधोंका व्यभिचार दीखरहा है। हेतु द्वारा साध्यको साधनेमें अन्यथानुपपन्नत्वरूप संबंध ही निर्दोष हो रहा है । अन्य कोई सम्बन्ध नहीं ।

यथैव हि लोकः कार्यस्वभावयोः संबंधभेदात्ततोनुपलंभस्य च विषयभेदाद्भेदमनुरुध्यते तथाविनाभावनियममात्रात्कार्यादिहेतुत्रयात्कृत्तिकोदयादिहेतोरपीति कथमसौ चतुर्थो हेतुर्न स्यात् । न ह्यत्र लोकस्याननुरोधनवचो बाधकादिति शक्यं वक्तुं बाधकासंभवात् ।

कारण कि जिस ही प्रकार लौकिक जन कार्य और स्वभावके संबंधका भेद होनेसे और तिस ही कारण अनुपलम्भके विषयका भेद होनेसे हेतुओंके भेदका अनुरोध करता है । अर्थात् तादात्म्य और तदुत्पत्ति नामके दो संबंध हो जानेसे भावहेतुओंके स्वभाव और कार्य ये दो भेद करलेता है, तथा अभावरूप विषयको साधनेकी अपेक्षा अनुपलब्धि नामका तीसरा हेतु माना जाता है, तिसी प्रकार केवल अविनाभावरूप नियमका संबंधी होनेसे उक्त कार्य आदि तीन हेतुओंके अतिरिक्त कृत्तिकोदय, भरण्युदय, चन्द्रोदय, आदि हेतुओंके भी भेद मानकर वह चौथा हेतु क्यों नहीं हो जावेगा। यानी तीनके अतिरिक्त चौथे, पांचवें, आदि भी हेतुके भेद हो जावेंगे । यहां बाधक कारण उत्पन्न हो जानेसे लोकका अनुकूल आचरण करनेवाला वचन नहीं है, यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि कृत्तिकोदय आदिको ज्ञापक हेतु बनानेमें सभी लोकसम्मत हैं । कोई बाधक नहीं है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नन्विदमन्यथानुपपन्नत्वं नियतं संबंधेन व्याप्तं तदभावे तत्संभवेतिप्रसंगात्। सोपि तादात्म्यतज्जन्मभ्यामतादात्म्यवतोऽतज्जन्मनो वा संबंधानुपपत्तेः। ततः कृत्तिकोदयादौ साध्ये न तादात्म्यस्य तदुत्पत्तेर्वा वैधुर्ये कुतः संबंधस्तदभावे कुतोन्यथानुपपन्नत्वनियमो येन स गमको हेतुः स्यादिति व्यापकानुपलंभो बाधकस्तत्र लोकानुरोधस्य प्रतीयते।

यहां शंका करता हुआ कोई वादी बाधक प्रमाणको उपस्थित करता है कि यह नियत हो रहा अन्यथानुपपत्तिसहितपना तो संबंधरूप व्यापकसे व्याप्त हो रहा है। उस संबंधके न होनेपर भी अन्यथानुपपत्ति यदि सद्भाव माना जायगा तो अतिप्रसंग हो जावेगा अर्थात् संबंधसे रहित आकाश और पुष्प या आत्मा और रूप तथा पुद्गल और ज्ञान आदिमें भी अन्यथानुपपत्ति बन बैठेगी, जो कि किसीको इष्ट नहीं है। वह संबंध भी तादात्म्य और तदुत्पत्तिनामक दो संबंधोंसे ही व्याप्त हो रहा है। जगत्में वास्तविक संबंध दो ही हो सकते हैं, जो पदार्थ तादात्म्य संबंधवाला नहीं है, अथवा तदुत्पत्तिसंबंधवाला नहीं है, उसके अन्य कोई भी संबंध नहीं बन पाता है। तिस कारण कृत्तिकोदय या चींटियोंका सम्मूर्च्छन शरीररूप अण्डा लेकर संचार करना आदि हेतुओंमें अपने साध्यके साथ तादात्म्य और तज्जन्यत्वनामक संबंधके बिछुड जानेपर कहांसे संबंध भला बन सकता है? व्यापकके नहीं रहनेसे व्याप्य भी नहीं रहता है। तादात्म्य और तदुत्पत्तिका अन्यतरपना व्यापक है और संबंध व्याप्य है तथा उस संबंधके न होनेपर अन्यथानुपपत्तिरूप नियम भी कैसे ठहरेगा? अर्थात् नहीं ठहरता है। व्यापकके विना व्याप्यकी स्थिति नहीं है। जिससे कि वह कृत्तिकोदय हेतु शकटोदय साध्यका गमक हो जाता अर्थात् तादात्म्य और तदुत्पत्ति न होनेसे कृत्तिकोदयमें कोई संबंध नहीं और संबंध न होनेसे अन्यथानुपपत्ति नहीं, इस कारण कृत्तिकोदय कोई चौथा हेतु नहीं है। इस प्रकार व्यापकका अनुपलम्भ वहां लोककी अनुकूलताका बाधक प्रतीत हो रहा है।

कृतिकोदयादेर्गमकत्वं हेतुत्वनिबंधनं तदेवान्यथानुपपन्नत्वं साधयति तदपि संबंधं सोपि तादात्म्यतज्जन्मनोरन्यतरं। तत्र तदुत्पत्तिर्वर्त्तमानभविष्यतोः कृत्तिकोदयशकटोदययोः परस्परमन्वयव्यतिरेकानुविधानासंभवान्न युज्यत एव तादात्म्यं तु व्योम्नः शकटोदयवत्त्वे साध्ये कृत्तिकोदयवत्त्वं शक्यं कल्पयितुं साधनधर्ममात्रानुबंधिनः साध्यधर्मस्य तदात्मत्वोपपत्तेः। यत एव बाह्यालोकतमोरूपभूतसंघातस्य व्योमव्यवहारार्हस्य कृत्तिकोदयवत्त्वं तत एव भविष्यच्छकटोदयवत्त्वं हेत्वन्तरानपेक्षत्वादेः सिद्धं न तन्मात्रानुबंधित्वमनित्यत्वस्य कृतकत्वमात्रानुबंधित्ववदिति केचित्तान् प्रत्याहः—

वे ही वादी अभीतक कहते जा रहे हैं कि कृत्तिकोदय आदिको साध्यका गमकपना हेतुपनका कारण है, और वही अन्यथानुपपन्नत्वको साध रहा है। तथा वह भी अन्यथानुपपत्ति तो संबंधको जता रही है। तथा वह संबंध भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति दोनोंमेंसे किसी भी एकको

साध रहा है। तिन दो संबंधोंमें तदुत्पत्ति नामका संबंध मानना तो वर्त्तमानकालके कृत्तिकोदय हेतुका भविष्यमें होनेवाले शकटोदय साध्यके साथ परस्परमें अन्वय और व्यतिरेकका अनुविधान करना नहीं सम्भवनेके कारण युक्त नहीं है। अतः शकटोदय और कृत्तिकोदयका अधिक काल व्यवधान होनेसे तदुत्पत्ति संबंध तो बनता नहीं है। हां, थोडी देरके लिए इस ढंगसे तादात्म्य संबंध-कल्पित किया जा सकता है कि आकाशको पक्ष माना जाय। उसमें शकटोदयसहितपनेको साध्य किया जाय और कृत्तिकाके उदयसे सहितपना हेतु किया जाय, केवल हेतुके धर्मका ही अनुरोध करनेवाले साधनरूप धर्मका तदात्मकपना बन जाता है, तभी वर्तमानमें कृत्तिकोदयसहितपना और भविष्यके शकटोदयसे सहितपना ये दोनों आकाशके धर्म होते हुये तदात्मक हैं। हम बौद्धोंके यहां आकाश कोई अमूर्त, व्यापक, पदार्थ नहीं माना गया है। किन्तु दिनमें बहिरंग आलोकरूप भूत परिणामके समुदायको आकाश कहते हैं। और रातमें भूतोंके अंधकाररूप परिणामका इकट्ठा हो जाना ही आकाशपनेसे व्यवहार करने योग्य है। उस आकाशमें जिस ही कारण कृत्तिकोदय सहितपना विद्यमान है, तिस ही कारण भविष्यमें होनेवाले शकटोदयसे सहितपना भी अन्य हेतुओंकी नहीं अपेक्षा रखने या स्वभावसे ही तैसी परिणति आदि होनेसे सिद्ध हो रहा है। तब तो साध्य और हेतुके एक ही हो जानेके कारण केवल उसीसे ही अनुबंधी होनापन नहीं सिद्ध होता है। जैसे कि घटका घट हीसे तदात्मक होनापन कोई कार्यकारी नहीं है। अथवा अनित्यपनका केवल कृतकपनके साथ अनुबन्धी होना जैसे प्रयोजक नहीं है, इस प्रकार कोई बौद्ध कहरहे हैं। भावार्थ—कृत्तिकोदयको गमकपना तब होता जब कि वह ज्ञापक हेतु होता और वह ज्ञापक हेतु तब होता जब कि अन्यथानुपपत्ति उसमें ठहरती और अन्यथानुपपत्ति तब ठहर सकती थी जब कि वहां संबंध ठहरता और कृत्तिकोदयमें संबंध तब ठहर सकता था, जब कि तादात्म्य और तदुत्पत्तिमेंसे कोई एक संबंध वहां पाया जाता। इस प्रकार उत्तरोत्तर व्यापकोंके न ठहरनेपर पूर्व पूर्वके व्याप्य धर्म कृत्तिकोदयमें नहीं हैं। अतः वह शकटोदय साध्यका ज्ञापक नहीं है। यहांतक बौद्धोंका कहना है। अब उनके प्रति सन्मुख होकर श्रीविद्यानंद आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

नान्यथानुपपन्नत्वं ताभ्यां व्याप्तं निक्षेपणात्।
संयोग्यादिषु लिंगेषु तस्य तत्त्वपरीक्षकैः॥ १३५॥

देखिये, तिन तदुत्पत्ति और तादात्म्य संबंधके साथ अन्यथानुपपन्नपना व्याप्त नहीं हो रहा है। क्योंकि तत्त्वोंकी यथार्थ परीक्षा करनेवाले विद्वानों करके संयोगी, समवायी, आदि हेतुओंमें भी उस अन्यथानुपपत्तिका प्रक्षेप किया गया है। किन्तु वहां तादात्म्य या तदुत्पत्ति नहीं है।

अर्वाग्भागोऽविनाभावी परभागेन कस्यचित्।
सोपि तेन तथा सिद्धः संयोगी हेतुरीदृशः॥ १३६॥

सास्नादिमानयं गोत्वाद्गौर्वा सास्नादिमत्त्वतः ।
इत्यन्योन्याश्रयीभावः समवायिषु दृश्यते ॥ १३७ ॥
चंद्रोदयोऽविनाभावी पयोनिधिविवर्धनैः ।
तानि तेन विनाप्येतत्संबंधद्वितयादिह ॥ १३८ ॥

किसी भी भींत, कपाट, आदिका उरली ओरका भाग तो परली ओरके भागके साथ अविनाभाव संबंध रखनेवाला है। और वह परला भाग भी जिस प्रकार उरली ओरके भागके साथ अविनाभाव रखता है। चौडे फाटवाली नदीका एक तीर दूसरे तीरके विना नहीं हो सकता है। इस प्रकारके समव्याप्तिवाले संयोगी हेतु सिद्ध हो रहे हैं। तथा यह पशु (पक्ष) लटकता हुआ गलेका चर्मरूप सास्ना, सींग, ककुद् (टाठ) पूंछके प्रान्त भागमें बालोंका गुच्छा हो जाना आदि धर्मोंसे युक्त है (साध्य)। क्योंकि इसमें बैलपना है (हेतु)। अथवा यह पशु (पक्ष) गौ है (साध्य)। क्योंकि सास्ना, सींग, आदिसे सहित है (हेतु), इस प्रकार परस्परमे एक दूसरेके आश्रय होता हुआ समवायी हेतुओंमें अविनाभाव संबंध देखा जा रहा है। अर्थात् ज्ञात हो रहा है एक धर्मसे दूसरे अज्ञात धर्मका ज्ञान करा दिया जाता है। जहां सभी धर्म ज्ञात नहीं हैं, वहां उपाय न्यारा है तथा चंद्रमाका उदय होना भी समुद्रका जलवृद्धिके साथ संबंध अविनाभाव रखता है, और समुद्रकी वृद्धियां होना उस चन्द्रोदयके साथ अविनाभावको धारण करता है। इस कारण उक्त तादात्म्य और तदुत्पत्ति नामके दो संबंधोंके विना भी यहां संयोगी, समवायी, सहचर, ये हेतु भी अविनाभावी होकर अपने साध्यके ज्ञापक देखे जा रहे हैं।

एवंविधं रूपमिदमामत्वमेवं रसत्वादित्येकार्थसमवायिनो वृक्षोयं शिंशपात्वादित्येतस्य वा तदुत्पत्तितादात्म्यबलादविनाभावित्वं। नास्त्यत्र शीतस्पर्शोग्नेरिति विरोधिनस्तादात्म्यबलात्तदिति स्वमनोरथं प्रथयतोपि संयोगिसमवायिनोर्यथोक्तयोस्ततोन्यस्य च प्रसिद्धस्य हेतोर्विनैव ताभ्यामविनाभावित्वमायातं। नास्त्येवात्राविनाभावित्वं विनियतमित्येतदाशंक्य परिहरन्नाह;—

कोई कुछ दिनोंसे अंधा हो गया पुरुष अनुमान करता है कि यह आम्रफल (पक्ष) इस प्रकारके रूपवाला है (साध्य), क्योंकि इस प्रकार रस है (हेतु), प्रायः करके खट्टे और कच्चे आमका हरा रंग होता है। और मीठे और पके आमका पीला रूप होता है। ऐसे रस और रूपका एक ही अर्थमें समवाय संबंध हो जानेसे उन दोनोंका परस्परमें एकार्थसमवाय संबंध माना गया है। इनका तदुत्पत्ति नामक संबंधसे अविनाभाव बन जाओ। अथवा यह वृक्ष है, शिंशपा होनेसे, ऐसे इस अनुमानको तादात्म्यके बलसे अविनाभावीपना बौद्धोंके विचार अनुसार रहो, तथा यहां

शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि आग जल रही है, इस प्रकार विरोधी हेतुका भी तादात्म्यके बलसे भले ही अविनाभाव मान लो, क्योंकि अनुपलब्धि हेतुमें तो भावरूप अग्नि हेतु गर्भित नहीं हो सकता है। इस प्रकार सहचर, एकार्थसमवायी, आदि हेतुओंको तादात्म्य तदुत्पत्तिमें गर्भित कर अपने मनोरथको चारों ओर गाकर प्रसिद्ध कर रहे भी बौद्धोंके यहां यथायोग्य अभी कहेगये परभाग, साखा, आदिक संयोगी और समवायी हेतुओंको तथा उनसे अन्य प्रसिद्ध होरहे चन्द्रोदय, छत्र, भरण्युदय, आदि हेतुओंको भी उन तादात्म्य, तदुत्पत्तिके विना ही अविनाभावीपना प्राप्त हो गया, सो समझे रहना। यदि बौद्ध यों कहें कि यहां परभाग, साखा, आदिमें अविनाभावीपना विशेषरूपसे नियत नहीं है। इस प्रकार बौद्धकी आशंकाका परिहार करते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट कहते हैं।

संयोगिना विना वह्निः स्वेन धूमेन दृश्यते।
गवा विना विषाणादिः सनवायीति चेन्मतिः ॥ १३९ ॥
कारणेन विना स्वेन तस्मादव्यापकेन च।
वृक्षत्वेन क्षते किं न चूतत्वादिरनेकशः ॥ १४० ॥
ततो यथाविनाभूते संयोगादिर्न लक्ष्यते।
व्यापको व्यभिचारत्वात्तादात्म्यात्तत्तथा न किम् ॥ १४१ ॥

अपने साथ संयोग संबंध रखनेवाले धूमके विना भी उष्ण लोहपिंडमें अग्नि दीख रही है, यह संयोगी हेतुका व्यभिचार हुआ। तथा समवाय संबंधवाले सींग, साखा, आदिक भी गौके विना न्यारे न्यारे भैंस करकेंटा (गिरगिट) में दीख रहे हैं, अतः समवायी हेतु दूषित है। बौद्धोंका इस प्रकार मन्तव्य होनेपर तो हम कहते हैं कि अपने कारणके विना कार्य नहीं होता है। और व्यापकके विना व्याप्य नहीं होता है। किंतु अनेकवार स्थूल देखनेवाले जीवोंने आम्रपन, शीशोंपन, आदिककी वृक्षपने करके क्षति जो देखी गयी है। वह क्यों न होजाय। भावार्थ—चार्वाकोंके दिये गये दोषोंके अनुसार बौद्ध भी यदि दोष लगावेंगे कि वामीमेंसे मेह बरसने पर विना आगके धुआं उठता है, इन्द्रजालियाके घडेमें धुआं है, आग नहीं है, गर्म लोहेका गोला अंगार या जले हुये कोयलों आदि अवस्थामें धुआंके विना अग्नि तो रहती हुयी प्रसिद्ध होय ही रही है, शीशों और आमके पेडोंके समान शीशों, आम, पीपलकी वेलें भी हैं, ये सब दोष तो अच्छे नहीं है। क्योंकि कारणके विना कार्य नहीं होता है और व्यापकके विना व्याप्य नहीं ठहरता है। वृक्षपनेसे व्याप्य होरहा शीशोंपना, आम्रपना, न्यारा है। शीशोंकी वेल तो भिन्न प्रकारकी होगी। तिस कारण आप बौद्धोंके यहां अविनाभाववाले हेतुओंमें जिस प्रकार संयोग, समवाय, आदिक संबंध नहीं देखे

जाते हैं और जिस ही प्रकार व्यभिचार होनेसे व्याप्यव्यापकभाव संबंध भी नहीं देखा जाता है, तिस ही प्रकार तादात्म्य संबंध होनेसे भी व्यभिचार क्यों नहीं कहा जाता है। शीशोंकी वेलमें वृक्षपना नहीं है, चन्द्रकान्तमणिके निकट आजानेपर अग्नि शीतल हो जाती है।

देशकालाद्यपेक्षश्चेद्धस्मादेर्वह्निसाधनः।
चूतत्वादिर्विशिष्टात्मा वृक्षत्वज्ञापको मतः ॥ १४२ ॥
संयोगादिर्विशिष्टस्तन्निश्चितः साध्यसाधनः।
विशिष्टता तु सर्वस्य सान्यथानुपपन्नता ॥ १४३ ॥

देश, काल, आकार, आदिकी अपेक्षा रखते हुए भस्म आदिक हेतु यदि अग्निको साधनेवाले माने जायेंगे और स्कन्ध, डाला, ऊपर जाकर फैलना, आदि स्वरूपोंसे विशिष्ट होता हुआ आम्रपना शीशोंपना आदिक हेतु वृक्षपनेके ज्ञापक माने जायंगे तब तो अविनाभावसे विशिष्ट होते हुये संयोग आदिक भी निश्चित होकर साध्यके साधनेवाले हो जावेंगे और वह सम्पूर्ण हेतुओंकी विशिष्टता तो अन्यथानुपपत्ति ही है। अर्थात् ज्ञापक हेतुका प्राण अविनाभाव ही है। उससे विशिष्ट होता हुआ चाहे कोई भी संयोगी, सहचर, आम्रत्व, आदिक हेतु होय निश्चितरूपसे साध्यको साध देवेगा।

सोयं कार्यादिलिंगस्याविशिष्टस्यागमकतामुपलक्ष्य कार्यस्वभावैर्यावद्भिरविनाभावि-कारणे तेषां हेतुः स्वभावाभावेपि भावमात्रानुविरोधिनि "इष्टं विरुद्धकार्येपि देशकाला-द्यपेक्षणं। अन्यथा व्यभिचारी स्याद्धस्मे वा शीतसाधन" इत्यादि वचनेन स्वयं विशिष्ट-तामुपयन्नेव यथा हेतोर्गमकत्वमविनाभावनियमेन व्याप्तमाचष्टेविनाभावनियमं तदभावेपि तत्संभवादन्यथा तस्य तेन विशेषणानर्थक्यात्। ततः संयोगादिरप्यविनाभावनियम विशिष्टो गमको हेतुरित्यभ्युपगंतुमर्हति विशिष्टतायाः सर्वत्रान्यथानुपपत्तिरूपत्वसिद्धेरिति न तदुत्पत्तितादात्म्याभ्यामन्यथानुपपन्नत्वं व्याप्तं।

सो यह बौद्ध कार्यहेतु, स्वभावहेतु, और अनुपलब्धि हेतुको अन्यथानुपपत्ति नामके विशे-षणसे सहित नहीं हुयेको साध्यका ज्ञापकपना नहीं है, इस बातका उपलक्षण कर यों कह रहा है कि जितने भर भी कार्य और स्वभावोंकरके अविनाभाव रखनेवाले कारण और भावोंके होनेपर उन कारण और भावरूप साध्योंके कार्य और स्वभाव ज्ञापकहेतु इष्ट हैं। स्वभाव न होनेपर भी कोई नारदपर्वतके समान भावोंका पीछे विरोध करनेवाले हेतुमें विज्ञापकपना नहीं है। बौद्ध ग्रन्थमें कहा है कि विरुद्धकार्य होनेपर भी देशकाल आदिकी अपेक्षा रखनेवाला हेतु ज्ञापक मान लिया जाता है। जैसे कि रसोई खानेमें गीले ईंधनकी अग्निरूप हेतुसे धुआंको साध लेते हैं। अथवा भरणीके उदयसे भविष्यके कृत्तिकोदयको साध लिया जाता है।

अन्यथा यानी देश, काल आदि विशेषणके नहीं लगानेपर तो वह हेतु व्यभिचारी हो जायगा, जैसे कि उष्णाता साधनेमें भस्म हेतु व्यभिचारी हो जाता है। हां, यदि भूतकालका उष्णपना या वह्नि-सहितपना साधना होय तो अविनाभाव रखता हुआ भस्म (राख) हेतु समीचीन है। इस प्रकार हेतुकी विशिष्टताको स्वीकृत करता हुआ ही अविनाभावरूप नियम करके साध्यके साथ व्याप्त हो रहे हेतुका ज्ञापकपना यथार्थ बखान रहा बौद्ध अविनाभाव नियमको ही विशेषण स्वयम् कह रहा है। क्योंकि उस अविनाभावके न होनेपर भी कार्य और स्वभाव संभव हो जाते हैं। देखिये, कुम्हारका कार्य घट है, किन्तु अविनाभाव न होनेके कारण घट हेतुसे कुलालका वहां सद्भाव नहीं जाना जा सकता है। आम्रका स्वभाव वृक्षपना है, एतावता ही वृक्षपन हेतुसे आम्रवृक्षकी ज्ञप्ति नहीं हो जाती है। अन्यथा यानी अविनाभावके विना भी हेतु यदि साध्यका ज्ञापक मान लिया जाय तब तो उस हेतुका उस अविनाभावसे सहितपना विशेषण लगाना व्यर्थ पडेगा, जैसे कि गाढे दहीमें जमा हुआ या शुक्लपना विशेषण व्यर्थ हैं। मिश्रीको मीठा कहना व्यर्थ है। व्यभिचारोंकी निवृत्तिको करता हुआ विशेषण सार्थक माना गया है। तिस कारण संयोगी, समवायी, आदि हेतु भी अविनाभावरूप नियमसे विशिष्ट होते हुये अपने नियतसाध्यकी ज्ञप्ति करानेवाले हैं। बौद्ध इस बातको स्वीकार करनेके लिये योग्य हैं। क्योंकि सम्पूर्ण हेतुओंमें विशिष्टपना अन्यथानुपपत्तिरूपपनेसे सिद्ध हो रहा है। इस कारण तदुत्पत्ति और तादात्म्यकरके अन्यथानुपपत्ति व्याप्त नहीं हो रही है। अन्यथानुपपत्तिका उदर तादात्म्य तदुत्पत्तिसे बहुत अधिक बडा है। तथा किसी अंशमें छोटा भी है। इस प्रकार एकसौ पैंतीसवीं " नान्यथानुपपन्नत्वं " इस कारिकाका विवरण किया है।

तद्विशिष्टाभ्यां व्याप्तमिति चेत् तर्ह्यन्यथानुपपन्नत्वे नान्यथानुपपन्नत्वं व्याप्तमित्यायातं। तच्च न सारं तस्यैव तेनैव व्याप्यव्यापकभावविरोधात् व्याप्यव्यापकयोः कथंचिद्भेदप्रसिद्धेः। " व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च " इति तयोर्विरुद्धधर्माध्यासवचनात्।

यदि बौद्ध यों कहें कि साध्यके विना हेतुका नहीं रह सकनारूप उस अन्यथानुपपत्तिसे विशिष्ट हो रहे तादात्म्य और तदुत्पत्तिकरके तो अन्यथानुपपन्नपना व्याप्त है। अब कोई दोष नहीं आता है। तब तो हम जैन कहते हैं कि अन्यथानुपपन्नपनेसे ही अन्यथानुपपन्नपना व्याप्त हुआ ऐसा आया और वह तो कथन निःसार पडेगा। क्योंकि उसका ही उस ही के साथ व्याप्यव्यापक भाव होनेका विरोध है। व्याप्य और व्यापकोंमें कथंचित् भेदकी प्रसिद्धि हो रही है। उसमें और उससे भिन्न पदार्थोंमें भी ठहरनेवाला पदार्थ व्यापक होता है। तथा केवल उसमें ही ठहरनेवाला व्याप्य होता है। जैसे कि वैश्योंमें ही रहनेवाला वैश्यत्व धर्म व्याप्य है, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, आदिमें रहनेवाला मनुष्यत्व धर्म व्यापक है। इस प्रकार उन व्याप्य और व्यापकोंमें विरुद्ध धर्मोंसे आरूढ हो रहेपनका कथन किया गया है।

अथ मतं ताभ्यां संबंधो व्याप्तस्तेनान्यथानुपपन्नत्वमिति । तदप्यविचारितमेव, तद्व्यतिरिक्तस्य संयोगादेः संबंधस्य सद्भावात् । कार्यकारणभावयोरसंयोगादिरूपकार्योपकारकभावमंतरेण क्वचिदप्यभावादिति चेन्न, नित्यद्रव्यसंयोगादेस्तदंतरेणैव भावात् । न च नित्यद्रव्यं न संभवेत् क्षणिकपरिणामवत्तस्य प्रमाणसिद्धत्वात् तदवश्यं सर्वसंबंधव्यक्तीनां व्यापकस्तदुत्पत्तितादात्म्याभ्यामन्य एवाभिधातव्यो योग्यतालक्षण इत्याहः—

अब यदि बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि उन तादात्म्य और तदुत्पत्तिरूप व्यापकोंसे संबंध व्याप्त हो रहा है, और संबंधरूप व्यापकसे अन्यथानुपपन्नपना व्याप्त है, आचार्य कहते हैं कि वह मन्तव्य भी विचार किया गया नहीं । क्योंकि उन तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे सर्वथा न्यारे हो रहे संयोग, समवाय, सहचर, विरुद्ध, कारण, व्याप्य, व्यापक विरुद्धता, आदि अनेक संबंध विद्यमान हैं। अविनाभाव घटित हो जानेसे उक्त संबंध साध्यके ज्ञापक हो जाते हैं । नियमरहित होते हुये उक्त संबंध अनुमान करानेमें सहायक नहीं हो सकते हैं । यदि बौद्ध यों कहें कि संयोग, समवाय, आदि संबंध भी पहिले असंयोगी और असमवायीरूप कार्योंके उपकारकपनके विना कहीं भी नहीं पाये जाते हैं । अर्थात् संयोग, समवाय भी कारणोंसे किये गये हैं । अतः वे कार्यहेतुमें ही गर्भित हो जावेंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि आकाश, आत्मा, कालाणु,आदि नित्य द्रव्योंके नित्यसंयोग तथा धर्मद्रव्यका अपने परिमाणके साथ और कालाणुका अपने अस्तित्व, वस्तुत्व-आदि गुणोंके साथ नित्यसमवाय हो रहा है । जीव, पुद्गल द्रव्योंका भी अपने सामान्य गुणोंके साथ नित्यसमवाय हो रहा है । वे संबंध तो किसीके कार्य हुये विना ही विद्यमान हो रहे हैं । ऐसी दशामें संयोग आदिक हेतु भला कार्यहेतुमें कैसे गर्भित किये जा सकते हैं ।? नित्यद्रव्य कोई नहीं सम्भवता है, यह तो नहीं समझना । क्योंकि क्षणिकपर्यायके समान वह नित्यद्रव्य भी प्रमाणोंसे सिद्ध है । तिस कारण सम्पूर्ण ही नियतसंबंध व्यक्तियोंमें व्यापक हो रहा और तादात्म्य, तदुत्पत्तिसे, अन्य ही कोई योग्यतास्वरूप संबंध कहना चाहिये, इस बातको स्वयं ग्रन्थकार स्पष्ट कहते हैं ।

योग्यताख्यश्च संबंधः सर्वसंबंधभेदगः ।
स्यादेकस्तद्वशाल्लिंगमेकमेवोक्तलक्षणम् ॥ १४४ ॥

सम्पूर्ण ही संबंधोंके भेदप्रभेदोंमें प्राप्त हो रहा योग्यता नामका ही एक संबंध [अविनाभाव] मान लेना चाहिये । उस एक संबंधके वशसे एक ही प्रकारका हेतु है, जिसका कि " अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनम् " इस कारिकाद्वारा लक्षण कह दिया गया है ।

विशेषतोपि संबंधद्वयस्यैवाव्यवस्थितेः ।
संबंधषट्कवन्नातो लिंगेयत्ता व्यवस्थितेः ॥ १४५ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वैशेषिकोंके माने गये संयोग आदिक छह संबंधोंके समान बौद्धोंके द्वारा माने गये विशेष-रूपसे भी दो संबंधोकी ही व्यवस्था नहीं हो पाती है। इस कारण इन तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे हेतुओंके इतने परिणामकी ठीक व्यवस्था नहीं हुई।

तद्विशेषविवक्षायामपि संख्यावतिष्ठते।
न लिंगस्य परैरिष्टा विशेषाणां बहुत्वतः ॥ १४६ ॥

हेतुओंके विशेषभेदोंकी विवक्षा करनेपर भी दूसरोंके द्वारा मानी गयी हेतुकी दो या तीन संख्या तो नहीं निर्णीत होती हैं। क्योंकि हेतुओंके भेदप्रभेद बहुतसे हैं। वे दो आदि संख्याओंमें सभी गर्भित नहीं हो सकते हैं। भावार्थ—अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाला हेतु एक ही है। विशेष-रूपसे यदि उसके भेद किये जायंगे तो उपलब्धि, अनुपलब्धि, या विधिसाधक, निषेधसाधक ये तो हो सकते हैं। क्योंकि इनमें जगत्के सभी ज्ञापकहेतुओंका अंतर्भाव हो जाता है। किन्तु तादात्म्य तदुत्पत्ति या वीत, अवीत अथवा संयोग, समवाय, एवं पूर्वचर, उत्तरचर, तथा पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोऽदृष्ट, इत्यादि विशेषभेद करना समुचित नहीं है।

संबंधत्वसामान्यं सर्वसंबंधभेदानां व्यापकं न योग्यताख्यः संबंध इत्यचोद्यं, प्रत्यासत्तेरिह योग्यतायाः सामान्यरूपायाः स्वयमुपगमात्। सैवान्यथानुपपत्तिरित्यपि न मंतव्यं प्रत्यासत्तिमात्रे क्वचित्सत्यपि तदभावात्। न हि द्रव्यक्षेत्रकालभावप्रत्यासत्तयः सर्वत्र कार्यकारणभावसंयोगादिरूपाः सत्योप्यविनाभावरहिता न दृश्यंते ततः संबंध-वशादपि सामान्यतोन्यथानुपपत्तिरेकैवेति तल्लक्षणमेकं लिंगमनुमंतव्यं।

सामान्यरूपसे सम्बंधत्वधर्म ही संपूर्ण संबंधके भेदप्रभेदोंका व्यापक है। जैनोंका माना हुआ योग्यता नामक संबंध तो सर्वव्यापक नहीं है। इस प्रकारका कटाक्ष करना ठीक नहीं। क्योंकि इस प्रकरणमें सामान्यरूप हो रही योग्यताको ही संबंधपनेसे स्वयं प्रतिवादीने स्वीकार किया है। नियत, अनियत, सभी संबंधोंमें व्याप रही वह योग्यता ही अन्यथानुपपत्ति होय यह भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि सामान्यरूपसे अनेक प्रत्यासत्तियोंमेंसे कहीं कहीं योग्यताके रहनेपर भी उस अन्यथानुपपत्तिका अभाव है। देखिये, आकाश आत्मा, या जीव पुद्गल, तथा कुलाल घट, आदि पदार्थोंकी द्रव्यरूपसे प्रत्यासत्ति है। और वायुधाम, सिद्ध भगवान् उपरिम तनुवातमें रहनेवाले सूक्ष्म निगोदिया, जीवकर्म, आदिकी क्षेत्रप्रत्यासत्ति है। तथा समानकालमें रहनेवाले घट, पट आदि पदार्थोंकी या पूर्वापरपर्यायोंकी कालप्रत्यासत्ति है। एवं देवदत्त, जिनदत्त, आदिके कतिपय समानज्ञानोंकी भावप्रत्यासत्ति है। पितापुत्रकी जन्यजनकभावरूप प्रत्यासत्ति है। ढाई द्वीप, सिद्ध लोक, सिद्धशिलाका समानपरिमाणरूप संबंध है। लोकाकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायके समानसंख्यावाले प्रदेशोंका तुल्यसंख्यक संबंध है। जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि विमान, नंदीश्वरकी

बावडीका तुल्यपरिमाणपना संबंध है । क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चारित्रका उत्कृष्ट अनंतप्रमाणपनाभाव संबंध है । कानेका काने पुरुषके साथ सदृशाकारत्व संबंध है । ये सर्वत्र हो रहे कार्यकारणभाव, संयोग आदिरूप संबंध होते हुए भी अविनाभावसे रहित नहीं दीख रहे हैं, यह नहीं समझना, अर्थात् संबंधोंमें अनेक संबंध तो अविनाभावसे रहित हैं । तिस कारण संबंधके वशसे भी समान्यरूप करके अन्यथानुपपत्ति ही एक वह हेतुका लक्षण है । इस कारण एक ही हेतु महर्षिओंकी सम्प्रदायके अनुसार मानना चाहिये ।

विशेषतोपि संबंधद्वयस्य तादात्म्यतज्जन्माख्यस्याव्यवस्थानात् संयोगादिसंबंधषट्कवत्तदव्यवस्थाने च कुतो लिंगेयत्ता नियम इति तद्विशेषविवक्षायामपि न परैरिष्टा लिंगसंख्यावतिष्ठते विशेषाणां बहुत्वात् । परेष्टसंबंधसंख्यामतिक्रामंतो हि संबंधविशेषास्तदिष्टलिंगसंख्यां विघटयंत्येव स्वेष्टविशेषयोः शेषविशेषाणामंतर्भावयितुमशक्तेः । विषयस्य विधिप्रतिषेधरूपस्य भेदाल्लिंगभेदस्थितिरित्यपीष्टं तत्संख्याविरोध्येव ।

विशेषरूपसे भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति नामके दो संबंधोंकी व्यवस्था नहीं है । जैसे कि संयोग आदिक छह संबंधोंकी हानमें हेतुके प्रकारोंकी संख्या व्यवस्थित नहीं है और उन दो, छह आदि हेतु भेदोंकी व्यवस्था नहीं होनेपर तो ऐसी दशामें हेतुओंकी इतनी संख्याके परिमाणको अवधारण करनेपनका नियम कैसे सधा ? इस प्रकार हेतुओंके विशेषोंकी विवक्षा होनेपर भी दूसरे प्रतिवादियोंद्वारा इष्ट की गई हेतुसंख्या नहीं निर्णीत हो पाती है । क्योंकि व्याप्यको, व्यापकको पूर्वचरको, विरुद्धव्याप्यको, विरुद्धपूर्वचरको, व्याप्यव्याप्यविरुद्धों आदिको साधनेवाले हेतुओंके विशेष बहुतसे हैं । जब कि वे विशेषसंबंध दूसरे प्रतिवादियोंसे इष्ट की गई हेतुसंख्याका अतिक्रमण कर रहे हैं, तो उनके द्वारा अभीष्ट हेतुसंख्याके नियमका विघटन करा ही देते हैं । क्योंकि अपने इष्ट किये गये दो तादात्म्य और तदुत्पत्तिरूप विशेषोंमें अवशिष्ट बचे हुये पूर्वचर आदि हेतुओंके विशेष भेदप्रभेदोंका अंतर्भाव नहीं किया जा सकता है । यदि कोई जैनका एकदेशी वादी साध्यरूप विषयके विधि और निषेधरूपको साधनेवाले भेदसे हेतुके विधिसाधक और निषेधसाधक इन दो भेदोंकी व्यवस्था मानेंगे । इस प्रकारका इष्ट करना भी उस बौद्धकी तादात्म्य तदुत्पत्तिरूप दो संख्याका विरोधी ही है । अर्थात् विधिसाधक या निषेधसाधक यह दो संख्या तो ठीक है । किन्तु तादात्म्य और तदुत्पत्ति ये दो भेद तो ठीक नहीं हैं । अथवा हेतुकी प्रमाण सिद्ध हो रही संख्याके विरोधी जैसे तादात्म्य तदुत्पत्ति हैं, वैसे ही विधिसाधक, निषेधसाधक ये दो भेद भी हैं । तथा धर्मकी अपेक्षा विचारा जाय तो अन्य भी हेतु हैं ।

यस्मात्—

जिस कारणसे कि सप्तभंगीके विषयभूत धर्मोंको साधनेवाले सात प्रकारके हेतु बन रहे हैं ।

यथैवास्तित्वनास्तित्वे भिद्येते गुणमुख्यतः ।
तथोभयं क्रमेणेष्टमक्रमेणत्ववाच्यता ॥ ४४७ ॥
अवक्तव्योत्तराशेषास्त्रयो भंगाश्च तत्त्वतः ।
सप्त चैवं स्थिते च स्युस्तद्वशाः सप्तहेतवः ॥ १४८ ॥

जिस ही प्रकार अस्तिपना और नास्तिपना ये दो धर्म गौण और मुख्यरूपसे न्यारे न्यारे हो रहे हैं। इस ही प्रकार क्रमसे कथन करनेपर अस्तित्व और नास्तित्वका मिलकर उभयनामका तीसरा भंग इष्ट किया गया है। तथा क्रमसे रहित दोनों धर्मोकी युगपत् यानी एक ही कालमें विवक्षा होनेपर तो अवक्तव्यपना चौथा धर्म माना गया है। अनेक धर्मोको एक ही समयमें कहनेकी एक शब्दकी शक्ति नहीं है। इन कहे हुये चार धर्मोसे अवशेष रहे अस्ति अवक्तव्य ५ नास्ति अवक्तव्य ६ अस्तिनास्तिअवक्तव्य ७ ये पृष्ठ भागमें अवक्तव्यपदको धारण किये हुये तीन भंग भी वास्तविक रूपसे माने हैं। इस प्रकार सात भंगोंके स्थित हो जानेपर उन सात भंगोंके अधीन होकर प्रवर्त्तनेवाले सात हेतु होने चाहिये। भावार्थ—अर्थोंके स्वभावोंकी विशेषता करि यदि हेतुओंके भेद करना बौद्धोंको अभीष्ट है अथवा विधि और निषेधके भेदसे हेतुभेद करना इष्ट है, तब तो सप्तभंगीके अनुसार हेतु सात प्रकारके मानने चाहिये। इनमें सब हेतु गर्भित हो जायेंगे। अच्छा हो यदि नयवादके समान हेतुकी संख्या नियत कर दी जाय।

विरोधान्नोभयात्मादिरर्थश्चेन्न तथेक्षणात् ।
अन्यथैवाव्यवस्थानात्प्रत्यक्षादिविरोधतः ॥ १४९ ॥
निराकृतनिषेधो हि विधिः सर्वात्मदोषभाक् ।
निर्विधिश्च निषेधः स्यात्सर्वथा स्वव्यथाकरः ॥ १५० ॥

बौद्ध यदि यों कहें कि उभौ अवयवौ यस्य तत् उभय, दो अवयववाले एक अर्थको उभय कहते हैं। अस्ति और नास्ति इन दो धर्मोका परस्परमें विरोध होनेके कारण दोनोंकी खिचडी बनकर एक आत्मक होता हुआ तीसरा धर्म नहीं बन सकता है। तथा पांचवां आदिक भंग बनना भी विरुद्ध है। अतः उभयस्वरूप या अस्तिअवक्तव्यस्वरूप कोई पदार्थ नहीं है। क्या कोई पदार्थ शीत और उष्ण स्पर्शको धारण करता हुआ एक ही समयमें अग्निजलस्वरूप है? यानी नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि हम क्या करें तिस प्रकार अनेक धर्मोंसे तदात्मक हो रहे पदार्थोंका दर्शन हो रहा है। चन्द्रकान्तमणिके सन्निधान होनेपर अग्नि भी शीतल हो जाती है। मंत्रतंत्रके निमित्तसे या हिम (बर्फ) से चारों

ओर फिर जानेपर अग्निकी उष्णता छिप जाती है। विष भी प्रक्रियाओंके द्वारा अमृत बना लिये जाते हैं। तीव्र रोगोंपर प्रयुक्त किये गये शुद्ध विष ही चमत्कार दिखलाते हैं। जिस रसायनकी मात्रा एक चावलभर है, उसको एक रत्ती देदेनेपर रोगी मर जाता है। इसी प्रकार स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे पदार्थ अस्तित्व-आत्मक है। तभी तो वह स्वरूपलाभ करता हुआ अर्थ क्रियाओंको बना रहा है। और परचतुष्टयकी अपेक्षा पदार्थ अन्योंसे नास्तित्वरूप है। तभी तो अन्य पदार्थोंके साथ सांकर्य नहीं हो रहा है। हां, दूसरे ही प्रकारोंसे एकान्तवादियोंके अनुसार पदार्थकी व्यवस्था होती हुई नहीं देखी जाती है। ब्रह्माद्वैतवादियोंके माने हुये अस्तित्व एकान्तके अनुसार केवल विधिको ही माननेमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध आता है। तथा शून्य वादियोंके नास्तिपन माननेके एकान्तमें भी प्रमाणोंसे विरोध आता है। क्योंकि सभी पदार्थ स्वांशोंकी विधि और परांशोंका निषेध लिये हुये बैठे हैं। निषेधोंका सभी प्रकार निराकरण करती हुई विधि तो सर्व पदार्थस्वरूप हो जानेके दोषको धारण करती है। भावार्थ—जिस किसी एककी ओरसे भी यदि पदार्थमें निषेध नहीं प्राप्त होगा उसी समय वह पदार्थ तद्रूप बन जायगा। एक घोडेमें हाथी, ऊंट, बैल, भैंसा, देव, नारकी, मनुष्य, घट, पट, आदि अनंत पदार्थोंकी ओरसे अभाव विद्यमान हैं। यदि घोडेमें एक भी भैंसका अभाव आना रुक गया तो उसी समय घोडा झट भैंसरूप हो जायगा। इसी प्रकार अभावको नहीं माननेपर कोई भी पदार्थ चाहे जिस किसी अन्यपदार्थरूप बन बैठेगा, कोई रोकनेवाला नहीं है। तथा विधिसे सर्वथा रहित यदि निषेधका एकान्त माना जायगा तो भी सभी प्रकार अपनी व्यथाको करनेवाला है अर्थात् सबका निषेध माननेपर इष्टपदार्थका जीवन अशक्य है। एकान्तरूपसे निषेधको कहनेवाले विद्वान् अपनी सत्ता भी जगत्में नहीं स्थिर कर सकेंगे। अतः वस्तुको अनेक धर्म आत्मक माननेपर सात भंगोंके अनुसार सात प्रकारके हेतु मान लेने चाहिये।

ननु च यथा भावाभावोभयाश्रितस्त्रिविधो धर्मः शब्दविषयोनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठित एव न बहिः स्वलक्षणात्मकस्तथा स्यादवक्तव्यादि परमार्थतो सन्नेवार्थक्रियारहितत्वान्मनोराज्यादिवत् न च सर्वथा कल्पितोर्थो मानविषयो नाम येन तद्भेदात्सप्तविधो हेतुरापाद्यते इत्यत्रोच्यते;—

जैनोंको आमंत्रण कर बौद्ध कह रहे हैं कि शब्दके द्वारा भाव, अभाव और उभयका आश्रय लेकर उत्पन्न हुये तीन प्रकारके धर्म जिस प्रकार अनादिकालसे चली आ रही मिथ्यावासनासे उत्पन्न हुये विकल्पज्ञानमें कोरे स्थित हो रहे ही शब्दके वाच्य अर्थ बन रहे हैं, किन्तु वे तीनों धर्म वस्तुतः बहिरंगस्वलक्षण स्वरूप नहीं हैं। लडकियोंके खेल समान केवल कल्पित हैं। तिस ही प्रकार कथंचित् अवक्तव्य आदि चार धर्म भी परमार्थरूपसे विद्यमान नहीं हैं। क्योंकि अर्थक्रिया करनेसे रहित हैं, जैसे कि दरिद्रोंका अपने मनमें ही राजा बनजाना वस्तुभूत नहीं। खेलमें बना लिये गये

पत्र (कागज) के फूलोंसे गन्ध नहीं आती है, इत्यादिके समान सभी प्रकार कल्पित कर लिया गया सात भंगरूप अर्थ तो प्रमाणोंका गोचर कैसे भी नहीं है । जिससे कि उन सात धर्मोंके भेदसे हेतुका सात प्रकारसे आपदन किया जा सके अर्थात् कार्य, स्वभाव, हेतुके मान चुकनेपर हमारे ऊपर सात हेतुओंके मान लेनेका अनुचित प्रभाव (दबाव) डाला जाय, इस प्रकार बौद्धोंके कथन करनेपर आचार्य महाराजको उत्तर देनेके लिये बाध्य होना पडता है ।

नानादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः ।
भावाभावोभयाद्यर्थः स्पष्टं ज्ञानेवभासनात् ॥ १५१ ॥

१ भाव (अस्तित्व) २ अभाव (नास्तित्व) ३ उभय (अस्तिनास्ति) ४ अवक्तव्य ५ अस्तिअवक्तव्य ६ नास्तिअवक्तव्य ७ अस्तिनास्तिअवक्तव्य इन सात धर्मोंसे तदात्मक हो रहा अर्थ वस्तुभूत है । बौद्धोंके मन्तव्य अनुसार अनादिकालकी वासनाओंसे उत्पन्न हो गई कोरी कल्पनाओंमें गढकर बैठा लिया गया नहीं है । क्योंकि प्रमाणज्ञानमें स्पष्टरूपसे अस्तित्व आदि धर्म-स्वरूप अर्थका प्रकाश हो रहा है ।

शब्दज्ञानपरिच्छेद्योपि पदार्थो स्पष्टतयावभासमानोपि नैकांततः कल्पनारोपितः स्वार्थक्रियाकारित्वान्निर्बाधमनुभूयते किं पुनरध्यक्षे स्पष्टमवभासमानो भावाभावोभयादिरर्थ इति परमार्थ सन्नेव ।

आप्तपुरुषके दो शब्दोंसे उत्पन्न हुये ज्ञान द्वारा जान लिया गया भी पदार्थ चाहे वह भलें ही अविशदरूपसे प्रतिभासमान हो रहा है, तो भी एकान्तरूपसे कल्पनासे गढ लिया गया नहीं है । क्योंकि अपनेसे की जाने योग्य वास्तविक अर्थक्रियाओंको कर रहा है । अतः शब्दके वाच्य अर्थका भी जब बाधारहित होकर अनुभव किया जा रहा है, तो फिर प्रत्यक्षज्ञानमें स्पष्टरूपसे प्रकाशित हो रहा भाव, अभाव, उभय आदि धर्मस्वरूप अर्थका तो कहना क्या है । अर्थात् प्रत्यक्षसे स्पष्ट जान लिया गया अर्थ तो बडे अच्छे ढंगसे वस्तुभूत हो जाता है । इस प्रकार अस्तित्व आदिक धर्मोंसे तदात्मक हो रहा अर्थ परमार्थरूपसे यथार्थ विद्यमान ही है । कोरी कपोलकल्पनासे ढोंग नहीं बनाया है । अतः " अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः । शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रितः " यह बौद्धोंका कथन ठीक नहीं है ।

भावाभावात्मको नार्थः प्रत्यक्षेण यदीक्षितः ।
कथं ततो विकल्पः स्याद्भावाभावावबोधनः ॥ १५२ ॥
नीलदर्शनतः पीतविकल्पो हि न ते मतः ।
भ्रान्तेरन्यत्र तत्त्वस्य व्यवस्थितिमभीप्सतः ॥ १५३ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि प्रत्यक्ष प्रमाण करके तो अस्तित्व, नास्तित्व आत्मक होता हुआअर्थ नहीं देखा गया है। इसपर हम स्याद्वादी कहते हैं कि तिस प्रत्यक्षसे फिर भाव और अभावोंको समझानेवाला विकल्पज्ञान भला कैसे उत्पन्न हो सकेगा ? बताओ। अर्थात् बौद्धोंके यहां प्रत्यक्षके द्वारा निर्विकल्पकरूपसे विषय किये गये ही अर्थोंमें निर्णयरूप विकल्पज्ञानकी उत्पत्ति मानी गयी है। तुम बौद्धोंके मतमें नीलके निर्विकल्पकज्ञानसे पीतका विकल्पज्ञान होता हुआ नहीं माना गया है। हां, भ्रांतज्ञानोंकी दूसरी बात है। भ्रान्तिसे तो चाहे जिसमें चाहे जिसका ज्ञान कर लो। भावार्थ—भ्रान्तिसे अतिरिक्तस्थलोंमें प्रत्यक्ष ज्ञानके अनुसार ही विकल्पोंकी उत्पत्ति होना बौद्धने स्वीकार किया है। उस पीछेसे होनेवाले विकल्पज्ञान करके प्रत्यक्षसे जाने गये तत्त्वोंकी व्यवस्थाको इष्ट करनेवाले बौद्धोंके यहां प्रत्यक्षका विषयभाव आदिरूप अर्थ मान ही लिया गया है, ऐसा समझो।

तद्वासनाप्रबोधाच्चेद्भावाभावविकल्पना।
नीलादिवासनोद्बोधात्तद्विकल्पवदिष्यते ॥ १५४ ॥
भावाभावेक्षणं सिद्धं वासनोद्बोधकारणं।
नीलादिवासनोद्बोधहेतुतद्दृष्टिवत्ततः ॥ १५५ ॥

उन भाव आदिकी वासनाओंके जगजानेसे यदि भाव, अभावोंका विकल्प करोगे, तब तो हमें कहना है कि नील, पीत, आदि स्वलक्षणोंका प्रत्यक्ष कर पीछे नील आदिकी लगी हुई वासनाओंका प्रबोध हो जानेसे जैसे उन नील आदिकोंका विकल्पज्ञान होना इष्ट किया गया है, उसीके समान भाव और अभावोंका प्रत्यक्ष करना ही उन भाव अभावोंके विकल्पज्ञान करानेके लिये उपयोगी बन रहीं वासनाओंके प्रबोध करानेका कारण है। जैसे कि नील आदिकका दर्शन उन नील आदिकी आत्मामें प्रथमसे लगी हुई वासनाओंका प्रबोधक है तिस कारण बौद्धोंके यहां निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा भाव, अभाव आदि धर्मोंका दीख जाना उनकी वासनाओंके उद्बोधका कारण सिद्ध हो गया।

यथा नीलादिदर्शनं नीलादिवासनोद्बोधस्य कारणमिष्टं तथा भावाभावोभयाद्यर्थदर्शनं तद्वासनाप्रबोधस्य स्वयमेषितव्यमिति भावाद्यर्थस्य प्रत्यक्षतः परिच्छेदः सिद्धः।

जिस प्रकार नील आदिकी वासनाओंको जगानेवाला कारण नील आदिकोंका प्रत्यक्ष दर्शन माना गया है, उसी प्रकार भाव, अभाव, उभय, अवक्तव्य, आदि सात धर्मस्वरूप अर्थका प्रत्यक्ष भी उन भाव आदिकी वासनाओंके जगानेका कारण स्वयम् इष्ट करलेना पडेगा। इस प्रकार भाव आदिस्वरूप अर्थकी प्रत्यक्षप्रमाणसे ज्ञप्ति होना सिद्ध हो गया।

यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता ।
कान्यथा स्यादनाश्वासाद्विकल्पस्य समुद्भवे ॥ १५६ ॥

बौद्धोंका ग्रन्थ है कि निर्विकल्पकज्ञान जिस ही अंशमें इस सविकल्पक बुद्धिको वासनाओं द्वारा उत्पन्न कराता है, उस ही विषयको जाननेमें इस प्रत्यक्षका प्रमाणपना विकल्पबुद्धिद्वारा व्यवस्थित किया जाता है। जैसे कि नीलप्रत्यक्षने नीलको विषय किया है और क्षणिकत्वको भी जाना है किन्तु नीलप्रत्यक्षके पीछे नीलका निश्चय करनेवाला विकल्पज्ञान तो उत्पन्न हो जाता है। अतः नीलको विषय करनेमें प्रत्यक्षकी प्रमाणता निश्चित होगई, किन्तु क्षणिकपनका पीछे विकल्पज्ञान नहीं हुआ है। अतः क्षणिकपनको विषय करनेमें प्रत्यक्षकी प्रमाणता व्यवस्थित नहीं हुई। तभी तो क्षणिकपनको साधनेके लिये पुनः अनुमानप्रमाण उठाना पडता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारका बौद्धसिद्धान्त अन्यथा यानी यदि अविना प्रत्यक्षज्ञान होना न माननेपर भला कहां व्यवस्थित हो सकेगा ? विकल्पज्ञानकी समीचीन उत्पत्ति होनेमें कोई विश्वास नहीं रहेगा, यानी प्रत्यक्षकी भित्तिपर ही विकल्पज्ञानकी उत्पत्ति माननेमें तो श्रद्धा हो सकती है। अन्यथा नहीं। बौद्धोंने वैसा माना भी है। तभी प्रत्यक्षमें प्रमाणपनेका विश्वास हो सकता है।

यदि हि भावादिविकल्पवासनायाः प्रबोधकारणमाभोगाद्येव न पुनर्भावादिदर्शनं तदा नीलादिविकल्पवासनाया अपि न नीलादिदर्शनं प्रबोधनिबंधनमाभोगशब्दयोरेव तत्कारणत्वापत्तेः। एवं च नीलादौ दर्शनाभावेपि विकल्पवासनायाः संभवात् सर्वत्र प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्य सामर्थ्यात्प्रत्यक्षस्य प्रमाणतावस्थापनेऽनाश्वास एव स्यात्।

यदि बौद्ध यों कहें कि भाव आदिकोंकी विकल्पवासनाको जगानेवाला कारण पूर्णपना, अपूर्णपना, भोग, नहीं कहा जा सकना, आदि ही हैं, किन्तु फिर भाव, अभाव, आदिका प्रत्यक्ष करना तो वासनाका प्रबोधक नहीं है, तब तो हम जैन कह देंगे कि नील आदिकोंकी विकल्पवासनाओंका भी प्रबोध करानेवाला कारण नीलादिदर्शन नहीं है। परिपूर्णता और शब्दको ही उन नील आदिकी वासनाओंका प्रबोध करनेमें कारणपना प्राप्त हो जावेगा और इस प्रकार नील आदिमें दर्शनके न होनेपर भी विकल्पवासनाकी उत्पत्ति संभव हो जानेसे सभी स्थलोंपर प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले विकल्पज्ञानकी सामर्थ्यसे प्रत्यक्षकी प्रमाणताके व्यवस्थापन करनेमें अविश्वास ही रहेगा।

स्वलक्षणदर्शनप्रभवो विकल्पस्तत्प्रमाणताहेतुर्न सर्व इति चेन्नान्योन्याश्रयप्रसंगात्। तथाहि–सिद्धे स्वलक्षणदर्शनप्रभवत्वे विकल्पस्य ततस्तद्दर्शनप्रमाणतासिद्धिः तत्सिद्धौ च स्वस्य स्वलक्षणदर्शनप्रभवत्वसिद्धिरिति नान्यतरस्यापि तयोर्व्यवस्था।

बौद्ध कहते हैं कि सैकडों अन्टसन्ट वासनाओंसे संशय, विपर्ययरूप अनेक विकल्पज्ञान हो रहे हैं, वे पूर्ववर्ती प्रत्यक्षोंके प्रमाणपनकी व्यवस्था नहीं करा देते हैं। किन्तु स्वलक्षणतत्त्वके

निर्विकल्प प्रत्यक्षसे उत्पन्न हुआ विकल्पज्ञान उस जनकप्रत्यक्षकी प्रमाणताका व्यवस्थापक हेतु है। सर्व ही विकल्पज्ञान न तो प्रत्यक्षोंसे जन्य ही हैं और उन प्रत्यक्षोंको प्रमाणताका व्यवस्था भी नहीं कराते हैं। प्रकरणमें वासनाओंकी सहायतासे उत्पन्न हो गया भाव आदिकोंका विकल्पज्ञान भी भाव आदिकोंके प्रत्यक्षज्ञानसे जन्य नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि बौद्धोंके ऊपर अन्योन्याश्रय दोष होनेका प्रसंग आता है। उसीको स्पष्ट कर कहते हैं कि उत्तर-कालवर्ती विकल्पज्ञानका स्वलक्षणतत्त्वके दर्शनसे उत्पन्न होनापन सिद्ध हो चुकनेपर तो उस विकल्पसे उसके पूर्ववर्ती जनकप्रत्यक्षका प्रमाणपना सिद्ध होय और पूर्ववर्ती उस प्रत्यक्षका प्रमाणपना सिद्ध हो चुकनेपर स्वयं विकल्पज्ञानका स्वलक्षण वस्तुके प्रत्यक्षसे उत्पन्न होनापन सिद्ध होवे। अर्थात् प्रमाणात्मक दर्शनसे उत्पन्न हुआ विकल्पज्ञान ही तो आप बौद्धोंके कथन अनुसार पूर्वप्रत्यक्षकी प्रमाणताको ठहरावेगा। अतः पूर्वके प्रत्यक्षको प्रमाणपना सिद्ध हो जाय तब तो ऐसे प्रमाणरूप दर्शनसे उत्पन्न हुआ विशेषविकल्पज्ञान ही पूर्ववर्त्ती प्रत्यक्षोंकी प्रमाणताको स्थित करावे और पूर्ववर्तीप्रत्यक्षोंकी प्रमाणता स्थित हो चुके, तब कहीं उस प्रमाणसे उत्पन्न हुआ कोई ही विकल्पज्ञान प्रमाणपनका व्यवस्थापक समझा जाय। इस प्रकार उन दोनोंमेंसे किसी एककी भी व्यवस्था न हो सकी।

स्वलक्षणदर्शनप्रभवत्वं नीलादिविकल्पस्य स्वसंवेदनादेव सिद्धं सर्वेषां विकल्पस्य प्रत्यात्मवेद्यत्वात् ततो नान्योन्याश्रय इति चेत्, तर्हि भावाभावोभयादिविकल्पस्याप्य-लिंगजस्याशब्दजस्य च भावादिदर्शनप्रभवत्वं स्वसंवेदनादेव कुतो न सिद्ध्येत्? सर्वथा विशेषाभावात्।

यदि बौद्ध यों कहें कि नील आदिके विकल्पज्ञानका स्वलक्षण प्रत्यक्ष करके उत्पन्न हो जाना-पन तो स्वयम् विकल्पको जाननेवाले स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे ही सिद्ध हो जाता है। क्योंकि सम्पूर्ण जीवोंके हुये विकल्पज्ञानोंका प्रत्येक आत्मामें अपने अपने स्वसंवेदनसे जानने योग्यपना निर्णीत हो रहा है। तिस कारण परस्परश्रय दोष नहीं आता है। भावार्थ—प्रत्यक्षकी प्रमाणतामें विकल्पज्ञानकी आवश्यकता होय और विकल्पकी उत्पत्तिमें प्रत्यक्षप्रमाणकी आवश्यकता होय, तब तो अन्योन्याश्रय दोष हो जाता था। किन्तु जब नील आदिके प्रत्यक्षकी प्रमाणता व्यवस्थापित करनेमें उत्तरवर्ती विक-ल्पज्ञानको प्रयोजक मान लिया और इस विकल्पज्ञानका नीलरूप स्वलक्षणके दर्शनसे उत्पन्न होनापन तो इसके उत्तरवर्ती स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जान लिया जायगा, तब अन्योन्याश्रय दोष नहीं लगता है। यही जैनोंने व्यवस्था की है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि भाव १ (अस्तित्व) अभाव २ (नास्तित्व) उभय ३ (अस्तिनास्ति) आदि सात धर्मोंको जाननेवाले विकल्पज्ञानका भी जो कि लिङ्गसे जन्यज्ञान नहीं है और जो विकल्पज्ञान शब्दसे भी जन्य नहीं

है, उसका भी भाव आदिके दर्शनसे उत्पन्न होनापन स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही क्यों नहीं सिद्ध हो जावेगा ? सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। ऐसी दशामें स्वसंवेदन प्रत्यक्षके अनुसार भाव आदिका प्रत्यक्ष होना बौद्धोंको प्राप्त हो गया।

तदयं नीलाद्यर्थे पारमार्थिकमिच्छन्भावाद्यवितथोपगंतुमर्हत्येवेति तदनुमाने सप्तहेतवः स्युः। यतश्चैवं कृत्तिकोदयादेः कथंचित्प्रतीत्यतिक्रमेण स्वभावहेतुत्वं ब्रुवतः सर्वः स्वभावहेतुः स्यादेक एव। संबंधभेदात्तद्भेदं साधयतः सामान्यतो विशेषतश्च स्वेष्टलिंगसंख्याक्षतिः। विषयभेदाच्च तद्भेदमिच्छतः सप्तविधो हेतुरर्थस्यास्तित्वादिसप्तरूपतयानुमेयत्वोपपत्तेः।

तिस कारण नील आदि अर्थोंको वस्तुभूत चाहता हुआ यह बौद्ध भाव आदिक सात धर्मोंको सत्यार्थरूप स्वीकार करनेके लिये योग्य हो जाता ही है। इस प्रकार उन सात धर्मोंके अनुमान करानेमें विशेषरूपसे सात हेतु हो जावेंगे। जिस कारण कि इस प्रकार प्रतीतिका अतिक्रमण करके आकाशको पक्ष गढकर कृत्तिकोदय, भरण्युदय, आदिको स्वभावहेतुपना कह रहे बौद्धोंके यहां यों तो सभी ज्ञापक हेतु स्वभाव हेतु हो जावेंगे, तब तो हेतुका भेद एक स्वभाव नामका ही मान लेना चाहिये। यदि जन्यजनकसंबंध और तादात्म्यसंबंध तथा प्रतियोगित्वसंबंधके भेदसे उस ज्ञापक हेतुके कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि, इन तीन भेदोंकी सिद्धि करोगे तब तो सामान्य और विशेषरूपसे स्वयम् इष्ट की गयी हेतुसंख्याकी क्षति उठानी पडेगी। क्योंकि छत्र आदि कारण हेतुओंमें तथा व्याप्य, पूर्वचर, सहचर, भावसाधक अनुपलब्धि, अभावसाधक उपलब्धि आदि हेतुके भेदोंमें भी जनकजन्यसंबंध, व्याप्यव्यापकसंबंध, पूर्वोत्तरकालसंबंध, आदि संबंधोंके भेद होनेसे यों अनेक हेतु बन जावेंगे। तथा विषयोंके भेदसे उस हेतुके भेदोंको इष्ट कर रहे बौद्धके यहां सात प्रकारका हेतु सिद्ध हो जावेगा। क्योंकि अस्तित्व आदिक सात धर्मरूप करके अर्थका अनुमेयपना बन रहा है।

तस्मात्प्रतीतिमाश्रित्य हेतुं गमकमिच्छता।
पक्षधर्मत्वशून्योस्तु गमकः कृत्तिकोदयः॥ १५७॥

तिस कारण प्रमाणोंसे प्रसिद्ध हो रही प्रतीतिका आश्रय कर हेतुको ज्ञापकपना चाहनेवाले बौद्धोंकरके पक्षमें वृत्तिपनसे रहित होता हुआ भी कृत्तिकोदय हेतु उत्तरकालमें होनेवाले शकटोदय साध्यका या पूर्वकालमें हो चुके भरण्युदय साध्यका ज्ञापक हो जाओ। अतः हेतुका पक्षमें वृत्तिपना लक्षण ठीक नहीं है। अव्याप्ति दोष हुआ। तभी तो हमने एकसौ तीसवीं " उदेष्यति मुहूर्तान्ते " इस वार्तिकमें ठीक कह दिया था।

पल्वलोदकनैर्मल्यं तदागस्त्युदये स च ।
तत्र हेतुः सुनिर्णीतः पूर्वं शरदि सन्मतः ॥ १५८ ॥

पक्षमें नहीं रहनेवाले अन्य भी कई हेतु सद्धेतु हैं। छोटे सरोवरका जल (पक्ष) निर्मल है (साध्य) अगस्ति नामके ताराका उदय होनेसे (हेतु), इस अनुमानमें अगस्तिका उदय हेतु तो अगस्तिमें रहता है और निर्मलतारूप साध्य पोखराके पानीमें रहता है। पूर्व वर्षोंमें शरद ऋतुके आनेपर उस समय साध्यके साथ नियतरूपसे वहां हेतु रहता हुआ भले प्रकार निर्णीत हो रहा मान लिया गया है।

चंद्रादौ जलचंद्रादि सोपि तत्र तथाविधः ।
छायादिपादपादौ च सोपि तत्र कदाचन ॥ १५९ ॥

तिस ही प्रकारके जलमें प्रतिबिंबित हो रहे चन्द्र आदिक भी आकाशमें स्थित हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, आदिके उपराग (ग्रहण) कलाहीनता, आदिका अनुमान करनेमें गमक हो रहे हैं। उनका भी पहिले अविनाभाव संबंध वहां जाना जा चुका है। तथा वृक्ष, जल, आदिको साधनेमें छाया, शीतलता आदि हेतु पक्षमें वृत्ति न होते हुये भी गमक माने गये हैं। वहां कभी न कभी उन हेतुओंका अपने साध्यके साथ संबंध भी जाना जा चुका है।

पर्णकोयं स्वसद्धेतुर्बलादाहेति दूरगे ।
कार्यकारणभावस्याभावेपि सहभाविता ॥ १६० ॥

यह वटका वृक्ष है या ढाकका पेड़ है, इस प्रकार उनके पत्तोंको देखकर दूरमें प्राप्त हुये वृक्षोंमें बलात्कारसे वह हेतु ज्ञान करा लेता है। अतः अपने साध्यको सिद्ध करानेमें सद्धेतु कहा गया है। यहां दूरमें सूखे पडे हुये पत्ते और वृक्षका वर्त्तमानमें कार्यकारणभाव संबंध न होते हुये भी सहभावीपना ग्रहण कर लिया जाता है। यह हेतु भी अपने पक्षमें नहीं रहता है।

पित्रोर्ब्राह्मणता पुत्रब्राह्मण्येऽपक्षधर्मकः ।
सिद्धो हेतुरतो नायं पक्षधर्मत्वलक्षणः ॥ १६१ ॥

यह लडका (पक्ष) ब्राह्मण है (साध्य) क्योंकि इसके माता पिता ब्राह्मण हैं (हेतु)। माता पिताका ब्राह्मणपना माता पितामें है और पक्षकोटिमें पुत्र पडा हुआ है। अतः पक्षमें वर्तनेवाला धर्म नहीं होता हुआ भी यह हेतु सिद्ध है। इस कारण यह पक्षमें वर्तना हेतुका निर्दोष लक्षण नहीं है।

नन्वाकाशकालादेर्धर्मित्वे भविष्यच्छकटोदयपल्वेलादकनैर्मल्यादेः साध्यत्वे कृत्तिकोदयत्वागस्त्युदयादेर्हेतुत्वे पक्षधर्मत्वयुक्तस्यैव हेतुत्वमतो नापक्षधर्मत्वलक्षणो हेतुः कश्चिदिति चेत्, किमेवं चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वहेतुर्न स्यात् ? न हि जगतो वाऽधर्मश्चाक्षुषत्वं महानसधूमः पक्षधर्मः। तथाहि—शब्दानित्ययोगि जगच्चाक्षुषत्वयोगित्वात् महोदधि जगन् महानसधूमयोगित्वादिति कथं न चाक्षुषत्वं शब्दानित्यत्वं साधयेत् महानसधूमो वा महोदधौ वह्निं ।

बौद्ध अवधारण करते हैं कि आकाश या काल अथवा देश, जगत्, आदिको धर्मी (पक्ष) मान लेनेपर और भविष्यमें होनेवाले रोहिणी उदय या वर्त्तमानमें हो रही पोखरके पानीकी निर्मलता आदिको साध्य बनानेपर तथा कृत्तिकोदयपना, अगस्त्य ताराका उदय, आदिकको हेतु करनेपर तो पक्षमें वृत्तिपनरूप लक्षणसे युक्त हो रहे हीको हेतुपना सिद्ध हुआ। इस कारण कोई भी हेतु पक्ष-वृत्तिपन लक्षणसे रहित नहीं है। अव्याप्ति दोष टल गया अर्थात् आकाशमें रोहिणीका उदय होवेगा। क्योंकि अब कृत्तिकाका उदय हो रहा है। अथवा इस कालमें चन्द्रमाका उदय है। अतः समुद्रजलकी वृद्धि इस समय अवश्य हो रही है। इस वनप्रदेशमें कहीं न कहीं ढाक वृक्ष है। क्योंकि इस स्थलपर ढाक वृक्षके सूखे पत्ते उडते हुये दीख रहे हैं। जगत्में यह लडका ब्राह्मण है। क्योंकि जगत्में इसके माता पिता ब्राह्मण थे। इस ढंगसे सभी अनुमानोंमें योग्य आकाश आदिको पक्षकल्पित कर उनमें हेतुकी वृत्ति बन जावेगी। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि यों तो चाक्षुषपना, या स्पर्शन इन्द्रियजन्यज्ञानका गोचरपना आदि भी शब्दको अनित्यपना साधनेके हेतु क्यों न हो जावें ? सिद्धान्तमें पक्षमें न रहनेके कारण चाक्षुषत्व आदि हेतु असिद्ध हेत्वाभास माने गये हैं। किन्तु जगत्को पक्ष बनाकर यह हेतु पक्षमें ठहर जाता है। अथवा रसोई घरका धुआं हेतु भी समुद्रके महत्वको सिद्ध कर देवे, रसोई घरका धुआं यद्यपि रसोई घरमें रहता है, किन्तु जगत्को पक्ष बनाकर और महान् समुद्रपनको साध्य बनाकर महानसधूमकी पक्षवृत्तिता घटित हो जाती है, तब तो जगत्का धर्म चाक्षुषत्व होता हुआ भी शब्दके अनित्यत्वको किसी प्रकार सिद्ध कर देवे। अथवा रसोई घरका धुआं हेतु महासमुद्ररूप पक्षमें अग्निको साध देवे, तुम्हारे विचार अनुसार कोई रोकनेवाला नहीं है। जगत्का धर्म चाक्षुषपना नहीं है। यह नहीं समझना अर्थात् जगत् (घटरूप आदिक) का धर्म चाक्षुषत्व है ही। अथवा रसोई घरका धुआं भी जगत्रूप पक्षका धर्म है। तिसी बातको दिखलाते हैं कि जगत् (पक्ष) शब्दके अनित्यपनको धारनेवाला है (साध्य)। क्योंकि नेत्र इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके विषयपनको धारनेवाला होनेसे (हेतु) दूसरा अनुमान यों है कि महान् बडवानलको धारनेवाले समुद्रसे सहित जगत् (पक्ष) अग्निमान् है (साध्य) रसोई घरके धुआंका सम्बन्धी होनेसे। इस प्रकार चाक्षुषपना हेतु क्यों नहीं

शद्वके अनित्यपनेको साध देवेगा अथवा रसोई घरका धुआं हेतु महासमुद्रमें अग्निको क्यों नहीं साध देवेगा ? जगत्को पक्ष बनाकर पक्षमें वृत्तिपना हेतुका लक्षण तो घट गया है ।

तथान्वयासंभवादिति चेत् कृत्तिकोदयादेः कुतोन्वयसंभवः पूर्वोपलब्धाकाशादेर्दृष्टान्तस्य सद्भावादन्वयः सिद्ध्यतीति चेत्,पूर्वोपलब्धजगतो दृष्टांतस्य सिद्धेश्चाक्षुषत्वयोगित्वादेरन्वयोस्तु विशेषाभावात् तथाप्यस्याविनाभावासंभवादगमकत्वे विनाभावस्वभावमेव पक्ष धर्मत्वं गमकत्वांगं लिंगस्य लक्षणं ।

बौद्ध कहते हैं कि तिस प्रकार चाक्षुषत्वका शद्वके अनित्यत्वके साथ अन्वय नहीं बना है । और महानस धूमका समुद्रकी अग्निके साथ अन्वय असम्भव है । अतः हेतुका पहिला रूप पक्षवृत्तिपना होते हुये भी दूसरा रूप सपक्षवृत्तिपना नहीं घटित होनेसे वे समीचीन हेतु नहीं हैं । इस प्रकार कहनेपर तो हम बौद्धोंसे पूछते हैं कि कृत्तिकोदय आदिको आकाशरूप पक्षमें धरकर आप बौद्धोंने कैसे अन्वयका संभवना मान लिया है ? बताओ । इसपर तुम यदि यों कहो कि हेतु और साध्यसे सहित होते हुये पहिले देखे जाचुके आकाश आदिक दृष्टान्त विद्यमान हैं । अतः कृत्तिकोदयका शकटोदयके साथ अन्वयसिद्ध हो जाता है । इस प्रकार कहनेपर तो हम भी आपादन करते हैं कि चाक्षुषत्व, शद्वानित्यत्व, आदिसे सहित होकर पहिले जान लिये गये जगत्को दृष्टान्तपना सिद्ध होनेसे चाक्षुषत्वयोगीपन, महानसधूमसे सहितपन, आदि हेतुओंका भी अन्वय बनजाओ । कोई विशेषता नहीं है । तैसा होनेपर भी यदि अविनाभावका असम्भव हो जानेसे इन चाक्षुषत्व, महानस धूम आदिको शद्वके अनित्यत्व या समुद्रमें अग्निरूप साध्योंका साधकपना नहीं है, ऐसा मानोगे तब तो अविनाभावस्वरूप ही पक्षवृत्तित्व सिद्ध हुआ और वह अन्यथानुपपत्ति ही हेतुके ज्ञापकपनका अङ्ग होता हुआ निर्दोष लक्षण है । त्रैरूप्य लक्षण नहीं है । यह जैनसिद्धान्त प्राप्त हो गया ।

तथा च न धर्मधर्मिसमुदायः पक्षो नापि तत्तद्धर्मी तद्धर्मत्वस्याविनाभावस्वभावत्वाभावात् । किं तर्हि, साध्य एव पक्ष इति प्रतिपत्तव्यं तद्धर्मत्वस्यैवाविनाभावित्वनियमादित्युच्यते ।

और तिस प्रकार होनेपर धर्म और धर्मीका समुदायरूप पक्ष नहीं बनता है । यानी साध्यरूपी धर्म और साध्यवान् पर्वत आदि धर्मीका समुदाय होता हुआ पक्ष (प्रतिज्ञा) सिद्ध नहीं हुआ तथा उस उस हेतु और साध्यसे विशिष्ट होता हुआ धर्मी भी पक्ष नहीं है । क्योंकि उस पक्षमें वृत्ति रहनेवालेपनको अविनाभाव स्वभावपना नहीं है । भावार्थ—जो पक्षमें वृत्ति है वही अविनाभाव सहित है, ऐसा नियम नहीं रहा । तो पक्ष क्या है ? ऐसा प्रश्न होनेपर हम जैन उत्तर देते हैं कि अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुसे साधने योग्य शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्धरूप साध्य ही पक्ष है । इस प्रकार समझ लेना चाहिये । ऐसे उस पक्षका धर्मपना ही अविनाभावीपनरूप नियम हो सकता है । इसी बातका ग्रन्थकारद्वारा स्पष्ट निरूपण किया जाता है ।

साध्यः पक्षस्तु नः सिद्धस्तद्धर्मो हेतुरित्यपि ।
तादृक्षपक्षधर्मत्वसाधनाभाव एव वै ॥ १६२ ॥

हम स्याद्वादियोंके यहां तो प्रयोगकालमें साधने योग्य जो साध्य है, वही पक्ष माना गया है। और उस साध्यका धर्म तो हेतु है, यह भी हमें अभीष्ट है, ऐसा होनेपर बौद्धोंके तिस प्रकार माने गये हेतुके पक्षवृत्तित्वरूप साधनेका निश्चयसे अभाव ही हुआ अर्थात् एकान्तरूपसे साध्यवान्को पक्ष मानकर उसमें रहनापन हेतुका रूप नहीं है।

कथं पुनः साध्यस्य धर्मस्य धर्मो हेतुरतस्य धर्मित्वप्रसंगादिति चेत् न, तेनाविनाभावात्तस्य धर्म इत्यभिधानात्। न हि साध्याधिकरणत्वात्साध्यधर्मः हेतुर्येन साध्यधर्मा धर्मी स्यात्। ततः साध्याविनाभावी हेतुः पक्षधर्म इति स्याद्वादिनामेव पक्षधर्मत्वं हेतोर्लक्षणमविरुद्धं स्पष्टमविनाभावित्वस्यैव तथाभिधानात्। तच्च कृत्तिकोदयादिषु साध्यधर्मिण्यसत्स्वपि यथा प्रतीतिर्विद्यत एवेति किमाकाशादिधर्मिपरिकल्पनया प्रतीत्यतिलंघनापरयातिप्रसंगिन्या।

बौद्ध प्रश्न करते हैं कि साध्य तो स्वयं धर्म है। उस धर्मका धर्म भला फिर हेतु कैसे हो सकता है ? क्योंकि यों तो उस साध्यको धर्मीपनका प्रसंग हो जायगा। धर्मोंके ही धर्म हुआ करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस साध्यके साथ हेतुका अविनाभाव होनेसे उस साध्यका धर्म हेतु है, ऐसा कह दिया जाता है। जलका घडा, अमरूदका पेड, दूधका लोटा, जोडीका एक घोडा, इस खडामकी दूसरी खडाम इत्यादि स्थलोंपर अनेक ढंगसे धर्मीधर्मव्यवस्था हो रही है। संयोगसंबंधसे पर्वतमें अग्नि रहती है। किन्तु निष्ठत्व संबंधसे अग्निमें पर्वत रह जाता है। तथा विषयता संबंध (स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयता) से अर्थमें ज्ञान निवास करता है। किन्तु विषयिता संबंध (स्वनिष्ठविषयतानिरूपितविषयिता) से ज्ञानमें अर्थ ठहर जाता है। जन्यत्व संबंधसे बेटेका बाप है। और जनकत्व संबंधसे बापका बेटा है। समवाय संबंधसे डालियोंमें वृक्ष है। और समवेतत्वसंबंधसे वृक्षमें डालियां हैं। इसी प्रकार अविनाभाव संबंधसे साध्यमें हेतु रहता हुआ साध्यका धर्म हो जाता है। साध्यको संयोग संबंधसे अधिकरण बनाकर उसमें रहनेवाला हेतु ही साध्य धर्म बने यह कोई नियम नहीं है। जिससे कि साध्यरूपी धर्म पुनः धर्मी बन जाय, तिस कारण साध्यके साथ अविनाभाव रखनेवाला हेतु ही साध्यरूप पक्षका धर्म है। ऐसी विवक्षा होनेपर स्याद्वादियोंके यहां ही पक्षमें वृत्तिपना हेतुका लक्षण विरोधरहित सिद्ध हुआ स्पष्टरूपसे अविनाभावीपनका ही तिस प्रकार पक्षवृत्तित्व करके कथन किया गया है। और वैसा पक्षवृत्तिपना तो साध्यधर्मवाले अधिकरणमें नहीं वर्त्तरहे भी कृत्तिकोदय, माता पिताका ब्राह्मणपना, अधोदेशमें नदीका पूर देखना, आदि हेतुओंमें भी प्रतीतिके अनुसार

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विद्यमान ही है। ऐसी दशामें आकाश, काल, आदिको पूरा बुद्धि बल लगाकर धर्मीपनकी कल्पना करनेसे क्या लाभ निकला ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। जैसे कोई कोई पौराणिक पुरुष जगत्का आधार गौ, कछवा, शेषनागको मानकर भी पुनः आधारान्तरकी जिज्ञासाको शान्त नहीं करा सकते हैं। निश्चयनयसे पदार्थोंका स्वप्रतिष्ठ रहना मानना ही संतोषप्रद है। इसी प्रकार कृत्तिकोदयके लिये आकाश आदिकी कल्पना भी प्रतीतिका उल्लंघन करनेमें तत्पर हो रही है। और वह कल्पना अतिप्रसंग दोषसे युक्त भी है, यानी यों तो चाक्षुषत्व आदि हेतु भी शब्दके अनित्यत्व आदिको साध देंगे जो कि इष्ट नहीं हैं।

तथा च न परपरिकल्पितं पक्षधर्मत्वं हेतोर्लक्षणं नाप्यन्वय इत्यभिधीयते।

और तिस प्रकार होनेपर दूसरे प्रतिवादी विद्वान् बौद्धों करके सभी हेतुओंके लिये गढ लिया गया पक्षवृत्तित्व तो हेतुका लक्षण नहीं सिद्ध हुआ तथा बौद्धोंसे माना गया हेतुका दूसरा स्वरूप अन्वय भी हेतुका निर्दोष लक्षण नहीं है। अर्थात् सपक्षमें वर्त्तना यह रूप भी समीचीन नहीं है। इसी बातको कहा जाता है।

निःशेषं सात्मकं जीवच्छरीरं परणामिना।
पुंसा प्राणादिमत्त्वस्य त्वन्यथानुपपत्तितः ॥ १६३ ॥
सपक्षसत्त्वशून्यस्य हेतोरस्य समर्थनात्।
नूनं निश्चीयते सद्भिर्नान्वयो हेतुलक्षणम् ॥ १६४ ॥

जीवित पुरुषोंके सम्पूर्ण शरीर (पक्ष) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणाम करनेवाले पुरुष करके आत्मासहित हो रहे हैं (साध्य)। क्योंकि श्वास, उच्छ्वास, नाडीगति, उष्णस्पर्श, आदिसे सहितपना तो अन्यथा यानी आत्मसहितपनेके बिना नहीं सिद्ध हो पाता है (हेतु)। जो जो सात्मक नहीं है, वह प्राण आदिसे युक्त नहीं है, जैसे कि डेल, घट, पट, आदिक (व्यतिरेक दृष्टान्त) हैं। जो जो प्राणादिमान् हैं, वे वे सात्मक है, ऐसा अन्वय दृष्टान्त यहां नहीं मिलता है। क्योंकि सभी जीवित शरीरोंको पक्ष बना रक्खा है। पक्षसे बहिर्भूत सपक्ष होना चाहिये। बौद्ध लोग पक्षके भीतर अन्तर्व्याप्ति करके सपक्ष बना लेना इष्ट नहीं करते हैं। अतः सपक्ष सत्त्वसे रहित भी इस प्राणादिमत्त्व हेतुका समर्थन करनेसे सज्जन पुरुषों करके यह अवश्य निश्चित कर लिया जाता है कि हेतुका लक्षण अन्वय यानी " सपक्षमें वर्तना " नहीं है।

न चादर्शनमात्रेण व्यतिरेकः प्रसाध्यते।
येन संशयहेतुत्वं रागादौ वक्तृतादिवत् ॥ १६५ ॥

आत्माभावो हि भस्मादौ तत्कार्यस्यासमीक्षणात् ।
सिद्धः प्राणाद्यभावश्च व्यतिरेकविनिश्चयः ॥ १६६ ॥
वाक्क्रियाकारभेदादेरत्यंताभावनिश्चितः ।
निवृत्तिर्निश्चिता तज्ज्ञैः चिंताव्यावृत्तिसाधनी ॥ १६७ ॥

बौद्ध यदि यों कहें कि तुम तो लोष्ठ आदिकमें आत्माका केवल नहीं दीखना होनेसे व्यतिरेकको साधते हो, संभव है, लोष्ठमें भी आत्मा विद्यमान होय जो कि तुमको नहीं दीख सके, इसपर हमारा कहना है कि हम कोरे नहीं दीखनेसे ही किसीका अभाव नहीं कर देते हैं, जिससे कि हेतु संदिग्ध व्यभिचारी हो जाय, जैसे कि बुद्धमें राग, द्वेष आदिकी सिद्धि करनेपर वक्तापन, पुरुषपन, आदिक हेतु संदिग्ध व्यभिचारी हो जाते हैं। अर्थात् बुद्ध (पक्ष) रागादिमान् है, (साध्य)। १ वक्ता होनेसे २ पुरुष होनेसे (हेतु) यहां वक्ता या पुरुषके होनेपर भी वीतरागपना सम्भव है। अतः रागादिकको साधनेमें वक्तापन हेतु संदिग्ध व्यभिचारी हुआ। सो ऐसा प्राणादिमत्व हेतु नहीं है। उस आत्माके कर्त्तव्य ज्ञान, सुख, बोलना, चलना, आदि कार्योंका भस्म, डेल, चटाई आदिमें अभाव भले प्रकार देखा जा रहा है। अतः प्राण आदिका अभाव सिद्ध किया है। इस प्रकार साध्यके नहीं होनेपर हेतुका नहीं रहनारूप व्यतिरेकका विशेषता करके निश्चय किया गया है। आत्माके वचन, क्रिया, आकार, भोग, चेष्टा, आदि विशेषोंका भस्म आदिमें अत्यन्ताभाव निश्चित हो रहा है। इस कारण उस आत्मतत्त्वको जाननेवाले विद्वानों करके भस्म आदिमें आत्माके साथ प्राणादिकी निवृत्ति निश्चित कर दी गई है। व्यतिरेक व्याप्तिको जाननेवाला व्याप्तिज्ञान साध्य और साधनकी व्यावृत्तिको साध देता है।

सर्वकार्यासमर्थस्य चेतनस्य निवर्तनं ।
ततश्चेत्केन साध्येत कूटस्थस्य निषेधनम् ॥ १६८ ॥

कोई वादी यदि यों कहे कि उस वचन, क्रिया, आकार, आदि विशेषोंके अभावसे भस्म आदिमें आप जैन उसी चैतन्यका निषेध कर सकते हैं, जो कि वचन आदिके बनानेमें समर्थ था, किन्तु गुप्तचैतन्यका निषेध नहीं कर सकते हो। इस प्रकार भस्म, डेल, आदिमें भी छिपे हुये चैतन्यको माननेवाले वादियोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि यों फिर कूटस्थपनेका निषेध करना किस करके साधा जायगा ? बताओ। भावार्थ—यों तो सर्वत्र संपूर्ण पदार्थोंकी सत्ता मानी जासकती है। आकाशमें रूप और पुद्गलमें ज्ञान तथा परिणामी पदार्थमें कूटस्थपना भी प्रच्छन्न रूपसे रह जायगा एवं जीवितपुरुषका और मृतपुरुषका विवेक नहीं हो पायगा। मृतशरीरका अग्निसंस्कार करनेवाले कुटुम्बियोंको महापातकीपनेका प्रसंग हो जायगा। इस प्रकार प्रेमी जनोंके

बनाये हुये भोजनमें विषकी सत्ता मानकर या संदेह कर प्रवृत्ति करनेवाले संशय एकान्तवादियोंके समान इस विद्वान्को भी कहीं कल नहीं पडेगी। " संशयात्मा विनश्यति " बैठने, उठने, खाने, पीने आदि सभीमें कठिनाई उपस्थित हो जायगी।

यथा हि सर्वकारणासमर्थे चैतन्ये कार्याभावाद्भस्मादौ निषेद्धुमशक्यं तथा कूटस्थमपि क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्।

जिस ही प्रकार संपूर्ण कार्योंके करनेमें असमर्थ हो रहे चैतन्यका भस्म आदिमें कोई कार्य नहीं दीखनेके कारण निषेध करनेके लिये अशक्यता प्रगट करोगे अथवा भस्म, मृतशरीर आदिमें वचन, श्वास, आदि कार्योंको करनेवाले चैतन्यका अभाव है। किन्तु सभी कार्योंके करनेमें असमर्थ हो रहे चैतन्यका निषेध नहीं किया जा सकता है। यदि बौद्ध यों मानोगे तब तो उसी प्रकार कूटस्थपनका भी भस्म, आत्मा, शद्ध आदिकमें क्रम और युगपत् (एक साथ) पनेसे अर्थक्रियाका विरोध हो जानेके कारण निषेध नहीं कर सकोगे। अर्थात्—ब्रह्माद्वैतवादियोंके समान यदि बौद्ध भी भस्म (राख) में चैतन्य मानने लगेंगे तो उन्हींके समान कूटस्थपना भी हो जायगा। ऐसी दशामें खेतमें प्राप्त हुई भस्म अब खात होकर करब, नाजरूपपर्यायोंको नहीं धारण कर सकेगी। दूसरे नित्यवादियोंका अनुकरण करनेसे बौद्धोंके यहां क्षणिकपनकी रक्षा कैसे होगी ?

क्षणिकत्वेन न व्याप्तं सत्त्वमेवं प्रसिद्ध्यति।
संदिग्धव्यतिरेकाच्च ततोऽसिद्धिः क्षणक्षये ॥ १६९ ॥

इस प्रकार कूटस्थ हो जानेपर सत्त्व हेतु क्षणिकपनके साथ व्याप्त हो रहा नहीं प्रसिद्ध होता है। क्योंकि यहां व्यतिरेकका संदेह हो गया है। क्षणिकत्वरूप साध्यके अभाव होनेपर भी कूटस्थ नित्यमें सत्त्वहेतुका ठहर जाना सम्भव रहा है। तिस कारण बौद्धोंके यहां पदार्थोंके क्षणिकपनकी सिद्धि होनेका अभाव हुआ।

चेतनाचेतनार्थानां विभागश्च न सिद्ध्यति।
चित्तसंताननानात्वं निजसंतान एव वा ॥ १७० ॥

दूसरी बात यह है कि इस ढंगसे बौद्धोंके यहां चेतन और अचेतन अर्थोंका विभाग करना नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि अचेतन पदार्थोंमें भी चैतन्यका सद्भाव आपने मान लिया है। चेतनोंमें भी अचेतनपन संभव जायगा तथा विज्ञानरूप चित्तोंकी अनेक संतानें नहीं बन सकेंगी। क्योंकि जिनदत्तके पहिले पीछेके ज्ञान परिणामोंमें भी इन्द्रदत्तके ज्ञान परिणाम भी अन्तःप्रविष्ट हो रहे मानलिये जा सकेंगे अथवा अपना निजका कोई संतान ही नहीं बन सकेगा। सर्वत्र अन्य संतानोंके संतानी परिणाम घुस पडेंगे।

न वेद्यवेदकाकारविवेकोतः स्वसंविदः ।
सर्वकार्येष्वशक्तस्य सत्त्वसंभवभाषणे ॥ १७१ ॥

अपने उचित सभी कार्योंमें अशक्त हो रहे पदार्थका चाहे कहीं सद्भाव बखानते हुये आप बौद्ध प्रकट हो रहे सम्पूर्ण कार्योंके करनेमें असमर्थ ऐसे गुप्तचैतन्यकी सत्ताका यदि भस्म आदिमें सुघटना कहते रहोगे तो बौद्धोंके यहां स्वसंवेदनज्ञानका इस वेद्याकार और वेदकाकारसे पृथग्भाव नहीं सिद्ध हो सकेगा । भावार्थ—विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध सर्वत्र ज्ञानका सद्भाव मानेंगे, तब तो ज्ञानमें एक दूसरेकी अपेक्षासे वेद्यवेदकपना (विचिर् विचारणे) प्राप्त हो जायगा । शुद्ध ज्ञानाद्वैतवादी वैभाषिक स्वसंवेदनमें वेद्य, वेदक, वित्ति, अंशोंका पृथक्भाव (विचृ्लृच पृथग्भावे) मानोगे तो भी शुद्धज्ञानकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी । क्योंकि वेद्य आदि अंश भी वहां गुप्तरूपसे सम्भव हो सकेंगे ।

न संति चेतनेष्वचेतनार्थास्तद्वेदनादिकार्यासत्त्वात् । तथा च न संत्यचेतनार्थेषु चेतनार्थास्तत एवेति चेतनाचेतनविभागो न सिद्ध्यत्येव सर्वकार्यकरणासमर्थानां तेषां तत्र निषेद्धुमशक्तेः ।

चेतनपदार्थोंमें अचेतनपदार्थ नहीं हैं । क्योंकि उनके वेदन, सुख, दुःख अनुभव आदि कार्य वहां अचेतनोंमें नहीं पाये जाते हैं । तिस ही प्रकार अचेतन अर्थोंमें चेतनपदार्थ भी नहीं हैं । क्योंकि तिस ही कारण उनके न्यारे न्यारे कार्य परस्परमें नहीं देखे जाते हैं । इस प्रकार हो रहा चेतन और अचेतन पदार्थोंका विभाग तो बौद्धोंके यहां सिद्ध ही नहीं हो पाता है । क्योंकि सम्पूर्ण कार्योंके करनेमें असमर्थ हो रहे उन चैतन्योंका उन अर्थोंमें निषेध करनेके लिये अशक्ति है ।

चेतनार्था एव संतु तथा विज्ञानवादावतारान्जडस्य प्रतिभासायोगादिति चेन्न, तथा विज्ञानसंतानानां नानात्वाप्रसिद्धेः । कचिच्चित्तसंताने तेषां संतानांतराणां सर्व कार्यकरणासमर्थानां स्वकार्यासत्त्वेपि सत्त्वाविरोधात् ।

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध कहते हैं कि जगत्भरमें चेतन अर्थ ही रहे कोई भी पदार्थ अचेतन नहीं है । क्योंकि तिस प्रकार सर्वत्र विज्ञानवादका अवतार हो रहा है । जड पदार्थका तो प्रतिभास होना अयुक्त है । घटः प्रतिभासते, घट प्रतिभास रहा है, इस प्रयोगके अनुसार घटमें प्रतिभासरूप ज्ञानकी अधिकरणता पायी जाती है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना चाहिये । क्योंकि तिस प्रकार माननेपर बौद्धोंके यहां विज्ञानकी संतानोंका अनेकपना प्रसिद्ध नहीं हो सकेगा । किसी प्रकृत एक संतानमें सम्पूर्ण दृश्यमान कार्योंके करनेमें असमर्थ हो रहे अन्य संतानोंके निजका कोई कार्य न होते हुये भी उनके सद्भावका कोई विरोध नहीं है । तुम्हारे विचार अनुसार सर्वत्र सबका सद्भाव सम्भवनीय है ।

माभूत्संतानान्तरसिद्धिस्तथेष्टेरिति चेन्न, निजसंतानस्याप्यसिद्धिप्रसंगात् ।

वैभाषिक बौद्ध कहते हैं कि जिनदत्तके पूर्व अपर होनेवाले क्षणिक, निरन्वय, परिणामोंकी लडीरूप संतान और देवदत्तके आगे पीछे कालमें होनेवाले क्षणिक संतानियोंकी एकमालारूप संतान, इसी प्रकार अन्य भी इन्द्रदत्त, महावीरप्रसाद आदिकी अन्य न्यारी न्यारी संतानोंकी सिद्धि भले ही मत होवे, तिस प्रकार हमको स्वयं इष्ट है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यों तो बौद्धोंके यहां अपने निजके पूर्व अपरकालमें वर्त्तनेवाले परिणामोंकी एक संतान बननेकी असिद्धिका प्रसंग होगा, यानी अपनी निजकी सन्तान भी नहीं सध सकेगी।

वर्त्तमानचित्तक्षणे संवेद्यमाने पूर्वोत्तरचित्तक्षणानामनुभवमात्रमप्यकुर्वतां प्रतिषेद्धुमशक्यत्वादेकचित्तक्षणात्मकत्वापत्तेः । न चैकः क्षणः संतानो नाम ।

वर्त्तमान कालके एक चित्तक्षणका संवेदन किया गया माननेपर अन्य भूत और भविष्यकालमें हो गये या होनेवाले चित्तक्षणोंका निषेध करनेके लिये अशक्यता है। भले ही वे अपना केवल अनुभव भी नहीं करा रहे हों। फिर भी बौद्धोंके विचार अनुसार उनका गुप्त सद्भाव माना जा सकता है। ऐसी दशामें पहिले पीछे कालोंके सभी विज्ञानरूप चित्तक्षणोंको वर्त्तमानकालके एक चित्तक्षणस्वरूप हो जानेका प्रसंग आवेगा। किन्तु एक ही क्षणका क्षणिक परिणाम तो संतान नहीं बन सकता है। एक दानेकी माला या एक ही सिपाहीकी सेना अथवा एक ही वृक्षका वन तो नहीं देखा गया है। तथा भूतभविष्यके परिणाम यदि वर्त्तमानकालमें उपस्थित रहेंगे, तब तो क्षणिकपनका विघात हुआ। अर्थात् जिनदत्त इन्द्रदत्त आदिकी सन्तानें नहीं मानी जायगी, और अपनी भी सन्तान नहीं मानी जायगी, तब तो अपना एक ही वर्तमानक्षणका परिणाम ठहरा जो कि कथमपि सन्तान नहीं हो सकता है। भूतभविष्यके विना वर्तमान कोई पदार्थ नहीं है।

तत एव संवेदनाद्वैतमस्तु उत्तमं ज्ञानाद्वयमिति वचनात् । नेदमपि सिद्ध्यति वेद्यवेदकाकारविवेकस्याव्यवस्थानात् ।

शुद्ध विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि तिस ही कारण सम्वेदनका केवल अद्वैत हो जाओ। अपने और परके अन्य संतान या संतानियोंके टंटे मिट गये, अच्छा ही हुआ। हमारे ग्रन्थोंमें कहा है कि अन्तमें जाकर संवेदनका अद्वय ही उत्तम है। किन्तु यह भी बौद्धोंका कहना सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि वेद्य आकार और ज्ञानके वेदकआकारोंका पृथग्भाव नहीं व्यवस्थित हो पाता है।

संवेदने वेद्यवेदकाकारौ न स्तः स्वयमप्रतिभासनादिति न शक्यं वक्तुमप्रतिभासमानयोः सत्त्वविरोधात् । ततः क्वचित्कस्यचित्प्रतिभासनादेः स्वकार्यस्याभावादभावसाधने भस्मादौ चैतन्यस्य स्वकार्यनिवृत्तिनिश्चयादभावो निश्चेतव्य इति विपक्षे बाधकप्रमाणादेव प्राणादिमत्त्वस्य व्यतिरेकः साध्यते न पुनरदर्शनमात्रेण यतः संशयहेतुत्वं रागादौ वक्तृत्वादेरिव स्यात् ।

बौद्ध कहते हैं कि सम्वेदनमें स्वयं जानने योग्य वेद्य आकार और स्वयं जाननेवाला वेदक आकर ये दोनों नहीं हैं। क्योंकि उन आकारोंका स्वयं प्रतिभास नहीं हो रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि जगत्में नहीं प्रतिभास रहे पदार्थोंका सद्भाव कहना विरुद्ध है। तिस कारण कहीं भी शुद्धसंवेदनमें किसी वेद्य आकार या वेदकआकारका भी यदि अपने प्रतिभासना आदि कार्योंके अभाव होनेसे अभाव साधा जायगा तब तो भस्म, डेल, ताला, घडी, आदिमें चैतन्यका अभाव भी अपने निजी कार्योंकी निवृत्ति होनेका निश्चय हो जानेसे निश्चित करलेना चाहिये। इस प्रकार सभी जीवित शरीर (पक्ष) आत्मासहित हैं (साध्य)। प्राण आदि करके विशिष्ट होनेसे। इस अनुमानमें पडे हुये प्राणादिमत्त्व हेतुका डेल आदि विपक्षमें प्राण आदिकी सत्ताके बाध करनेवाले प्रमाणसे ही व्यतिरेक साधा जाता है। फिर केवल किसीके नहीं दीखने मात्रसे ही किसीका हम अभाव नहीं कह देते हैं, जिससे कि बुद्धके राग आदिको साधनेमें वक्तापन, पुरुषपन आदि हेतुओंके समान प्राणादिमत्त्वका हेतुपना संदिग्ध हो जाय अर्थात् केवल नहीं दीखनेसे जैसे परमाणु, पिशाच, पुण्य, पाप, आदिका अभाव नहीं साध दिया जाता है, वैसे ही आत्माका अभाव हमने नहीं साधा है। किन्तु दृढ बाधकप्रमाणसे भूतल आदिमें घट आदिकका अभाव साधा जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं रहता। इसी प्रकार भस्म आदि व्यतिरेक दृष्टान्तमें प्राणादि हेतु और आत्मपना साध्यका अभाव प्रमाणित किया गया है। ग्रन्थकार अब साध्यभूत सात्मकत्वके आत्माको परिणामी माने गयेपनका सूचन करें देते हैं, जो कि " निःशेषं सात्मकं " इस वार्तिकमें कहा जा चुका है।

न चैवमपरिणामिनात्मना सात्मकं जीवच्छरीरस्य सिद्ध्यति। यतः—

इस प्रकार जीवितशरीरको नहीं परिणमन करनेवाले आत्मासे सात्मकपना नैयायिकोंके अनुसार नहीं सिद्ध होता है। अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणाम कर रहे आत्मासे सहित जीवित शरीर है। जिस कारणसे कि—

परिणामिनमात्मानमंतरेण क्रमाक्रमौ ।
न स्यातां तदभावे च न प्राणादिक्रिया क्वचित् ॥ १७२ ॥

आत्माको परिणामी माने विना क्रम और अक्रम नहीं हो सकेंगे तथा उन क्रम और युगपत्पनाके अभाव हो जानेपर तो प्राण, चेष्टा, सुख, दुःख, सम्वेदन, आदि क्रियायें कहीं भी आत्मामें नहीं बन सकेंगी।

तन्नैकांतात्मना जीवच्छरीरं सात्मकं भवेत् ।
निष्कलस्य सहानेकदेशदेहास्तिहानितः ॥ १७३ ॥

तिस कारण एक ही धर्मस्वरूपसे जीवित शरीर आत्मासहित नहीं होगा। क्योंकि कलाओं यानी अंशोंसे रहित हुये आत्माके एक साथ अनेक देशोंमें ठहरनेवाली देहमें विद्यमान रहनेकी हानि हो जावेगी अर्थात् अंशोंसे सहित हो रहे आत्माकरके जीवित शरीर सात्मक है। निरंश आत्मा जब कोई पदार्थ ही नहीं तो भला ऐसे निरंश आत्मासे सहित जीवित शरीर क्यों होने लगा। भावार्थ—जीवितशरीर अपरिणामी एक धर्मवाले आत्मा करके सात्मक नहीं है। सांश आत्माका ही शरीरके भिन्न भिन्न अवयवोंमें नानारूप करके प्रतिभास होता है।

निष्कलः सकृदनेकदेशदेहं व्याप्नोत्यात्मेति कः श्रद्दधीत ? परममहत्त्वाद्व्याप्नोत्येवेति चेद्व्याहतमिदं निरंशः परममहान् वेति परमाणोरपि परममहत्त्वप्रसंगात्। यदि पुनः स्वारंभकावयवाभावान्निरवयवत्वाद्व्याप्नोतीति मतं तदा परमतसिद्धिः सर्वथा निरवयवत्वासिद्धेः परमाणुप्रमीयमाणस्वात्मभूतावयवानामात्मनो प्रतिषेधादिति समर्थयिष्यते।

अपने अंशोंसे रहित होता हुआ आत्मा, उन मस्तक, पाद, उदर, आदि अनेक देशोंमें ठहरे हुये शरीरको एक ही बार व्याप्त कर लेता है, इस बातका कौन भला मनुष्य श्रद्धान कर सकेगा ? अर्थात् कोई नहीं। यहां वैशेषिक यदि यों कहें कि सबसे बडे परममहत्त्व नामके परिमाणका धारी होनेसे आत्मा अनेक देशमें ठहर रहे देहको व्याप्त कर ही लेता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम प्रतिपादन करते हैं कि यह वैशेषिकोंका कहना पूर्व अपरमें व्याघातदोषसे युक्त है। जो अंशोंसे रहित है, वह सबसे बडे परिमाणवाला है, यह कह नहीं सकते हो। जो निरंश है, वह परम—महापरिमाणवाला नहीं है, और जो महापरिमाणवाला पदार्थ है, वह अंशोंसे रहित नहीं है। वैशेषिकोंका माना हुआ, आत्मा ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, विदेहक्षेत्र, भरत, समुद्र, बम्बई, पंजाब, बंगाल, आदि स्थलोंको न्यारे न्यारे अंशोंसे ही व्याप सकेगा। अन्यथा यानी अंशरहित ही पदार्थ सब देशोंमें व्याप जावे तब तो अंशरहित परमाणुको भी परममहापरिमाणवालेपनका प्रसंग हो जावेगा। ऐसी दशा होनेपर परमाणु भी अनेक देशोंमें ठहर जावेगा। यदि फिर वैशेषिकोंका यह मन्तव्य होय कि अपने बनानेवाले अवयवोंका अभाव हो जानेसे आत्माका अवयवरहितपना है, जैसे कि आकाशको बनानेवाले कोई छोटे अवयव नहीं हैं। अतः आकाश निरवय माना गया है। या आकाशत्वरूप सखण्डोपाधिका कोई आरम्भक अवयव नहीं है। न्यारे न्यारे अनेक व्यक्ति उसके आश्रय नहीं हैं। अतः आकाशत्व धर्म अवयवोंसे रहित है। वैशेषिकोंका ऐसा विचार होगा। तब तो दूसरे सिद्धान्त यानी स्याद्वाद मतकी सिद्धि हो जावेगी, क्योंकि आत्माका सभी प्रकारोंसे अवयवरहितपना सिद्ध नहीं हुआ। परमाणुके बराबर नाप लिये गये और निजके आत्मभूत हो रहे अवयवों (प्रदेशों) का आत्माके कोई निषेध नहीं हैं। भावार्थ—घट, पट, आदिको बनानेवाले कपाल, तंतु, आदि अवयवोंके समान

आत्माको बनानेवाले कोई अवयव नहीं हैं। इस कारण तो आत्मा अवयवरहित है। किन्तु परमाणुके बराबर आकाशप्रदेशोंसे नाप लिये गये स्वकीय अंशोंपर शरीरव्यापी आत्मा तदात्मक होकर तिष्ठ रहा है। अतः आत्मा अवयवोंसे सहित होता हुआ सांश है। इस प्रकरणका भविष्य पांचवें अध्यायमें भले प्रकार युक्तिपूर्वक निरूपण कर दिया जावेगा। इस प्रकार समक्षमें वृत्तिपनारूप अन्वय भी हेतुका लक्षण नहीं हो सका।

अनेकांतात्मकं सर्वं सत्त्वादित्यादि साधनं।
सम्यगन्वयशून्यत्वेप्यविनाभावशक्तितः ॥ १७४ ॥
नित्यानित्यात्मकः शद्धः श्रावणत्वात्कथंचन।
शद्धत्वाद्वान्यथाभावाभावादित्यादिहेतवः ॥ १७५ ॥

सम्पूर्ण पदार्थ (पक्ष) अनेक धर्मोंसे तदात्मक हो रहे हैं (साध्य)। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सत्तासे सहितपना होनेसे (हेतु) तथा सभी पदार्थ (पक्ष) परिणामी हैं (साध्य)। अर्थक्रियाको करनेवाले होनेसे (हेतु) इत्यादिकहेतु सपक्षवृत्तिपनसे रहित हैं। फिर भी अविनाभाव नामके गुणकी सामर्थ्यसे समीचीन हेतु माने गये हैं। जब सभी पदार्थोंको पक्षकोटिमें डाल दिया है, तो सपक्ष बनानेके लिये कोई पदार्थ शेष नहीं रह जाता है। अतः उक्त हेतु सपक्षमें वृत्ति नहीं हुये। और भी हेतु ऐसे हैं, जो कि सपक्षमें नहीं वर्तते हैं। शद्ध (पक्ष) द्रव्यार्थिक नयसे नित्य और पर्यायार्थिकनयसे अनित्यरूप है (साध्य) कान इन्द्रियसे उत्पन्न हुये प्रत्यक्षका विषय होनेसे (हेतु) अथवा शद्ध (पक्ष) नित्य अनित्यरूप है (साध्य) शद्धपना होनेसे (हेतु) यद्यपि इन दो अनुमानोंमें घट, पट, आदिक सपक्ष तो हैं। किन्तु उनमें श्रावणत्व और शद्धत्व हेतु नहीं ठहरते हैं। हां, अन्यथाभाव यानी साध्यके नहीं होनेपर हो जानेका अभाव होनेसे श्रावणत्व, शद्धत्व, इत्यादि हेतु भी व्यतिरेककी सामर्थ्यसे सद्धेतु हैं।

हेतोरन्वयवैधुर्ये व्यतिरेको न चेन्न वै।
तेन तस्य विनैवेष्टेः सर्वानित्यत्वसाधने ॥ १७६ ॥

कोई यदि यों कहें कि सपक्षवृत्तिरूप अन्वयके वियोग हो जानेपर अन्यथानुपपत्तिरूप व्यतिरेक भी नहीं बनेगा, सो यह तो कहना। क्योंकि उस अन्वयके विना ही उस व्यतिरेकका बन जाना नियमसे अभीष्ट किया है। देखिये, बौद्धोंके यहां भी सर्वपदार्थोंका अनित्यपना साधन करनेपर अन्वयके विना भी सत्त्व और अनित्यत्वका अविनाभाव (व्यतिरेक) मान लिया गया है।

निश्चितो व्यतिरेक एव ह्यविनाभावः साधनस्य नान्यः स चोपदर्शितस्य सर्वस्य हेतोरन्वयासंभवेन सिद्धयत्येव। सत्येवाग्नौ धूम इत्यन्वयनिश्चयेऽन्यभावे न क्वचिद्धूम इति व्यति-

रेकनिश्चयस्य दृष्टत्वात् संदिग्धेन्वये व्यतिरेकसंदेहाच्चेति न वै मन्तव्यं सर्वे भावाः क्षणिकाः सत्त्वादित्यस्यान्वयासत्त्वेपि व्यतिरेकनिश्चयस्य स्वयमिष्टेरन्यथा तस्य गमकत्वायोगात् ।

बौद्ध यदि यों कहें कि निश्चय कर लिया गया व्यतिरेक ही तो हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव है, इससे अन्य कोई अविनाभाव नहीं है, और वह अविनाभाव अभी अभी दिखलाये गये सम्पूर्ण हेतुओंका अन्वय नहीं सम्भवनेपर तो नहीं सिद्ध होता है । अग्निके होनेपर ही धुआं है, इस प्रकारके अन्वयका निश्चय होनेपर ही अग्निके न होनेपर कहीं भी धूम नहीं रहता है, इस प्रकारके व्यतिरेकका निश्चय होना देखा गया है । तथा अग्निके होनेपर ही धूम होगा या नहीं होगा, इस प्रकार अन्वयके संदिग्ध होनेपर अग्निके न होनेपर कहीं भी धूम न होगा या होगा ऐसा व्यतिरेकका संदेह भी हो रहा है । इस कारण उक्त सत्त्व, श्रावणत्व, शब्दत्व, आदि हेतुओंका अनेकान्तात्मकपना आदिको साधनेमें अन्वय होते हुये ही व्यतिरेक बनना आप जैन स्वीकार करो । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो बौद्धोंको कभी नहीं मानना चाहिये । क्योंकि सम्पूर्ण भाव (पक्ष) क्षणिक हैं (साध्य), सत्पना होनेसे (हेतु) । इस अनुमानके इस सत्त्व हेतुका अन्वय नहीं बननेपर भी व्यतिरेकका निश्चय हो जाना स्वयं बौद्धोंने इष्ट किया है । अन्यथा यानी अन्वयके समान व्यतिरेक भी हाथसे निकल जायगा तो उस सत्त्वहेतुको क्षणिकत्वका ज्ञापकपना नहीं बन सकेगा । अतः सद्धेतुका लक्षण अन्वय नहीं बना ।

नन्वत्र सत्येव क्षणिकत्वे सत्त्वमिति निश्चयमेवान्वयोस्तीति चेत् । अत्रोच्यते;—

बौद्ध अपने मतका पुनः आग्रह करते हैं कि इस हेतुमें क्षणिकत्वके रहनेपर ही सत्त्वहेतुका ठहरना, इस निश्चयको ही हम अन्वय मानते हैं, जो कि अन्वय सत्त्वहेतुमें विद्यमान है । इस प्रकार अवधारणका प्रकरण उपस्थित होनेपर तो यहां श्रीविद्यानंद आचार्य द्वारा यह समाधान कहा जाता है ।

साध्ये सत्येव सद्भावनिश्चयः साधनस्य यः ।
सोन्वयश्चेत्तथैवोपपत्तिः स्वेष्टा परोऽफलः ॥ १७७ ॥

साध्यके होनेपर ही जो साधनके सद्भावका निश्चय है, वही अन्वय है । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कहते हैं कि तिस प्रकार साध्यके होनेपर ही हेतुकी उपपत्ति होना उन्होंने अपने यहां इष्ट करली है, तब तो ठीक है । इससे न्यारा सपक्षमे वृत्तिरूप अन्वय मानना व्यर्थ है ।

यथैव प्रतिषेधप्राधान्यादन्यथानुपपत्तिर्व्यतिरेक इतीष्यते तथा विधिप्राधान्यात्तथोपपत्तिरेवान्वय इति किमनिष्टं स्याद्वादिभिस्तस्य हेतुलक्षणत्वोपगमात् । परोपगतस्तु नान्वयो हेतुलक्षणं पक्षधर्मत्ववत् ।

जिस ही प्रकार प्रतिषेधकी प्रधानता होनेसे साध्यके विना हेतुका नहीं ठहरनारूप अन्यथानुपपत्तिस्वरूप व्यतिरेक यह माना जाता है, तिसी प्रकार विधिकी प्रधानता होनेसे साध्यके होनेपर ही हेतुका रहनारूप तथोपपत्ति ही अन्वय है। यह क्या अनिष्ट है ? अर्थात् नहीं। मार्गदर्शक आदिकोंके उस तथोपपत्तिरूप अन्वयको हेतुका लक्षण स्वीकार किया गया है। हां, दूसरे नैयायिक, बौद्ध, आदिकोंसे स्वीकार किया गया सपक्षमें वर्त्तनारूप अन्वय तो हेतुका लक्षण नहीं है, जैसे कि पक्षमें वृत्ति होना हेतुका रूप नहीं है। यहांतक पक्षवृत्तित्व और सपक्षवृत्तित्व इन दो रूपोंको हेतुका लक्षणपना खण्डित कर दिया है। अब तीसरे विपक्षव्यावृत्तिरूपका विचार चलाते हैं।

नापि व्यतिरेकः। स हि विपक्षाद्व्यावृत्तिः विपक्षस्तविरुद्धस्तदन्यस्तदभावश्चेति त्रिविध एव तत्र—

बौद्धोंका माना गया विपक्षमें नहीं वर्त्तनरूप व्यतिरेक भी हेतुका लक्षण नहीं है। क्योंकि वह तीसरा रूप विपक्षसे व्यावृत्ति होना है। अब बताओ, वह विपक्ष क्या हो सकता है ? उस साध्यवालेसे विरुद्ध विपक्ष होगा उस साध्य (साध्यवान्) से अन्य विपक्ष होगा अथवा उस साध्य (साध्यवान्) का अभावरूप विपक्ष होगा, इस ढंगसे तीन प्रकारका ही विपक्ष हो सकता है। तिन तीनोंमेंसे एक एकका विचार करते हैं।

तद्विरुद्धे विपक्षे च तदन्यत्रैव हेतवः।
असत्यनिश्चितासत्त्वाः साकल्यान्नेष्टसाधनाः॥ १७८॥

उस साध्यसे विरुद्ध हो रहे विपक्षमें और उस साध्यसे सर्वथा भिन्न हो रहे ही विपक्षमें साध्यके न होनेपर जिन हेतुओंका नहीं विद्यमान होनापन निश्चित नहीं हुआ है, वे हेतु तो सम्पूर्ण रूपसे इष्टसाध्यको साधनेवाले नहीं हैं। अतः प्रथमविकल्प और द्वितीयविकल्प तो प्रशस्त नहीं हैं।

यथा साध्यादन्यस्मिन् विपक्षे निश्चितासत्त्वा अपि हेतवोग्नित्वादयो नेष्टाः अग्न्यादि साधनास्तेषां साध्याभावलक्षणे विपक्षे कुतश्चिदनिश्चितासत्त्वरूपत्वात्। तथा साध्यविरुद्धेपि विपक्षे निश्चितासत्त्वा अपि धूमादयो नेष्टा अग्न्यादिसाधनास्तेषामग्न्यभावे स्वयमसत्त्वेनानिश्चयात्।

जिस प्रकार साध्यसे सर्वथा भिन्न हो रहे विपक्षमें असत्त्वका निश्चय रखनेवाले भी अग्नित्व आदिक हेतु अग्नि आदिको साधनेवाले नहीं इष्ट किये गये हैं। क्योंकि उन हेतुओंका साध्याभाव स्वरूप विपक्षमें किसी भी कारणसे विद्यमान नहीं रहनारूप निश्चित नहीं हुआ है। भले ही साध्य भिन्न विपक्षमें वे नहीं रहें, तिसी प्रकार साध्यसे विरुद्ध हो रहे भी विपक्षमें निश्चित है असत्त्व जिनका, ऐसे धूम आदिक भी अग्नि आदिको साधनेके लिये सद्धेतु नहीं माने गये हैं। क्योंकि उन धूम आदिकोंका अग्निके न होनेपर स्वयं अविद्यमानपने करके निश्चय नहीं हुआ है। भावार्थ—

पर्वतमें अग्निको साधनेके लिये दिया गया अग्नित्व हेतु सद्धेतु नहीं है। अग्नित्व अग्निमें रहता है और साध्यको पर्वतमें साधा गया है। अतः अग्नित्व असिद्ध हेत्वाभास है। भले ही अग्निरूप साध्यसे अन्य घट, पट, पुस्तक आदि विपक्षोंमें अग्नित्व नहीं रहता है। और साध्याभावरूप विपक्षमें भी अग्नित्वका नहीं रहना निश्चित नहीं सम्भव है। अतः विपक्षव्यावृत्ति होते हुये भी अग्नित्व सद्धेतु नहीं बना तथा साध्यसे विरुद्ध हो रहे विपक्षमें भले ही धूम आदिकी सत्ताका निश्चय न होय, किन्तु अग्निके न होनेपर धूमका नहीं होना जबतक निश्चित नहीं होगा, तबतक धूम आदिक भी अग्निको साधनेवाले नहीं माने जायंगे। अतः असिद्ध धूमहेतुमें भी आप बौद्धोंकी मानी गई विपक्षव्यावृत्ति व्यर्थ पडी। अविनाभावका निश्चय हुये विना विपक्षव्यावृत्तिका कुछ भी मूल्य नहीं है।

ननु च साध्यविरुद्धो विपक्षः साध्याभावरूप एव पर्युदासाश्रयणात् प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणे तु तदभावस्तद्विरुद्धादन्य इति साध्याभाव विपक्ष एव विपक्षे हेतोरसत्त्वनिश्चयो व्यतिरेको नान्य इत्यत्रोच्यते:—

बौद्धोंका अनुनय है कि उससे भिन्न उसके सदृशको पकडनेवाले और पदके साथ नञ्का योग रखनेवाले पर्युदासका आश्रय करनेसे साध्यसे विरुद्ध हो रहा विपक्ष साध्याभावस्वरूप ही है। तथा सर्वथा निषेधको करनेवाले और क्रियाके साथ नञ्का योग धारनेवाले प्रसज्य अभावका आश्रय लेनेसे तो उस साध्यका अभाव उसके विरुद्धसे अन्य हो जायगा। इस प्रकार साध्याभाव ही विपक्ष हुआ और विपक्षमें हेतुके नहीं विद्यमानपनका निश्चय कर लेना व्यतिरेक है। इससे न्यारा कोई व्यतिरेक नहीं माना गया है। अर्थात् साध्यके नहीं रहनेपर हेतुका नहीं रहना व्यतिरेक है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर अब यहां आचार्य कहते हैं कि—

साध्याभावे विपक्षे तु यो सत्त्वस्यैव निश्चयः।
सोऽविनाभाव एवास्तु हेतो रूपात्तथाह च ॥ १७९ ॥
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥ १८० ॥

साध्यका अभावरूप विपक्षमें जो हेतुकी असत्ताका निश्चय है, यदि यही तृतीय पक्षके अनुसार व्यतिरेक है, तब तो वह अविनाभाव ही हो जाओ। हेतुका रूप अविनाभावसे न्यारा अन्य कुछ नहीं है। और तिसी प्रकार महान् आत्माओंने कहा है कि जहां अन्यथानुपपत्ति विद्यमान है, वहां पक्षवृत्ति, सपक्षमें वर्त्तना और विपक्षमें नहीं रहना, इन तीन रूपोंसे क्या लाभ निकलेगा! अर्थात् कुछ नहीं, अकेली अन्यथानुपपत्ति ही पर्याप्त है। और जहां अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहां

भी उक्त तीनों रूपोंसे क्या लाभ है। अर्थात् अविनाभावके विना तीनों रूपोंके होनेपर भी कुछ सार नहीं निकलेगा। वृद्ध पुरुषोंसे ऐसा सुना जा रहा है कि देवागम स्तोत्रको सुनकर श्रीविद्यानंद स्वामीनें जैनदर्शनका आश्रय ले लिया था। किन्तु हेतुके लक्षणमें उनको शंका रही आई। रात्रिको पद्मावतीदेवीने स्वप्नमें कहा कि श्रीपार्श्वनाथ भगवान्की फणामें हेतुका लक्षण लिखा है। प्रातःकाल स्वामीजीने श्रीपार्श्वनाथ भगवान्के दर्शन किये और प्रतिमाजीके ऊपर लगे हुये फनमें इन दो श्लोकोंको देखा **"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥१॥ अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः ॥२॥** जहां अन्यथानुपपत्ति है, वहां बौद्धोंके माने गये तीन रूपोंसे क्या लाभ और जहां अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहां तीन रूप भले ही रहो तो क्या लाभ है ? तथा जहां अन्यथानुपत्ति है, वहां नैयायिकोंके माने गये सत्प्रतिपक्षत्व-हेत्वाभास, और बाधितत्वको उन तीनमें बढाकर पांच रूपोंसे क्या फल निकलेगा ? और जहां अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहां भी पांच रूपोंसे क्या प्रयोजन सधेगा ? भावार्थ—अविनाभाव ही हेतुका प्राण है।

यथा चैवमन्यथानुपपन्नत्वनियमे सति हेतोर्न किंचित्त्रयेण पक्षधर्मत्वादीनामन्यतमेनैव पर्याप्तत्वात्तस्यैवान्यथानुपपन्नस्वभावसिद्धेरिति च तस्मिंस्तत्त्रयस्य हेत्वाभासगतस्येवाकिंचित्करत्वं युक्तं ॥

जिस प्रकार कि ऐसे अन्यथानुपपत्तिरूप नियमके होनेपर हेतुका उन तीन रूपोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं सधता है। क्योंकि पक्षवृत्तित्व आदि तीनमेंसे कोई एक विपक्षव्यावृत्तिरूप करके ही पूर्णरूपसे कार्य सध जाता है। और वही रूप अन्यथानुपपत्तिस्वरूप सिद्ध है। इस प्रकार उस हेतुमें उन तीन रूपोंका रहना कुछ भी कार्य करनेवाला नहीं है। यह हम स्याद्वादियोंका कहना युक्ति पूर्ण है। जैसे कि **" उदरस्थपुत्रः श्यामो मित्रातनयत्वात् इतरतत्पुत्रवत् "** गर्भमें बैठा हुआ पांचवां पुत्र (पक्ष) श्याम है (साध्य) मित्राका लडका होनेसे, जैसे कि मित्राके अन्य चार लडके काले दीख रहे हैं (दृष्टान्त)। यहां मित्रातनयत्व नामक हेत्वाभासमें जिस प्रकार तीनरूप होते हुये भी साध्यको नहीं साध सकते हैं। क्योंकि बहिरंगमें साग आदिका भक्षण इसबार नहीं करने और अन्तरंगमें बालकके शुक्लवर्ण प्रकृतिका उदय होनेसे मित्राके गर्भका लडका गोरा है। उसी प्रकार सद्धेतुमें पडे हुये तीनरूप भी अकिंचित्कर हैं। अकेला अविनाभाव ही सद्धेतुका विश्वविधाता है।

तद्धेतोस्त्रिषु रूपेषु निर्णयो येन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः ॥ १८१ ॥
तेन कृतं न निर्णीतं हेतोर्लक्षणमञ्जसा।
हेत्वाभासाऽव्यवच्छेदि तद्ब्रूदेत्कथमन्यथा ॥ १८२ ॥

तिस कारण जो बौद्धने यह कहा था " **हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयो येन वर्णितः। असिद्ध विपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः** ,, अर्थात् असिद्ध दोषकी व्यावृत्तिके लिये हेतुका रूप पक्षवृत्तिपना माना गया है, और विरुद्ध हेत्वाभासको हटानेके लिये सपक्षमें वृत्ति होना माना गया है, तथा व्यभिचारदोष निवारण करनेके लिये विपक्षव्यावृत्तिरूप माना गया है। इस प्रकार तीन हेत्वाभासोंके प्रतिपक्षी होनेसे हेतुका तीन रूपोंमें निर्णय जिस कारणसे वर्णन किया गया है। इस प्रकार कथन करनेवाले उस बौद्धने हेतुका लक्षण निर्दोषरूपसे नहीं निर्णीत किया है। अन्यथा वह बौद्ध मित्रातनयत्व आदि हेत्वाभासोंको नहीं व्यवच्छेद करनेवाले उस त्रैरूप्यको कैसे लक्षण कह देता? बताओ। भावार्थ—जो लक्ष्यका विशेषण अलक्ष्यसे व्यवच्छेद करानेवाला नहीं है, वह निरर्थक है। उसका बोलना निग्रह करा देवेगा।

ननु च पक्षधर्मत्वे निर्णयश्चाक्षुषत्वादेरसिद्धप्रपंचस्य प्रतिपक्षत्वेन वर्णितः सपक्षसत्त्वे विरुद्धप्रपंचप्रतिपक्षत्वेन विपक्षासत्त्वे चानैकांतिकविस्तारप्रतिपक्षेणेति कथं हेत्वाभासाव्यवच्छेदि हेतोर्लक्षणं तेनोक्तं येन पारमार्थिकं रूपं ज्ञानमिति चेत् अन्यथानुपपन्नत्वस्यैव हेतुलक्षणत्वे नाभिधानादिति ब्रूमः। तस्यैवासिद्धविरुद्धानैकांतिकहेत्वाभासप्रतिपक्षत्वसिद्धेः।

बौद्ध अपने आग्रहको पुष्ट करते हैं कि शब्द अनित्य है, चक्षु इन्द्रियद्वारा ग्राह्य होनेसे, इस अनुमानमें दिये गये चाक्षुषत्व तथा अन्य असिद्ध हेत्वाभासोंके प्रपंचका प्रतिकूल होनेके कारण हेतुका रूप पक्षवृत्तिपनमें निर्णीत कर कहा गया है। तथा विरुद्धके भेदप्रभेदोंका प्रतिपक्षी होनेसे हेतुका सपक्षसत्त्वपनेमें निर्णय कहा है। तथा व्यभिचारके विस्तारका प्रतिपक्षपनेकरके विपक्ष व्यावृत्तिरूपमें निर्णय बताया है। इस प्रकार तीनों रूपोंमें निर्णय करना हेतुका लक्षण है, जो कि हेत्वाभासोंका पृथग्भाव कर रहा है। फिर जैनोंने यह क्यों कहा था कि बौद्धोंके हेतुका लक्षण हेत्वाभासोंको व्यवच्छेद करनेवाला नहीं है, जिससे कि बौद्धोंके यहां अनुमानद्वारा वास्तविकरूपका ज्ञान होय अथवा हमारा लक्षण तो हेत्वाभासोंका निवारण करदेता है। किन्तु जैनोंका माना गया कौनसा रूप हेत्वाभासोंको हटावेगा? बताओ, जिससे कि जैनोंके यहां अनुमानद्वारा ठीक ठीक वस्तुका ज्ञान होवे। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन आत्मगौरवके साथ यह कहते हैं कि अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका निर्दोष लक्षणपने करके कथन है। वह अविनाभाव ही असिद्ध, विरुद्ध, और अनैकान्तिक हेत्वाभासोंका प्रतिपक्षीरूप करके सिद्ध हो चुका है। और भी हेत्वाभास होवें एक ही उन सबका मुख फेर देता है।

न ह्यन्यथानुपपन्नत्वनियमवचनेऽसिद्धत्वादिसंभवो विरोधात्। न चैकेन सकलप्रतिपक्षव्यवच्छेदे सिद्धे तदर्थं त्रयमभिदधतां तदेकं समर्थं लक्षणं हेतोर्ज्ञातं भवति तदेव त्रिभिः स्वभावैरसिद्धादीनां त्रयाणां व्यवच्छेदकमतस्तानि त्रीणि रूपाणि निश्चितान्यनुक्तानि।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देखो, अन्यथानुपपत्तिरूप नियमके कहनेपर असिद्धपन, विरुद्धपन, व्यभिचारीपन, बाधितपन, सत्प्रतिपक्षपन, इन हेत्वाभासोंकी सम्भावना नहीं है। क्योंकि विरोध है। जहां अविनाभाव विद्यमान है, वहां हेत्वाभास नहीं ठहर सकता है। जब कि एक ही रूपकरके सम्पूर्ण हेत्वाभासरूप प्रतिपक्षियोंका व्यवच्छेद होना सध चुका है तो उसके लिये तीन रूपोंको हेतुका लक्षण कथन करनेवाले बौद्धोंके यहां वह भी हेतुका एक समर्थलक्षण जान लिया गया नहीं बनता है। तभी तो एक विपक्षव्यावृत्तिसे कार्य नहीं होता हुआ समझकर बौद्धोंने हेतुके दो रूप और बढा दिये। किन्तु वस्तुतः देखा जाय तो वह एक अविनाभाव ही अपने तीन स्वभावोंकरके असिद्ध आदि तीन हेत्वाभासोंका व्यवच्छेद कर देता है। इस कारण हम जैनोंने हेतुके निश्चित हुये वे तीन रूप नहीं कहे हैं।

तदवचने विशेषतो हेतुलक्षणसामर्थ्यस्यावचनप्रसंगात् तदुक्तौ तु विशेषतो हेतुलक्षणं ज्ञातमेवेति चेत् न, अबाधितविषयत्वादीनामपि वचनप्रसंगात्। तेषामनुक्तौ बाधितविषयत्वादिव्यवच्छेदासिद्धेः।

बौद्ध कहते हैं कि उन तीनरूपोंके नहीं कथन करनेपर तो विशेषरूपसे हेतुके लक्षणकी सामर्थ्यका नहीं कथन करनेका प्रसंग आता है। किन्तु उन तीनों रूपोंके कथन कर देनेपर तो विशेषरूपसे हेतुका लक्षण ज्ञात ही हो जाता है। अतः विशेषरूपसे व्युत्पत्ति करानेके लिये वे तीनरूप कह दिये हैं, जिनको कि आप जैनोंने अन्यथानुपपन्नके स्वभाव माना है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो बौद्ध नहीं कहें। क्योंकि यों तो बाधितविषयसे रहितपना, असत्प्रतिपक्षपना, आश्रयासिद्धि रहितपना, आदिरूपोंका भी कथन करनेका प्रसंग होगा। यदि उन अबाधितपन आदि रूपोंको नहीं कहोगे तो अग्नि अनुष्ण है, प्रमेय होनेसे, पर्वत अग्निमान् नहीं है, पाषाणका विकार होनेसे। आकाशका फूल सुगंधित है, फूल होनेसे, इत्यादि हेत्वाभासोंका व्यवच्छेद नहीं सिद्ध हो पायगा। हम जैनोंके यहां तो उन तीन स्वभावोंके समान अबाधितविषयत्व आदि भी अन्यथानुपपन्न हेतुके स्वभाव हैं। उन स्वभावोंसे बाधित आदि हेत्वाभासोंका निवारण हो जाता है।

निश्चितत्रैरूप्यस्य हेतोर्बाधितविषयत्वाद्यसंभवात्तद्वचनादेव तद्व्यवच्छेदसिद्धेर्नाबाधितविषयत्वादिवचनमिति चेत् न, हेतोः पंचभिः स्वभावैः पंचानां पक्षाव्यापकत्वादीनां व्यवच्छेदकत्वाद्विशेषतल्लक्षणस्यैव कथनात् अन्यथा तदज्ञानप्रसंगात्। तद्विशेषविवक्षायां तु पंचरूपत्ववत् त्रिरूपत्वमिति न वक्तव्यं सामान्यतोन्यथानुपपन्नत्ववचनेनैव पर्याप्तत्वात्।

बौद्ध कहते हैं कि जिस हेतुके त्रैरूप्यका निश्चय हो रहा है, उस हेतुके बाधितविषयपना या सत्प्रतिपक्षपना आदि दोषोंकी सम्भावना ही नहीं है। अतः उस त्रैरूप्यके कथन करनेसे ही उन बाधितपन आदि हेतु दोषोंका व्यवच्छेद सिद्ध हो जाता है। अतः अबाधितविषयत्व आदि चौथे, पांचवे, रूप नहीं कहे गये हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि हेतुके पांच स्वभावोंकरके ही पक्षमें नहीं व्यापना आदि हेतु दोषोंका निवारकपना है। इस कारण

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेषरूपसे उन पांचोंको ही हेतुका लक्षण कहना चाहिये। अन्यथा उन रूपोंके अज्ञान होनेका प्रसंग होगा। हां, हेतुके आवश्यक विशेषरूपकी विवक्षा होनेपर तो बौद्धों द्वारा जैसे नैयायिकोंका पंचरूपपना नहीं कहा जाता है, उसी प्रकार तीन रूपपना भी नहीं कहना चाहिये। सामान्य-रूपसे एक अन्यथानुपपत्तिके वचन करके ही हेतुका पूरा कार्य सध जायगा। अन्य पुंछले लगाना व्यर्थ है।

रूपत्रयमंतरेण हेतोरसिद्धादित्रयव्यवच्छेदानुपपत्तेः। तत्र तस्य सद्भावादुपपन्नं वचनमिति चेत्।

बौद्ध कहते हैं कि तीनों रूपोंके विना तो हेतुके असिद्ध आदि तीन दोषोंका व्यवच्छेद होना नहीं बनता है। और उस हेतुमें तीन रूपोंके सद्भाव होनेसे हेत्वाभासोंका व्यवच्छेद बन जाता है। अतः तीनरूपका कथन करना युक्त है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन सिद्धान्ती यों कहेंगे कि—

रूपत्रयस्य सद्भावात्तत्र तद्वचनं यदि।
निश्चितत्वस्वरूपस्य चतुर्थस्य वचो न किम् ॥ १८३ ॥
त्रिषु रूपेषु चेद्रूपं निश्चितत्वं न साधने।
नाज्ञाता सिद्धता हेतो रूपं स्यात्तद्विपर्ययः ॥ १८४ ॥

उस हेतुमें तीन रूपोंका सद्भाव होनेसे यदि उन रूपोंका कथन करना मानोगे तो चौथे निश्चितपन स्वरूपका कथन करना भी क्यों न माना जाय। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि तीन रूपोंमें निश्चितपनास्वरूप तो है ही। उसको हेतुमें न्यारा नहीं रक्खा जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि अनिश्चित होनेके कारण असिद्धता हेतुका रूप हो जायगा, जो कि समीचीन हेतुसे विपरीत है। भावार्थ—निश्चितपना नहीं कहनेसे हेतु अज्ञातासिद्ध बन बैठेगा, जो कि इष्ट नहीं है। अथवा निश्चितपना यदि हेतुमें नहीं साधा जायगा तो हेतु अज्ञात होनेके कारण असिद्ध बन बैठेगा, जो कि सद्धेतुपनके विपरीत है।

पक्षधर्मत्वरूपं स्याज्ज्ञातत्वे हेत्वभेदिनः।
हेतोरज्ञानतेष्टा चेन्निश्चितत्वं तथा न किम् ॥ १८५ ॥
हेत्वाभासेपि तद्भावात्साधारणतया न चेत्।
धर्मांतरमिवारूपं हेतो सदपि संमतम् ॥ १८६ ॥

हंतासाधारणं सिद्धं साधनस्यैकलक्षणं ।
तत्त्वतः पावकस्येव सोष्णत्वं तद्विदां मतम् ॥ १८७ ॥

हेतुसे अभिन्न होकर रहनेवाले पक्षवृत्तिपन आदि स्वरूप तो जाने जा चुके होते हुये अनुमानके प्रयोजक हैं । हेतुके इन रूपोंको नहीं जाने जा चुकनेपर तो हेतुका अज्ञातपना इष्ट किया यानी वह हेतु अज्ञात होकर असिद्ध है । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कहेंगे कि तिसी प्रकार निश्चितपना भी चौथा हेतुका स्वरूप क्यों न हो जावे ? यदि बौद्ध यों कहें कि निश्चितपना तो हेत्वाभासमें भी विद्यमान है । अतः हेतु और हेत्वाभासमें साधारणरूपसे ठहरजानेके कारण वह निश्चितपना सम्यक्हेतुका ही रूप नहीं है । तब तो हेतुके विद्यमान हो रहे पक्षधर्मत्व आदि कभी अन्य धर्मोंके समान हेतुके रूप नहीं माने जांय । क्योंकि हेत्वाभासोंमें भी मिल जाते हैं । एक अविनाभाव ही हेतुका निर्दोष स्वरूप है । बौद्धोंको खेद मानना चाहिये कि वे हेतुके साधारणरूपोंको हेतुका लक्षण कह रहे हैं । इसमें अतिव्याप्ति दोष आता है । अतः वास्तविकरूपसे हेतुका असाधारण लक्षण एक अन्यथानुपपत्ति ही सिद्ध हुआ, जिस प्रकार कि उस लक्ष्यलक्षणको जाननेवाले विद्वानोंके यहां अग्निका लक्षण उष्णता सहितपना ही माना गया है ।

यो यस्यासाधारणो निश्चितः स्वभावः स तस्य लक्षणं यथा पावकस्यैव सोष्णत्वपरिणामस्तथा च हेतोरन्यथानुपपन्नत्वनियम इति न साधारणानामन्यथानुपपत्तिनियमविकलानां पक्षधर्मत्वादीनां हेतुलक्षणत्वं निश्चितं तत्त्वमात्रवत् ।

जो स्वभाव जिसका असाधारण होकर निश्चित किया गया है, वह उसका लक्षण है । संपूर्ण लक्ष्योंमें रहता हुआ जो अलक्ष्योंमें नहीं व्यापता है, वह असाधारण है । जैसे कि अग्निका ही उष्ण सहितपना परिणाम होता है, अतः अग्निका लक्षण उष्णत्व है । तिसी प्रकार हेतुका लक्षण साध्यके विना हेतुका नहीं होनापनरूप अन्यथानुपपत्ति नियम है । इसका कारण अन्यथानुपपत्तिरूप नियमसे रहित होरहे और हेत्वाभासोंमें भी साधारणरूपसे पाये जा रहे पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व, विपक्षव्यावृत्ति, आदिकोंको हेतुका लक्षणपना निश्चित नहीं किया गया है । जैसे कि केवल तत्त्व ही हेतुका लक्षण नहीं है । क्योंकि तत्त्व तो पक्ष, साध्य, जीव, आदिक भी हैं । सामान्यरूपसे सत्पना भी हेतुका या किसी विशेषपदार्थका लक्षण नहीं हो सकता है । अथवा तत्पना यानी हेतुपना भी हेतुका लक्षण नहीं है । क्योंकि जैसे मनुष्य दुर्जन, सज्जन, चोर, साहूकार, क्रोधी, क्षमावान् आदि सभी प्रकारके होते हैं, उसी प्रकार हेतुओंके समान हेत्वाभासोंमें भी हेतुपना घटित हो रहा है । किन्तु अलक्ष्यमें चले जानेवाले स्वभावको लक्षण नहीं माना गया है । यहांतक बौद्धोंके द्वारा माना गया हेतुका त्रैरूप्यलक्षण अतिव्याप्त सिद्ध करदिया गया है । इस प्रकार एक सौ चौवीसवीं

" निश्चितं पक्षधर्मत्वं " आदि दो वार्त्तिकोंका उपसंहार हुआ। अब नैयायिकों द्वारा माने गये हेतुके लक्षणपर विचार चलाते हैं।

एतेन पंचरूपत्वं हेतोर्ध्वस्तं निबुध्यते।
सत्त्वादिष्वाग्निजन्यत्वे साध्ये धूमस्य केनचित् ॥ १८८ ॥

इस उक्त कथन करके हेतुका पंचरूपपना लक्षण भी निरस्त कर दिया गया समझ लेना चाहिये। धूमको किसीके भी द्वारा अग्निसे जन्यपना साधने पर सत्त्व, द्रव्यत्व, आदि असत् हेतुओंमें पंचरूपपना घटित हो जाता है।

अग्निजन्योयं धूमः सत्त्वात् द्रव्यत्वाद्वा धूमे सत्त्वादेरसंदिग्धत्वात्। तथान्वयं पूर्वदृष्टधूमेग्निजन्यत्वेन व्याप्तस्य सत्त्वादेः सद्भावात् व्यतिरेकश्च खरविषाणादौ साध्याभावे साधनस्य सत्त्वादेरभावनिश्चयात्। तथात्राबाधितविषयत्वं विवादापन्ने धूमेग्निजन्यत्वस्य बाधकाभावात्। तत एवासत्प्रतिपक्षत्वमनग्निजन्यत्वसाधनप्रतिपक्षानुमानासंभवादिति सिद्धं साधारणत्वं पंचरूपत्वस्य त्रैरूप्यवत्।

यह धुआं (पक्ष) अग्निसे उत्पन्न हुआ है (साध्य)। सत्त्व होनेसे अथवा द्रव्यत्व होनेसे (हेतु), इस अनुमानमें दिये गये सत्त्व, द्रव्यत्व, पौद्गलिकत्व, हेतुओंकी संदेहरहित होकर धूमरूप पक्षमें वृत्तिता है। तथा अन्वयदृष्टान्तरूप सपक्षमें भी हेतु वर्तरहे हैं। पहिले देखे हुये धुयेंमें अग्निजन्यपनेसे व्याप्त हो रहे सत्त्व आदि हेतुओंका सद्भाव है। और विपक्षव्यावृत्तिरूप व्यतिरेक भी बन जाता है। देखिये, अग्निजन्यत्वरूप साध्यके नहीं होनेपर खरविषाण, वन्ध्यापुत्र, आदि विपक्षोंमें सत्त्व आदि हेतुओंका अभाव निश्चित हो रहा है। तिसी प्रकार चौथा रूप अबाधितविषयपना भी सत्त्वादि हेतुओंमें घट जाता है। विवादमें पडे हुये धूमरूपपक्षमें अग्निसे जन्यपनारूप साध्यका कोई दूसरा बाधकप्रमाण नहीं है। सभी धुयें आगसे उत्पन्न होते हैं। तिस ही कारण यानी पक्षमें साध्यके बाधक प्रमाणोंके न होनेसे सत्त्व आदिक हेतु सत्प्रतिपक्षपन दोषसे रहित हैं। साध्यसे विपरीत अग्निजन्यपनके अभावको साधनेके लिये किसी प्रतिपक्षी अनुमानकी सम्भावना नहीं है। इस प्रकार नैयायिकका पंचरूपपना भी बौद्धोंके त्रैरूप्यके समान हेतुका साधारण स्वरूप सिद्ध हुआ अतः हेतुका समीचीन लक्षण पंचरूपत्व नहीं हो सकता है।

सामस्त्येन व्यतिरेकनिश्चयस्याभावादसिद्धमिति चेन्न, तस्यान्यथानुपपन्नत्वरूपत्वात्। तदभावे शेषाणामकिंचित्करत्वापत्तेस्तद्विकलस्यैव पंचरूपत्वादेरलक्षणत्वेन साध्यत्वाद्युक्तोतिदेशः।

नैयायिक यदि यों कहें कि तीसरा रूप विपक्षसे व्यावृत्त होना यहां नहीं है। पूर्णरूपसे व्यतिरेकका निश्चयसत्त्व आदि हेतुओंमें नहीं है। अतः पंचरूपपनको साधारणपना सिद्ध नहीं हुआ।

भावार्थ—सत्त्व, द्रव्यत्व, आदिक तो अग्निसे अजन्य वस्त्र, पुस्तक, आत्मा, पारा, आकाश, आदि विपक्षोंमें रह जाते हैं। अतः सम्पूर्ण विपक्षोंसे व्यावृत्त सत्त्व, आदिक हेतु नहीं हैं। ऐसी दशामें हेत्वाभासोंमें नहीं जानेके कारण पंचरूपपना हेतुका असाधारण लक्षण सिद्ध हो गया। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो उन नैयायिकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि तब तो आप अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका रूप कह रहे हैं। क्योंकि वह अविनाभाव ही तो पूर्णरूपसे व्यतिरेकका निश्चयरूप है। उस अन्यथानुपपत्तिके विना शेष चाररूप बने भी रहे तो भी कुछ प्रयोजनको साधनेवाले न होनेसे उनको अकिंचित्करपनेका प्रसंग आता है। उस एक अन्यथानुपपत्तिसे रहित हो रहे ही पंचरूपत्व, त्रिरूपत्व आदिको अलक्षणपनेकरके साधने योग्य होनेसे यह हमारा अतिदेश करना समुचित है। अर्थात् समीचीन हेतुओंका अतिक्रमणकर सत्त्व आदिक हेत्वाभासोंमें पंचरूपपना ठहर गया, यह अतिव्याप्ति देनारूप हमारा कथन ठीक है। थोडेसे चिन्हसे विशेषज्ञान कर लिया जाता है।

एवमन्वयव्यतिरेकिणा हेतोः पंचरूपत्वमलक्षणं व्यवस्थाप्यान्वयिनोपि नान्वयो लक्षणं साधारणत्वादेवेत्याहः—

इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेकसे सहित हो रहे हेतुका पंचरूपपना लक्षण नहीं है। इसको व्यवस्थापित कर अब अन्वयवाले हेतुका भी लक्षण सपक्षमें वर्तनारूप अन्वय नहीं है। क्योंकि हेतु और हेत्वाभासोंमें सामान्यरूपसे अन्वय रह जाता ही है, इस बातको ग्रन्थकार स्वयं प्रतिपादन करते हैं।

अन्वयो लोहलेख्यत्वे पार्थिवत्वेऽशनेस्तथा।
तत्पुत्रत्वादिषु श्यामरूपत्वे क्वचिदीप्सिते ॥ १८९ ॥

वज्रं लोहलेख्यं पार्थिवत्वात् काष्ठवत्, इस अनुमान द्वारा वज्रको लोहेसे लेख्यपना (खुरचना) साधनेपर पृथ्वीका विकारपन हेतुमें अन्वय विद्यमान है। अर्थात् वज्र (विशेष हीरा) ही एक पृथ्वीके विकारी हुये पदार्थोंमेंसे लोहे द्वारा नहीं उकेरा जाता है। शेष घट, पाषाण, लोहा, स्फटिक, कांच, पन्ना, आदि सब पार्थिव पदार्थ लोहेसे छील दिये जाते हैं। लोहेकी सुईसे ताडपत्रपर खुरच-कर लिखा जाता है। सच तो वही लिखना है। पत्र (कागज) पर तो काष्ठलेखनी द्वारा मषीसे काढना या चितेरना होता है। उस वज्रको तो पक्षकोटिमें डाल लिया। अब पक्षसे न्यारे सभी लोहलेख्य पदार्थोंमें पार्थिवत्व हेतुका अन्वय विद्यमान है। किन्तु यहां पार्थिवत्व सद्धेतु नहीं माना गया है। तथा **"गर्भस्थः पुत्रः श्यामो भवितुमर्हति मित्रातनयत्वात् दृष्टपुत्रवत्"** इस अनुमान द्वारा किसी अभीष्ट गर्भस्थित पुत्रमें श्यामरूपपना साध्य करनेपर तत्पुत्रत्व आदि हेतुओंमें अन्वय होते हुये भी वे समीचीन हेतु नहीं हैं। क्योंकि गर्भका लडका गोरा है। अतः हेतुका लक्षण अन्वय करना ठीक नहीं है।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

लोहलेख्योऽश्मनिः पार्थिवत्वाद्धातुरूपवत्, स श्यामरूपस्तत्पुत्रत्वात्तन्नप्तृत्वाद्वा परिदृष्टतत्पुत्रादिवदिति हेत्वाभासेपि सद्भावादन्वयस्य साधारणत्वं। ततो हेत्वलक्षणत्वं। यस्तु साध्यसद्भाव एव भावो हेतोरन्वयः सोऽन्यथानुपपन्नत्वमेव तथोपपत्याख्यमसाधारणं हेतु लक्षणं। परोपगतस्तु नान्वयस्तल्लक्षणं नापि केवलव्यतिरेकिणो व्यतिरेक इत्याहः–

वज्र (पक्ष) लोहेकी छेनीसे खुरचने योग्य है (साध्य), पृथ्वीद्रव्यका विकार होनेसे (हेतु), जैसे कि अन्य रांग, चांदी, सोना, आदि धातुभेद या पार्थिव पदार्थ लोहेसे लिखे जाने योग्य है (दृष्टान्त) तथा वह गर्भका लडका (पक्ष) काले रूपवाला है (साध्य)। क्योंकि उस मित्रा नामकी काली स्त्रीका लडका है। अथवा उस विवक्षित पुरुषका नाती है (हेतु)। जैसे कि और भी कतिपय दीख रहे उसके पुत्र, पौत्र, पुत्रियां आदि काले हैं (दृष्टान्त)। इस प्रकार हेत्वाभासमें भी अन्वयका सद्भाव है। अतः अन्वय हेतुका साधारणरूप है। तिस कारण हेतुका लक्षण नहीं हो सकता है। हां, जो साध्यके होनेपर ही हेतुका सद्भावरूप अन्वय कहा जायगा वह तो तथोपपत्ति नामकी अन्यथानुपपत्ति ही हेतुका असाधारण लक्षण हुई। तथोपपत्ति यानी साध्यके रहनेपर ही हेतुका रहना और अन्यथानुपपत्ति यानी साध्यके न रहनेपर हेतुका नहीं रहनारूप दो प्रकारसे अविनाभाव माना गया है। किन्तु दूसरे वादियों द्वारा मान लिया गया तो अन्वयीपना उस हेतुका लक्षण नहीं है। तथा केवल व्यतिरेकको ही धारनेवाले हेतुका लक्षण भी विपक्षव्यावृत्तिरूप व्यतिरेक नहीं है। इस बातका ग्रन्थकार स्पष्ट कथन करते हैं।

अदृष्टिमात्रसाध्यश्च व्यतिरेकः समीक्ष्यते।
वक्तृत्वादिषु बुद्धादेः किंचिज्ज्ञत्वस्य साधने ॥ १९० ॥
साध्याभावे त्वभावस्य निश्चयो यः प्रमाणतः।
व्यतिरेकः स साकल्यादविनाभाव एव नः ॥ १९१ ॥

बुद्धादिः किञ्चिज्ज्ञः वक्तृत्वात्, पुरुषत्वात्, इस अनुमान द्वारा बुद्ध, कपिल, कणाद, आदिको अल्पज्ञपनेका साधन करनेपर वक्तापन, पुरुषपन, आदि हेतुओंमें केवल नहीं देखनेसे साध लिया गया व्यतिरेक अच्छा देखा जाता है। घट, डेला, खाट, चौकी, आदि विपक्षोंमें अल्पज्ञपना न होनेपर वक्तापन आदिका भी अभाव है, किन्तु बौद्ध, नैयायिक, आदि विद्वानोंने अपने अभीष्ट सर्वज्ञमें कुछ गिनतीके थोडेसे पदार्थोंका जानना साधनेमें वक्तापन, पुरुषपन, हेतुको समीचीन नहीं माना है। यदि संपूर्णरूपसे साध्यका अभाव होनेपर सकलतासे हेतुके अभावका प्रमाणोंसे निश्चय करना व्यतिरेक माना जायगा, तब तो वह हमारा अविनाभाव ही अपने व्यतिरेक मान लिया अर्थात् अल्पज्ञ नहीं होते हुये भी तीर्थंकर महाराज वक्ता हैं, पुरुष हैं। अतः अन्यथानुपपत्ति न होनेसे ही वक्तृत्व आदि असद्धेतु हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सत्यामप्यबाधितविषयतायां सत्यामप्यसत्प्रतिपक्षतायां च हेतौ न रूपांतरत्व मन्यथानुपपन्नत्वादित्याह;—

जिस हेतुके साध्यका कोई बाधक प्रमाण नहीं है, इस प्रकारकी अबाधित विषयताके होने-पर भी और जिस हेतुके साध्यका अभावको साधनेके लिये दूसरा प्रतिपक्षी हेतु नहीं है, ऐसी असत्प्रतिपक्षताके होते हुये भी हेतुमें अन्यथानुपपत्तिसे अतिरिक्त कोई दूसरारूप कार्यकारी नहीं है। इस बातका स्वयं वार्तिककार स्पष्ट निरूपण करते हैं।

अबाधितार्थता च स्यान्नान्या तस्मादसंशया।
न वासत्प्रतिपक्षत्वं तदभावेनभीक्षणात् ॥ १९२ ॥

उस अन्यथानुपपत्तिसे भिन्न कोई अबाधितविषयता नहीं हो सकती है। संशयरहित होकर वही अविनाभाव अबाधितविषयरूप है। और उस अन्यथानुपपत्तिके अतिरिक्त असत्प्रतिपक्षपना भी कोई न्यारा रूप नहीं है। क्योंकि उस अन्यथानुपपत्तिके अभाव होनेपर अबाधितविषयपना अथवा असत्प्रतिपक्षपना (कुछ भी मूल्यका) नहीं देखा जा रहा है।

न हि कचिद्धेतौ साध्याभावासंभूष्णुतापायेप्यबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं समीक्ष्यते येन ततो रूपांतरत्वं।

किसी भी हेतुमें साध्यका अभाव होनेपर हेतुका नहीं सम्भवनारूप स्वभावके अभाव होनेपर भी अबाधितविषयपना और असत्प्रतिपक्षपना नहीं देखा जाता है। जिससे कि उस अविनाभावसे उन चौथे, पांचवें, अबाधितपन और सत्प्रतिपक्षरहितपनको हेतुका न्यारा रूप माना जाय। अर्थात् वे दोनों हेतुके न्यारे रूप नहीं हैं।

ननु च यथा स्पर्शाभावे कचिदसंभववतोपि रूपस्य स्पर्शाद्रूपांतरत्वं तथाविना-भावाभावे कचिदसंभवतोपि ततो रूपांतरत्वमबाधितविषयत्वस्यासत्प्रतिपक्षत्वस्य च न विरुद्ध्यतेऽन्यथा स्पर्शाद्रूपस्यापि रूपांतरत्वविरोधादिति चेत् नैतत्सारं, अन्यथानुपप-न्नत्वादबाधितविषयत्वादेरभेदात्। साध्याभावप्रकारेणोपपत्तेरभावो ह्यन्यथानुपपत्तिः स एव बाबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं च प्रतीयते न ततोऽन्यत् किंचिन्नैवं स्पर्शाद्रूप-स्याभेदः प्रतीतिभेदात्ततो विषमोऽयमुपन्यासः।

यहां शंका है कि जिस प्रकार स्पर्शके नहीं होनेपर कहीं भी नहीं सम्भव होनेवाले भी रूपका जैसे स्पर्शसे भिन्न स्वरूपपना है, यानी स्पर्श न्यारा गुण है, और पुद्गलमें रूप न्यारा गुण है, आंखोंके नहीं होनेपर किसी भी जीवके कान नहीं होते हैं, फिर भी आखोंसे कान न्यारे हैं, तिसी प्रकार अविनाभावके अभाव होनेपर कहीं भी नहीं सम्भव रहे भी अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षपनको उस अविनाभावसे न्यारा रूपपना नहीं विरुद्ध हो रहा है। अन्यथा यानी

व्यतिरेक घटित हो जानेसे ही यदि दोनोंका अभेद मान लिया जायगा तो स्पर्शसे रूपगुणका भी भिन्नगुणस्वरूप होनेका विरोध हो जावेगा। इस प्रकार यदि कहोगे तो वैशेषिकोंके प्रति हम जैनोंको कहना पडता है कि इस कथनमें कोई सार नहीं है। क्योंकि अन्यथानुपपत्तिसे अबाधित विषयपन आदिरूपोंका अभेद है। जैसे कि उपयोगसे ज्ञानका अभेद है। परस्परमें एक दूसरेके अभाव होनेपर नहीं रहनेवाले कोइ कोई पदार्थ अभिन्न होते हैं। जैसे कि सत्त्व और अर्थक्रियाकारीपन सर्वथा भिन्न नहीं हैं। और कोई कोई भिन्न होते हैं। जैसे कि ज्ञानावरणका विघटना और वीर्यान्तरायका विघटना अविनाभाव होते हुये भी न्यारा न्यारा है। प्रकरणमें साध्याभावके प्रकार करके हेतुकी सिद्धिका अभाव होना ही अन्यथानुपपत्ति है। वही अबाधित विषयपना और असत्प्रतिपक्षपनारूप प्रतीत हो रही है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। किन्तु इस प्रकार स्पर्श गुणसे रूपगुणका अभेद नहीं दीख रहा है। क्योंकि उनकी न्यारी न्यारी प्रतीति हो रही है। तिस कारण यह दृष्टान्तका उपन्यास करना विषम पडा। भावार्थ—स्पर्श और रूपका दृष्टान्त यहां लागू नहीं हुआ। सत्त्व और वस्तुत्वका दृष्टान्त सम हो जायगा।

ननु हेतूपन्यासे सति क्रमेण प्रतीयमानत्वादविनाभावाबाधितविषयत्वादीनामपि परस्परं भेद एवेति चेन्न, बाधककमापेक्षत्वात्तत्क्रमप्रतीतेः। शक्रेंद्रपुरंदरादिप्रतीतिवदर्थप्रतीतेः क्रमाभावात्। न ह्यभिन्नेप्यर्थे बाधकभेदो विरुद्धो यतस्तत्क्रमप्रतीतिरर्थभेदं क्रमं साधयेत्। ततो नाममात्रं भिद्यते हेतोरन्यथानुपपन्नत्वमबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वमिति नार्थः।

पुनः शंकाकारका कहना है कि अनुमानमें हेतुका उपन्यास हो जानेपर पहिले अविनाभाव जाना जाता है, और पीछे क्रमसे अबाधितविषयपन आदि प्रतीत होते हैं। इस कारण अविनाभाव और अबाधितविषयपन आदिकोंका भी परस्परमें भेद ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि बाधकोंके क्रमकी अपेक्षासे उनका क्रमसे होनापन प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः अर्थकी प्रतीति करनेका कोई क्रम नहीं है। जैसे कि पर्यायवाची शक्र, इन्द्र, पुरन्दर, मघवा, जिष्णु, आदिकी प्रतीतियोंका क्रम नहीं है। एक ही इन्द्ररूप अर्थको कहनेवाले शब्दोंका उच्चारण क्रमसे होता है। किन्तु अर्थ युगपत् जानलिया जाता है। इसी प्रकार प्रकृत साध्यमें सम्भावना करने योग्य प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिक बाधकोंका क्रम क्रमसे उत्थान होता है। और उनका निराकरण भी एक अविनाभाव द्वारा क्रमसे कर दिया जाता है। किन्तु अर्थ वही एक बना रहता है। एक अभिन्न भी अर्थमें भिन्न भिन्न बाधकोंका होना विरुद्ध नहीं है। जिससे कि उन बाधकोंका क्रमसे प्रतीत होना अर्थके भिन्नपनेको और क्रमको साध देवें, तिस कारण केवल नामका ही भेद हो रहा है। हेतुका अन्यथानुपपन्नपना कहो, चाहे अबाधितविषयपना और असत्प्रतिपक्षपना कहो, इस प्रकार अर्थमें कोई भेद नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एतेन यदुक्तं हेतोरबाधितविषयत्वाभावेऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् नित्यो घटः सत्त्वात् प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषगुणविशेषत्वादित्येवमादेः प्रत्यक्षानुमानागमबाधितविषयस्यापि गमकत्वप्रसक्तिरसत्प्रतिपक्षत्वाभावे च सत्प्रतिपक्षस्य सर्वगतं सामान्यं सर्वत्र सत्प्रत्ययहेतुत्वादित्येवमादेर्गमकत्वापत्तिरिति तत्प्रत्याख्यातं । प्रत्यक्षादिभिः साध्यविपरीतस्वभावव्यवस्थापनस्य बाधितविषयत्वस्य वचनात् । प्रतिपक्षानुमानेन च तस्य सत्प्रतिपक्षत्वस्याभिधानात् तद्वचवच्छेदस्य च साध्यस्वभावेन तथोपपत्तिरूपेण सामर्थ्यादन्यथानुपपत्तिस्वभावेन सिद्धत्वादबाधितविषयत्वादे रूपांतरत्वकल्पनानर्थक्यात् ।

और जो यह कहा गया था कि हेतुका अबाधितविषयपनारूप माननेपर अग्नि (पक्ष) ठंडी है (साध्य), क्योंकि द्रव्य है (हेतु)। जैसे कि वस्त्र, पुस्तक, जल आदि (अन्वयदृष्टान्त)। तथा घट (पक्ष) नित्य है (साध्य), क्योंकि वह सत् है। जैसे कि आत्मा, आकाश, कालपरमाणु आदि (अन्वयदृष्टान्त)। और मरकरके दूसरे जन्ममें धर्म करना (पक्ष) सुखको देनेवाला नहीं है (साध्य)। क्योंकि आत्माका गुणविशेष होनेसे (हेतु)। जैसे कि पाप कर्म परजन्ममें दुःख दुःख देनेवाला है (दृष्टान्त)। इत्यादिक हेतुओंको भी अपने साध्यके बोधकपनका प्रसंग आवेगा। किन्तु अबाधितविषय लगानेसे द्रव्यत्व हेतु समीचीन हेतु नहीं हो पाता है, कारण कि अग्निमें ठंडापन साधनेके लिये दिये गये द्रव्यत्व हेतुका विषय प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है। और घटमें नित्यपना साधनेके लिये दिये गये सत्त्वहेतुका साध्य नित्यत्व तो, घट (पक्ष) अनित्य है (साध्य), परिणामी होनेसे (हेतु), इस अनुमानसे बाधित है। तथा मरकरके परजन्ममें धर्मसे सुखकी प्राप्ति होती है। इस आगमसे पुरुषगुणविशेषत्व हेतुका साध्य सुख नहीं देना बाधित हो रहा है। अतः हेतुका गुण अबाधितविषयत्व मानना चाहिये तथा हेतुका गुण असत्प्रतिपक्षपना नहीं माननेपर सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभासोंको भी साध्य ज्ञापकपनेका प्रसंग हो जायगा, सामान्यस्वरूप जाति (पक्ष) सर्वत्र व्यापक है (साध्य), क्योंकि सभी स्थलोंपर " है है " इस ज्ञानका कारण होनेसे (हेतु), इस अनुमानका प्रतिपक्षी अनुमान यों है कि सदृशपरिणामरूप सामान्य (पक्ष) व्यापक नहीं है (साध्य), क्योंकि नियतदेशव्यापी व्यक्तियोंके साथ न्यारे न्यारे सामान्य तदात्मक हो रहे हैं (हेतु), यदि सामान्य व्यापक होता तो दूरवर्ती दो व्यक्तियोंके अन्तरालमें भी दीखना चाहिये था। इसी प्रकार शद्ब नित्य है, प्रत्यभिज्ञानका विषय होनेसे, इसका प्रतिपक्ष शद्ब अनित्य है, कृतक होनेसे, यह विद्यमान है। इत्यादि सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभासोंको गमकपनका प्रसंग हो जायगा। उसका निवारण करनेके लिये हेतुका गुण असत्प्रतिपक्षपना कहो। इस प्रकार दोनों गुणोंके लिये जो नैयायिक उत्साहित कर रहे थे, वह भी इस उक्त कथनसे खंडित कर दिया गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों करके साध्यसे विपरीत स्वभावकी व्यवस्था करा देना ही तो बाधित विषयपना कहा गया है। और प्रतिपक्ष साधनेवाले दूसरे अनुमान

करके उस पूर्वहेतुका सत्प्रतिपक्षपना कहा गया है। किन्तु उन दोनों दोषोंका व्यवच्छेद करना तो तिस प्रकार साध्यके होनेपर ही हेतुका बना रहनारूप साधने योग्य स्वभावकरके सिद्धकर दिया जाता है। तथा विना कहे यों ही सामर्थ्यसे प्राप्त हो गये अन्यथानुपपत्तिरूप स्वभावकरके उन दोषोंका निराकरण सिद्ध हो जाता है। इस कारण अबाधितविषयपन आदिको हेतुका न्यारा न्यारा रूप माननेकी कल्पना करना व्यर्थ है।

सत्यपि तस्य रूपांतरत्वे तन्निश्चयासंभवः परस्पराश्रयणात् तत्साध्यविनिश्चययोरित्याह–

उन अबाधित विषयपन, आदिको हेतुका निराला रूपपना "अस्तु अशिष्टतोष" न्याय अनुसार मान भी लिया जाय तो भी उनका निश्चय करना असम्भव है। क्योंकि अबाधितविषयत्व आदि रूपोंसे सहित हो रहे उस हेतुके साध्य और उन रूपोंका विशेष निश्चय करनेमें अन्योन्याश्रय दोष आता है, इस बातका ग्रन्थकार स्वयं स्पष्टनिरूपण करते हैं, सुनिये।

यावच्च साधनादर्थः स्वयं न प्रतिनिश्चितः।
तावन्न बाधनाभावस्तत्स्याच्छक्यविनिश्चयः॥ १९३॥

जबतक हेतुसे साध्यरूप अर्थका स्वयं प्रतिज्ञापूर्वक निश्चय नहीं किया जायगा, तबतक उस हेतुके विषय साध्यमें बाधाओंके अभावका विशेषरूपसे निश्चय करना शक्य नहीं होगा। इसी प्रकार हेतुका असत्प्रतिपक्षपना जाननेपर उत्तरहेतुके साध्यका निर्णय होय और साध्यका निर्णय हो जानेपर पूर्वहेतुके साध्यमें बाधा आनेके कारण उत्तरवर्ती अनुमानके हेतुका असत्प्रतिपक्षपना जाना जाय, यह परस्पराश्रय दोष हुआ।

सति हि बाधनाभावनिश्चये हेतोरबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वसिद्धेः साध्यनिश्चयस्तन्निश्चयाच्च बाधनाभावनिश्चय इतीतरेतराश्रयान्न तयोरन्यतरस्य व्यवस्था। यदि पुनरन्यतः कुतश्चित्तद्बाधनाभावनिश्चयाच्चदनिश्चयांगीकरणाद्वा परस्पराश्रयपरिहारः क्रियते तदाप्यकिंचित्करत्वं हेतोरुपदर्शयन्नाहः—

बाधकोंद्वारा बाधा होनेके अभावका निश्चय हो चुकनेपर तो हेतुके अबाधितविषयपन और असत्प्रतिपक्षपनकी सिद्धि हो जानेसे उस हेतु द्वारा साध्यका निश्चय होय तथा उस साध्यका निश्चय हो जानेसे बाधाओंके अभावका निश्चय होय इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हो जानेसे उन दोनोंमेंसे एककी भी व्यवस्था नहीं हुई। यदि फिर नैयायिक अन्य किसी हेतुसे उन बाधाओंके अभावका निश्चय मानेंगे अथवा आवश्यकता न होनेके कारण बाधाओंके अभावका निश्चय नहीं होना स्वीकार करेंगे, तब परस्पराश्रय दोषका परिहार तो कर दिया जायगा, किन्तु तब भी हेतु अकिंचित्कर हो जायगा, इस बातको दिखलाते हुये ग्रन्थकार विशदनिरूपण करते हैं।

तद्बाधाभावनिर्णीतिः सिद्धा चेत्साधनेन किम् ।
यथैव हेतोर्वेशस्य बाधाऽसद्भावनिश्चये ॥ १९४ ॥

यदि किसी अन्य कारणसे उस हेतुके साध्यमें बाधाओंके अभावका निर्णय सिद्ध हो गया है तो फिर इस ज्ञापकहेतु करके क्या लाभ निकला ? जिस ही प्रकार हेतुके वेश (शरीर) को बाधा देनेवालोंके असद्भावका निश्चय हो जानेपर पुनः हेतुके लिये अन्य हेतु देनेकी आवश्यकता नहीं है । अर्थात् जैसे वन्हिको साधनेके लिये दिये गये धूमहेतुको साधनेके लिये पुनः अन्य हेतुकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हेतुका शरीर बाधारहित होकर पहिलेसे ही निर्णीत है । इसी प्रकार साध्यके शरीरमें भी अन्य कारणोंसे बाधाओंके अभावका निर्णय होना मान लेनेपर फिर हेतुका प्रयोग करना कुछ भी प्रयोजनको करनेवाला नहीं ठहरता है ।

तत्साधनसमर्थत्वादाकिंचित्करत्वं तथा वा विरहनिश्चये कुतश्चित्तस्य सद्भावसिद्धेः सततसाधनाय प्रवर्त्तमानस्य सिद्धसाधनादपि न साधीयस्तल्लक्षणत्वं ।

तिस कारण किन्हीं अन्य हेतुओंको ही बाधाओंके अभावके निर्णयको साधनेमें समर्थपना होनेसे प्रकृत कहा गया हेतु कुछ भी प्रयोजनसिद्धि करनेवाला नहीं है । अथवा तिस प्रकार चाहे जिस तिस अन्ट सन्ट कारणसे बाधाओंके अभावका निश्चय माननेपर तो किसी अन्य हेतुसे उन बाधाओंका सद्भाव भी सिद्ध हो जायगा । यदि उन अन्ट सन्ट कारणोंद्वारा निरन्तर बाधाओंके अभावको साधन करनेके लिये प्रवृत्ति करना माना जायगा, तब तो प्रकृतहेतुसे सिद्ध पदार्थका ही साधन हुआ । अतः सिद्ध साधन दोष हो जानेसे भी उन अबाधितविषयत्व आदिको हेतुका लक्षणपना अधिक अच्छा नहीं है ।

नन्वेवमविनाभावोपि लक्षणं माभून्निश्चयस्यापि साध्यसद्भावनियमनिश्चायायत्तत्वात् तस्य चाविनाभावाधीनत्वादितरेतराश्रयस्य प्रसंगात् इति चेन्न, अविनाभावनियमस्य हेतौ प्रमाणांतरान्निश्चयोपगमादितरेतराश्रयानवकाशात् । ऊहाख्यं हि प्रमाणमविनाभावनिश्चयनिबंधनं प्रत्यक्षानुमानयोस्तत्राव्यापारादित्युक्तं ।

यहां शंका है कि यों तो आप जैनोंके यहां भी इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है । अतः हेतुका लक्षण अविनाभाव भी नहीं होवो, क्योंकि अविनाभावी हेतुका निश्चय तो साध्यके सद्भाव होनेपर ही हेतुका नियमसे होनारूप निश्चयके अधीन है । और वह नियमका निश्चय तो अविनाभावके अधीन है । इस कारण अन्योन्याश्रयदोषका प्रसंग आता है । आचार्य कहते हैं कि यह किसीकी अनुज्ञा ठीक नहीं है । क्योंकि अविनाभावरूप नियमका हेतुमें निश्चय करना अन्य तर्कज्ञान नामके प्रमाणसे स्वीकार किया गया है । अतः अन्योन्याश्रयदोषको अवकाश नहीं मिलता है । उपलम्भ और अनुपलम्भको निमित्त मानकर उत्पन्न हुआ ऊह नामका प्रमाण अविनाभावके निश्चय

करानेका ज्ञापक कारण है। उस अविनाभावके निश्चय करनेमें प्रत्यक्ष और अनुमानका व्यापार नहीं है, जिससे कि अन्योन्याश्रय दोष हो सके। इस बातको हम तर्कज्ञानको स्वतंत्ररूपसे परोक्ष प्रमाणपना सिद्ध करते समय कह चुके हैं।

तर्हि यत एवान्यथानुपपन्नत्वनिश्चयो हेतोस्तत एव साध्यसिद्धेस्तत्र हेतोरकिंचित्करत्वमिति चेन्न, ततो देशादिविशेषावच्छिन्नस्य साध्यस्य साधनात् सामान्यत एवोहात्तत् सिद्धेरित्युक्तप्रायं। अथवा—

नैयायिक कहते हैं कि तब तो जिस ही तर्कज्ञानसे हेतुके अविनाभावका निश्चय हुआ है, उस ही तर्कसे साध्यकी ज्ञप्ति भी हो जायगी। अतः उस साध्यका ज्ञापन करनेमें हेतु कुछ भी कार्यकारी नहीं हुआ, अकिंचित्कर हो गया। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस अविनाभावी हेतुसे देश, काल, आकार, आदिकी विशेषताओंसे युक्त हो रहे साध्यका ज्ञापन किया जाता है। ऊहसे तो सामान्यरूपसे ही उस साध्यकी ज्ञप्ति हो चुकी थी अर्थात् जितने धूमवान् प्रदेश हैं वे अग्निमान् होते हैं। इस प्रकार सामान्यरूपसे साध्यको हम पहिलेसे ही जान रहे हैं। किन्तु पर्वतमें धूमके देखनेसे विशेषस्थलपर उस समय अग्निको हेतु द्वारा विशेषरूपसे जाना जाता है। इस बातको भी हम पहिले बहुत समझाकर कई वार कह चुके हैं अथवा दूसरी बात यह भी है कि:—

त्रिरूपहेतुनिष्ठानवादिनैव निराकृते।
हेतोः पंचस्वभावत्वे तद्ध्वंसे यतनेन किम् ॥ १९५ ॥

हेतुके पक्षसत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूपोंकी व्यवस्था करनेवाले बौद्धवादी करके ही जब हेतुके उक्त तीनके साथ अबाधितपन तथा सत्प्रतिपक्षपन इन पांच स्वभावसहितपनेका निराकरण करदिया गया है, अर्थात् पंचरूपोंका खण्डन करने पर ही तो बौद्धोंके त्रैरूप्यकी प्रतिष्ठा हो सकती है, ऐसी दशा होनेपर उस पंचरूपपनके खण्डन करनेमें हम व्यर्थ प्रयत्न क्यों करें! अर्थात् नैयायिकोंके हेतुकी पंचरूपताको जब बौद्धोंने ही पंचत्व (मरण) पर पहुंचा दिया है तो हम इसके लिये व्यर्थ कष्ट क्यों उठावें, जिस अच्छे कार्यको दूसरे लोग समीचीन ढंगसे कर रहे हैं, उसमें हमारी सहानुभूति है।

न हि स्याद्वादिनामयमेव पक्षो यत्स्वयं पंचरूपत्वं हेतोर्निराकर्तव्यमिति त्रिरूपव्यवस्थानवादिनापि तन्निराकरणस्याभिमतत्वात् परमतमभिमतप्रतिषिद्धमितिवचनात् तदलमत्राभिप्रयतनेनेति।

हम स्याद्वादियोंका यही पक्ष (आग्रह) नहीं है, जो हेतुके पंचरूपपनका स्वयं ही इस ढंगसे निराकरण करना चाहिये। किन्तु हेतुके तीन रूपकी व्यवस्थाको कहनेवाले बौद्धोंकरके भी

उस पंचरूपपनका निराकरण करना अभीष्ट सिद्धान्तसे ही अन्य नैयायिकोंका मत खंडित हो जाता है। दूसरोंका विरुद्ध मन्तव्य अपने अविरुद्ध अभिमतसे निषिद्ध कर दिया जाता है। तिस कारण इस प्रकरणमें हमारे चारों ओरके घोर प्रयत्नसे कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहा है। दूसरों द्वारा की जा रही और हमको अभीष्ट हो रही बातका हमें आह्वान करना चाहिये। यहांतक बौद्धोंके त्रैरूप्य और नैयायिकोंके पांचरूप्यका खण्डन करदिया गया है।

हेतुलक्षणं वार्तिककारेणैवमुक्तं " अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् " इति स्वयं स्याद्वादिनां तु तन्निराकरणप्रयत्ने त्रयं पंचरूपत्वं किमित्यपि वक्तुं युज्यते।

राजवार्त्तिकको बनानेवाले श्रीअकलंकदेवने हेतुका लक्षण इस प्रकार ही कहा है कि जहां अन्यथानुपपत्ति विद्यमान है उस हेतुमें तीनरूपों करके क्या प्रयोजन सधता है ? अर्थात् कुछ नहीं और जिस हेतुमें अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहां तीन रूपोंके बोझ होनेपर भी इष्टसिद्धि नहीं हो पाती है। ऐसे ही पांचरूपोंमें लगा लेना। इस प्रकार स्याद्वादियोंके यहां स्वयं उन रूपोंके निराकरण करनेका प्रयत्न होनेपर वह तीनरूपपना या पांचरूपपना क्या कर सकता है ? यानी कुछ नहीं, यह भी कहनेके लिये युक्त पड जाता है। इस विषयको अब यहां परिपूर्ण करते हैं।

साम्प्रतं पूर्ववदादित्रयेण वीतादित्रयेण वा किमिति व्याख्यानांतरं समर्थयितुं प्रत्यक्ष पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं चेति न्यायसूत्रस्य वाक्यभेदात्त्रिसूत्री कैश्चित् परिकल्पिता स्यात् तामनूद्य निराकुर्वन्नाहः—

इस समय पूर्ववत् (केवलान्वयी) शेषवत् (केवलव्यतिरेकी) और सामान्यतो दृष्ट (अन्वयव्यतिरेकी) इन तीनरूपकरके अथवा वीत, अवीत, और वीतावीत इन तीन भेदोंकरके कुछ भी दूसरे व्याख्यानको समर्थन करनेके लिये किन्हीं टीकाकारने न्यायसूत्रका उल्लेख कर यह कल्पना की है कि गौतमके बनाये हुये न्यायदर्शनका पांचवां सूत्र " **अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च** " इस सूत्रके वाक्योंका भेद हो जानेसे १ पूर्ववत् शेषवत् २ शेषवत् सामान्यतो दृष्ट, ३ पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्ट, इस प्रकार एक सूत्रमें योगविभागकर तीन सूत्रोंका समाहार किन्हीं विद्वानों द्वारा कल्पित किया जा सकता है। उस कल्पनाका अनुवाद कर निराकरण करते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट कथन करते हैं।

पूर्वं प्रसज्यमानत्वात् पूर्वः पक्षस्ततोपरः।
शेषः सपक्ष एवेष्टस्तद्योगो यस्य दृश्यते ॥ १९६ ॥
पूर्ववच्छेषवत्प्रोक्तं केवलान्वयिसाधनम्।
साध्याभावे भवत्तच्च त्रिरूपान्न विशिष्यते ॥ १९७ ॥

पूर्ववत् शब्दमें पूर्व और मतुप् ये दोपद हैं। पूर्वमें प्रसंग प्राप्त हो रहा होनेसे पूर्वका अर्थ पक्ष है। उससे भिन्न शेषका अर्थ अन्वयदृष्टान्तरूप सपक्ष ही माना गया है। मतुप्का अर्थ योग है। उन पूर्व यानी पक्ष और शेष यानी सपक्ष इन दोनोंका जिस हेतुके योग देखा जाता है, वह पूर्ववत् शेषवत् अनुमान अच्छे ढंगसे कहा गया है। इस अनुमानका हेतु केवलान्वयी है। जैसे कि सभी पदार्थ कथन करने योग्य हैं, क्योंकि प्रमेय हैं। जैनोंके यहां कथन करने योग्य पदार्थोंसे भिन्न पडा हुआ अनंतानंतगुणा अनभिलाप्य पदार्थ माना गया है। किन्तु नैयायिकोंके यहां सम्पूर्ण पदार्थोंका ईश्वरकी इच्छारूप संकेत होकर निरूपण करना इष्ट किया है। अतः यहां केवलअन्वय ही मिलनेसे पूर्ववत् शेषवत्का अर्थ केवलान्वयि है। यह प्रमेयत्व हेतु पक्ष और सपक्षमें वर्त रहा है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यदि आपका यह हेतु साध्यके अभाव होनेपर नहीं रहता है, तब तो बौद्धोंके त्रिरूपहेतुसे कोई भी विशेषता नहीं रखता है। अर्थात् पक्ष और सपक्षमें वृत्ति तो आपने मान ही लिया। किन्तु विपक्षमें व्यावृत्ति होना भी पीछेसे विकल्प उठानेपर मान लिया है। अतः त्रिरूपका खण्डन करनेसे पूर्ववत् शेषवत् हेतुका भी खण्डन हो जाता है। व्यर्थ परिश्रम क्यों करें।

यस्य वैधर्म्यदृष्टांताधारः कश्चन विद्यते।
तस्यैव व्यतिरेकोस्ति नान्यस्येति न युक्तिमत् ॥ १९८ ॥
ततो वैधर्म्यदृष्टान्ते नेष्टोवश्यमिहाश्रयः।
तदभावेप्यभावस्याविरोधाद्धेतुतद्वतोः ॥ १९९ ॥

नैयायिक कहते हैं जिस हेतुका वैधर्म्य दृष्टान्तरूप कोई आधार (व्यतिरेक व्याप्तिके साधनेका सहारा) विद्यमान है, उस हेतुके ही साध्यके न रहनेपर हेतुका न रहनारूप व्यतिरेक माना जाता है। अन्य केवलान्वयी हेतुओंका व्यतिरेक नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो युक्तियोंसे सहित नहीं है। क्योंकि तिस कारण वैधर्म्यदृष्टान्तमें आश्रय अवश्य होना ही चाहिये। ऐसा यहां इष्ट नहीं किया है। हेतु और उससे सहित साध्य इन दोनोंका उस साध्यके न होनेपर हेतुके अभाव हो जानेका कोई विरोध नहीं है। खरविषाण, वन्ध्यापुत्र, आदिमें व्यतिरेक बना लिया जाता है। वे भले ही वस्तुभूत नहीं हों। तभी तो व्यतिरेक अच्छा बन गया।

केवलव्यतिरेकीष्टमनुमानं न पूर्ववत्।
तथा सामान्यतो दृष्टं गमकत्वं न तस्य वः ॥ २०० ॥

केवलान्वयीका विचारकर अब केवलव्यतिरेकीका विचार करते हैं कि जिस प्रकार केवल व्यतिरेकव्याप्तिको रखनेवाले अनुमानको पूर्ववत् अनुमान नहीं इष्ट करते हो और वह अविनाभाव

नहीं होनेसे साध्यका बोधक नहीं है। उसी प्रकार तुम्हारे यहां सामान्यतो दृष्ट नामका, अन्वय-व्यतिरेकवाला वह हेतु भी साध्यका गमक न होने लेगा।

तद्विरुद्धे विपक्षेऽस्यासत्त्वे व्यवसितेपि हि।
तदभावेत्वनिर्णीते कुतो निःसंशयात्मता ॥ २०१ ॥
यो विरुद्धोत्र साध्येन तस्याभावः स एव चेत्।
ततो निवर्तमानश्च हेतुः स्याद्वादिनां मतम् ॥ २०२ ॥

उस साध्यवान्से विरुद्ध विपक्षमें इस हेतुका अविद्यमानपना निर्णीत होनेपर भी उस साध्यके अभाव होनेपर हेतुके अभावका जबतक केवलान्वयी हेतुमें निर्णय नहीं हुआ है, तो तबतक संशयस्वरूपसे रहितपना भला कैसे कहा जा सकता है? यदि नैयायिक यों कहें कि जो यहां साध्यसे विरुद्ध है, वही तो उस साध्यका अभाव है। यों कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि उस विरुद्धसे निवृत्त हो रहा हेतु मान लिया यही तो स्याद्वादियोंका सिद्धान्त है। यहांतक हेतुके दो भेदोंका विचार कर दिया गया है।

अन्वयव्यतिरेकी च हेतुर्यस्तेन वर्णितः।
पूर्वानुमानसूत्रेण सोप्येतेन निराकृतः ॥ २०३ ॥

उन नैयायिकों द्वारा पहिलेके अनुमानसूत्रकरके जो "पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्ट स्वरूप अन्वयव्यतिरेकवाले हेतुका वर्णन किया गया है, वह भी इस उक्त कथन करके खण्डित कर दिया गया है। जैसे कि पर्वतो वह्निमान् धूमात्, यहां "हेतुमन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगि साध्यसामानाधिकरण्य "रूप अन्वयव्याप्ति है। हेतुमान्में रहनेवाला जो अभाव उसका प्रतियोगी नहीं बननेवाले साध्यके साथ हेतुका समानाधिकरणपना अन्वय है। प्रसिद्ध उदाहरण यह है कि धूमवान् आधार पर्वत, रसोईघर, अधियाना, आदि हैं। उनमें अग्निका अभाव तो रहता नहीं है। हां, जल, मणि, घोडा, सिंह आदिका अभाव है। इन अभावोंके षष्ठीविभक्तिवाले प्रतियोगी जल आदिक हैं। अप्रतियोगी वह्नि है। उसका समानाधिकरणपना धूममें है। अतः धूमहेतुमें अन्वय व्याप्ति है। यहां रसोईघर आदिक अन्वयदृष्टान्त हैं। तथा "साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपव्यतिरेकव्याप्ति भी धूमहेतुमें विद्यमान है। यहां साध्याभाव पदसे लिया वह्निका अभाव उसका व्यापक होरहा अभाव धुआंका अभाव है। क्योंकि थोडे देशमें रहनेवाले व्याप्यका अभाव अधिकदेशमें रह जानेके कारण व्यापक हो जाता है। और अधिक देशमें रहनेवाले व्यापकका अभाव थोडे देशमें वर्तनेसे व्याप्य हो जाता है। जैसे कि शीशम व्याप्य है, और वृक्ष व्यापक है, किन्तु नीम, आम, जामुनके पेडोंमें शीशोंपनका अभाव है, वृक्षपनका अभाव नहीं है। अतः शीशोंका

अभाव व्यापक है, और वृक्षका अभाव व्याप्य है। प्रकरणमें वह्निके अभावका व्यापक धुआंका अभाव है। जिसका अभाव किया गया है, वह उस अभावका प्रतियोगी होता है। अतः धूम प्रतियोगी हो गया। इस प्रकार धूआं अन्वयव्यतिरेकवाला हेतु हो सकता है। यह भी त्रैरूप्यके सदृश संदिग्ध हुआ। निःसंशयपना तो अन्यथानुपपत्तिसे ही प्राप्त होता है।

कार्यादित्रयवत्तस्मादेतेनापि त्रयेण किम्।
भेदानां लक्षणानां च वीतादित्रितयेन च ॥ २०४ ॥

जैसे कि कार्यहेतु, कारणहेतु, और अकार्यकारणहेतुओंका इस उक्त कथनसे निवारण हो जाता है, धुआं, घट आदि हेतुओंसे अग्नि, कुशूलरूप साध्योंका ज्ञान होनेपर कार्यसे कारणका ज्ञान माना गया है, और छत्र, कुशूल (मट्टीकी चाकपर ऊंची उठाई हुई घटकी पूर्व अवस्था) आदि कारणहेतुओंसे छाया, घट, आदि कार्योंका अनुमान करना कारणोंसे कार्योंका अनुमान है। तथा जो कार्य अथवा कारण भी नहीं हैं, उन हेतुओंसे कार्यकारणोंसे भिन्न हो रहे साध्योंका ज्ञान करना अकार्यकारण हेतुसे उत्पन्न हुआ अनुमान है। जैसे कृत्तिकाके उदयसे पूर्व कालमें उग चुके भरणी उदय या उत्तरकालमें उदय होनेवाले शकट उदयका ज्ञान कर लेना है। अथवा शब्दमें परिणामीपन साधनेके लिये दिया गया हेतु कृतकपना अकार्यकारण हेतु है। तिस कारण हेतुओंके इन तीन भेदोंके करनेसे और उनके लक्षणोंके तीन भेद करनेसे क्या लाभ निकला? अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं सिद्ध हुआ। अथवा कार्य, आदि तीन भेदोंके समान इन पूर्ववत् आदि हेतुके भेदों और लक्षणोंसे कोई फल नहीं सधता है। तथा वीत, अवीत, और वीतावीत इन तीन भेदवाले हेतु करके भी कोई लाभ नहीं हुआ। तथोपपत्ति यानी साध्यके रहनेपर ही हेतुका ठहरनारूप अन्वयव्याप्तिसे विशिष्ट हुये हेतुको वीत कहते हैं। जैसे कि घट, पट, आदिक पदार्थ (पक्ष) सत् हैं, (साध्य), प्रमेय होनेसे (हेतु) और जिस हेतुमें " **साध्याभाववदवृत्तित्व** " साध्याभाववाले विपक्षमें हेतुका नहीं रहनास्वरूप व्यतिरेकव्याप्ति केवल पायी जाती है, वह अवीत है। जैसे कि जीवितशरीर (पक्ष) आत्माओंसे सहित हैं। (साध्य), प्राण आदि सहितपना होनेसे (हेतु)। तथा जिस हेतुमें अन्वयव्यतिरेक दोनों घटजाते हैं, वह वीतावीत है। जैसे कि शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य), कृतक होनेसे (हेतु), यहां " प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये यत्संबंधावच्छिन्नत्व यद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयाभावस्तेन संबन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नस्य तद्धेतुव्यापकत्वं व्यापकसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः " यह व्याप्तिका लक्षण घट जाता है। वस्तुतः यह कहना है कि अन्यथानुपपत्तिरूप व्याप्ति ही हेतुका प्राण है। अन्य किसीसे भी किसी विशेषप्रयोजनकी सिद्धि नहीं है। तथा संयोगी, समवायी, एकार्थसमवायी और विरोधी इन चार भेदों आदिसे भी कोई प्रयोजन नहीं सधता है।

पूर्ववच्छेषवत्केवलान्वयिसाधनं यथावयवावयविनौ गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावंतौ जातिजातिमंतौ वा परस्परतो भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् सह्यविंध्यवदिति तत्साध्याभावेपि यदि सत्तदानैकांतिकमेव। अथासत्कथं न व्यतिरेक्यपि ? साध्याभावे साधनस्याभावो हि व्यतिरेकः, स चास्यास्तीति तदा केवलान्वयिलिंगं त्रिरूपादविशिष्टत्वात्।

नैयायिकों द्वारा माने गये हेतुओंका विवरण करते हैं। तिनमें केवल अन्वयव्याप्तिको धारनेवाला हेतु तो पहिला पूर्ववत् शेषवत् नामका है। जैसे कि अवयव और अवयवी, गुण और गुणी अथवा क्रिया और क्रियावान्, तथा जाति और जातिमान्, ये पदार्थ (पक्ष) परस्परमें एक दूसरेसे भिन्न हैं (साध्य) ज्ञान द्वारा न्यारा न्यारा प्रतिभास हो जानेसे (हेतु) सह्य और विंध्य पर्वतके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार नैयायिकोंके द्वारा माने गये पूर्ववत् शेषवत् नामके हेतुमें हम जैन यह पूछते हैं कि वह केवलान्वयी हेतु यदि साध्यके नहीं रहनेपर भी कहीं विद्यमान रहता है, तब तो व्यभिचारी ही हुआ और वह भिन्नप्रतिभासपना हेतु यदि साध्यका अभाव रहनेपर भी नहीं विद्यमान रहता है तो भला वह साधनव्यतिरेकी भी क्यों नहीं होगा ? अर्थात् नैयायिकोंसे माना गया केवलान्वयी हेतु भी व्यतिरेक व्याप्तिको धारनेवाला बन गया। क्योंकि साध्यके नहीं रहनेपर नियमसे हेतुका नहीं रहना ही व्यतिरेक माना गया है। और वह व्यतिरेक इस भिन्नप्रतिभासत्व हेतुका विद्यमान है, तब तो इस प्रकार नैयायिकों द्वारा माना गया केवलान्वयी हेतु बौद्धोंके तीन रूपवाले हेतुसे कोई विशेषता नहीं रखता है। भावार्थ—केवल अन्वयव्याप्तिको ही रखनेवाला माना गया हेतु व्यतिरेकव्याप्तिको भी धारनेवाला हो गया। ऐसी दशामें नैयायिकों द्वारा हेतुके पूर्ववत्शेषवत् (केवलान्वयी) १ पूर्ववत् सामान्यतो दृष्ट (केवलव्यतिरेकी) २ पूर्ववत्शेषवत् सामान्यतो दृष्ट (अन्वयव्यतिरेकी) ३ हेतुके ये तीन भेद करना व्यर्थ हुआ। क्योंकि केवलान्वयी और अन्वयव्यतिरेकीमें कोई अन्तर नहीं रहा। त्रैरूप्यके समान यहां भी व्यभिचारकी शंका बनी रहती है।

वैधर्म्यदृष्टांताधाराभावान्नास्य व्यतिरेक इति चेन्नेदं युक्तिमत्, तदभावेपि साध्याभावप्रयुक्तस्य साधनाभावस्याविरोधात्। न ह्यभावे कस्यचिदभावो विरुध्यते खरविषाणाभावे गगनकुसुमाभावस्य विरोधप्रसंगात् सर्वत्र वैधर्म्यदृष्टांतेधिकरणस्यावश्यंभावितया निष्टत्वाच्च।

यदि नैयायिक यों कहें कि इस भिन्नप्रतिभासत्व हेतुका कोई वैधर्म्यदृष्टान्तरूप आधार नहीं है। इस कारण व्यतिरेक नहीं घटता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका यह कहना तो युक्तिसहित नहीं है। क्योंकि उस वैधर्म्यदृष्टान्तके न होनेपर भी साध्यका अभाव रहनेपर प्रयुक्त किया गया साधनके अभावका कोई विरोध नहीं है। किसी एक विवक्षित पदार्थके अभाव होनेपर किसी एक पदार्थका अभाव होना सर्वथा विरुद्ध नहीं हो रहा है। अन्यथा खरविषाणके अभाव

होनेपर आकाशपुष्पके अभावका विरोध होजानेका प्रसंग आ जावेगा। बात यह है कि सभी वैधर्म्य दृष्टांतोंमें अधिकरणका आवश्यकरूपसे होनापन इष्ट नहीं किया है। अर्थात् पर्वत वह्निवाला है, धूम होनेसे, यहां वैधर्म्यदृष्टान्त सरोवर मिल जाता है, किन्तु सम्पूर्ण पदार्थ अनेक धर्मस्वरूप हैं, सत् होनेसे, यहां अश्वविषाणके वैधर्म्यदृष्टान्त होते हुये भी वस्तुभूत अश्वविषाणरूप आधार विद्यमान नहीं है। फिर भी वैधर्म्यदृष्टान्त वह मान लिया गया है।

किं चेदं भिन्नप्रतिभासत्वं यदि कथञ्चित्तदान्यथानुपपन्नत्वादेव कथञ्चिद्भेदसाधनं नान्वयित्वात् द्रव्यं गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायप्रागभावादयः प्रमेयत्वात् पृथिव्यादि वदित्येतस्यापि गमकत्वप्रसंगात्। धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वान्नेदं गमकमिति चेत्, तर्ह्यबाधितविषयत्वमपि लिंगलक्षणं तच्चान्यथानुपपन्नत्वमेवेत्युक्तं।

एक बात हम नैयायिकोंसे पूछते हैं कि यह गुणगुणी आदिकोंमें सर्वथा भेदको साधनेवाला भिन्न प्रतिभासत्व हेतु यदि कथंचित न्यारा न्यारा प्रतिभास होनारूप है, तब तो अन्यथानुपपत्ति होनेसे ही गुण, गुणी, क्रिया, क्रियावान, आदिमें कथंचित् भेदको साध देवेगा, जो कि हम जैनोंको इष्ट ही है। आत्मा ज्ञान, या चलना चलनेवाले, आदिमें कथंचित् भेद हमने स्वीकार किया है। हां, नैयायिकोंके विचार अनुसार केवलान्वयीपनेसे सर्वथा भेदको साधना आवश्यक न हुआ, फिर भी यदि अन्वयसहितपनेसे ही हेतु साध्यका ज्ञापक माना जावेगा तो गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और प्रागभाव, ध्वंस, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव ये सम्पूर्ण भाव, अभाव पदार्थ (पक्ष) द्रव्यस्वरूप हैं (साध्य), प्रमेय होनेसे (हेतु), जैसे कि पृथिवी, जल, तेज, आदिक पदार्थ द्रव्य माने गये हैं (अन्वयदृष्टान्त), इस अनुमानमें दिये गये प्रमेयत्व हेतुको भी अन्वयदृष्टांतवाला होनेसे ज्ञापकपनेका प्रसंग हो जावेगा। नैयायिक या वैशेषिकोंने गुण, कर्म, आदिमें द्रव्यपना इष्ट नहीं किया है। इसपर नैयायिक यदि यों कहें कि गुण, कर्म आदिकरूप पक्षको ग्रहण करनेवाले प्रमाणसे बाधित हो जानेके कारण कालात्ययापदिष्ट (बाधित) हो जानेसे यह हेतु गमक नहीं है, अर्थात् जो भी कोई प्रमाण गुण आदि पक्षको जानेगा वह द्रव्यसे भिन्नरूप ही उनको जानेगा तो फिर ऐसी दशा होनेपर गुण आदिमें द्रव्यपना साधना बाधित है। अतः प्रमेयत्व हेतु बाधित हेत्वाभास हुआ, इस प्रकार नैयायिकोंके कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो अबाधित विषयपना भी हेतुका लक्षण बन गया और वह ठीक अबाधितपना अन्यथानुपपत्तिरूप ही तो है। इस बातको हम पूर्वमें कह चुके हैं।

सत्प्रतिपक्षत्वान्नेदं गमकत्वमिति चेत्तर्हि असत्प्रतिपक्षत्वं हेतुलक्षणं तदप्यविनाभाव एवेति निवेदितं ततोन्यथानुपपन्नत्वाभावादेवेदमगमकं।

गुण, कर्म, आदिमें द्रव्यपनका निषेध साधनेवाला प्रतिपक्षी हेतु गुणवत्त्व या कर्मवत्त्व विद्यमान है। अतः सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो जानेसे यह प्रमेयत्व हेतु गमक नहीं है। इस प्रकार

नैयायिकोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो सत्प्रतिपक्षरहितपना भी हेतुका लक्षण बन गया, जो कि नैयायिकोंने इष्ट किया है। किन्तु वह भी अविनाभाव ही हुआ, इस बातका निवेदन भी हम कर चुके हैं। तिस कारण अन्यथानुपपत्ति न होनेके कारण ही यह प्रमेयत्व हेतु साध्यका गमक नहीं बना। यहांतक कथञ्चित् पक्षका विचार किया। अब दूसरे सर्वथा पक्षका विचार करते हैं।

एतेन सर्वथा भिन्नप्रतिभासत्वं भेदसाधनमगमकमुक्तं कालात्ययापदिष्टत्व-सत्प्रतिपक्षत्वाविशेषात्। अवयवादीनां हि सत्त्वादिना कथंचिदभेदः प्रमाणेन प्रतीयते सर्वथा तद्भेदस्य सकृदप्यनवभासनात्। तत एवासिद्धत्वान्नेदं गमकं सिद्धस्यैवान्यथानुपपत्तिसंभवात्।

इस उक्त कथनकरके द्वितीय विकल्प अनुसार सर्वथा भिन्न प्रतिभासीपना हेतु भी गुण, गुणी, आदिके भेदको साधनेमें गमक नहीं है। यह बात कही जा चुकी है। क्योंकि बाधितपना और सत्प्रतिपक्षपना ये दोनों दोष अन्तररहित होते हुये आ जाते हैं। अर्थात् कथंचित् भिन्न प्रतिभासीपन और सर्वथा भिन्नप्रतिभासीपन ये दोनों ही हेतु सर्वथा भेदको साधनेमें बाधित और सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हैं। अवयव अवयवी आदिकोंका सत्त्व, वस्तुत्व आदि हेतुओंसे कथंचित् अभेद हो रहा प्रमाणों द्वारा प्रतीत हो रहा है। सभी प्रकार उनका भेद एक बार भी अद्यावधि नहीं भासता है। तिस ही कारण असिद्ध हेत्वाभास होनेसे यह भिन्न प्रतिभासत्वहेतु सर्वथा भेदका गमक नहीं है। पक्षमें सिद्ध हो रहे ही हेतुकी अन्यथानुपपत्ति भले प्रकार सम्भवती है। यहांतक नैयायिकोंके पहिले हेतुका परामर्श हो चुका।

तथा पूर्ववत्सामान्यतोऽदृष्टं केवलव्यतिरेकिलिंगं विपक्षे देशतः कात्स्न्र्यतो वा तस्याद्दष्टत्वात्। सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात् यन्न सात्मकं तन्न प्राणादिमत् दृष्टं यथा भस्मादि न च तथा जीवच्छरीरं तस्मात्सात्मकमिति। तदेतदपि न परेषां गमकं। साध्यविरुद्धे विपक्षे अननुभूयमानमपि साध्याभावे विपक्षे स्वयमसत्त्वेनानिश्चयात् तत्र तत्र तस्य सत्त्वसंभावनायां नैकांतिकत्वोपपत्तेः।

तिसी प्रकार नैयायिकोंने दूसरे पूर्ववत् सामान्यतोऽदृष्टको केवलव्यतिरेकी हेतु माना है। क्योंकि सामान्यतो दृष्टमेंसे अकारका प्रश्लेश निकालकर विपक्षमें एक देशसे अथवा सम्पूर्णरूपसे रहता हुआ वह केवलव्यतिरेकी हेतु नहीं देखा गया है। अतः अन्वयदृष्टान्तके न मिलनेसे यह हेतु अकेले व्यतिरेकको ही धारनेवाला कहा जाता है। जैसे कि यह जीवित हो रहा शरीर (पक्ष) आत्मासे सहित है (साध्य), प्राण, वायु, नाडी चलना, उष्णता आदिसे सहित होनेसे (हेतु), जो पदार्थ आत्मासे सहित नहीं है, वे प्राण आदिसे सहित नहीं देखे गये हैं। इस व्याप्तिके भस्म, डेल, आदि दृष्टान्त हैं, (व्यतिरेक उदाहरण), तिस

प्रकारका प्राण आदिसे रहित जीवित शरीर नहीं है (उपनय)। तिस कारण जीवितशरीर आत्मासे सहित है (निगमन)। यह केवलव्यतिरेकी हेतुका उदाहरण प्रसिद्ध है। सो यह भी उन न्यारे नैयायिकोंके यहां माना गया " पूर्ववत् सामान्यतोऽदृष्ट " हेतु साध्यका बोधक नहीं हो सकता है। क्योंकि साध्यसे विरुद्ध हो रहे भस्म आदि विपक्षमें यद्यपि अनुमव नहीं किया जा रहा है, तो भी साध्याभावरूप विपक्षमें हेतुका स्वयं नहीं रहनेपनसे निश्चय नहीं हो रहा है। उन उन विपक्षोंमें उस हेतुके विद्यमान रहनेकी सम्भावना हो जाना माननेपर तो प्राणादिमत्त्व हेतु व्यभिचारी बन जावेगा।

साध्यविरुद्ध एव साध्याभावस्ततो निवर्तमानत्वाद्गमकमेवेदमिति चेत् तर्हि तदन्यथानुपपन्नत्वसाधनं साध्याभावसंभवानियमस्यैव स्याद्वादिभिरविनाभावस्येष्टत्वात् न पुनः केवलव्यतिरेकित्वान्नेदं क्षणिकं शब्दत्वाच्चित्तशून्यं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्वात् सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्येवमादेरपि गमकत्वप्रसंगात्।

इसपर यदि नैयायिक यों कहें कि साध्यसे विरुद्ध ही तो साध्याभावरूप विपक्ष है। उस विपक्षसे निवृत्त हो रहा होनेके कारण यह प्राणादिमत्त्व हेतु आत्मसहितपनेका गमक ही है। तब तो हम जैन कहेंगे कि वह केवलव्यतिरेकीपना हेतुकी अन्यथानुपपत्तिको साध रहा है। साध्यके अभाव होनेपर हेतुका नियमसे असम्भव होनेको ही स्याद्वादियोंने अविनाभाव अभीष्ट किया है। तब तो अन्यथानुपपत्तिसे ही हेतुका गमकपना सिद्ध हुआ। किन्तु फिर केवल व्यतिरेकीपनसे नहीं। यदि अन्यथानुपपत्तिका त्यागकर कोरे केवलव्यतिरेकीपनसे ही हेतुको गमक माना जायगा तो यह (पक्ष) क्षणिक नहीं है (साध्य), शब्दपना होनेसे (हेतु), इस अनुमानका शब्दत्व हेतु भी गमक हो जाओ। किन्तु नैयायिकोंने शब्दको दो क्षणतक ठहरनेवाला क्षणिक माना है " योग्यविमुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्त्तियोग्यविभुविशेषगुणनाश्यत्वनियमात् ", पहिले क्षणमें शब्द उत्पन्न होता है। दूसरे क्षणमें ठहरता है। तीसरे क्षणमें नष्ट हो जाता है। हां, अपेक्षाबुद्धिका तीन क्षणतक ठहरना इष्ट किया है। अतः नैयायिकोंके यहां क्षणिकत्वका अभाव साधनेके लिये दिया गया शब्दत्व हेतु सद्धेतु नहीं माना गया है। भले ही वह बिजली बकला आदि विपक्षोंमें नहीं ठहरे तथा जीवितशरीर (पक्ष) आत्मासे रहित है (साध्य), प्राण आदि करके विशिष्ट होनेसे (हेतु) और सम्पूर्णपदार्थ (पक्ष) क्षणिक हैं (साध्य) सत्‌रूप होनेसे (हेतु) इस प्रकारके अन्य भी छाया, अग्नि आदि हेतुओंको भी अपने साध्यकी ज्ञप्ति करानेपनका प्रसंग आवेगा। कौन रोक सकता है ?।

साध्याभावेऽप्यस्य सद्भावान्न साधनत्वमिति चेत् तर्ह्यन्यथानुपपत्तिबलादेव परिणामिना सात्मकत्वे प्राणादिमत्त्वं साधनं नापरिणामिना सर्वथा तदभावात्।

यदि नैयायिक यों कहें कि साध्यके न रहनेपर भी इन सत्त्व, प्राणादिमत्त्व, आदि हेतुओंका सद्भाव है, अतः ये समीचीन हेतु नहीं हैं, जैन कहते हैं कि इस प्रकार कहनेपर तो यही आया

कि अन्यथानुपपत्तिकी सामर्थ्यसे ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य–रूप परिणामसे युक्त हो रहे आत्माका सहितपना साधनेमें प्राणादिमत्त्व हेतु समीचीन है। हां, परिणमन करनेसे रहित सर्वथा कूटस्थ आत्मासे सहितपना जीवित शरीरमें प्राणादिमत्त्व हेतुकरके नहीं साधा जासकता है। क्योंकि अपरिणामी आत्मासे सहितपनके साथ प्राणादिमत्त्व हेतुकी उस अन्यथानुपपत्तिका अभाव है। अतः नैयायिकोंद्वारा माना गया हेतुका दूसरा भेद भी प्रतिष्ठित नहीं हो सका।

तथा पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टमन्वयव्यतिरेकिसाधनं, यथाग्निरत्र धूमादिति। तदपि केवल व्यतिरेकिणो योगोपगतस्य निराकरणादेव निराकृतं, साध्याभावासंभवनियमनिश्चयमंतरेण साधनत्वासंभवात्।

तथा तीसरा भेद अन्वय और व्यतिरेक दोनोंसे सहित हेतुको साधनेवाला "पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्ट" है। जैसे कि इस पर्वतमें आग है, धूम होनेसे, इस प्रयोगके धूम हेतुमें अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति दोनों बन जाती हैं। इस प्रकार वह तीसरा अन्वय व्यतिरेकी हेतु भी नैयायिकों द्वारा स्वीकार किये गये दूसरे केवलव्यतिरेकी हेतुका खण्डन कर देनेसे ही निराकृत कर दिया गया है। क्योंकि साध्यके न रहने पर हेतुका नहीं सम्भवनारूप नियमके निश्चय विना कोरे अन्वय या व्यतिरेकसे सद्धेतुपनेका असम्भव है।

तदनेन न्यायवार्तिकटीकाकारव्याख्यानमनुमानसूत्रस्य त्रिसूत्रीकरणेन प्रत्याख्यातं प्रतिपत्तव्यमिति लिंगलक्षणानामन्वयित्वादीनां त्रयेण पक्षधर्मत्वादीनामिव न प्रयोजनं।

तिस कारण इस उक्त कथन करके न्यायवार्त्तिककी टीका करनेवालेके उस व्याख्यानका खण्डन कर दिया गया समझलेना चाहिये, जो कि "अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च" इस गौतमके बनाये हुये अनुमानसूत्रका योगविभागकर तीन सूत्रोंके समुदाय कर देनेसे बखाना गया है। इस प्रकार हेतुके अन्वयसहितपन, व्यतिरेकसहितपन, और अन्वयव्यतिरेकसहितपन, लक्षणोंके तीन अवयवों करके नैयायिकोंके यहां कुछ भी प्रयोजन नहीं सधा, जैसे कि बौद्धोंके द्वारा माने गये पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व, विपक्षव्यावृत्ति, इन तीन रूपोंसे कोई प्रयोजन नहीं निकलता है।

नापि पूर्ववदादिभेदानां कार्यादीनामिव सत्यन्यथानुपपन्नत्वे तेनैव पर्याप्तत्वात्।

तथा पूर्ववत्, १ या शेषवत्, २ अथवा सामान्यतो दृष्ट ३ इन भेदोंके त्रय करके भी कोई फल नहीं है। जैसे कि कार्य और कारण तथा अकार्यकारण इन तीन भेदोंकरके कोई अभीष्ट सिद्ध नहीं होता है। एवं वीत, आदिकोंका कोई प्रयोजन नहीं है। हेतुमें अन्यथानुपपत्तिके होनेपर उससे ही संपूर्ण प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। अर्थात् अकेली अन्यथानुपपत्ति ही हेतुकी परिपूर्ण शक्ति है।

यदप्यत्रावाचि उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुरिति वीतलक्षणं लिंगं तत्स्वरूपेणार्थपरिच्छेदकत्वं वीतधर्म इति वचनात् तद्यथा—

और भी यहां जो यह कहा गया था कि उदाहरणके समानधर्मपनेसे साध्यको साधनेवाला हेतु है। इस प्रकार वीतनामक हेतुका लक्षण है। क्योंकि उस हेतुके स्वरूपकरके साध्यरूप अर्थकी ज्ञप्ति करा देनापन वीतहेतुका धर्म है, ऐसा मूलग्रन्थोंमें कहा गया है। उसीको उदाहरणपूर्वक स्पष्ट दिखलाते हैं कि—

अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वाद्घटवादिति शब्दरूपेणोत्पत्तिधर्मकत्वेनानित्यत्वार्थस्य परिच्छेदात्। तथोदाहरणवैधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुरित्यवीतलक्षणं परपक्षप्रतिषेधेनार्थपरिच्छेदने वर्त्तमानमवीतमिति वचनात्। तद्यथा—नेदं नैरात्मकं जीवच्छरीरम प्राणादिमत्त्वप्रसंगादिति। यदुभयपक्षसंप्रतिपन्नमप्राणादिमत्तन्निरात्मकं दृष्टं यथा घटादि न चेदमप्राणादिमज्जीवच्छरीरं तस्मान्न निरात्मकमिति निरात्मकत्वस्य परपक्षस्य प्रतिषेधनं जीवच्छरीरे सात्मकत्वस्यार्थपरिच्छित्तिहेतुत्वादिति न्यायवार्त्तिककारवचनात्।

शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य), उत्पत्ति नामके धर्मसे सहित होनेके कारण (हेतु), जैसे कि घडा। यहां शब्दके स्वरूप हो रहे उत्पत्ति धर्मसहितपने करके अनित्यपनारूप साध्य अर्थकी ज्ञप्ति की गई है। यह पहिले वीतका उदाहरण हुआ। तथा उदाहरणके विधर्मापनेसे साध्यको साधनेवाला हेतु है। यह अवीत हेतुका लक्षण है। क्योंकि साध्यसे न्यारे परपक्षका निषेध करके साध्य अर्थकी ज्ञप्ति करनेमें तत्परता हेतु अवीत है। इस प्रकार ग्रन्थोंमें कहा गया है। उसीको उदाहरण द्वारा कहते हैं कि यह जीवित शरीर (पक्ष) आत्मरहित नहीं है (साध्य)। अन्यथा प्राणादिसहितपनके अभावका प्रसंग हो जावेगा (हेतु)। इस प्रकार निषेधपूर्वक साध्यकी विधि समझाई गई है। न्यायवार्त्तिकको बनानेवाले विद्वान्ने भी ऐसा कथन किया है कि जो वादी, प्रतिवादी, इन दोनोंके पक्ष अनुसार भले प्रकार प्राण आदि युक्तसे भिन्न जान लिया गया है, वह आत्मासे रहित देखा गया है। जैसे कि घडा, रेत, आदि पदार्थ हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त), यह जीवितशरीर प्राणादिमान्से भिन्न नहीं है (उपनय), तिस कारण आत्मरहित नहीं है (निगमन)। इस प्रकार आत्मरहितपनारूप परपक्षका निषेध करना जीवितशरीरमें आत्मसहितपनरूप अर्थकी परिच्छित्तिका कारण होनेसे अवीत हेतु माना गया है। यहांतक दूसरे अवीतका निरूपण किया।

तथोदाहरणसाधर्म्यवैधर्म्याभ्यां साध्यसाधनमनुमानमिति वीतावीतलक्षणं स्वपक्षविधानेन परपक्षप्रतिषेधेन चार्थपरिच्छेदहेतुत्वात्। तद्यथा—साग्निः पर्वतोयमनाग्निर्न भवति धूमवत्त्वादन्यथा निर्धूमत्वप्रसंगात्। धूमवान्महानसः साग्निर्दृष्टोऽनग्निस्तु महानसो निर्धूम इति तदेतद्वीतादित्रितयं यदि साध्यभावासंभूष्णु तदान्यथानुपपत्तिबलादेव गमकत्वं न पुनर्वीतादित्वेनैवेत्यन्यथानुपपत्तिविरहेपि गमकत्वप्रसंगात्।

तथा उदाहरणके सधर्मापन और विधर्मापनसे साध्यकी ज्ञप्ति सधादेनेवाला अनुमान होता है। इस प्रकार वीतावीत तीसरे हेतुका लक्षण किया गया है। अपने पक्षकी विधिकरके और पर

पक्षका निषेध करके अर्थकी परिछित्तिका हेतु होनेसे वीतावीत हेतु माना जाता है। उसीका उदाहरण कहते हैं कि यह पर्वत अग्निसहित है (विधि) अग्निरहित नहीं है (प्रतिज्ञा), धूमसहित होनेसे (हेतु) अन्यथा यानी पर्वतको अग्निरहित माना जावेगा तो धूमरहितपनेका प्रसंग हो जावेगा। देखिये, रसोईघर धूमसहित होता हुआ अग्निसहित ही देखा गया है। अग्निसे रहित हो रहा रसोई घर तो धूमरहित देखा जाता है (निषेध)। इस प्रकार वीतावीत हेतु सिद्ध हुआ। सो यह वीत, अवीत, और वीतावीतका त्रितय भी यदि साध्य सद्भावके अभाव होनेपर नहीं सम्भवनेकी टेव रखता है, तब तो अन्यथानुपपत्तिकी सामर्थ्यसे ही इनमें गमकपना आया। फिर वीतपन, अवीतपन, आदि करके ही कुछ प्रयोजन नहीं सधा। यदि वीतपन आदि करके ही सद्धेतुपना मान लिया जायगा तो अन्यथानुपपत्तिके न होनेपर भी मित्रातनयत्व आदि हेत्वाभासोंको वीत या अवीतपनेकरके गमकपनेका प्रसंग हो जावेगा। अतः वीत आदिका कहा गया लक्षण या भेद करना प्रशस्त नहीं है।

यदि पुनरन्यथानुपपत्तिर्वीतादित्वं प्राप्य हेतोर्लक्षणं तदा "देवतां प्राप्य हरीतकी विरेचयते" इति कस्यचित्सुभाषितमायातं। हरीतक्यन्वयव्यतिरेकानुविधानाद्विरेचनस्य न स्वदेवतोपयोगिनी तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्तस्येति प्रकृतेपि समानं। हेतोरन्यथानुपपत्तिसदसत्त्वप्रयुक्तत्वाद्गमकत्वागमकत्वयोरिति न किंचिद्वीतादित्रितयेन लक्षणानां भेदानां वा सर्वथा गमकत्वानंगत्वात् सर्वभेदासंग्रहाच्च ॥

यदि फिर प्रतिवादियोंका यह कहना होय कि वीत आदिपनेको प्राप्त होकर अन्यथानुपपत्ति तो हेतुका लक्षण बनसकता है। स्वतंत्र अन्यथानुपपत्ति हेतुका लक्षण नहीं है। आचार्य कहते हैं कि तब तो यह परिभाषा चरितार्थ हुई कि देवताको प्राप्त होकर हर्र रेचन (दस्तावर) कराती है। देवताको प्राप्त नहीं हुई हर्र कुछ नहीं करेगी। इस प्रकार किसीका विनोदयुक्त या श्रद्धापूर्ण भाषण मान लिया आगया कहना चाहिये। भावार्थ—शक्ति दुर्गा आदि देवताओंके किसी अन्धभक्तका विचार है कि सम्पूर्ण कार्योंको देवता करते हैं। अन्नदेवता, जलदेवता ही गेहूं, जौ, चना, पानी, ठंडाई, आदिमें प्रविष्ट होकर भूंख, प्यासको दूर करते हैं। रेलगाडीको चलानेवाले इञ्जनमें भी धुआं निकालनेवाले भोंपूके पीछे महादेवकी पिण्डी स्थापित है। वही एंजिनको चलाती है। मोटरकारमें भी देवता घुसा हुआ है। घडी, कुतुबनुमा, थरमा मेटर (तापमापकयंत्र) बिजलीघर आदिमें भी देवता कार्य करते हैं, इत्यादि अज्ञतापूर्ण किंवदन्तियोंको कहनेवालोंने पदार्थोंकी स्वतंत्रशक्ति जैसे नहीं मानी है, उसी प्रकार इस प्रतिवादीने अन्यथानुपपत्तिको हेतुकी शक्ति न मानकर वीतपन अवीतपन आदिको ही हेतुका प्रधानस्वरूप स्वीकार किया है। अन्यथानुपपत्तिको गौणरूप दिया गया है। जिस प्रकार हरड, ऐंजन, कुतुबनुमा आदिमें कोई देवता नहीं बैठा है, सम्पूर्ण पदार्थ अपनी गांठकी शक्तियोंसे अर्थक्रियाओंको कर रहे हैं, अन्यथानुपपत्ति भी हेतुका स्वरूप होती हुई हेतुको साध्यका गमक बना देती है। मध्यमें वीत आदिपनेको डालनेकी आवश्य-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कता नहीं है। यदि सांख्य यों कहें कि विशेषरूपसे कई वार हंगनेका हरडके साथ अन्वयव्यतिरेक बन रहा है, अपना इष्टदेवता तो रेचन करानेमें उपयोगी नहीं है। क्योंकि उस देवताके साथ उस रेचनक्रियाका अन्वयव्यतिरेक इस ढंगसे नहीं बनता है कि हर्रमें देवताके होनेपर मल निकल जाता है, और हरडमें देवताके न होनेपर रेचन नहीं होता है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकका अनुविधान नहीं करना तो प्रकरणप्राप्त हेतुमें भी समानरूपसे विद्यमान है। अर्थात् वीतपन आदिके होनेपर हेतुका गमकपना और वीतपन आदिके नहीं होनेपर हेतुका नहीं गमकपना यह अन्वयव्यतिरेक नहीं बनता है। हां, अन्यथानुपपत्तिके साथ अन्वयव्यतिरेक बन जाता है। अन्यथानुपपत्तिकी सत्तासे हेतुका गमकपना प्रयुक्त किया गया है। और अन्यथानुपपत्तिकी असत्तासे हेतुका अगमकपना प्रयोजन रखता है। इस प्रकार हेतुके वीत आदि तीन अवयवोंसे कुछ प्रयोजन नहीं निकला तथा हेतुके लक्षण और भेदोंके मनगढन्त स्वरूपोंसे कुछ लाभ नहीं है। क्योंकि वे सभी प्रकारोंसे हेतुके गमकपनेके प्रयोजक अंग नहीं हैं। तथा यह भी बात है कि उन पूर्ववत् आदि या वीत आदि भेदोंमें सम्पूर्ण हेतुओंके भेदोंका समावेश भी नहीं हो पाता है।

कारणात्कार्यविज्ञानं कार्यात्कारणवेदनम्।
अकार्यकारणाच्चापि दृष्टात्सामान्यतो गतिः ॥ २०५ ॥
तादृशी त्रितयेनापि नियतेन प्रयोजनम्।
किमेकलक्षणाध्यासादन्यस्याप्यनिवारणात् ॥ २०६ ॥

पूर्ववत् आदिका ही व्याख्यान कोई इस प्रकार करते हैं अथवा स्वतंत्ररूपसे कार्य, कारण, अकार्यकारण ये तीन हेतुके भेद न्यारे माने गये हैं। तिनमें कारणसे कार्यका विज्ञान होना, जैसे कि छत्रसे छायाको जान लेना १ और कार्यसे कारणका ज्ञान करना, जैसे धुयेंसे आगको पहिचानना २ तथा कार्यकारणभावसे रहित किसी पदार्थसे नियत हो रहे, दूसरे कार्यकारण भिन्न पदार्थकी ज्ञप्ति हो जाना, जैसे कि कृत्तिकोदयसे मुहूर्त पीछे होनेवाले रोहिणीके उदयको जान लेना ३। ये भी सामान्यसे देखे हुये पदार्थोंद्वारा तिसप्रकार अन्य पदार्थोंकी ज्ञप्ति है। यहां भी इन तीनोंसे कोई प्रयोजन नहीं निकलता है। हां, यदि अन्यथानुपपत्तिरूप नियमसे नियत हो रहे उक्त तीन हेतुओंसे साध्यकी ज्ञप्ति होना इष्ट करोगे, तब तो एक अन्यथानुपपत्तिरूप लक्षणके अधिष्ठित हो जानेसे ही हेतुका गमकपना निर्णीत हुआ। दूसरा लाभ यह भी है कि अन्य हेतुओंका भी संग्रह हो जाता है। अनुपलब्धि, उत्तरचर, आदि हेतुओंका निवारण नहीं किया जा सकता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ननु च यवबीजसंतानोत्थं च कारणं वानुभयं वा स्यात् सर्वं वस्तुकार्यं वा नान्या गतिरस्ति यतोऽन्यदपि लिंगं संभाव्यतेऽन्यथानुपपन्नत्वाध्यासादिति चेन्न, उभयात्मनोपि वस्तुनो भावात्। यथैव हि कारणात्कार्येऽनुमानं वृष्ट्युत्पादनशक्तयोमी मेघा गंभीरध्वानत्वे चिरप्रभावत्वे च सति समुन्नतत्वात् प्रसिद्धैवंविधमेघवदिति। कार्यात्कारणे वह्निरत्र धूमान्महानसवदिति। अकार्यकारणादनुभयात्मनि ज्ञानं मधुररसमिदं फलमेवंरूपत्वात्तादृशान्य फलवदिति। तथैवोभयोत्मकात् लिंगादुभयात्मके लिंगिनि ज्ञानमविरुद्धं परस्परोपकार्योपकारकयोरविनाभावदर्शनात्, यथा बीजांकुरसंतानयोः। न हि बीजसंतानोऽकुरसंतानाभावे भवति, नाप्यंकुरसंतानो बीजसंतानाभावे यतः परस्परं गम्यगमकभावो न स्यात्। तथा चास्त्यत्र देशे यवबीजसंतानो यवांकुरसंतानदर्शनात्। अस्ति यवांकुरसंतानो यवबीजोपलब्धेरित्यादि लिंगांतरसिद्धिः।

कार्य आदि तीन हेतुओंको माननेवालेका अनुनय है कि तीन हेतुओंमें ही सम्पूर्ण हेतु भेदोंका अंतर्भाव हो जाता है। जौके अंकुरोंकी संतानको साधनेवाला जौके बीजोंकी संताननामका हेतु भी इन ही में प्रविष्ट हो जाता है। देखिये। जौके बीजकी संतानसे उत्पन्न होना या तो कारण हेतु है। अथवा कार्यकारण दोनोंसे भिन्न तीसरी जातिका हेतु है। या कार्यरूप हेतु होगा। संसारमें सभी वस्तुयें कार्य १ कारण २ अकार्यकारण ३ इन तीन स्वरूप ही तो होंगी। अन्य चौथा कोई उपाय नहीं है। जिससे कि इन तीनसे न्यारे और भी किसी हेतुकी सम्भावना की जाय, जो कि अन्यथानुपपत्तिके अधिष्ठित करनेसे जैनों द्वारा न्यारा माना जा रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह अनुनय तो उनको नहीं करना चाहिये। क्योंकि चौथे प्रकारकी कार्यकारण दोनों स्वरूप हो रही वस्तु भी विद्यमान है। जिस ही प्रकार पहिला कारणसे अवश्य कार्यमें अनुमान कर लेते हो कि ये दीखते हुये मेघ (पक्ष) वृष्टिको उत्पन्न करानेवाली शक्तिसे युक्त हैं (साध्य), गम्भीर शब्दवाले और अधिक देरतक घटा माडकर ठहरनेवाले प्रभाव या प्रभवसे युक्त होते संते भले प्रकार उन्नत हो रहे हैं (हेतु), वृष्टि करनेवालेपनसे प्रसिद्ध हो रहे इस प्रकारके अन्य मेघोंके समान (दृष्टान्त)। तथा दूसरा हेतुद्वारा कार्यसे कारणका अनुमान कर लेते हैं कि इस पर्वतमें अग्नि है। क्योंकि धुआं दीख रहा है। रसोई घरके समान, यह कार्यहेतु है। तथा कार्यकारण रहितसे दोनोंसे भिन्नस्वरूप उदासीनपदार्थका ज्ञान होना तीसरा अनुमान है। उसका दृष्टान्त यह है कि यह आम्रफल (पक्ष) मीठा रसवाला है (साध्य), इस प्रकार कोमलता (नरमाई) को लिये हुये पीला आदिरूप धारनेसे (हेतु), तिस प्रकारके मीठे, पीले, अन्य फलोंके समान (अन्वयदृष्टान्त), यह तीसरे प्रकारका हेतु है। इन तीन हेतुओंके समान तिस ही प्रकार चौथा हेतु भी मानना आवश्यक है। कार्यकारण इन दोनों स्वरूपसाध्यके ज्ञान हो जानेमें भी कोई विरोध नहीं आता है। परस्परमें एक दूसरेका उपकारक रहे और उपकृत हो रहे पदार्थोंमें भी एक दूसरेके साथ अविनाभाव

मार्गदर्शक ... आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज

हो रहा देखा जाता है। जैसे कि असंख्यवर्षोंसे चली आ रही बीजोंकी संतान और अनादिसे चली आ रही अंकुरोंकी संतानका परस्परमें हेतु साध्यभाव है। अंकुर संतानके विना बीजसंतान नहीं होती है, और बीजसंतानके विना अंकुरसंतान भी नहीं होती है, जिससे कि परस्परमें ज्ञाप्यज्ञापकभाव न होता अर्थात् अन्यथानुपपत्ति होनेसे बीजसंतान और अंकुरसंतानका हेतु-हेतुमद्भाव है। तथा प्रयोग भी देखा जाता है कि इस विवक्षित देशमें जौके बीजोंका संतान चालू है। क्योंकि जौके अंकुरोंकी संतान देखी जा रही है। तथा इस देशमें जौके अङ्कुरोंका संतान है। क्योंकि जौके बीजोंकी उपलब्धि हो रही है। इसी प्रकार अन्य भी अनुमानके प्रयोग हैं। नटका वांस ठीक व्यवस्थित हो रहा है। क्योंकि नट व्यवस्थित है और नटके वांसकी व्यवस्था होनेसे नट व्यवस्थित हो रहा है। जाडेमें सौडसे शरीरमें गर्मी आती है, और शरीरकी गर्मीसे सौडमें गर्मी आती है, इत्यादि कार्यकारण उभयरूपसे दूसरे हेतुओंकी भी सिद्धि मान लेनी चाहिये। यों तो हेतुके चार भेद मानना अनिवार्य हो जायगा। समझे ?

ननूषरक्षेत्रस्थेन यवबीजसंतानेन व्यभिचारस्तदंकुरसंताने क्वचित्साध्ये तद्बीजसंताने नोह्यते तदंकुरसंतानेन यवबीजमात्ररहितदेशस्थेनेति न मंतव्यं विशिष्टदेशकालापेक्षस्य तदुभयस्यान्योन्यमविनाभावसिद्धेः स्वसाध्ये धूमादिवत्। धूमावयविसंतानो हि पावकावयविसंतानैरविनाभावी देशकालाद्यपेक्ष्यैवान्यथा गोपालघटिकायां धूमावयविसंतानेन व्यभिचारप्रसंगात्।

यहां प्रतिवादीकी शंका है कि ऊसर भूमिके खेतमें स्थित हो रही जौके बीजोंकी संतानसे व्यभिचार होता है। जबतक जौपर्याय रहेगी तबतक जौका सदृश परिणाम होती हुई संतान चलेगी। किसी पक्षमें उन जौके अंकुरोंकी संतानको साध्य करनेपर और उन जौके बीजोंकी संतानको हेतु बनानेपर ऊसरा भूमिमें बो दिये गये जौके बीजोंकी संतानसे व्यभिचार हुआ। तथा कहीं जौके बीजोंकी संतानको साध्य बनाकर और जौके अंकुरोंकी संतानको हेतु बनानेपर सामान्यरूप जौके बीजोंसे रहित देशमें स्थित हो रहे उन जौके अंकुरोंकी संतान करके भी व्यभिचार होता है। अर्थात् ऊसर भूमिमें पडे हुये जौ अपने कार्य अंकुरोंको उत्पन्न नहीं करते हैं। तथा आग, बरफ, कीडे, आदि द्वारा झुलस गये अंकुर अपने कार्य बीजोंको उत्पन्न नहीं करते हैं। इस प्रकार साध्यके न रहनेपर हेतुके रह जानेसे व्यभिचार दोष खडा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि विशिष्ट देश और विशिष्ट काल तथा विशेषरूप आकृति आदिकी अपेक्षा रखते हुये उन कार्यकारणोंके उभयका परस्परमें अविनाभाव सिद्ध हो रहा है। जैसे कि अपने साध्य अग्नि आदिको साधनेमें देश आदिककी अपेक्षा रखते हुये धूम आदिक सद्धेतु माने गये हैं। किन्हीं नव्य न्यायवालोंने तो चौंसठ विशेषणोंसे युक्त हो रहे धूमको अग्निके साधनेमें सद्धेतु माना है। अन्यथा धूम अवयव आदिमें व्यभिचार हो जाते हैं। धूमस्वरूप अवयवीका कुछ कालतक

उत्तरोत्तर पर्यायोंमें धूमस्वरूप सदृशपरिणमन करता हुआ सदृश धूमसंतान तो नियमसे विशेष देश, काल, अवस्था, संसर्ग, आदिकी अपेक्षा रखता हुआ ही अग्निस्वरूप अवयवीके उत्तरोत्तर समयोंमें परिणत हुई अग्निरूप संतानोंके साथ अविनाभाव रखता है। अन्यथा यानी विशेषणोंकी नहीं अपेक्षा रखकर चाहे जिस धूमसे अग्निकी ज्ञप्ति मानी जायगी तो ग्वालियाकी घडिया या इन्द्रजालिया (बाजीगर) के घडेमें अग्निके विना धूमरूप अवयवीकी संतानके ठहर जानेसे व्यभिचारका प्रसंग होगा। यों तो प्रायः सभी सद्धेतु व्यभिचारी बन जायंगे। कालिकसंबंध या दैशिक संबंध आदिसे वे हेतु साध्यके विना भी ठहर सकेंगे। ऐसी दशा होनेपर जगत्में सद्धेतुका मिलना अलीक हो जावेगा।

संतानयोरुपकार्योपकारकाभावोपि न शंकनीयः पावकधूमावयविसंतानयोस्तदभावप्रसंगात्। न चैवं वाच्यं, तयोर्निमित्तनिमित्तिभावोपगमात्।

यवबीज और यव अंकुरोंका परस्परमें कार्यकारणभावको नहीं माननेवाले यदि यों शंका करें कि संतानोंमें परस्पर उपकारी-उपकृतपना नहीं है। व्यक्तियोंमें कार्यकारणभाव संभव है, संतानोंमें नहीं। आचार्य कहते हैं कि सो यह भी शंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि यों तो अग्निरूप अवयवीकी संतान और धूमस्वरूप अवयवीकी संतानमें भी उस उपकार्यउपकारकभावके अभावका प्रसंग हो जायगा। किन्तु इस प्रकार धूम और अग्निकी संतानोंमें कार्यकारणभावका अभाव तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उनमें निमित्तनैमित्तिकभाव जैन, नैयायिक, मीमांसक आदि अनेक विद्वानोंसे स्वीकार किया गया है। तभी तो अग्निरूप उपादान कारणसे आदिके धुआंके उत्पन्न हो जानेपर कुछ देर पीछे भी ऊपर पहुंचगये उस धुयेंसे अग्निका ज्ञान हो जाता है। अर्थात् यहां धुऐंकी उत्तरोत्तर पर्यायोंसे अग्निकी उत्तर उत्तरपर्यायोंका अनुमान हुआ है। जिस पहिली अग्नि व्यक्तिसे प्रथम धूमका उत्पादन हुआ था, उस प्रथमधूमसे प्रथम अग्निका अनुमान करना तो कठिन है। किन्तु सभी अनुमान धूमसंतानसे अग्निसंतानके हुआ करते हैं। अतः प्रथम धूमके साथ प्रथमअग्निका उपादान उपादेय भाव है। और उत्तर उत्तरधूम और अग्निकी संतानोंका परस्परमें निमित्तनैमित्तिकभाव माना गया है। सभी रागी संसारी जीव संतानके लिये अनेक परिश्रम उठा रहे हैं। देशहितैषी अनेक दुःखोंको झेलते रहे हैं कि देश स्वतन्त्र होवे और संतान सुखी रहे। अनुभवनीय विषय यह है कि प्रथमधूमका उपादान कारण अग्नि है। फिर तो उपादान धूमसे ही धूम होते चले जाते हैं। अग्नि निमित्तकारण हो जाती है। जिस प्रकार कि प्रथमअंङ्कुरका उपादान बीज है। किन्तु फिर मृत्तिका, जल, आतप वायु, खात, आदि उपादानोंसे ही वृक्ष बनता चला जाता है। बीज तो निमित्तकारण ही कहना चाहिये।

पावक धूमावयविद्रव्ययोर्निमित्तनिमित्तिभावासिद्धेस्तत्संतानयोरुपचारानिमित्तभाव इति चेन्न, तद्व्यतिरिक्तसंतानासिद्धेः। कालादिविशेषात्संतानः संतानिभ्यो व्यतिरिक्त इति

चेत्, कुतः कालादिविशेषस्तेषां संतानस्यानादिपर्यवसानत्वादप्रतिनियतक्षेत्रकार्यकारित्वाच्च संतानिनां तद्विपरीतत्वादिति चेन्न, तस्य पदार्थांतरत्वप्रसंगात् ।

यदि यहां कोई यों कहे कि अग्निरूप अवयवी द्रव्य और धूमस्वरूप अवयवी द्रव्यमें निमित्त नैमित्तिकभाव सिद्ध हो रहा है। इस कारण उनकी संतानोंमें भी उपचारसे निमित्तनैमित्तिकभाव मान लिया गया है। वस्तुतः संतानोंमें उपकार्य उपकारक भाव नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन व्यक्तियोंसे भिन्न होकर धूमसंतान और अग्निसंतान सिद्ध नहीं हो रहा है। अर्थात् निमित्त हो रहे अग्निसंतानसे नैमित्तिक धूमसंतानकी उत्पत्ति होना सिद्ध है। सन्तानियोंसे सन्तान अभिन्न है। यदि कोई यों कहे कि काल आदि विशेषोंकी अपेक्षा संतानियोंसे संतान भिन्न है। इस प्रकार कहनेपर तो हम पूछते हैं कि उन संतानियों और संतानके काल आदि विशेष भला कैसे हुआ ? बताओ। यदि यों कहोगे कि संतानका काल अनादिसे अनंततक है और संतानीका उससे विपरीत है, यानी सादिसान्त है। तथा संतानको विशेषरूपसे नियत नहीं हो रहे प्रायः सर्व क्षेत्रोंमें कार्यका कर्त्तापना है। और संतानी व्यक्ति नियत क्षेत्रमें हो रहे कार्यको करता है। इस प्रकार संतान और संतानियोंका देश, काल न्यारा न्यारा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि वैशेषिकोंको यह तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि ऐसा माननेपर उस संतानको संतानियोंसे सर्वथा भिन्न न्यारा पदार्थ हो जानेका प्रसंग होगा, जो कि इष्ट नहीं किया गया है।

संतानो हि संतानिभ्यः सकलकार्यकारणद्रव्येभ्योर्थांतरं भवंस्तद्वृत्तिरतद्वृत्तिर्वा ? तद्वृत्तिश्चेन्न तावद्गुणस्तस्यैकद्रव्यवृत्तित्वात्। संयोगादिवदनेकद्रव्यवृत्तिः संतानो गुण इति चेत् स तर्हि संयोगादिभ्योऽन्यो वा स्यात्तदन्यतमो वा ? यद्यन्यः स तदा चतुर्विंशतिसंख्याव्याघातः, तदन्यतमश्चेत्तर्हि न तावत्संयोगस्तस्य विद्यमानद्रव्यवृत्तित्वात् । संतानस्य कालत्रयवृत्तिसंतानिसमाश्रयत्वात्। तत एव न विभागोपि परत्वमपि वा तस्यापि देशापेक्षस्य वर्त्तमानद्रव्याश्रयत्वात् ॥

हम जैन पूछते हैं कि पूर्व, उत्तर कालोंमें होनेवाले सम्पूर्ण कार्यकारण द्रव्यरूप संतानियोंसे सर्वथा भिन्न होता हुआ संतान क्या उन संतानियोंमें वर्तता है ? अथवा उन संतानियोंमें नहीं वर्तता है ? बताओ। यदि पहिले पक्षके अनुसार उन संतानियोंमें संतानकी वृत्ति मानोगे तो अनेक कार्यकारणरूप, द्रव्योंमें वर्त रहा वह संतानगुण पदार्थ तो हो नहीं सकता है। क्योंकि रूप, रस, आदिक गुण एकद्रव्यमें रहते हैं। और नैयायिकोंने संतानको अनेक द्रव्योंमें वर्तता हुआ माना है। हां, यदि संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्वित्व आदि संख्या इन गुणोंके समान संतानको भी अनेक द्रव्योंमें वर्तनेवाला गुण मानोगे तब तो वह संतान क्या संयोग आदि गुणोंसे भिन्न माना जायगा ? अथवा संयोग आदि अनेक आश्रित गुणोंमेंसे कोई एक अनेकस्थ गुणस्वरूप माना

जायगा ? बताओ। यदि वह संतान संयोग आदिकोंसे भिन्न है, तब तो गुणोंकी रूप १ रस २ गंध ३ स्पर्श ४ संख्या ५ परिणाम ६ पृथक ७ संयोग ८ विभाग ९ परत्व १० अपरत्व ११ गुरुत्व १२ द्रवत्व १३ स्नेह १४ शब्द १५ बुद्धि १६ सुख १७ दुःख १८ इच्छा १९ द्वेष २० प्रयत्न २१ धर्म २२ अधर्म २३ संस्कार २४ इस वैशेषिकोंके यहां नियत हो रही चौवीस संख्याका विघात होता है। यदि द्वितीय पक्षके अनुसार संयोग आदिकोंमेंसे कोई एक व्यासज्यवृत्ति धर्मावच्छिन्न गुणको संतान मानोगे तब तो वह संतान सबसे पहिले संयोगस्वरूप तो हो नहीं सकता है। क्योंकि वह संयोगगुण वर्त्तमान कालमें विद्यमान हो रहे द्रव्योंमें वर्तता है। और संतान तो तीनों कालमें वर्तनवाले संतानियोंमें भले प्रकार आश्रित हो रही है। अतः संयोगगुणस्वरूप संतान नहीं हुआ। तिस ही कारण विभागरूप भी संतान नहीं है। अर्थात् विभाग भी वर्त्तमान कालके अनेक द्रव्योंमें ठहरता है। किन्तु संतान तो तीनों कालके संतानियोंमें चारों ओर पग पसारकर रहनेवाला माना गया है। तथा परत्वगुणरूप भी संतान नहीं है। क्योंकि सहारनपुरसे काशीकी अपेक्षा श्री सम्मेदशिखरक्षेत्र पर है। इस प्रकार वह परत्व भी देश आदिककी अपेक्षा रखता हुआ वर्त्तमानकालके द्रव्योंके आश्रित हो रहा है। किन्तु संतान तो तीनों कालके द्रव्य या पर्यायोंमें वर्तता हुआ माना गया है।

पृथक्त्वं इत्यप्यसारं, भिन्नसंतानद्रव्यपृथक्त्वस्यापि संतानत्वप्रसंगात्। तत एवमसंख्योऽसौ। एतेन संयोगादीनां संतानत्वे भिन्नसंतानगतानामप्येषां संतानत्वप्रसंगः समापादितो बोद्धव्यः।

अनेक पदार्थोंमें ठहरनेवाला संतान चलो पृथक्त्वगुणरूप हो जायगा, यह कहना भी सार रहित है। क्योंकि यों तो भिन्नसंतानवाले द्रव्योंमें ठहरनेवाले पृथक्त्वको भी संतानपनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—देवदत्तसे यज्ञदत्त पृथक् है, और देवदत्तकी पूर्व, उत्तरपर्यायें भी परस्परमें पृथक् हैं। ऐसी दशामें देवदत्तकी पूर्व उत्तरसमयोंमें होनेवाली पर्यायोंके पृथक्त्वको यदि संतान मान लिया जायगा तो यज्ञदत्तमें सुलभतासे रहनेवाले पृथक्त्वको सम्मिलित कर देवदत्तकी संतान बन जानेका प्रसंग होगा। अतः पृथक्त्व गुणस्वरूप होता हुआ तो संतान सिद्ध नहीं हुआ। तिस ही कारण वह संतान अनेकोंमें रहनेवाली द्वित्व, त्रित्व, बहुत्व आदि संख्यास्वरूप भी नहीं है। अर्थात् भिन्नद्रव्य या भिन्नद्रव्यकी पर्यायोंमें रहनेवाली संख्याको मिलाकर भी प्रकृतद्रव्योंकी संख्याको संतान बन जानेका प्रसंग होगा। इस उक्त कथनसे यह भी भले प्रकार आपादन कर दिया गया समझलेना चाहिये कि संयोग, विभाग, आदिको संतान माननेपर भिन्नसंतानोंमें प्राप्त हो रहे भी इन संयोग आदिकोंके संतान बन जानेका प्रसंग हो जावेगा। यों सन्तानियोंमें ठहरनेवाला गुणपदार्थ तो सन्तान बना नहीं।